Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ya Samaj Foundation Chennai

चिन्तन -सृजन

Vol.11 2013 No.1-3

omain. Gurukul Kangri Colle

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

132251
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Verification-2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य : 20 रुपये

ISSN 0973-1490

वर्ष-11 अंक-1 — 3 जुलाई-सितम्बर 2013

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

अंक 1 जुलाई-सितम्बर 2013

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)
पुस्तकालय
132251
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति
लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक
बी. बी. कुमार

आस्था भारती
दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

	सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1.	महाभारत : रचनाओं का स्रोत *प्रभाकर श्रोत्रीय*	7
2.	समकालीन आलोचना का चरित्र और बदलते परिप्रेक्ष्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका *रमेशचंद्र शाह*	17
3.	हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष *पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'*	30
4.	हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्ष *सरजू प्रसाद मिश्र*	44
5.	हिंदी की साहित्यिक आलोचना : कुछ दुर्बल पक्ष *रमेश दवे*	51
6.	हिंदी समीक्षा : भ्रांत धारणाएँ *नरेन्द्र कोहली*	65
7.	हिन्दी आलोचना : भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होने की आहट *कैलाशचन्द्र पन्त*	70
8.	समकालीन काव्यालोचन : शब्दों के घटाटोप में अर्थ का भटकाव *शशि मुदीराज*	76
9.	समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियाँ *अरुण होता*	83

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. दूसरी परंपरा का विमर्श 92
सुधीर कुमार

11. प्रेमचंद-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ 102
कमल किशोर गोयनका

12. निराला का वास्तविक पाठ 109
शंकर शरण

13. हिन्दी आलोचना का वैचारिक धरातलउसोपान और संकट 129
कामेश्वर पंकज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. पाश्चात्य सार्वभौमिकता को एक अद्यतन भारतीय चुनौती 9
   रमेशचन्द्र शाह

2. दूसरी दुनिया और मैं 21
   शंकर पुणताम्बेकर

3. सर्जनात्मक साहित्य के आयाम और समय के प्रश्न 28
   नन्दलाल मेहता वागीश

4. इतिहास-दृष्टि और सृजनकर्म 35
   कृष्ण चन्द्र गोस्वामी

5. भारतीय दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप 43
   एस.पी. दुबे

6. आधुनिकता, अन्तर्धर्म संघर्ष और बौद्धधर्म 50
   अम्बिकादत्त शर्मा

7. पुस्तक समीक्षा : 62
   बीजगणित की विकास-यात्रा
   कृपाशंकर सिंह

8. पुस्तक समीक्षा : 70
   स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती शीतांशु की कविताएँ
   सरजू प्रसाद मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. समीक्षा : 75
कहानियों में प्रेमचंद
श्रीभगवान सिंह

10. पुस्तक-समीक्षा : 83
संत एवं समाज
ब्रज बिहारी कुमार

11 समीक्षा : 88
कान्हा बजावै बाँसुरिया : एक अनिवार तान
देवेन्द्रनाथ शुक्ल

12. सिदो कान्हू और उनका आबुआराज 92
युगल झा

13. हृदय एवं सहृदय 100
योगेश शर्मा

पाठकीय प्रतिक्रिया 119

प्राप्ति-स्वीकार 123

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. 'ते श्रोता-वक्ता समशीला'—स्वामी विवेकानंद के भारतीय व्यख्यान 7
रमेशचंद्र शाह

2. इतिहास की वर्तमानता 15
भगवान सिंह

3. पूर्णता के कुछ बिम्ब 25
रिचर्ड लेनाय

4. भारतीयता की पहचान 33
कैलाशचंद्र पंत

5. रवीन्द्र शर्मा (गुरुजी) की बातचीत का महत्व 41
कमलेश

6. गुरुजी का विमर्श 49
पवनकुमार गुप्त

7. महाभारत : युद्ध विरोधी काव्य 55
प्रभाकर श्रोत्रिय

8. धारा 370—बहस के मुद्दे 59
शंकर शरण

9. भारतीय अवधारणा, समझ और व्यवहार में नारी 67
मृदुला सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. हिंदी का असंगत नाटक साहित्य 74
डॉ. नानासाहेब गोरे

12. रामराज्य की अवधारणाएँ और हमारा लोकतन्त्र 82
शोभाकान्त झा

13. वेबमीडिया और हिन्दी 88
नीलम पाण्डेय

14. भारतीय मूल की प्रकृति प्रदत्त अग्नि-तत्त्व
गुण प्रधान वनस्पति-अरणि-अग्निमंथ 96
बाबूलाल शर्मा

10. निवेदन 111
हिन्दी भाषा की वर्तनी
कल्पना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

पुस्तकों के जंगल में

जंगल में चलना आसान नहीं होता। वहाँ झाड़-झंखार साफ कर चलना होता है; विषैले साँप-बिच्छू तथा हिंसक बाघ-भालू आदि से बचकर। फिर जंगली जीव-जन्तु बिना छेड़े हानि नहीं पहुँचाते। अकारण हिंसा उनके स्वभाव में नहीं है; और न ईर्ष्या, द्वेष और अकारण संग्रह-वृत्ति जैसी मानवीय दुर्वलताएँ।

वैसे जंगल में प्रकृति-प्रदत्त वैपुल्य के बीच गुजरना आनन्ददायक तो होता ही है। जंगलों-पहाड़ों का कोई सुनसान कोना, नदी का कोई अप्रत्यासित मोड़, नदियों-झरनों का कलकल निदान, कहीं कोई अकेला फूल नैसर्गिक आनन्द दे जाता है।

आज प्रकाशनों की स्थिति भी एक जंगल की तरह ही होती जा रही है। स्थिति यह है कि कोई भी व्यक्ति कुछ भी लिख कर छप सकता है। इससे पुस्तकों के जंगल का निर्माण होता है। अंतर यह है कि इस जंगल में घुसना या चलना न आसान होता है और न आनन्दप्रद। इस जंगल के झाड़-झंखाड़ को साफ करना भी आसान नहीं।

आज ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो भयंकर छपास से ग्रस्त हैं; प्रकाशनों की संख्या-वृद्धि के साथ ही उनकी छपास लगातार बढ़ती जाती है। फिर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो छपने के लिए कुछ भी लिखने को तैयार बैठे रहते हैं; देश-द्रोह, समाज-द्रोह की बातों से उन्हें परहेज नहीं। शर्त केवल एक ही है कि उनका लिखा छप जाना चाहिए। उनका लेखन उनकी सोच, उनके चिन्तन का प्रतिफल नहीं होता; उसका निर्धारण छापनेवाले की माँग से निर्धारित होता है। स्वाभाविक है कि ऐसे लेखनों/प्रकाशनों में परस्पर विरोधी बातें भी होती हैं जो संभ्रम फैलाती हैं। स्पष्टतः आज के संभ्रमित/''कनफ्युज्ड'' समाज/राष्ट्र के निर्माण में पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों द्वारा पाठकों को लगातार परोसी जा रही सामग्री के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

घने जंगल में घुसने पर खोने का भय बना रहता है, यदि रास्ता बतानेवाला जानकार न हो। यही बात इस नये जंगल पर भी लागू होती है। कहने को तो प्रकाशित पुस्तकों की भरमार है, लेकिन भारतीय भाषाओं में विषय विशेष पर पुस्तकें खोजने पर भी नहीं मिलतीं। पुस्तकों की झाड़-झंखाड़ में अच्छी पुस्तकों की खोज सरल नहीं। समस्या तब बढ़ जाती है जब रास्ता बतानेवाले, तथा-कथित समालोचक, खुद अज्ञानी हों, या दलों में बँटे हों, विचार-धारा प्रेरित हों। ऐसे में सृजनात्मक साहित्य - कविता, कहानी, उपन्यास—आदि की सही जानकारी पाठकों तक नहीं पहुँच पाती। गलत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशन प्रचार पा जाते हैं; अच्छे लेखक तथा उनका लेखन पाठकों की नजर तक नहीं पहुँच पाता। ऐसे में स्थिति अंधे के रेवड़ी बाँटने से उत्पन स्थिति से अलग नहीं होती।

भारत में सघन पठन-पाठन एवं चिन्तन-मनन की परम्परा रही है। यह परम्परा टूटी है, जिसने सतही लेखन को जन्म दिया है। फिर हमारा लेखक/विद्वान आज विचारों का आयातक बन गया है। जमीन से उसका लगाव कम होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाए बिना मौलिक लेखन संभव नहीं, जो वस्तुतः हो भी नहीं रहा है। सृजनात्मक लेखन के अतिरिक्त ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं में मौलिक प्रकाशनों का घोर अभाव है। इस अभाव की पूर्त्ति का प्रयास अविलम्ब किया जाना चाहिए, जो हो नहीं रहा है। फिर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में छिटपुट अच्छी पुस्तकें आती रहती हैं, जिनकी जानकारी पाठकों तक नहीं पहुँच पाती, जिसका पहुँचाया जाना भी उतना ही आवश्यक है। स्पष्टतः इन सबके लिए हमारा सम्मिलित प्रयास होना चाहिए।

- ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत : रचनाओं का स्रोत

प्रभाकर श्रोत्रीय*

वह सर्जना निश्चय ही बड़ी होती है जो रचनाओं को जन्म देती है। महाभारत को 'महाकाव्यों का महाकाव्य' शायद इसी आशय से कहा गया है कि वह ऐसी आधारभूत कृति है जिसने कई महाकाव्यों, आख्यानों आदि को जन्म दिया है। इसका प्रमाण भारतीय भाषाओं के साथ ही विश्व की ऐसी अनेकानेक कृतियाँ हैं जिनका उपजीव्य महाभारत रहा है। यदि हम केवल भारतीय साहित्य की बात करें तो देखेंगे कि संस्कृत से लगाकर आज तक लगभग सभी भारतीय भाषाओं में महाभारत से गृहीत, अनुकृत या प्रेरित अनेक रचनाओं ने जन्म लिया है। इतना ही नहीं लोक-साहित्य ने भी इसे उपजीव्य बनाया है; और ऐसी तो असंख्य रचनाएँ होंगी जिन्होंने महाभारत से सकारात्मक या नकारात्मक प्रेरणा पाई हो।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि "रामायण और महाभारत ये दो महाकाव्य पिछले दो हजार वर्षों से समस्त भारतीय काव्यों के उपजीव्य रहे हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि महाभारत से प्रेरणा लेकर लिखे गए नाटकों और काव्यों की संख्या संस्कृत में भी बड़ी थी और यह संख्या भारत की अर्वाचीन भाषाओं में भी विशाल है। महाभारत भारतीय संस्कृति का आधार ग्रंथ है। जब-जब हमारी संस्कृति में परिवर्तन आते हैं। महाभारतीय चरित्रों की नवीन व्याख्याएँ की जाती हैं और उनके द्वारा संस्कृति के परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जाता है।"

"उसके पात्र और घटनाएँ, स्थितियाँ इतनी विलक्षण और गतिशील हैं, उनमें शाश्वत तत्त्वों का समावेश है कि किसी भी युग में महाभारत युगानुरूप सृजन ही नहीं, सृजन और विचार-दृष्टि भी देता है।" अन्यत्र वे एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"जब हमारी संस्कृति में परिवर्तन आते हैं, महाभारतीय चरित्रों की नवीन व्याख्याएँ की जाती हैं और उनके द्वारा संस्कृति के परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जाता है।"

---

*प्रभाकर श्रोत्रीय; ए-601, जनसत्ता अपार्टमेंट, वसुंधरा, सेक्टर-9, गाजियाबाद (उ.प्र.)—201012; मो. 09717266220.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत साहित्य में भारवि कृत 'किरातार्जुनीय', माघ कृत 'शिशुपाल वध' और श्री हर्ष कृत 'नैषधीय चरित' जैसे श्रेष्ठ महाकाव्य और कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', भट्ट नायक रचित 'वेणी संहार', भास कृत 'उरुभंगम्' सरीखे उत्कृष्ट नाटकों का उपजीव्य महाभारत रहा है। यह उल्लेखनीय है कि सभी रचनाकारों ने अपनी कृतियों को मौलिकता दी है जो निश्चय ही स्रोत के नवीन पाठ के बिना संभव नहीं। उदाहरण के लिए, भास के 'उरुभंगम्' नाटक का नायक, भीम नहीं, दुर्योधन है, उसकी चरित्रगत उज्ज्वलता तथा वीरता में निहित विनम्रता प्रभावित करती है और उसका वध एक ट्रैजिक प्रभाव छोड़ता है। इसी तरह 'नैषधीय चरितम्' के नल-दमयंती को रचनाकार ने विशिष्टता दी है।

संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में भी महाभारत को उपजीव्य बनाकर अनेक रचनाएँ लिखी गईं। विभिन्न मतों और धर्मों के रचनाकारों ने महाभारत की कथा को अपने अनुसार ढालकर उसका अलग पाठ रचा है। उदाहरणार्थ, जैनाचार्य जिनसेन (प्रथम) और जैनाचार्य ब्रह्मजिनदास द्वारा लिखित 'हरिवंश पुराण' में वस्तु और चरित्रगत अन्तर स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

आदिवासी, लोक और लोक गंधी रचनाओं में यह अन्तर और भी प्रखर होकर उभरा है। उदाहरण के लिए, ओड़िया में 15वीं शती में सारला दास द्वारा लिखित 'सारला महाभारत' को ले सकते हैं, जो उड़ीसा के जनजीवन को प्रतिध्वनित करने वाला काव्य है। 'सारला महाभारत' की ख्याति का मुख्य कारण महाभारत की वस्तु को सर्वथा नवीन रूप देना है। इस महाकाव्य में सामंत विरोध और शूद्रों की महत्ता की स्थापना स्पष्ट दिखाई देती है; कथा और चरित्रों में विलक्षण नवीनता है। उदाहरण के लिए, गंगा और द्रौपदी का चरित्र लें। 'सारला महाभारत' में गंगा का शान्तनु से विवाह प्रेम के कारण नहीं; गलती से हो जाता है। इससे वह हमेशा क्रुद्ध रहती है और बाद में शान्तनु को छोड़कर चली जाती है। द्रौपदी भी निरन्तर क्रुद्ध बनी रहती है क्योंकि डोली से उतारकर वृद्धा सास ने उसे कुम्हारशाला की राख पर सुलाया, पाँच पतियों को दे दिया; फिर उसे दाव पर लगाया गया। भरी सभा में उसने पांडवों की भर्त्सना की। दुःशासन के रक्त से केश गूंथने के बाद भीम ने उससे क्रोध त्यागकर पांडवों को प्राणदान देने की प्रार्थना की तो भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने कहा—"कुछ भी हो वह कृष्ण और युधिष्ठिर को छोड़कर शेष पांडवों का वध करेगी ही।" सिंहासन पर राजरानी बनकर बैठने पर भी उसमें स्त्री सुलभ ईर्ष्या कम न हुई। उसने हिडिंबा के पुत्र को शाप दिया तो बदले में हिडिंबा ने भी शाप दे दिया। किसी राक्षसी या शूद्रा द्वारा किसी सवर्ण स्त्री को शाप का यह पहला उदाहरण है। द्रौपदी के चरित्र में कवि ने साधारण स्त्री के गुण-दोषों का समावेश किया है। वह स्वीकार करती है कि "पाँच-पाँच वीर पतियों के होने पर भी मेरे मन में कर्ण की कामना रहती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।" इसी तरह महाभारत से भिन्न मौलिक अवधारणाओं से यह काव्य भरा हुआ है जिस पर लोक-प्रवृत्ति की गहरी छाप है।

इसी सन्दर्भ में गुजराती में लिखा 'भीलों का भारथ' भी उल्लेखनीय है, जिसमें भील आदिवासियों की भावना, प्रतिभा और कल्पनाशीलता प्रकट होती है। इस काव्य के केंद्र में द्रौपदी है। उसकी रचना मातृसत्तात्मक परिवार के अनुरूप है। इस रोचक कथा में युधिष्ठिर को द्रौपदी के पैर पड़ते हुए देखकर भीम अत्यंत क्रुद्ध हो जाता है। तब द्रौपदी भीम को अपना दिव्य दैवीय रूप दिखाती है। वह सिंह पर सवार है, उसके हजार हाथ हैं। भीम यह देखकर उसके पैरों में पड़ जाता है। वह उसे उपदेश देती हे। एक रोचक प्रसंग यह है कि भीम का अभिमान चूर-चूर करने के लिए उसे बैल बना दिया जाता है। द्रौपदी और वासुकि कथा भी विचित्र है। द्रौपदी के स्वर्ण केश से वासुकी को धरती के भीतर धक्का लगता है। वह उस स्वर्ग केशी की खोज में निकल पड़ता है। उसे पाकर अर्जुन को अपनी मूँछ के बाल से बाँधकर उसके सामने वह उससे मैथुन करता है। सुबह जाते समय वह मूँछ के बाल से बंधे अर्जुन का बंधन तलवार से काटता है।

हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त का 'जय भारत' और 'जयद्रथ वध', दिनकर का 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र', नरेश मेहता का 'महाप्रस्थान', धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' काव्य नाटक, माखनलाल चतुर्वेदी का नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध, जयशंकर प्रसाद का 'जनमेजय का नाग यज्ञ', रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', और नरेन्द्र कोहली का 'महासमर', सीतेश आलोक का 'महागाथा', चित्रा चतुर्वेदी कार्तिका का 'महाभारती' और 'अम्बा नहीं मैं भीष्मा' उपन्यास जैसी अनेकानेक कृतियाँ रची गईं।

उर्दू में महाभारत पर आधारित कोई 36 ग्रंथ हैं। इनमें सी.पी. खटाऊ का 'महाभारत' नाटक, बाबूराम वर्मा का 'द्रौपदी लीला' दीवान साहिब चंद का 'भीमसेन', ख्वाजा हसन निजामी का 'कृष्णबीती स्र्वम्' मुंशी रियाजुद्दीन का 'अर्जुन प्रतिज्ञा' और 'वीर अभिमन्यु', जसवंत सिंह वर्मा का 'आर्य संगीत महाभारत' (नाटक) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

मराठी में 13वीं शती से ही महाभारत के अनुकरण और प्रेरणा से लिखी रचनाएँ उपलब्ध होती रही हैं। चिन्तामणि शास्त्री थट्टे का 'विराट पर्व याचीं बाखर', एस.एन. जोशी का 'पतिव्रता सावित्री', साने गुरुजी का 'आस्तिक', वि.स. खांडेकर का उपन्यास 'ययाति', शिवाजी सांवत का उपन्यास 'मृत्युंजय' और 'युगंधर', जी.एन. खांडेकर का 'कर्णायन', रणजीत देसाई का 'राधेय' आदि प्रसिद्ध हैं। संत ध्यानेश्वर की 'भारत दीपिका' में गीता का और दुर्गा भागवत के 'व्यास पर्व' में महाभारत का सुंदर विवेचन है। इसी तरह बांग्ला में बुद्धदेव बसु का 'महाभारत की कथा' और तमिल में चक्रवर्ती राजगोपालचारी की 'महाभारत कथा' महत्त्वपूर्ण विवेचनाएँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओड़िया में महाभारत अनेक रचनाओं का उपजीव्य रहा है। सारलादास का महाभारत तो सिरमौर है ही; आधुनिक युग में कई कृतियों के बीच प्रतिभा राय का द्रौपदी के चरित्र को लेकर लिखा 'याज्ञ सेनी' चर्चा में है। कन्नड़ में भैरप्पा का उपन्यास 'पर्व' प्रसिद्ध है।

पंजाबी में कृष्ण और भगवत् गीता गीतों में प्रस्तुत की गई है। अजायब कमल की लंबी कविता 'इकोत्तर सौ अक्खाँ वाला महाभारत' उल्लेखनीय है। इसमें आधुनिक अभिमन्यु का जिक्र है : *'अभी यहाँ कौन कह रहा था/कि रण क्षेत्र में जयद्रथ के कुटिल तीर के हाथों/अभिमन्यु मारा गया/नहीं वह तो आज के हर प्राणी में जीवित है/हाँ एक बात है/महँगाई तथा बेकारी का युग होने के कारण/रोजगार ढूँढ़ने के लिए बेचारे को/महीने में एकाध बार/अफ्रीका, अमेरिका तथा यूरोप का चक्कर लगाना पड़ता है।'* महाभारत की सांकेतिक पृष्ठभूमि में आज के मनुष्य द्वारा लड़े जाने वाले महाभारत यानी दो परिवारों के बीच बँटवारे को चित्रित करने वाला मित्तर सेन मीत का 'कौरव सभा' उपन्यास महाभारत की प्रेरक शक्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार वनीता की कविता 'मैं शकुंतला नहीं' में महाभारत की कथा तो नहीं है परन्तु उससे उत्पन्न नकारात्मक प्रेरणा सक्रिय है और यह कविता नारीवादी आख्यान बन जाती है। बी.एस. बीर का 'महाभारत जारी है' में महाभारत के चरित्रों की नए सन्दर्भ में प्रस्तुति है।

दुनियाभंर की भाषाओं में महाभारत का अनुवाद हुआ है। थाईलैंड, जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया आदि की अनेक रचनाओं और कलाकृतिकयों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। जावा और थाईलैंड में तो महाभारत 'महाभारत युद्ध' के नाम से जाना जाता है। थाई में श्रीकृष्ण पर लिखी कविता, सावित्री पर लिखे नाट्यगान, 'नलचंड' आदि प्रसिद्ध हैं। जावा में अर्जुन की बड़ी मान्यता है। अर्जुन विवाह और कर्ण पर काव्य है। प्रसंगवश यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि 'मध्येशिया से हिन्देशिया द्वीप समूह तक' मरने से पहले कब्र पर लिखने के लिए महाभारत के श्लोक चुने जाते हैं। इसे समस्या समाधान के लिए भी पढ़ा जाता है।

महाभारत को उपजीव्य मानकर जितनी रचनाएँ लिखी गई हैं या उससे प्रेरणा और संकेत लेकर जिन रचनाओं ने अपना आकार लिया है या जो रचनाएँ उसके विपर्यय, विखंडन आदि से रची गई हैं उनका आभास मात्र ऊपर दिया गया है।

प्रश्न यह है कि एक कृति में अनंत सर्जनात्मक संभावना क्यों होती है? मोटा कारण तो शायद यह है कि उसके एक चरित्र में से अनेक चरित्र निकलते हैं जो कई बार स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न, यहाँ तक कि विपरीत होते हैं; या जब एक कथा से अनेक कथाएँ निकलती हैं अथवा एक दृष्टि से, एक मत से अनेक दृष्टि और अनेक मतों का उद्भव होता है और विवेचना के भी अनेक स्तर, अनेक आयाम, अनेक जटिलताएँ और अनेक भंगिमाएँ होती हैं तो अवश्य ही उस रचना में वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभावनाएँ निहित होंगी। क्योंकि किसी सपाट, एक पक्षीय, जड़ और जिद्दी रचना से इतनी रचनाएँ और विचार-वैभव का निकल पड़ना संभव नहीं है। आखिर वे कौन से गुण सूत्र हैं, वे कौन संभावनाएँ और तत्त्व हैं जो अन्य रचनाओं के जन्म की प्रेरणा बनते हैं—यहाँ तक कि पाठक के भीतर भी रचनाशीलता के गुण और छिपे अभ्यंतर को खोलते और बहुमुखी बनाते हैं? यह एक गंभीर चिन्तन और अन्वेषण का विषय है। इसके कुछ प्रारंभिक पहलुओं पर हम विचार करें तो संभवतः महाभारत के सर्जना-उत्सों का उत्खनन हो सके।

महाभारत द्वारा अनेक रचनाओं को जन्म देने का पहला बड़ा कारण तो यह प्रतीत होता है कि यह एक उदार रचना है जो अपने स्रोत से जन्म लेने वाली किसी रचना की स्वायत्तता का हरण नहीं करती, किसी को 'अनुकरण' की लज्जा में नहीं बाँधती, उलटे सर्जक को देश-काल की भिन्नता के बावजूद सृजन की मौलिकता के लिए मुक्त करती है। संक्षेप में वह लोकतांत्रिक अवकाश (स्पेस) देती है, जो किसी भी स्तर पर 'धर्मशास्त्र' कही जाने वाली दुनिया की कोई रचना नहीं देती। (यही वह सबसे बड़ी विभाजक रेखा है जो दुनिया के दो बड़े धर्मों, इस्लाम और ख्रिस्त, से हिन्दू धर्म को अलग करती है) संभवतः इसलिए कि यह धर्म, महाभारत, रामायण जैसी सर्जनात्मक कृतियों से रचा हुआ है जो धार्मिकता के बहाने लोक-चेतना, संवेदना और जीवन की समग्रता के काव्य हैं।

दूसरा और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यह एकायामी काव्य नहीं है। सभी प्रकार के ज्ञान, धारणाओं, और भावों के लिए यहाँ अवकाश है और सब अपनी-अपनी दृष्टि से इसमें आश्रय पा लेते हैं। महाभारत की इस विशेषता की ओर बहुत पहले, 11वीं शती के आदि तेलुगु कवि नन्नय भट्ट ने ध्यान आकर्षित किया। वे लिखते हैं : 'धार्मिक विचारक महाभारत को धर्मशास्त्र मानते हैं, आध्यात्मिक महापुरुष इसे वेदांत कहते हैं, नैतिकतावादी इस ग्रंथ को नीतिशास्त्र और कवि पंडित इसे रस सिद्धक महाकाव्य मानते हैं, इतिहासकार तो इसे भारतीय इतिहास सिद्ध करते हैं, परम पुराण पंडित इसे अनेक पुराण ग्रंथों का संग्रह मानते हैं।'

मराठी लेखिका दुर्गा भागवत कहती हैं : व्यास की धर्मावगुंठित कला की विशेषता यह है कि वह गुफा के शिल्प के समान देखने वाले की अपनी इच्छा तथा पात्रता के अनुसार अपना आंतरिक जगत दर्शक, पाठक या श्रोताओं के सामने खोल देती है।

यद्यपि रामायण और महाभारत दोनों ही काव्य अनेक रचनाओं के उपजीव्य रहे हैं, परन्तु रामायण एक आदर्शवादी काव्य है और वहाँ धर्म और अधर्म का बँटवारा है; परन्तु जैसा पं. विद्यानिवास मिश्र कहते हैं कि 'महाभारत में धर्म-अधर्म का बँटवारा नहीं है। वहाँ छोटे धर्म और बड़े धर्म, तात्कालिक कर्तव्य और पारम्परिक कर्तव्य के गहन अन्तर्द्वन्द्वों से बड़ी कीमत देकर उबरने की कहानी हैं कि 'सद्‌गुण किसी सुख,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख, भय या लालच में नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वे ही अविनश्वर होते हैं।' यदि ऐसा है तो महाभारत के कितने सद्गुणी पात्र सद्गुण छोड़ते दिखाई देते हैं। इस काव्य में खुद ही एक जगह कही बात दूसरी जगह कट जाती है। ये कटाव भी रचनाओं को जन्म देने के कारण हैं, क्योंकि इनमें नियम की जड़ता नहीं है।

महाभारत में से असंख्य कृष्ण, सैकड़ों-हजारों कर्ण, अर्जुन, भीम, एकलव्य, द्रोणाचार्य, द्रौपदी, गांधारी, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, संजय, भीष्म, ययाति निकले हैं और अत्यंत विविध और कहीं-कहीं मूल से इतने अलग कि विरोधी स्वरूप में भी दिखाई देते हैं। इसका एक बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि महाभारत का कोई चरित्र न संपूर्ण रूप से उजला है न काला। दुर्योधन खलनायक होते हुए भी सर्वथा खल नहीं है। इसी तरह युधिष्ठिर परम सत्यवादी होते हुए भी किसी अवसर पर असत्य का आश्रय लेते हैं। व्यास मानते हैं कि कोई व्यक्ति पूर्ण नहीं है, यहाँ तक कि पूर्ण पुरुष कृष्ण भी। कृष्ण भले ईश्वर हों उनकी भी मृत्यु होती है। अपूर्ण को ही तो बार-बार रचा जा सकता है। 'पूर्ण' तो सृजन की संभावना ही नष्ट कर देता है। संभवतः इसलिए आज भी महाभारत का स्रोत सूखा नहीं है, बल्कि कई अर्थों में अधिक प्रासंगिक हो गया है। महाभारत की कथावस्तु, घटनाचक्र और प्रमुख पात्र ही नहीं गौण कथा और नगण्य पात्र भी काव्य में प्रतिष्ठित हैं। युधिष्ठिर के यज्ञ की राख में लोटने वाला नेवला कितने महान सत्य को व्यक्त करते हुए असाधारण हो गया है। उसी तरह दुर्योधन का वह अदना-सा भाई विकर्ण बड़े-बड़े दिग्गजों से बड़ा है जो द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करते समय समस्त वीरों, नीतिज्ञों से प्रश्न करता है कि 'क्या यही धर्म है? क्या यही न्याय है? क्या स्त्री दाव पर लगाने की वस्तु है? इस कौरव के इन प्रश्नों से, मिश्र जी के शब्दों में "महाभारत कीलित" है। साधारण के भीतर असाधारण की सर्जनात्मक प्रतिष्ठा के और भी अनेक आयाम और अन्तर्कारण होते हैं।

इन तमाम बातों का यह अर्थ नहीं कि महाभारत कच्चे माल का जखीरा है। वस्तुतः यह कृष्ण द्वैपायन व्यास की मेधा और परिपक्व प्रतिभा का विस्फोट है, जो किनारों में बँधी नदी की तरह नहीं, बल्कि एक विराट समुद्र की तरह तलातोम है—अपार, अदम्य, अगाध—हर पल गर्जना करता। यह शक्ति और वेग का काव्य है। इसमें अग्रसर होती सभ्यता के तमाम मिश्रण, तनाव, आपाधापी, अशांति, ईर्ष्या, मद, मोह और अंधमूढ़ता के साथ ही सधापन, दृष्टिसंपन्नता, विवेक, दर्शन, उदात्तता और जीवन की जटिल समस्याएँ और अनेक उत्तर भी हैं, और है एक सर्वनाशी युद्ध; जो मनुष्य से लगाकर पशु, कीट, उद्भिज आदि की सनातन वृत्ति है; और विनाश की वह सीमा है जहाँ से पुनर्सृजन अनिवार्य होता है। वह नीति और अनीति; सच और झूठ, भौतिकता और आध्यात्मिकता; स्वार्थ और परमार्थ को विस्मित कर देने वाला ताना-बाना बार-बार उधेड़ने, बार-बार उसकी सर्जनात्मक व्याख्या करने की लालसा जगाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं महाभारतकार द्वारा उसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र, इतिहास, नीतिशास्त्र कहकर उसके विविधोन्मुख रचाव का संकेत किया गया है :

धर्मशास्त्रमिदंपुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्त व्यासेन मित बुद्धिन॥ (23)

'आदि पर्व' में इसे इतिहास कहा गया—'जयो नामेतिहासोऽयं' (20) 'भारतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतम्।' परन्तु यदि यह भ्रम है तो दूर हो जाना चाहिए कि महाभारत का शास्त्र या इतिहास होना उसके काव्य से अलग है। क्योंकि भारत में महाकाव्य की अवधारणा कभी इकहरी नहीं रही है, उसमें इतिहास, शास्त्र, कलाएँ, वृत्तांत, रस, पुरुषार्थ, मानव-व्यवहार, प्रकृति, समाज-यानी पूरी सृष्टि शामिल होती है—यहाँ तक कि अन्तर्विरोध भी। इसी से उसका महाकाव्य-रूप बनता है। यदि महाभारत के लिए 'यन्न भारते तन्न भारते' कहा जाता है तो उसमें ऐसा कुछ भी वर्जित नहीं हो सकता जो भारत में हो या जो एक महासंस्कृति की संपूर्णता का बिम्ब हो। युद्ध संसार के सभी आदिकाव्यों की मूल विषयवस्तु रही है। महाभारत ने इसे भाई-भाई के युद्ध के माध्यम से उठाकर अपूर्ण सूझ-बूझ का परिचय दिया है। आशय यह है कि जहाँ युद्ध प्रायः अस्वाभाविक और असंभव माना जाता है, वहाँ भी युद्ध है जहाँ भी युद्ध है वहाँ असत्य, क्रूरता और हीनवृत्तियाँ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती हैं। सत्य के भीतर असत्य, उदात्त के भीतर अनुदात्त, पुण्य के भीतर पाप, न्याय के भीतर अन्याय, सहृदय के भीतर क्रूर का प्रवेश हो जाता है और ऐसी चरमताएँ टकराती हैं जहाँ अन्ततः मूल्यध्वंस होता है। महाभारत इसी दुर्दम्य काल के बीचोंबीच 'गीता' की रागिनी छेड़ता है जहाँ कर्म, दर्शन, विश्व-व्याख्या आदि का विचित्र सम्मिश्र होता है। गीता भी महाभारत को विश्वकाव्यों में अद्वितीय, विलक्षण और विस्मायक बनाती है। केवल गीता की ही नहीं, गीता के महाभारत के बीचोंबीच होने की भी जितनी व्याख्या की जाए, वे अपर्याप्त प्रतीत होती हैं।

महाभारत को इतिहास कहने के साथ ही 'महा अद्भुत' कहना मुझे बहुत सटीक और व्यंजक लगता है। इस महा अद्भुत इतिहास को विस्तारित करने में अनेक प्रतिभाओं ने योगदान दिया, वह भी महाभारत द्वारा जगाई जिज्ञासा का ही परिणाम प्रतीत होता है। जाहिर है कि वह जब अनेक प्रतिभाओं को सुलभ हुआ होगा तो उन्होंने उत्साहवश उसमें कुछ जोड़कर अपनी ही जिज्ञासा को शान्त करने की कोशिश की होगी। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास की विलक्षण प्रतिभा ने इसमें योजक अवकाश रचे हैं। प्रसंगवश यह कहना उचित होगा कि जिन्होंने इन अवसरों का लाभ उठाया है वे भी कम प्रतिभाशाली नहीं रहे हैं। क्योंकि आज हमें महाभारत जिस रूप में उपलब्ध है उसमें विस्तार छोड़कर प्रायः वे सभी गुण-धर्म हैं जो इसे महान कृति के रूप में बनाए रखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत एक जटिल नैरेशन या वृत्तांत है, क्योंकि वक्ता या कथावाचक तीन हैं और तीनों कथाएँ जारी रहती हैं। हर रचनाकार को इससे यह सुविधा रहती है कि वह अपने नए नैरेटर उनकी जगह तैनात कर सके और उसमें अपने देशकाल की वर्तमानता बनाए रख सके। एक कथा में उलझी दूसरी कथा और तमाम किस्म के कथित अन्तर्जाल भारत की आख्यायिका का स्वभाव है। आख्यायिकाएँ वटवृक्ष की तरह होती हैं जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ जमीन में धँसकर स्वयं जड़ बन नए पेड़ उगाती और उसके अंग-प्रत्यंग को उर्वर, उलझाऊ और कई बार रहस्यमय फंतासी बनाती है। नैरेशन का यह चस्का भी विभिन्न रचनाओं के उत्स का एक कारण है।

महर्षि व्यास क्रांतदर्शी सर्जक थे। उन्होंने इतिहास-कथा के साथ मनुष्य के विकास की एक प्रच्छन्न लेकिन जटिल अन्तर्कथा महाकाव्यात्मक रूप में बुनी है जो मूलतः अन्तर्वृत्तियों की कथा है। इस तरह यह वृत्त के साथ वृत्तियों का आख्यान है; इस दृष्टि से कालबद्ध इतिहास का मिथकीकरण है। यदि ऐसा न होता तो महाभारत के चरित्रों और आख्यानों की विभिन्न देशों, कालों, भाषाओं में इतनी विविध सर्जना नहीं होती। यह महाभारत का कितना क्रांतिकारी और प्रगतिशील विचार है कि गतिशील समाज में 'शुद्धता' एक आरोपित और काल्पनिक वस्तु है। अगर आज भी हम महाभारत से यह दृष्टि ले सकें तो जातियों और धर्मों के नाम पर लड़ते समाज के लिए अत्याधुनिक मार्गदर्शन पा सकते हैं। यह कितनी बड़ी साहसिक संरचना है कि महाभारत के सारे मुख्य चरित्र वर्णसंकर हैं। (जबकि इसी काव्य की भगवत् गीता में वर्णसंकर को लेकर क्या नहीं कहा गया है!) खैर, पांडवों और कर्ण को ही लें तो कोई धर्म की, कोई सूर्य की, कोई इंद्र की, कोई वायु की, कोई अश्विनीकुमारों की संतान हैं। इसे एक अलग स्तर पर प्रतीकात्मक कह सकते हैं, पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक मिश्रण है जिसके अनुसार अनेक प्रकार की वर्णसंकरता, नियोग आदि को एक बनते, बढ़ते समाज का तत्त्व माना जा सकता है। इतना ही नहीं, यह आज भी (इस ऑनर किलिंग के जमाने में भी) एक अनवरत प्रक्रिया है, जो अनेक नैतिक बंधनों को तोड़ते और खोलते हुए एक सर्जक को समकालीन स्वाधीनता देती है; और शायद आलोचनात्मक दृष्टि भी।

अगर हम महाभारत के रचना-शिल्प पर विचार करें तो वह कथाओं, दंतकथाओं, काल्पनिक स्वरूपों और विरूपीकरण से भरा है जो एक सर्जनात्मक कृति की कलात्मक माँग होती है। इसकी कथाओं और पात्रों में अनेक प्रकार के संकेत और गूढ़ार्थ हैं। उदाहरण के लिए, राजा अंधा है। और अंधे राजा के राज्य में सारे मूल्य और विधिसम्मत् तत्त्व कैसी अंधता को प्राप्त होते हैं—इसकी ओर महाभारत से अधिक सटीक संकेत कौन कर सकता है। इसका एक पक्ष और है कि विचारशील रानी जो राजा की आँख हो सकती थी, उसने भी आँख पर पट्टी चढ़ा ली। यानी पुर और अन्तःपुर दोनों जगह अंधेरा! अब इसके कितने नए अर्थ, कितनी व्यंजनाएँ संभव हैं, इसका कोई एक उदाहरण लें तो वह धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत की ऐतिहासिकता पर एक अलग कोण से विचार करना चाहिए। यानी प्रतीकात्मक इतिहास-बोध से, क्योंकि वह मिथकीयता से संपन्न एक महाकाव्य भी है। इसके सभी पात्र एक ओर चरित्र हैं तो दूसरी ओर प्रतीक। मानो सृष्टि-मंच पर एक विराट नाटक खेला जा रहा है जिसमें अनेक घात-प्रतिघात हैं। खुद काव्य भी नाटक खेल रहा है, अनेक रूप बदलकर। ऐसी स्थिति में हमें इसके भीतर अनेक पाठों की संभावना देखनी होगी। काव्य के साथ कथा, नाट्य, इतिहास, संस्कृति, मानव-व्यवहार, कल्पना और फेंटैसी के ऐसे संयोजनों को स्थिति और मानव नियति की अन्तर्धारा के साथ पढ़ना होगा। यदि महाभारत में इतनी संभावनाएँ न होतीं तो वह स्रोत ग्रंथ नहीं हो सकता था, क्योंकि जब तक उसके हर पहलू में अनेक स्तर; अनेक आयाम और पर्याप्त अवकाश नहीं होता—तब तक वह युग-युग से, अनेक मत-मतांतर के, मनःस्थिति और अभिरुचि के सर्जकों का उपजीव्य नहीं बनता। क्या यह विचित्र नहीं कि एक ऐसी कृति जो युद्ध का आख्यान है उसे अपना उपजीव्य एक जैन मुनि बनाता है और उसमें अपने मत के लिए अवकाश पा लेता है। क्योंकि संसार में एकमात्र महाभारत है जो युद्धकाव्य होते हुए भी अन्ततः युद्ध-विरोधी काव्य है।

महाभारत के पात्र जो भोग-भोग रहे हैं, उसके भीतर कथा से अधिक विचार और कर्म के भोग की विचित्र भागीदारी है। उदाहरण के लिए, भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ, आजीवन ब्रह्मचारी, महावीर की विडंबना यह है कि उसकी मृत्यु का कारण 'शिखंडी'—एक क्लीव—है। लेकिन आप उस अन्तःसूत्र को देखें जिसमें पिता के भोग के लिए भीष्म एक सुंदरी युवती उसे दे देता है। भोगने के लिए किसी को स्त्री अर्पित कर स्वयं भोग को त्यागना अपने-आपमें एक विसंगति है। फिर यह ब्रह्मचारी अपने सौतेले भाइयों के लिए, स्वयंवर को आतुर कन्याओं का हरण करता है। पात्र के त्याग और वीरत्व को गरिमा प्रदान करते हुए भी कवि उसके इन कृत्यों को अक्षम्य मानता है, फलस्वरूप एक बहुत ही दारुण, विडंबनापूर्ण अन्त रचता हैं। अपहृत कन्याओं में से ही एक 'शिखंडी' के रूप में पुनर्जन्म लेती है। अपने कर्मों के लिए भीष्म को उसी से दंडित होना होता है। यह नियति और कर्म का एक अन्तःसूत्र है। अब इसे कोई महाभारत-काल में 'पुनर्जन्म' की काल-गणना का विषय बना ले—तो कोई क्या कर सकता है। सच तो यह है कि काव्य का प्रतीकीकरण और मिथकीकरण इतनी छूट की इजाजत तो देता ही है।

महाभारत में अनेक पात्र और ढेरों कथाएँ हैं जो कर्म और कर्मदंड, कर्म और नियति, कर्म और विवेक-अविवेक वगैरह से जुड़ी है। परन्तु एक काव्य-न्याय भी होता है : जो संसार के न्याय से अलग, रचनाकार के विवेक से संबोधित होता है; जिसे वह कथा-रूप देता है। यही बात हम वासुदेव की व्याध के हाथों हत्या में देखते हैं। इसके सूत्र पूर्वजन्म और पूर्व कल्प तक जाते हैं। त्रेता में राम ने छिपकर बाली का वध किया था, जिसके लिए तुलसीदास का बाली कहता है—धर्म हेतु अवतरेहु गुसाईं, मारेहु मोहि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याध के नाईं।' कदाचित यही बाली व्याध बनकर द्वापर में विष्णु (राम) के पुनर्अवतार वासुदेव की हत्या करता है। जाहिर है ईश्वर भी कर्म-दंड से बच नहीं सकता। यह भारतीय कर्म-सिद्धांत है, परन्तु काव्य-न्याय भी है। यदि महाभारत का रचियता व्यास जैसा निस्पृह, साहसी, तपस्वी नहीं होता तो परात्पर वासुदेव के इस 'अन्त' को टाल देता, भले ही इससे एक सार्थक कथ्य की हत्या हो जाती। इस काव्य-न्याय और काव्यान्त ने न जाने कितने सर्जकों को उत्प्रेरित किया होगा।

रचना-शिल्प को आधार मानकर महाभारत को सिर्फ तीन लोगों द्वारा बाँची कथा के तीन स्तर तक सीमित नहीं करना चाहिए। उसके अनेक स्तर हैं। जिस काव्य में भारत के सारे अनुशासन, प्रज्ञा और उसके मूल्य गुँथे हों; जिसमें कल्पना, परा कल्पना के तत्त्व छिपे हों, उसका इकहरा पाठ संभव भी नहीं। किसी भी नए पाठ से हम यह उम्मीद जरूर करते हैं कि वह उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करेगा जो मूल रचना में कहीं-न-कहीं अपना कोई अर्थ विकीर्ण करता है। इससे स्वयं रचित नए पाठ को भी एक रचनात्मक बल मिलता है।

कविता में निहित फैंटेसी, मिथक या पुराण-वृत्ति को पहचानना शायद इसलिए जरूरी है कि रचना कोई तात्कालिक उपक्रम नहीं है; और जहाँ तक महाभारत का सवाल है, वह एक ऐसी रचना है जिसकी कालजयिता का रहस्य यह भी है कि वह युग-युग में अपने विभिन्न रूप, रंग और प्रयोजन में व्याख्यायित, विवेचित और ग्रहीत होने के लिए खुली है।

महाभारत की उक्तियों, संवादों, घटनाओं और लयात्मक अन्विति के भीतर कविता के उत्स देखे जा सकते हैं; परन्तु उसमें निहित फैंटेसी, मिथकीय-तत्त्व, युगंधरी रूपकात्मक विन्यास और जैसा ऊपर भी कहा गया है गीता की प्रस्तुति अत्यंत नाटकीय और काव्यात्मक है। कौरव-पांडवों की विशाल सेना के बीच रथ ले जाने का अर्जुन का आग्रह—"सेनायोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेच्युत।" और कृष्ण का दोनों के बीच रथ ले जाकर अर्जुन के प्रश्नों का लंबा समाधान एक तरह से व्यापक संबोधन तो है ही—अत्यंत रोमांचक भी है। उद्वेलित सेनाओं के बीच—जैसे दो उत्ताल समुद्रों के बीच—कोई दुःसाहसी रेखा खींचकर ज्ञान-चर्चा करे अथवा दो शत्रु सेनाओं के बीच 'नोमेंसलैंड' पर कर्म, ज्ञान, संन्यास जैसे निगूढ़ तत्त्वों की व्याख्या करे, यह अपने-आप मे एक फंतासी है, एक विचित्र और अद्वितीय करिश्मा, जो चमत्कृत, आकर्षित और स्तब्ध करता है।

महाभारत में विलक्षण बहुकोणीय पात्र-सृष्टि, रोचक आख्यानकता, नाटकीय स्थितियाँ, वृत्तकथन, मिथकीयता, फैंटेसी, अलंकृति और कहीं-कहीं सहज कला—यानी कुल मिलाकर विराट, बहुस्तरीय और चमत्कारी स्थापत्य है; धर्म, नैतिकता, तत्त्व मीमांसा, लौकिक अनुशासनों की अभिव्यक्ति और व्यंजना है; विरोध, विसंगति और विद्रूप के प्रति सहिष्णुता है; ये चीजें सृजन को वस्तु और प्रेरणा देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन आलोचना का चरित्र और बदलते परिप्रेक्ष्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका

रमेशचंद्र शाह*

(एक)

समकालीन आलोचना समकालीनता की चहारदीवारी में बंद, चतुर्दिक् उसी से घिरी हुई आलोचना है, ऐसा कहने में थोड़ी अत्युक्ति हो सकती है, क्योंकि अपवाद सभी जगह होते हैं और वही आशा का आधार भी जुटाते हैं, किंतु जो थोड़े से नाम हर मंच से, हर जगह उछाले जाते हैं– क्या रचना, क्या आलोचना, दोनों क्षेत्रों में, उन्हीं को अगर पर्याप्त प्रातिनिधिक और अधिकृत नाम मान लें और उनके लिखे हुए को पकड़कर जाँचें तो ज्यादातर निराशा ही हाथ लगती है। एक तो यह समकालीन आलोचना अधिकांशतः ऊबाऊ और अपठनीय होती है। सचमुच की रचना से सचमुच ही टकराने का और उससे उन्मेषित-संवेदित-प्रेरित होने का कोई लक्षण उसमें नहीं दिखता। लगता है, ये आलोचक एक बासी और अंतहीन दुहराव से निरर्थक हो चुकी शब्दावली को ही फेंटते रहते हैं और उसी को किसी भी अन्य कृति पर उसी धड़ल्ले और उसी नीरंध्र आत्मविश्वास के साथ निछावर कर सकते हैं। न तो इनका दिलो-दिमाग, न इनका सहज मात्रा-ज्ञान अथवा औचित्य-विवेक ही कभी इन्हें रोकता-टोकता है, न इनके तौर-तेवरों में, यानी रचना के पास जाने के इनके मशीनी और अभ्यास-जड़ तरीके में ही वह जिज्ञासा, वह संवेदनशील खुलापन और धीरज कहीं भी दिखाई देता है, जो जीवन की पुनर्रचना करनेवाली साहित्यिक कृति के मर्म में पैठने के लिए किसी भी पाठक या आलोचक के लिए आवश्यक समझा जाता है। ऐसे में जो छाप हम पर इस तथाकथित आलोचना की पड़ती है, वह रचना के कथ्य या अर्थ की एक पहले से तयशुदा पटरी पर किसी भी रचना को हाँकने की कुटेव की छाप पड़ती है। रचना में जो है, उसे नहीं, बल्कि जो इन आलोचक महोदय की जैसी भी जो भी समझ है

*एम-4 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल 462003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन-जगत् और मनुष्य के बारे में, एक पहले से बनी-बनाई और यांत्रिक समझ, उस परोपजीवी, बिन कमाई और भाषा की फिसलपट्टी पर बड़ी चुस्ती के साथ चढ़ती-उतरती इस समझ में जो पूर्वनिर्धारित और मनमाना अर्थ कुंडली मारे पड़ा है, उसी अर्थ को हर कृति पर आरोपित कर देने की आदत पड़ी है इन्हें। कहना न होगा कि इन महानुभावों की यह समझ अमूमन सतही तो होती ही है, अक्सर पक्षाग्रही और पूर्वग्रहदूषित भी होती है।

सवाल उठेगा कि ऐसी पक्षाग्रही और अर्थ का अनर्थ करने वाली आलोचना को आलोचना का दर्जा आखिर मिलता कैसे है? अगर इससे अनर्थ ही नहीं, अन्याय अथवा अवमूल्यन-अधिमूल्यन ही उपजता है तो ऐसी हरकतों को कोई चुनौती क्या नहीं देता? लेखक-समाज या पाठक-समाज उन्हें झेल कैसे लेता है? साहित्य के साथ, अर्थात् सबसे प्रामाणिक और विद्रोह-धर्मी मूल्यवत्ता की दृष्टि से भी सबसे दूरगामी असर डालने वाले साहित्य के साथ भी एक विरोधाभास अनिवार्यतः जुड़ा हुआ हैः वह विरोधाभास यह है कि सर्वाधिक मानवीय, सर्वाधिक लोकमंगलकारी सांस्कृतिक उत्पाद होने के साथ ही साहित्य सर्वाधिक शिक्षित संवेदन की भी माँग करता है– सचमुख समझे और पचाए जाने के लिए। चूँकि साहित्य-सृजन का माध्यम भाषा है, स्वर या रंग-रेखा जैसे स्वभावतः प्रदूषणमुक्त उपकरण नहीं, और यह भाषा सभी के रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीज है, अतः साहित्य पर यह दबाव हर जगह, हर जमाने में रहता आया है कि वह तुरंत समझ में आ जावे, दिमाग पर जोर न डालना पड़े, न भावनाओं और विचारों के अनवरत परिष्कार की जिम्मेदारी गले पड़े। अब यों तो हर साहित्यकार अपने लोगों तक पहुँचता चाहता है– वह तो मानकर चलता है कि जो उसके घट में घट रहा है, वह सभी के घट में घट रहा होगा, बल्कि तथाकथित जन-प्रतिनिधियों की तुलना में वह अपने लोगों के जीवन की लय का, उनकी वास्तविक तकलीफों और मुक्ति-कामनाओं का, सुख और दुःख की उनकी आत्यंतिक अनुभूतियों का भी सबसे गहरा और सर्वाधिक प्रामाणिक साक्षी होता है। जो भी रोग अथवा संकट समाज को व्याप रहे हैं या व्यापने वाले हैं, उनके लक्षण सबसे पहले वही पहचानता है, सबसे पहली आहट भी अच्छे-बुरे परिवर्तनों की, जगत्गति की, उसी को मिलती है। तो उसकी दूरदर्शी समझ, उसकी परकाय-प्रवेशी संवेदन-सामर्थ्य और प्रदूषण-प्रतिरोध की सामर्थ्य भी ज्यों की त्यों उसके अपने लोगों तक, यथासंभव दक्षता और क्षिप्रतापूर्वक संप्रेषित हो, इसकी चिंता उसे न होगी तो और किसको होगी। सच पूछें तो अपने दिक्कालव्यापी, बहुजन संबोधी, और चराचरसंवेदी कथ्य को यथावत् अचूक संप्रेषित करने की खातिर ही वह भाषा और शैली के नए-नए तौर-तरीके खोजता आजमाता है। अर्थात् उसका प्रयोगशील होना उसके सत्यांवेषी उचित वक्ता होने की प्रेरणा का ही अनिवार्य अंग है। मगर, जाहिर है, ऐसी रचना के संयक ग्रहण और आस्वादन के लिए भी रचनाकार जितनी नहीं, तो उसके आसपास जितनी भी अनुभूतिप्रवणता और ज्ञानात्मक संवेदना तो आवश्यक होगी ही। यानी कि, श्रेष्ठ साहित्य अपने पाठक-आलोचक से भी कमोबेश अपने स्तर की ही अनुभव-क्षमता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझदारी की अपेक्षा करता है। अनिवार्यतः दीक्षागम्य होता है। निश्चय ही, दीक्षागम्य होना दुरूह होना नहीं है। किंतु लेखक से तथाकथित सरलता की या सरल सुबोध भाषा की माँग करने वाले ज्यादातर लोग या तो सत्य की एक सँकरी और सतही आइडियोलॉजिकल समझ से परिचालित होते हैं, या फिर लोक-रुचि और लोक-मन की भी एक निहायत ही मनमानी और औसतपरस्त धारणा से, जो अपने आप में मात्र एक लोक-रिझाऊ यानी वास्तविक लोक की संस्कारगत सामर्थ्य और संभावनाओं का सरासर सरलीकरण, और सरासर अवमूल्यन हुआ करता है। साहित्य किसी भी जनसमुदाय की प्रसुप्त संभावनाओं को जागृत करने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है। लोकमानस में अंतर्निहित सच को उसी के द्वारा उपजाई गई भाषा में साकार करने का सर्वोच्च प्रयत्न या पुरुषार्थ है। और वैसा ही साहित्य भी मानव-स्वभाव की सबसे गहरी खुदाई करने वाला, तथा उन्हें सचमुच उजागर करने वाला साहित्य ही अंततः लोकमन में जड़ पकड़ता और प्रतिष्ठित होता है। लोक-मन और लोक-रुचि को परिष्कृत करने का सबसे कारगर साधन भी वही सिद्ध होता है।

आलोचना नाम की गतिविधि इसी साहित्य के उत्पादकों और उसके सहभोक्ताओं-ग्रहणकर्ताओं के बीच पुल बनाने के लिए प्रकट होती है। वह सृजन को उसके स्रोतों तक पहुचने का अध्यवसाय करके, उसके अर्थ की विवेचना-व्याख्या करते हुए उपलब्ध ज्ञान और परिस्थिति-विवेक से उसे जोड़ते हुए उसके गुणग्राहकों का विस्तार करती है, उसे व्यापक संवाद और जिज्ञासा का विषय बनाती है। ये सच्चे आलोचक साहित्य की अधिकारी विशेषज्ञता पहले खुद कमाते हैं और त्तपश्चात् अपनी उस कमाई में अधिकाधिक लोगों की साझेदारी संभव करते हैं। यही आलोचना का चरित्र है। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि समकालीन आलोचना जिसे हम कहते या मानते हैं, उसका वैसा निश्चय ही नहीं है। वह साहित्य की अपनी विशिष्ट विभूतिमत्ता और मूल्यवत्ता की पोषक सहायक धारा बनने से संतुष्ट नहीं। उल्टे, वह साहित्य को ही (समकालीन रचना को भी) अपने मताग्रहों के मुताबिक, उस मतवाद के अनुचर-सेवक की भूमिका में देखने के आग्रह से परिचालित होती है। जो रचनात्मक साहित्य का मूलाधार है, प्राण-वायु है, वह स्वतंत्रता नामक मानव-मूल्य इन स्वयं-नियुक्त पुण्यात्माओं और न्यायाधीशों के लिए सर्वाधीक संदिग्ध मूल्य है। रणनीति ही इनके लिए नीतिमत्ता है और प्रचारधर्मिता ही इनका स्वधर्म। यह समकालीन आलोचना जब कभी अपनी चहारदिवारी से बाहर निकलकर किन्हीं पूर्वज अग्रज कवियों कथाकारों की सुध लेने को प्रवृत्त होती भी है, तो उसका यह पुरुषार्थ भी आरंभ दूषित ही रहने को अभिशप्त है। पूर्वकालिक कृतियों पर उनके इस दृष्टिपात के फलस्वरूप हमें वह अत्यावश्यक चीज भी कभी हाथ नहीं लगती जिसे पुनर्मल्यांकन कहा जाता है। उसके बदले हमारे हाथ लगती है एक निरी अपव्याख्या, जो इन पूर्वसूरियों को अपने काम का बनाने के लिए मानवीय परिस्थिति, मानव-सत्य और मानव-पुरुषार्थ—तीनों का अवमूल्यन करती है। यह आकस्मिक या अकारण नहीं है कि स्वतंत्रता जितना ही जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा मूल्य या पदार्थ इन आलोचनाजीवियों के लिए संदिग्ध ठहरता है, वह स्वयं संस्कृति है। विडंबना देखिए, कि दूसरी तरफ जो बड़े राष्ट्रवादी और संस्कृतिवादी बनते हैं, उनकी अपनी आइडियोलॉजी भी उन्हें सांप्रतिक मानवीय परिस्थिति के भीतर पैठ नहीं देती, न सांस्कृतिक संकट को यथावत् देखने-समझने और उसका प्रतिकार करने की सामर्थ्य। आधुनिक विश्व की जटिलताओं से जूझते हुए उसके बीचों-बीच से अपनी रचना-शक्ति को उबार लाने वाली बौद्धिक तैयारी उनमें कहीं नहीं दिखाई देती। न कालज्ञ सांस्कृतिक आत्मविश्वास, जो विरासत में यूँ ही नहीं मिल जाता, बल्कि तपस्यापूर्वक अर्जित करना पड़ता है।

यहाँ एक और बात का ध्यान रखना और उसे भी हिसाब में लेना जरूरी जान पड़ता है। वह यह कि आलोचना बहुत व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत सांस्कृतिक आलोचना का विस्तीर्ण और बहुमखी क्षेत्र भी समाहित है और तथाकथित साहित्यिक आलोचना का अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र भी। किंतु ध्यान देने की बात है और वह अकारण नहीं है कि समस्त बुद्धिजीवियों के बीच एक साहित्यकार ही ऐसा है जिसे व्यापक अर्थ में सभ्यता और संस्कृति को लेकर इस तरह की गहरी चिंता व्यापती है। कारण इसका शायद यही हो कि ज्ञान के अन्य तमाम अनुशासनों के बीच समग्र मनुष्य की चिंता केवल साहित्य ही करता है। अर्थात् मनुष्य की दैहिक प्राणिक-भाविक स्नायविक बौद्धिक समूची सत्ता की। यह मान लेना मूर्खता है कि साहित्यकार केवल भावजीवी होता है और बुद्धिमत्ता से उसका सरोकार उस तरह नहीं है जिस तरह वैज्ञानिक या समाजशास्त्री या धर्माचार्य, या राजनीतिज्ञ—यहाँ तक कि दार्शनिक का। साहित्यकार—और हमारे इस तर्कबुद्धि प्रधान युग का—साहित्यकार तो विशेष रूप से समकालीन 'ज्ञान' के प्रति और पारंपरिक ज्ञान प्रतीकों के प्रति भी स्वभावतः सचेत-उन्मुख होता है। अज्ञेय ही मसलन, ऐसे ज्ञानमार्गी लेखकों में गिने जा सकते हैं और उसी जमीन पर उसी हैसियत से उन्होंने 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' की बात कही होगी। अंततः साहित्य भी ज्ञान का ही एक प्रकार है जो अन्य ज्ञानधाराओं या ज्ञान विषयों से इस मानी में भले अलग हो कि उसके निर्माण और ग्रहण दोनों में बुद्धि-ऊर्जा के साथ ही भाव-ऊर्जा और स्नायविक ऊर्जा का भी भरपूर विनियोग होता है। किंतु क्या यही तथ्य उसे एक भरे-पूरे और अधिक मानवनिष्ठ, अधिक प्रत्यक्षसंवेद्य ज्ञान का संवाहक भी नहीं बना देता?

तो, चूँकि साहित्य की रचना-प्रक्रिया और ग्रहण-आस्वादन-मूल्यांकन-प्रक्रिया दोनों में मनुष्य की समग्र सत्ता के कई सारे पक्ष एक साथ प्रतिध्वनित और सक्रिय होते हैं, अतएव, साहित्य के आलोचक के लिए भी न केवल इस अनेकस्तरीय मानव स्वभाव की जटिलताओं से अवगत होना अनिवार्य है, बल्कि जिस संस्कृति और जिस परिस्थिति में उसका संबोध्य मनुष्य जीता और जीने का अर्थ खोजता है, उस संस्कृति और परिस्थिति के भी अधिकाधिक पहलुओं के प्रति उसका स्वाधीन जिज्ञासुभाव आवश्यक है।

अब यूँ तो कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि रचना का विषय मनुष्य जीवन है और आलोचना का विषय रचना-साहित्य; यानी कि, जहाँ रचनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य सीधे जीवन के स्रोतों से जुड़ा होता है, वहाँ आलोचना साहित्य पर निर्भर होती है यानी साहित्यजीवी होती है, जीवन से उसका संबंध परोक्ष और सेकंड हैंड होता है; अर्थात् जीवन की उस पुनर्रचना से आलोचक का संबंध होता है जो साहित्य है। अब यूँ ठीक-ठाक लगते हुए भी आज के युग में यह बात थोड़ी सरलीकृत लगती है, क्योंकि आज आलोचना में एक स्वतंत्र गुणवत्ता या स्वयं पर्याप्त शक्ति भी समाविष्ट हो गई है। खासकर दर्शन की वैसी पहले जैसी केंद्रीय स्थिति ना रह जाने के परिणामस्वरूप और दूसरे भी कई कारणों से। इतिहासकार ओसवाल्ड स्पेंगलर ने कहीं लिखा था कि 'कविता-कहानी की तुलना में आलोचना आज ज्यादा रचनात्मक विधा बन गई है, बल्कि रचना कहलाने का श्रेय तो वस्तुतः उसी को जाता है। निरे जीवन पर आश्रित रचना-साहित्य को नहीं।' उस बात में अत्युक्ति तो निश्चय ही है; पर वह सर्वथा असंगत या निराधार भी नहीं।

कहने का तात्पर्य यही, कि समकालीन आलोचना के चरित्र को परखने के लिए हमें उसके सीमित साहित्यिक आलोचना वाले रूप को ही नहीं, उसके व्यापक सांस्कृतिक आलोचना वाले क्षेत्र को भी अपने हिसाब में लेना होगा। तब जो परिदृश्य हमारे सामने आता है, वह विचित्र विरोधाभासी परिदृश्य होगा। इस परिदृश्य में ऐसी प्रतिभाएँ अत्यल्पसंख्यक ही सही, निरंतर कार्यरत दिखेंगी जो संस्कृति और परिस्थिति के प्रति बड़ी जिम्मेदार और मौलिक चिंतन-समर्थ क्रियाशीलता का प्रमाण दे रही हैं। भले, तथाकथित चर्चित आलोचना के प्रतिष्ठान को उन्हें अनदेखा करने में ही अपनी कुशलता दिखाई देती हो। अक्सर ऐसा लगता है कि तथाकथित साहित्य-केंद्रित आलोचना की तुलना में यह सांस्कृतिक आलोचना कहीं अधिक वयस्क और धारदार है। अब, साहित्यिक आलोचना की अक्षमता और अपठनीयता के पीछे क्या है, वह बड़ा असुविधाजनक, मगर जरूरी सवाल है जिसे टाला नहीं जा सकता और जिसका कुछ संकेत हम कर आए हैं। एक अजीब और अनिष्टकारी तथ्य यह भी है कि यह साहित्यिक आलोचना जिस तरह की रचनात्मकता को प्रश्रय और संरक्षण देती है, वह स्वयं ही सच्चे रचनात्मक उन्मेष का साक्ष्य नहीं देती प्रतीत होतीं। उलटे कभी-कभी तो ऐसा तक लगने लगता है, जैसे वह इस आलोचना की शर्तों पर चल रही हो उसी से प्रेरित और पृष्ठपोषित हो। उन्हें पढ़कर यह भरोसा नहीं लगता कि वे कालजयी तो दूर, कालज्ञ और दीर्घजीवी तक साबित होंगी। अभी बीस साल पहले तक के तब अपने तेजतर्रार मुहावरे और तेवर से चौंका देनेवाला कवि तक यदि आज खीझ और असंतोष उपजाता है, तो इसका मतलब क्या हुआ? यही न कि वह अपने ही वागर्थ की क्षीणता या कि अल्पता का शिकार हुआ?

ऐसा नहीं कि अपने सांस्कृतिक स्रोतों की अद्यावधि जीवंतता का प्रमाण देने वाली अथवा उस पर छाए संकटों की यथावत् पहचान कराने वाली रचना और आलोचना इस दृश्य से एकदम नदारद हो। किंतु जिसे हम 'समकालीन आलोचना' का नाम देते हैं, वह ज्यादातर इस कदर पूर्वग्रहग्रस्त, और मोर्चा-बुद्धि से परिचालित होने

132251

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अभ्यस्त हो गई है कि सचमुच नई और मूल्यवान् रचनाओं और आलोचनाओं पर या तो उसकी दृष्टि ही नहीं ठहरती या ठहरती भी है, तो भी वह उसकी सच्ची समझ-बूझ और समुचित मूल्यांकन के लिए प्रेरित नहीं हो पाती। अधिक-से-अधिक वह उसे अपने काम का बनाने या उसे भी अपने बाड़े में खींच लाने की उतावली और रणनीतिजनित उदारता अवश्य प्रदर्शित करती दिखाई देती है। इस भ्रामक खुलेपन के कारण वे रचनाएँ हाथों-हाथ ली जाकर रातों-रात प्रसिद्ध और पुरस्कृत भी हो जाती हैं और इस परिस्थिति के फलस्वरूप वह लेखक अनिवार्य रूप से अधिमूल्यन का शिकार होकर जल्द ही अपनी संभावनाओं को चुका देता है। उसका खुद का आलोचकीय विवेक क्षीण पड़ जाता है। सांप्रतिक रचना-दृश्य में ऐसी दुर्घटनाओं की भी कमी नहीं।

समकालीन रचना अक्सर ही उसे प्रश्रय देने वाली आलोचना की पिछलग्गू बनकर अनुकारी मुद्राओं में ढलने लगती है। सृजना के जोखिम से, परिस्थिति के निष्कवच साक्षात्कार और प्रतिकार की चुनौती से पलायन कर जाने की सृजन द्रोही-चेष्टाओं को ही वह वास्तविक सृजन-कर्म मानकर कृतकृत्य हो जाती है। कहना न होगा कि सर्जक को उसके पद की गरिमा से इस तरह गिराने में समकालीन आलोचना के उक्त पूर्वग्रहदूषित और विभाजनपरक चरित्र का भी पर्याप्त योगदान है।

(दो)

इतिहास साक्षी है कि हर युग के संवेदनशील और विचारवान मनुष्यों को अपना समय ही सबसे अधिक समस्याग्रस्त और अभूतपूर्व लगता रहा है। ईसा की पहली सदी के एक बहुत बड़े कवि ल्यूकेशिरस को प्रलयकाल एकदम सन्निकट लगा था। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछली एक-डेढ़ सदी में घटित वैज्ञानिक आविष्कारों की तथा विश्व के राजनीतिक घटना-चक्र की रफ्तार मानव-जाति के ऐतिहासिक अनुभव को देखते हुए एकदम ही विलक्षण ढंग से तीव्र और सर्वथा अपूर्वानुमेय रही है। वस्तुलक्षी ज्ञान का ऐसा विस्फोट, स्वयं उस तरह के ज्ञानात्मक ऐडवेंचर की शुरुआत जिन्होंने की, उन्हें भी चमत्कृत कर देता निश्चय ही। किंतु उन्हीं के उद्यम की इस लगभग आखिरी (मान लें यदि) कड़ी के नतीज़ों से वे आश्वस्त होते या नहीं—यह अलग बात है। दुनिया की सबसे प्रभावशाली और स्वयमेव काल-प्रभाव से ध्वस्त होकर भी विचार और कला इत्यादि के क्षेत्रों में दुनिया पर सबसे टिकाऊ छाप छोड़ जानेवाली सभ्यताओं-संस्कृतियों को जाँचें तो साफ दिखाई देगा कि उनमें से प्रत्येक के अपने अलग, विशिष्ट प्रस्थान बिंदु रहे—प्रेरक बीज और उन्हीं के अनुरूप, उनका विकास रहा। इतिहास नाम की चीज के प्रति ही—मसलन हम हिंदुस्तानियों की और हमसे तुलनीय यूनानियों की संस्कृति का आकर्षण या रुख एक-सा नहीं था। न ही यूनानी दर्शन को स्वायत्त करके अपने थियोलॉजिकल ऐडवेंचर की शुरुआत करनेवाली ईसाई संस्कृति ने जिस तरह 'इतिहास' की अपनी व्याख्या जमाई—वही यूनान के इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयक दृष्टिकोण से मेल खाती थी। हमारी काल-दृष्टि (और इतिहास को देखने-परखने की दृष्टि भी, उस तरह) कितनी अलग है और ठेठ आधुनिक काल तक भी वह न केवल हमारे जनसाधारण के जीने-मरने के ढंग में, सामान्य वार्तालाप में, बल्कि हमारे बीच के प्रबुद्धतम और पाश्चात्य संस्कृति की अधुनातन 'प्रगति' से पूरी तरह परचे हुए अग्रगामी सर्जकों-विचारकों के सर्वथा आधुनिक चिंतन में भी किसी तरह जीवित और सक्रिय है, इसे देखना हो तो पिछली सदी की शुरुआत में ही प्रकट हुए गांधी के 'हिंद-स्वराज' को और श्री अरविंद के 'दि ह्यूमन साइकिल' (मानव-चक्र) और 'मानव-एकता का आदर्श' को पढ़ लेना काफी होगा। किंतु, आज के इस तुमुल कोलाहल-कलह भरे परिवेश में कार्यरत हमारी हिंदी के सबसे तेजतर्रार और मुखर लेखकों-आलोचकों को, हो सकता है, ये उदाहरण घिसे-घिसाए और पिटे-पिटाए लगें; बदलते परिदृश्य में आलोचक (सांस्कृतिक आलोचक और साहित्य-आलोचक) की अपेक्षित भूमिका का संकेत उभारने के सिलसिले में निहायत ही गैर-मौजूँ, प्रतिभागी और दूर की कौड़ी लगे। तब मैं उनसे इसरार करूँगा कि चलिए आपके लिए यदि अरविंद की आलोचक-प्रतिभा या 'हिंद-स्वराज' की सभ्यता-समीक्षा, काम की नहीं ठहरती, तो न सही; आप यह तो मानेंगे ना, कि पश्चिम के सारे विज्ञानात्मक विस्फोट की जड़ में पश्चिमी दर्शनशास्त्र का इतिहास रहा है और स्वयं ही आप यह भी मान ही लेंगे कि इस दर्शन नाम की चीज से हम हिंदुस्तानियों का भी कोई कम तगड़ा या गहरा सरोकार नहीं रहा और दुनिया में हमारी पहचान सिर्फ एक 'पराजित' या 'घायल' सभ्यता के रूप में ही नहीं, एक दार्शनिक के देश के रूप में भी रही है—उनके लिए भी, जो माने-ठाने बैठे हैं कि "कायदे का फलसफा तो यूरोप की ही ईजाद है।" अगर आप भी यही नहीं मानते तो बदलते परिदृश्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका की चिंता करते हुए आपको सबसे पहले यह भी तो कहीं-न-कहीं देखना-जाँचना पड़ेगा ही कि इस बदलते परिदृश्य में—भूमंडलीकरण के इस दौर में—हमारी दार्शनिक बुद्धि की जो भूमिका अनिवार्य होनी चाहिए—आखिर हिंदी आलोचना की महत्त्वाकांक्षा 'आलोचक राष्ट्र' बनने-बनाने की रही है और बगैर 'हिंद-स्वराज' की तर्ज पर वैचारिक स्वराज का सुनिश्चय किए वह आकांक्षा कैसे फलेगी? और बिना विश्व-स्तर पर अपनी दार्शनिक बुद्धि का आधुनिक और आधुनिकोत्तर प्रमाण दिए। वैचारिक स्वराज का दावा भी किस बूते किया जा सकेगा? तो हमें देखना पड़ेगा कि इस इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर क्या हमारा दार्शनिक हिंदुस्तानी दिमाग कुछ ऐसा उपजा रहा है जो हमारे साहित्यिक सर्जकों-आलोचकों और इसी तरह के बुद्धिजीवियों को भी प्रेरणा दे सके—उनको उनकी अपनी भूमिका पहचानने-निभाने में मददगार हो सके?

हमारे जैसा हिंदी का लेखक दर्शन की ज्ञान-संवेदनात्मक महत्ता का अहसास होते हुए भी आखिर कितना साहित्येतर पढ़े (और क्यों पढ़े?), तो भी, चूँकि साहित्य ऐसी चीज है जिसकी सीमाएँ ज्ञान के हर अनुशासन की सीमाओं से अनिवार्यतः घुलती-मिलती है, अतएव स्वधर्म के तकाजे से ही—साहित्यिक दिमाग की जन्मजात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुतूहल वृत्ति के चलते ही—अपने को कुछ तो ऐसा याद आ ही रहा है तुरत-फुरत—जो हमारे ख्याल से विश्व-स्तर पर हमारी दार्शनिक और ज्ञानालोचनात्मक अग्रगामिता का नमूना पेश कर चुका है। और जिससे हमारे साहित्यिक आलोचक भी चाहें तो प्रस्तुत संदर्भ में न केवल लाभान्वित हो सकते हैं बल्कि अपनी अपेक्षित भूमिका को भी इस कठिन-क्रूर-जटिल कालगति के बरक्स खड़े होकर ज्यादा साफ और असरदार तरीके से पहचान सकते हैं। साहित्य का और इसीलिए साहित्यिक आलोचना का भी सीधा सरोकार मनुष्य से है। किंतु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि यह सरोकार समूचे मनुष्य से यानी अन्न से विज्ञान तक के कोशों तक धड़कती मनुष्य की समग्र सत्ता से है; न कि केवलमात्र उसके एक आयाम से। मनुष्य सामाजिक-राजनीतिक पशु भी है, मनुष्य चिंतनशील भी है, मनुष्य अपने से बड़े—जिन पर स्वेच्छा से अपनी जान तक दे सके, ऐसे मूल्यों का स्रष्टा भी है, और मनुष्य एक 'वरशिपिंग एनिमल' (देवत्व का आवाहन करने वाला जानवर) भी है। मानवीय परिस्थिति का, इतिहास का कैसा भी, कोई भी बदलाव मनुष्य की इस अनेकायामी मनुष्यता को नहीं मिटा सकता। इतिहास ही इस तथ्य की भी गवाही दर्ज करता रहा है कि जब भी उसे सिर्फ एक आयाम में घटाने की और दूसरे आयामों को जबरदस्ती झुठलाने-दबाने का चक्कर चला है, तब-तब वह अवदमित आयाम अपूर्वानुमेय ढंग से विस्फोटित होकर अपना बदला चुकाता रहा है। 'हिंद स्वराज' का एक वाक्य अक्सर याद आता है : 'जिन लोगों की हम बात करते हैं, उन्हें हम जानते तक नहीं।' क्या हमने कभी हमारे अपने लोगों की, यानी हिंदी पाठक-समाज की जो अपेक्षाएँ साहित्यकारों से रही हैं और जिन अपेक्षाओं को हजारों बरस से हमारे साहित्यकार पूरी करते भी रहे हैं—बगैर अपनी 'सामाजिकता' का अतिरिक्त बोझ उठाए और बिना उसका लगातार ढिंढोरा पीटे। क्या हमने स्वयं हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भ में इस 'पाठकीयता' को जाँचने-परखने की कोशिश की है कि गुप्त जी के जमाने में कवि और उसके पाठकों के बीच किस तरह का रिश्ता बना था? कि निराला, प्रसाद, पंत, महादेवी ने भी अपना समाज अपना पाठकवर्ग विकसित किया था कि नहीं? कि फिर अज्ञेय ने इस समस्या (लेखक-पाठक के बीच संबंध-सेतु निर्माण और संप्रेषण की बदली हुई परिस्थिति) का कैसा क्या निरूपण और हल प्रस्तुत किया और कैसे किया? कैसे रचनाकार को स्वयं आलोचना-कर्म (आपद्धर्म की तरह ही सही) अपनाना पड़ा? उसके बाद के लेखकों ने वही पाठक-समाज नए सिरे से बनाने-बढ़ाने की दिशा में क्या किया है? क्या उन्हें उतना और वैसा भी 'फीड-बैक' अपने पाठकों और अधिकारी साहित्य-मर्मज्ञों से मिलता है? उनकी ज्यादा सीधी-प्रत्यक्ष सामाजिक-राजनीतिक पक्षधरता वाली रचना और आलोचना ने अपने अग्रजों द्वारा निर्मित पाठक-समाज का कहाँ तक विस्तार किया है? विस्तार किया भी है सचमुच या नहीं? और नहीं किया है—तो इसका कारण क्या है? जिन्हें उद्दिष्ट करके, जिनके नाम पर आप लिख और लिखवा रहे हैं, वह तथाकथित 'आम आदमी' आपके साहित्य से संवेदित होता भी है कि नहीं? उसके मनोरंजन और अंतरात्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुराक-प्राप्ति के साधन क्या हैं? जिस तरह के साहित्य तक उसकी पहुँच अभी तक रही है, जिससे वह मानसिक पोषण पाता रहा है, क्या जिन सरोकारों से आपका सोच-विचार और लिखना-पढ़ना प्रेरित है, उनसे उसका वैसा जीवनदायी और स्फूर्तिदायी संबंध बन सका है? विजयदेव नारायण साही सरीखे घनघोर समाजवादी कवि-आलोचक 'साहित्य और साहित्यकार के दायित्व' की बात करते हुए कहते हैं—

"साहित्यकार न तो केवल स्थानीय (पारिवारिक) स्तर पर लिखकर जी सकता है और न ही मात्र समाज की दुहाई देकर मूल्यवान् बन सकता है। इसी प्रकार वह मानवमात्र का पक्ष लेकर भी सत्य की पूर्णता को व्यंजित नहीं कर सकता, जब तक कि उसके भीतर यह बोध न हो कि वह इन सबके साथ एक अचिन्त्य अखंड ब्रह्मांड का भी सदस्य है। चेतना के जिन चार स्तरों की बात साहित्यकार के लिए अनिवार्य है—वह सार्वभौमिक और नितान्त स्थानीय होते हुए एक साथ व्यक्त होती है। जो इन चेतना-स्तरों को टुकड़े-टुकड़े करके देखता है, वह केवल अर्द्धसत्य का ही साक्षी होता है। सत्य के समग्र रूप को हृदयंगम करके लिखने और समझने के लिए यह आवश्यक है कि साहित्यकार के मानस में ये चारों स्तर समय-समय पर एक साथ झंकृत होते रहें।"

मैं ही क्यों, हिंदी साहित्य का कोई भी जानकार पाठक—साहित्य के प्रति संवेदनशील और साहित्य के असली सरोकारों से संवेदित-अभ्यस्त पाठक अपनी सहजबुद्धि से ही साही के उपर्युक्त मन्तव्य से सौ फीसदी सहमत होगा। सहमति-असहमति का तो सवाल ही कहाँ उठता है—यह इतनी सीधी अनुभूति और समझ की बात है कि दुनिया का कोई भी लेखक—अगर वह लेखक है सचमुच—तो अपने काम के बारे में इससे अलग या उल्टा सोच ही नहीं सकता। न साहित्य को अपने मानसिक पर्यावरण की तरह, उसे प्रदूषित करनेवाली हर चीज से लोहा ले सकने वाली ताकत की तरह जीने-पचाने पाठक-आलोचक ही इस बात को स्वानुभूति से दूर पाएगा। तब फिर ऐसा क्यों है कि हिंदी साहित्य का मौजूदा परिवेश इस कॉमनसेंस के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करता दिखाई देता है?..."देखो हटाकर असलियत से, वह घटाती है हमें"—राष्ट्रकवि का विरुद पाए हुए कवि ने हमें किस चीज से सावधान करने को कहा था? आज वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक योगदान जिनका है, चेतना के कई स्तरों को एक साथ झंकृत करनेवाली रचना और वैसी रचना की सहयोगी आलोचना को उपजाने वाली प्रतिभाएँ ही सबसे कम हमारे साहित्यिक परिवेश में गूँजती हैं। यदि यही बदलाव है तो इससे प्रेरित और इसी को बढ़ावा देनेवाली आलोचना हमारे किसी काम की नहीं है। वह साहित्य की बहुवस्तुस्पर्शिनी, हमारे वेदन-तंत्र को कई सारों पर एक साथ झंकृत करनेवाली प्रतिभा का अपव्यय, अपचयन और विडंबन है। ऐसा साहित्य और ऐसी आलोचना बदलते परिदृश्य की वास्तविकताओं से कैसे पार पा सकती है? उसका नकचली आईना भर बन सकती है। वह राजनीति के आगे-आगे चलनेवाली पथप्रदर्शक मशाल की भूमिका क्या निभाएगी, वह तो उसकी—यानी उसके एक परोपजीवी मुहावरे के पिछलग्गूपन को और तज्जनित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'होलियर दैन दाउ' वाले दंभी पुण्यात्मापन और बेहया बहिष्कारप्रवणता को ही उकसा सकती है : जीवन और साहित्य दोनों के अवमूल्यन और बेरोकटोक राजनीतिकरण के दुश्चक्र को ही उकसा-बढ़ा सकती है। वह न अपने समाज के उपयुक्त सही राजनीति की खोज में सहायक हो सकती है, न अपने समाज द्वारा अर्जित सांस्कृतिक मूल्यों का जतन करने की चिंता से प्रेरित हो सकती है। न वह सर्वव्यापी प्रदूषणों को पचाने या उन्हें आंतरिक प्रतिरोध दे सकने में समर्थ हो सकती है। सच तो यह है कि वह ऐसे आंतरिक प्रतिरोध की जरूरत और चेतना को ही बुझाने का, उसे अप्रासंगिक बना देने का काम करती है और कर रही है। दर्शन की—यानी साहित्य की सहज पार्श्वभूमि और साहित्य के संवेदन-विस्तारक धर्म और सामर्थ्य को सीधी कुमुक पहुँचाने वाले जीवन-दर्शन को साहित्यालोचन के अनिवार्य सहचर की तरह देखने और जाँचने की जरूरत पर बल देना इसीलिए उचित और सामाजिक लगता है। ताकि हम विचारों-विचारधाराओं को उनकी अपनी औकात, अपनी जायज जगह से ज्यादा महत्त्व देकर अपनी सहजबुद्धि और संस्कारवान् चेतना पर हावी होने देने की आत्म-प्रवंचना से खुद को उबार सकें और साहित्य की जो केंद्रीय हैसियत कमोवेश सभी युगों और समाजों में रही है, जो लोच और अबाधित शक्ति उसके जरिए मानवीय अंतःकरण के आयतन को समृद्ध करती रही है, उसे अपना काम करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने वाली आलोचना का पथ भी प्रशस्त कर सकें।

सृजनधर्मी साहित्य स्वयं ज्ञान का स्रोत है। दर्शन की बात यहाँ साहित्य को उससे कमतर या उसका आश्रित ठहराने के लिए नहीं की जा रही है, यह खुलासा कर देना आवश्यक है। साहित्य को 'जीवन की आलोचना' और 'जीवन के अंतर्निहित मर्म का उद्घाटन' यों ही नहीं कह दिया गया। किंतु जो लोग साहित्य की स्वायत्त शक्ति का सबसे ज्यादा नकारते रहे हैं, वही उसे एक आइडियोलॉजी के अधीन करने को सर्वाधिक व्यग्र दिखाई देते हैं। इसलिए साहित्य और विचार के संबंध पर मौलिक ढंग से स्वाधीन बुद्धि-ऊर्जा से सोचने-समझने की जरूरत पर इस दौर में बल देना जरूरी जान पड़ता है। और तब, उसी तर्क से दार्शनिक चिंतन को साहित्य से मिलनेवाले ज्ञान के स्वाभाविक सहचर की तरह स्वीकार करने की बात सामने आती है। पिछली सदी और पूर्वकाल के महत्तम साहित्य-सर्जकों के आचरण से भी यह बात प्रमाणित होती है। साहित्य-सर्जक मौलिक विचारक या दार्शनिक हो ही, यह कदापि आवश्यक नहीं, किंतु वह किसी एक विचार या विचारधारा का अनुचर बनकर अपनी रचनात्मक और अलोचनात्मक सामर्थ्य की स्वाधीन शक्ति को खुद अपने हाथों कुंठित न कर ले और इस तरह कठिन समय में अपनी भूमिका निभाने के रास्ते में खुद ही रोड़ा बन के न रह जाए, यह सावधानी और जागरूकता जरूरी है। और यहीं पर दर्शन की सार्वभौम बुद्धि-ऊर्जा से जुड़ना मात्र किसी अधूरे-विकलांग जीवन-दर्शन (जो वस्तुतः अपनी एकायामिता में दर्शन या जीवन-दर्शन कहलाने का पात्र भी नहीं ठहरता) की अधीनता स्वीकार करने की अपेक्षा श्रेयस्कर है। मात्र यही दर्शाने के लिए कि अपने दार्शनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वभाव के अनुरूप और युग-संवेदित, युगातिक्रामी दार्शनिक चिंतन-ऊर्जा हमारे यहाँ ऐसी चुक नहीं गई है कि हमें उसके लिए दूसरों का मुँह जोहना पड़े, हमने पिछली सदी की शुरुआत में किए गए वैचारिक स्वराज को उकसाने वाले मौलिक प्रयत्नों का उल्लेख किया था। वह उन्मेष—बीच की सारी गड़बड़ियों, व्यतिक्रमों और इकतरफा आदान से हुई हानियों के बावजूद—अभी पूरी तरह दबा नहीं, अभी भी—इस इक्कीसवीं सदी के आरंभ तक भी मौलिक अवदान करने में—विश्व का अवधारणात्मक वशीकरण करने की मूलतः साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा से परिचालित पाश्चात्य जगत् द्वारा उपजाई गई विचारधाराओं को ज़बर्दस्त चुनौती देने में सक्षम है, इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सोमराज गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'प्रस्थानत्रयी' के शांकर भाष्य का पुनर्भाष्य जिसका नामकरण है—'दि वर्ड स्पीक्स टु दि फाउस्टियन मैन'। मनुष्य की सर्वशक्तिमान् बनने की आकांक्षा को पूरी करने के साधन के रूप में ज्ञान की प्यास का फाउस्ट जैसा प्रतीक कहाँ मिलेगा! फाउस्ट की पिपासा उस आत्मज्ञान-निरपेक्ष वस्तुलक्षी ज्ञान की है जो उसे इसी देह से अजर-अमर बना दे, सृष्टि की समस्त विभूतियों को अपने काबू में करके उन्हें भोगने की असीम सामर्थ्य प्रदान कर दे। उसकी ज्ञान-दृष्टि नश्वरता के नकार और मानवीय सीमाओं के अहमन्य उल्लंघन से परिचालित है। शैतान मानो उसी की इस लालसा की पुकार के प्रत्युत्तर की तरह प्रकट होता है और उसकी पूर्ति का वचन देता है—इस शर्त पर, कि फाउस्ट अपनी आत्मा उसके पास गिरवी रख दे। फाउस्ट इस तरह अपने ही चुने और बुने हुए जाल में फँस जाता है। किसी मौलिक ग्रंथ से भी अधिक रोचक और प्रामाणिक सोमराज गुप्त का यह भाष्य औपनिषदिक प्रज्ञा को आधुनिक चेतना के बीचोबीच स्थापित करता है और इसलिए वह उस चेतना को निर्धारित करनेवाली विश्व-दृष्टि, यानी फाउस्टियन ज्ञान-दृष्टि को गहरी चुनौती, सीधी टक्कर भी देता है। इस काम में वह स्वयं पश्चिम के श्रेष्ठतम सृजनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूतियों के शब्द-प्रामाण्य का अनूठा उपयोग करता है और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा की परिणतिस्वरूप उसके सबसे नामी-गिरामी ठेठ समकालीन चिंतकों का भी। सृजनात्मक साहित्य के अंतःप्रमाण का ऐसा गहरा प्रयोग—दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में, अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। और पश्चिम के अग्रगामी दार्शनिक चिंतन की सीमाओं का ऐसा आधिकारिक उद्‌घाटन भी।

साहित्य के अंतःसाक्ष्य का ऐसा विनियोजन—दर्शन के प्रश्नों के स्तर पर कैसे संभव होता है, यह हमारे लिए विचारणीय है। अपनी पुस्तक 'भूलने के विरुद्ध' (1994) में मैंने दर्शाया था कि किस तरह साहित्यिक मनीषा और वैज्ञानिक बुद्धि के बीच बुनियादी फर्क है और वह यह कि साहित्यिक सर्जक मस्तिष्क 'सेल्फ' यानी आत्मा की अनुभूति और अवधारणा के प्रति अनिवार्यतः प्रतिश्रुत होता है; जबकि वैज्ञानिक मस्तिष्क व्यवहार में आत्मा (या, कह लीजिए 'आत्म') का 'चेतना' तक का अस्तिव स्वीकार नहीं कर सकता। सामान्य संस्कृति का काम 'आत्मा' की अवधारणा पर निर्भर न भी हो, किंतु साहित्यकार का तो अस्तित्व ही जाने-अनजाने इसी अवधारणा पर टिका हुआ है। यूरोप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ऐसा एक भी बड़ा लेखक आधुनिक युग का नहीं, जिसने अपनी सभ्यता के प्रति गहरा असंतोष और विरक्त भाष्य व्यक्त न किया हो। इसलिए कि साहित्य का सर्जक इस बात को भीतर से जानता है कि कोई भी संस्कृति उन सब माँगों को पूरा नहीं कर सकती जो मनुष्य की आत्मा उसके सामने निरंतर—खड़ी करती रहती है—संस्कृति और बदलती परिस्थिति के बीच निरंतर बनते-बिगड़ते संतुलन के चलते। प्रश्न यह उठता है कि जहाँ संस्कृति स्वयं आत्मान्वेषी संस्कृति हो, वहाँ समस्या का रूप क्या होगा, क्या है? आत्मबोध की अराजकता के, सांस्कृतिक संकट के जैसे चित्र आधुनिक साहित्य की सर्वोकृष्ट कृतियों में—जैसे दॉस्ताएवस्की, काफ्का, मान इत्यादि में प्रकट हुए हैं, वे हमारी आत्म-स्थिति और सांस्कृतिक परिस्थिति से कितना मेल खाते हैं? स्वयं हमारे आधुनिक साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियाँ इस संकट का कैसा क्या चित्र खड़ा करती हैं, और हमारी आलोचना उस अंतःसाक्ष्य का कैसा—क्या उपयोग करती है? करती भी है या नहीं? क्या हमारी अपनी ज्ञान-परंपरा में आत्म और संस्कृति के बीच, सर्जक-व्यक्तित्व और सभ्यता प्रसूत जीवन-रूपों के बीच उस तरह के विग्रह की स्थिति अनिवार्य है? क्या वह परंपरा पश्चिम के इकतरफा दबाव के चलते हमारे सर्जकों को सृजनात्मक स्तर पर उस तरह सुलभ भी है? देखने की बात है कि यही प्रश्न तब मार्क्सवाद और मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि के साथ हमारे साहित्यिक रिश्तों की सार्थकता को लेकर भी उठेगा। पाश्चात्य सभ्यता और ज्ञान-दृष्टि का एक प्रमुख (और वैज्ञानिक दृष्टि का दावा करने वाला) आलोचक और भेदिया फ्रॉयड (जिसने पाश्चात्य साहित्यालोचन को बहुत गहरे में प्रभावित किया है) हमें अंततः यही न बताता है कि सभ्यता-संस्कृति की सारी सत्ता मानव-मन में ही प्रतिष्ठित है और प्रत्येक मानव-इकाई का अंतःकरण मानव-सभ्यता के समूचे विकास की प्रक्रिया को ही दुहराने को अभिशप्त है। मार्क्स मानव-नियति की इस तस्वीर को उलट देता है। किंतु, एक हिंदुस्तानी लेखक के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता लाजिमी है, कि फ्राउडीय सुपरईगो की तानाशाही यदि दमित अवचेतना के विस्फोट और समायोजन से नहीं कटती तो क्या वह ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियति-चक्र में अपनी निमित्तमात्रता के वरण से कट जाती है? यहीं पर आनंदकुमार स्वामी द्वारा प्रस्तुत मानवीय स्थिति और पुरुषार्थ का वह चित्र कहीं अधिक तर्कशुद्ध और संगत लगता है कि "हम मानव देहधारियों की बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अंतर्मुखता में तो 'आर्केटाइपल' (आद्यरूपात्मक) हैं और अपनी बहिर्मुखिता में नाम-रूपात्मक। मनुष्य को अपने स्वभाव के किसी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, परमार्थिक और लौकिक के बीच सामंजस्य स्थापित करना है।"

आखिर क्या वजह है कि पश्चिम की साहित्यालोचना के लिए आनंदकुमार स्वामी जैसे मनीषी प्रासंगिक और उपयोगी साबित हुए जबकि हमारी आलोचना को उनसे या अपने ही बीच के इस काल से विद्ध और उत्तीर्ण मनीषियों से कुछ भी लेना-देना नहीं? क्या मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, सार्त्र, देरिदा' इत्यादि को हमने अपने अनुभव की जमीन पर, अपनी जरूरत और अर्जित समझ की शर्तों पर अपने काम का पाया बनाया है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या हमारी वर्तमान आलोचना—सैद्धांतिक-प्रायोगिक दोनों तरह की—हमारी हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठतम सर्जकों-मनीषियों के योगदान को पचाकर विकसित और सक्रिय हुई है? बदलते परिप्रेक्ष्य में उसी आलोचना की भूमिका के सम्यक् निर्वाह का भरोसा हो सकता है जिसने पूर्ववर्तियों का मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन कर सकने की अपनी क्षमता प्रमाणित कर दी हो। क्या आज की हिंदी आलोचना का वर्तमान—उसकी सर्वाधिक मुखर और प्रतिष्ठादात्री मशीनरी का आचरण—इस ऋणशोध और जिम्मेदारी का अहसास जगाता है? क्या वह अपनी बहिर्मुखता में ठीक उसी बहिष्कारप्रवण और आत्मतुष्ट (सेल्फ-राइचस) मानसिकता से ही प्रेरित नहीं है जिसे वे ऐतिहासिक दृष्टि से हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता और जातीय व्याधि के रूप में देखते कोसते हैं? हमारे सबसे अधिक विचारोत्तेजक, सबसे अधिक विश्व-चेतस् और सबसे अधिक सांस्कृतिक विवेक का अंतःप्रमाण देनेवाले साहित्य-सर्जकों के प्रति ही इस तथाकथित प्रतिबद्ध आलोचना ने जैसा घटिया बरताव किया है, वह क्या 'आलोचना' कहलाने का पात्र भी है? नितांत पाठकीय स्तर पर भी—जैसाकि हमने शुरू में ही प्रश्न उठाया—क्या यह बहिस्कारप्रवण मताग्रही रचना-दृष्टि और आलोचन-दृष्टि तुलसी, कबीर, निराला, प्रसाद द्वारा संस्कारित हिंदी समाज में स्वयं को, ग्राह्य बना सकी है? हिंदी की साहित्यिक संस्कृति के सहज-स्वाभाविक विकास में आखिर उसका ठीक-ठीक कैसा-क्या योगदान है? क्या कारण है कि अपने समाज की आकांक्षाओं या वास्तविकताओं को लेकर बढ़-चढ़कर दावा करते रहने में बावजूद समाज और साहित्य दोनों की वास्तविक आलोचनात्मक समझ और मूल्यांकन संबंधी उसकी उपलब्धियाँ तक उन लोगों की तुलना में हीनतर हो रह आई है जिन्हें वे व्यक्तिवादी, कलावादी इत्यादि अभिधानों से अवमूल्यित करते रहे हैं? अपने अनर्गल अकारणद्रोही अभियानों में।

मुश्किल यह है कि अन्य प्रदेशों की तुलना में हिंदी-प्रदेश में साक्षरता का अनुपात भयावह रूप से क्षीण है। एक जागरूक, अभिज्ञ और संस्कारशील पाठकवर्ग की उपस्थिति का दबाव लेखक को महसूस ही नहीं होता। अखबारों में साहित्य के लिए जगह नहीं। पत्रकार और रचनाकार का जैसा रचनात्मक संबंध पिछली सदी के पूर्वार्द्ध के बरसों में निर्मित हुआ था—वह पूरी तरह विघटित हो चुका। उनके बीच अपाट्य खाई खुद गई है। अनियतकालीन पत्रिकाओं की बाढ़ वास्तविक सर्जक या आलोकीय प्रतिभा की पहचान या प्रतिष्ठा को सुनिश्चित करने में असमर्थ है। 'अपनी डफली अपना राग' वाला मुहावरा सचमुच हू-ब-हू चरितार्थ हो रहा है। तिस पर लेखक-संघों की सक्रियता ने भी इस अँधेरे का क्षेत्रफल बढ़ाया ही है। जरूरत हिंदी आलोचना के अब तक के किए-धरे का सचमुच निष्पक्ष आकलन करने की और तब उसके सर्वाधिक रचनाक्षम विकास-बिंदुओं को चिह्नित करते हुए साहित्य की अनिवार्यता का समग्र दृष्टि से उसे उसके आगे ले जाने की है। तभी बदलाव की सही समझ और बदलते परिदृश्य में आलोचना से हमारी जागृत अपेक्षा सम्यक् निर्वाह की भी सही समझ पनपेगी और मौजूदा परिदृश्य में कारगर होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष

पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

हिन्दी आलोचना में मौलिकता का अभाव उसका सबसे दुर्बल पक्ष है। भारतीय आलोचनात्मक चिन्तन मूलतः संस्कृत का काव्यालोचनात्मक चिन्तन रहा है। जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी के प्रोफेसर-अध्यक्ष थे तब उन्होंने हिन्दी के अपने काव्यशास्त्र के निर्माण के लिए, इस दिशा में चिन्तन-अनुचिन्तन और प्रणयन करने के लिए आह्वान किया था। पर उनके इस आह्वान की ओर न तो किसी ने ध्यान दिया और न किसी ने इस दिशा में सार्थक प्रयत्न ही किया। यह स्थिति हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में बहुत धुआँ उठने के बाद भी अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। कहीं भी कोई अग्नि नहीं है, कोई प्रकाश नहीं है और न ही अपनी मौलिकता की जीवनोष्मा है। इस तथ्य और सत्य को जो स्वीकार नहीं करते हैं, वे प्रायः एक वाग्छल का सहारा लिया करते हैं। वे कहते हैं कि संस्कृत में आलोचना नहीं है, वहाँ शास्त्र है और आलोचना शास्त्र से अलग है। पर सत्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र आलोचना का सिद्धांत पक्ष है और यह काव्य-सर्जना और उसके अनुभावन से किस तरह जुड़ा है, इसे सर्वत्र लक्षण—उदाहरण के लिए सायुज्य से स्पष्ट किया गया है।

सच्चाई यह है कि जब हिन्दी आलोचना में सिद्धांत और सर्जनात्मक अनुप्रयोग—दोनों ही दिशाओं में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं रेखांकित की जा सकती, जब एक प्रतिष्स्थापित लंबी रेखा से बड़ी रेखा नहीं खींची जा सकती, तो डॉ. नामवर सिंह जैसे आलोचक के लिए बेहतर मार्ग यही रह जाता है कि अपनी आड़ी-तिरछी रेखा के सामने उस सीधी लंबी रेखा को 'रेखा' मानने से ही इनकार कर दें। कहना होगा कि ऐसी स्थिति में यही काम वह अपने वाग्छल के द्वारा किया करते हैं।

यहाँ मेरा यह प्रश्न उठाना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आखिर आलोचना है क्या? वस्तुतः आलोचना रचना के सन्दर्भ में सिद्धांत और सर्जनात्मक अनुप्रयोग दोनों

* प्रसिद्ध सर्जनात्मक और सैद्धान्तिक आलोचक तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी; संपर्क : 'साईंकृपा', 58, लाल एवेन्यू डाकघर-रेयॉन एंड सिलक मिल, अमृतसर—143005 (पंजाब)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही रूपों में आलोचक के साहित्य-विवेक, जीवन-विवेक, उसकी निजी चिन्तनात्मक दृष्टि और सन्दृष्टि (Vision) की अभिव्यक्ति है। कहना होगा कि मैं जिसे साहित्य-विवेक कह रहा हूँ उसमें 'साहित्य-सिद्धांत' और 'सहृदयत्व' दोनों का ही मणिकांचन संयोग रहता है। पर नामवर जी का यह कथन भी क्या उनका मौलिक उद्‌गार है? स्पष्ट ही नहीं, क्योंकि यह भी अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध आलोचक रेने वेलेक की एक मान्यता की विरुपित (Destorted) छाया-भर है। वेलेक ने अपनी मान्यता यह कहकर स्पष्ट की है कि 'साहित्यिक वैदुष्य' (Literary Scholarship) और 'साहित्यालोचन' (Literary Criticism) दोनों भिन्न हैं। ये एक नहीं हैं। पर क्या भारतीय काव्यशास्त्र केवल साहित्यिक वैदुष्य भर है? क्या पश्चिम में अरस्तु और प्लेटो से लेकर अब तक प्रवर्तित हो रहे साहित्य-सिद्धांत साहित्यिक वैदुष्य भर हैं? तब तो बिंब, तनाव, विडंबना आदि के सारे सिद्धांत भी साहित्यिक वैदुष्य-भर हैं। पर नामवर जी इन्हीं सिद्धांतों को लेकर कविता की आलोचना करते हैं; कविता का नया प्रतिमान रचते हैं। यही नहीं, अपनी इस आलोचना-कृति के आरम्भ में वे अपने आलोचना-कर्म को उद्‌भासित-प्रकाशित करने के लिए प्रसिद्ध भारतीय काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन के श्लोक-पर-श्लोक उद्‌धृत करते हैं। यानी हिन्दी आलोचना में नामवर जी की स्थापना पर क्या कहें, उनका तो आरोप तक मौलिक नहीं है। वैसे साहित्यिक वैदुष्य साहित्य-विषयक ज्ञान से संपन्न होना है। किसी भी विषय का वैदुष्य प्राप्त करना उस विषय का विद्वान् होना है। उस विषय की स्मृति और समझ—दोनों ही रखना है। सामान्यतः तो यह आवश्यक नहीं कि साहित्य-विषयक वैदुष्य से संपन्न व्यक्ति साहित्य का आलोचक भी हो। पर इसकी विद्यमानता को भी नकारा नहीं जा सकता। हिन्दी में हजारी प्रसाद द्विवेदी इसके प्रमाण हैं। वह जहाँ साहित्यिक वैदुष्य से संपन्न हैं, वहीं साहित्य के आलोचक भी हैं।

पश्चिम में तो हमारे समकाल तक में सिद्धांत-पर-सिद्धांत रचे गए हैं और रचना का सर्जनात्मक निर्वचन भी बड़े प्रभावी ढंग से किया गया है। पर हिन्दी आलोचना या तो संस्कृत का उच्छिष्ठ खाती है या पश्चिमी संरचना, उत्तर-संरचना, रूपवाद, शैलीविज्ञान, संकेतविज्ञान, उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-उपनिवेशवाद, मनोविश्लेषणवाद, सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, साहित्य का समाजशास्त्र, उत्तर-मार्क्सवाद, दलित-साहित्य, स्त्री-विमर्श आदि आयातित सिद्धांतों पर आंदोलनात्मक विमर्श करती रहती है। क्या इसे कोई हिन्दी आलोचना की मौलिकता कहेगा? सच्चाई यह है कि हिन्दी आलोचना और आलोचक के पास न तो आज कहीं आलोचकीय मस्तिष्क है और न ही कहीं आलोचकीय हृदय! उसकी विशेषता, महत्ता और सार्थकता यदि कुछ है, तो वह इसकी पराश्रयता और परोपजीविता है। पर इसके कुछ कनिष्ठिकाधिष्ठित अपवाद अवश्य हैं।

मैं अपनी इस स्थापना को थोड़ा और विस्तार दूँगा। पाठ की आलोचना में सर्जनात्मक निर्वचन की दिशा में पश्चिम में लेवी स्ट्रास ने जो मिथकों की संरचना का,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देरिदा ने रूसो के सिद्धांतों का, शैलीविदों ने अनेक कवियों की कविताओं का और विसंरचनावादियों ने जो अनेकानेक पाठों का सर्जनात्मक निर्वचन किया है, एडगर एलेन पो की कहानी 'द पर्लोइंड लेटर' (The Purloined Letter) का जो अर्थगर्भी निर्वचन देरिदा, लेकाँ तथ अन्यों ने किया है, वैसी आलोचनात्मक सक्रियता तो हिंदी में कहीं देखने तक को नहीं मिलती।

कहते हैं, मूल की नई व्याख्या में मूल का, यानी मौलिक स्थापना का ही श्रेय मिलता है। यह मान्यता आनन्दवर्धन की है। बहुत पहले डॉ. नामवर सिंह ने इसे अपनी एक आलोचनात्मक कृति के आरम्भ में कुछ सोच-समझकर ही उद्धृत किया था। पर इस आलोक में भी हिन्दी आलोचना में, जैसा अपेक्षित रहा है, अब तक न तो संस्कृत काव्य सिद्धांतों का ही नया निर्वचन किया जा सकता है और न ही हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियों का ही सर्जनात्मक निर्वचन संभव हो पाया है। यानी मूल की नई व्याख्या की मौलिकता भी हिन्दी आलोचना को प्राप्त नहीं हो सकी है।

हिन्दी आलोचना का जो कुछ भी आज तक महत्त्वपूर्ण माना जाता है उसका अविकसित रह जाना उसका दूसरा दुर्बल पक्ष है। ऊपर मैंने जिन कनिष्ठिकाधिष्ठित अपवादों की बात की है, यहाँ मेरा आशय उसी अपवाद-त्रयी से है। वस्तुतः हिन्दी आलोचना के जो तीन अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलोचक माने जाते हैं—रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नन्द दुलारे वाजपेयी—वे मेरी दृष्टि में हिन्दी के पाठकवादी आलोचक (Readers-Oriented Critic) थे। आलोचना के क्षेत्र में पाठकवादी सिद्धांत पश्चिम में बाद का आंदोलन है। वह अपनी गुणात्मकता में पहले हिन्दी में आया। पाठकवादी आलोचक साहित्य-विवेक (Literary Competence) से संपन्न होता है। यहाँ पाठक (Reader) से अभिप्राय समर्थ पाठक, योग्यतम पाठक से लिया जाता है। यह साहित्य का वही पाठक है, जिसमें साहित्य-विवेक, जीवन-विवेक, निजी चिन्तनात्मक दृष्टि और सन्दृष्टि (Vision) होती है। इस त्रयी की आलोचना में ये विशेषताएँ मिलती हैं; इनके यहाँ मूल की नई व्याख्या है, तो कृति और कृतिकार के विषय में नई स्थापनाएँ भी हैं। और नन्द दुलारे वाजपेयी के यहाँ तो एक सीमा में ही सही, पर सर्जनात्मक निर्वचन भी है। पर हिन्दी में इस पाठकवादी आलोचना का विकास नहीं हो पाया। वह अवरुद्ध हो गई। 'ब्रांड मार्का आलोचना' ने ऐसा जोर पकड़ा कि इसकी नवाचारिता के आमोह में पाठकवादी आलोचना के विकास की संभावना ही निःशेष हो गई। फिर बाद में अन्य पश्चिमी साहित्य-सिद्धांत आए। इससे तो हिन्दी में इस पाठकवादी आलोचना का भविष्य ही नष्ट हो गया।

हिन्दी आलोचना की गंभीरता और उसकी कर्मनिष्ठा को मार्क्सवादी बनाम जनवादी आलोचना ने भी क्षति पहुँचाई है। हिन्दी में न तो इसके सिद्धांत-पक्ष का सम्यक् विवेचन संभव हो पाया है और न ही इसके मानदंड और मानक स्थापित कर महत्त्वपूर्ण कृतियों पर गहराई में जाकर सार्थक विमर्श ही किया जा सका है। अब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस आलोचना के जितने प्रतिमान प्राप्त होते हैं, वे सभी बाहरी प्रतिमान ही हैं। चाहे गोल्डमान हों या लूकाच, अल्थूसर हों या ग्राम्शी, बरिकान हों या मैकरे, इन सबने क्लासिकल मार्क्सवाद में नई संभावनाओं को लेकर विचार किया है। पर हिन्दी में जड़ मार्क्सवाद से आगे नव्य मार्क्सवाद या उत्तर-मार्क्सवाद पर विचार करने वाले लोग नहीं हैं। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने न तो किसी टेरी इगल्टन को जन्म दिया है और न ही फ्रेडरिक जेम्सन को। यह आलोचना आज भी हिन्दी में जड़ और गतानुगतिक आलोचना है। सिद्धांत के क्षेत्र में इसकी प्रकृति घोर अनुर्वर है।

हिन्दी आलोचना के इस दुर्बल पक्ष को कभी एक सीमा-रेखा खींचकर डॉ. नामवर सिंह ने स्वयं स्वीकार किया था कि "1956 तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गई, चाहे वह सोवियत संघ में हो, पश्चिमी यूरोप के देशों में हो, चाहे अन्यत्र, यह बहुत ही यांत्रिक, स्केमेटिक, और कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालति थी और आज यह माना जाता है कि इस दौर की साहित्यिक आलोचनाएँ मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थीं।" पर हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना आज भी उसी तरह लिखी जाती है। इसमें एंगेल्स का स्वर प्रमुख नहीं है, बल्कि लेनिन का स्वर ही प्रमुख है। इसीलिए यह आलोचना अपने व्यवहार पक्ष में विचारधारा, प्रतिबद्धता, सामाजिक यथार्थ, और मूलाधार के आधार पर समसामयिक राजनीति से जोड़ने का प्रयत्न करती, मुद्दों पर बहस करने को ही अपना प्रमुख एजेंडा बनाती है, जहाँ साहित्य छूट जाता है। स्पष्ट तौर पर मार्क्सवादी आलोचना ने राजनीति को नाभिकेंद्र में रखकर साहित्य को दरकिनार कर दिया है। इसकी शिविरबन्दी और पक्षधरता हिन्दी आलोचना के 'जेनुइननेस' के लिए खतरा है। यहाँ न तो मार्क्स की 'बहुवचनीयता' का विवेचन है और न ही हीगेल के साथ उसके वैचारिक संबंध और सरोकार पर विचार! इस आलोचना ने पाठकवादी आलोचना का विकास अवरुद्ध किया है। न तो वैश्विक धरातल पर इस आलोचना विकास-क्रम की सम्यक् मीमांसा की गई है, न मार्क्सवाद का पुनर्मूल्यांकन और न ही प्रतिष्ठित मार्क्सवादी प्रतिमानों के आधार पर हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियों का मूल्यांकन। बौद्रिया और ल्योतार ने मार्क्सवाद पर जो आरोप लगाए हैं, उनका उत्तर भी हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक नहीं दे सके हैं। इस तरह विश्व की मार्क्सवादी आलोचना की तुलना में हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना कहीं कम विकसित और दुर्बल सिद्ध होती है। यही नहीं, हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में भी इसमें कई ऐसी दुर्बलताएँ हैं, जो हिन्दी आलोचना को विकसित नहीं होने देती हैं। भले ही मार्क्सवादी आलोचक इसे अपने स्वास्थ्य का प्रमाण मानें, पर यह उनकी मानसिक रुग्णता ही है कि अपने शिविर के सर्जकों और आलोचकों के सिवाय अन्य समर्थ सर्जकों और आलोचकों का वे नोटिस नहीं लेते। मार्क्सवादी ब्रांडमार्का आलोचना द्वारा साहित्यकारों में, दृष्टांततः डॉ. रामदरश मिश्र और उदय प्रकाश की लगातार उपेक्षा करना तथा इन पर तरह-तरह के आरोप लगा वस्तुतः इस आलोचना की पूर्वग्रहग्रतता का दुर्बल पक्ष ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना सिद्धांत या सर्जना के विषय में आलोचक की अपनी स्थापना, उसके द्वारा की गई रचना की परख और पहचान हुआ करती है। इसलिए अलग-अलग आलोचकों से उसकी निजता और अन्यों से उसकी भिन्नता या उससे आगे की विस्तृति-संहति की अपेक्षा बुनियादी तौर पर बनी रहती है। पर मार्क्सवादी आलोचना में सुरों की इस भिन्नता की जगह सुरों की एकता-ही-एकता देखने को मिलती है, मानो दादुर-समूह एक स्वर में टर्रा रहे हों या श्रृगाल एक स्वर से सामूहिक विरुद-गान कर रहे हों। यह भी हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की अक्षमता ही है। उनके यहाँ अगर कहीं भिन्नता है भी, तो वह बालू की नींव पर खड़ी हैं अथवा विरोधमात्र के लिए है।

मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना संतुलनहीन है। वह घोर एकांगी है। वह आज भी रचना पर विचार करने के पूर्व 'द्विविभाजन' (Dichotomy) का सहारा लेती है। ऐसे में वह रचना को 'अन्तर्वस्तु' और 'रूप' (Content and Form) में बाँटती है तथा केवल 'अन्तर्वस्तु' की सतह पर तैराकी करती रहती है, उसकी गहराई में नहीं उतरती, गोताखोरी नहीं कर पाती और उसमें निहित अभिप्रायों, सार्थक कथ्य-छायाओं की उद्घाटन प्रक्रिया तक भी नहीं पहुँच पाती है। इसलिए वह रचना की सही पहचान-परख नहीं कर पाती है। अपने इस आरोप को मैं मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता के बारे में नामवर जी और चंचल चौहान (दोनों मार्क्सवादी-जनवादी आलोचक) द्वारा दिए परस्पर विरोधी वक्तव्य के आधार पर प्रमाणित कर रहा हूँ। इन दोनों के बीच विचारणीय बिन्दु यह है कि 'अँधेरे में' कविता में 'अस्मिता की तलाश' है या 'अस्मिता का विलय' है? यह विवाद इस ब्रांडवादी आलोचना के द्वारा सुलगा दिया गया। नामवर जी ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में 'अँधेरे में' कविता का अपने द्वारा पहले किए गए विवेचन के बाद 'पुनश्च' लिखकर चंचल चौहान को उत्तर दिया। पर यह साहित्य-विवेक दोनों में से किसी में नहीं उभर पाया कि वह यह समझ सकें कि ये दोनों परस्पर विरोधी कथन न होकर परस्पर सहनिर्भर कथन हैं, क्योंकि बिना निजी अस्मिता के विलय के काम्य-अस्मिता की तलाश व्यर्थ है और इसी तरह काम्य-अस्मिता की तलाश तो कथित अस्मिता के विलय की अपेक्षा रखती ही है। यहाँ अस्मिता की तलाश से आशय-अस्मिता की सही पहचान से है। मुक्तिबोध ने स्वयं जिसे 'डी-क्लास' होना कहा है, जहाँ कहीं अपनी मध्यवर्गीय चेतना को छोड़ने की बात की है, वही तो 'अस्मिता का विलय' है। पर यह होगा कहाँ? इस गंतव्य को प्राप्त करने के लिए ही तो 'अस्मिता की तलाश' या 'पहचान' की सार्थकता है। तभी सर्वहारा वर्ग की अस्मिता में मध्यवर्ग का यह विलय संभव हो पाएगा। इसे यूँ देखें कि काँच का एक ग्लास है। उसमें आधा पानी है, जो साफ-साफ अपनी पारदर्शिता में दिख रहा है। पर एक यह कहकर अड़ा है कि आधा ग्लास खाली है और दूसरा यह दृढ़तापूर्वक कह रहा है कि आधा ग्लास भरा है। इनमें कोई भी वस्तुस्थिति को नहीं समझ पा रहा है, क्योंकि यहाँ रचना को देखने की दृष्टि का, साहित्य-विवेक से उत्पन्न उस पारदर्शिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अभाव है, जो तत्काल इसकी पारस्परिक सह-निर्भरता का ज्ञान और अनुभावन करा देती है। यदि चंचल चौहान इसे समझ लेते, तो अपने मन्तव्य को नामवर जी के मन्तव्य की व्याप्ति और उसकी पारस्परिक निर्भरता में उपस्थापित कर देते और यदि नामवर जी यहाँ अपने साहित्य-विवेक में नहीं चूकते, तो 'पुनश्च' में इतना लंबा-चौड़ा वक्तव्य देने की, रै-करण (Reification) तक की चर्चा करने की उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे 'पुनश्च' में दोनों कथनों की परस्पर निर्भरता और एकोन्मुखता के प्रति दो वाक्य लिखकर ही वस्तुस्थिति स्पष्ट कर देते। पर मार्क्सवादी आलोचना इसमें चूक गई। दोनों के द्वारा अपनी-अपनी शक्ति दिखाने में ही आलोचक और आलोचना की अशक्ति सामने आ गई।

हिन्दी आलोचना की एक दुर्बलता उसमें विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का अभाव है। इस ओर आलोचक अब तक ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। इस प्रकार की आलोचना जहाँ साहित्य-विवेक से संभव होती है, वहीं साहित्य-विवेक को संपन्न-समृद्ध भी करती है। विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना तब सामने आती है जब किसी पूर्व स्थापित साहित्य-सिद्धांत को और आगे बढ़ाया जाए, उसमें कुछ नई कड़ियाँ और जोड़ी जाएँ अथवा उसके किसी उपांग या अभिलक्षण को तर्कसंगति के आधार पर खंडित कर हटा दिया जाए और किसी नए, युक्तियुक्त अभिलक्षण या स्थापना से उसे प्रतिस्थापित कर दिया जाए। व्यवहार पक्ष में विवेचन-निर्वचन की दृष्टि से एक आलोचक द्वारा की गई पूर्व स्थापना को उसी दिशा में और व्याख्यायित किया जाए अथवा सर्वथा नई दिशा में जाकर नई, मौलिक उद्‌भावना की स्थापना की जाए, भले ही यह स्थापना पूर्ववर्ती आलोचना की विरोधिता में ही क्यों न उपस्थित हो?

सिद्धांता पक्ष में 'अलंकार सिद्धांत' की मूल स्थापना से अलग हटकर वक्रोक्तिकार कुंतक के द्वारा 'वक्रोक्ति' को एक अलंकार-मात्र न मानकर स्वतंत्रतः 'वक्रोक्ति सिद्धांत' की स्थापना करना और उसकी 'वाच्य-वक्रता' के अन्तर्गत अलंकारों को समाविष्ट कर लेना विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का दृष्टांत है। हिन्दी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के दो आलोचनात्मक आलेखों—'साधारणीकरण' और 'कविता क्या है' में किसी अंश तक विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का आरम्भ रेखांकित किया जा सकता है। पर परवर्ती हिन्दी आलोचना में इस दिशा में कोई सक्रियता प्राप्त नहीं हो पाती है।

व्यवहार-पक्ष के उदाहरण में हिन्दी के एक निबंधकार के साहित्य-विवेक को परखने की आवश्यकता है, जिससे हिन्दी आलोचना में इस प्रकार के अभाव का सहज भी पता चल जाता है। हिन्दी निबंधकार कुबेर नाथ राय की एक पुस्तक है 'किरात नदी में चन्द्रमधु'। अपनी इस पुस्तक के एक निबंध में उन्होंने 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' के विषय में तब तक की गई सारी आलोचनात्मक परिशंसाओं और स्थापनाओं को नकार दिया है। यहाँ तक कि स्वयं इस कविता के कवि 'निराला'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा की गई विवेचन-व्याख्या से भी अपनी असहमति जताते हुए उसकी सर्वथ नवीन और मौलिक विवेचना की है। कहना होगा कि इससे अधिक उपयुक्त औ सटीक विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का प्रमाण ढूँढ़ना कठिन है। श्री राय के शब्दों में "मुझे विशेष रूप में स्मरण आती है 'निराला' की रचना 'जुही की कली' छायावाद के आमुख काल में यह कविता लिखी गई थी, परन्तु प्रत्यक्ष, सुंदर अर्थ पर एक वेदान्ती, नीरस, अर्थ कवि ने ही स्वयं आरोपित कर दिया था। संभवतः 'सरस्वती के तत्कालीन आर्यसमाजी, वेदांती पहरेदारों को फुसलाने के लिए, अन्यथा उनके स्थूल 'हवालेपन' से यह बेचारी जड़-समेत उखड़ जाती। पर जब मैं इस शुक्लाभिसारिका-जैसी शुक्ला प्रेमिका-जैसी चन्द्रज्योत्स्ना के साथ एकांत में बैठकर बात करता हूँ, तो 'विजन-वन-वल्लरी' से आरम्भ होकर अंतिम पंक्ति तक कविता का मधुकोष दल-प्रति-दल पाँखुरी-देर-पाँखुरी खुलने लगता है और तब मैं अनुभव करता हूँ कि अपने असल अर्थ में यह कविता मोक्ष-बोध की नहीं, काम-बोध की कविता है। बालिका-वधू का काम-बोध। यह जुही की कली भीतर-ही-भीतर तरुण हो चली है। पर यौवन-बोध अभी वयःसंधि द्वार को लाँघ ही पाया है। वह 'अमल-कोमल-तनु' है। दृग बंद किए शिथिल पत्रांक में सोयी है। संभवतः अपने विकसित हुए आंतरिक व्यक्तित्व के प्रति स्वयं सचेत नहीं। चेहरे पर विमलता-अबोधता-पवित्रता के भाव अंकित हैं। और इसी समय 'मलयानिल' अर्थात् काम-बोध उस सोई हुई (अर्थात् अपने इस नए व्यक्तित्व के प्रति अचेत) जुही की कली को आकर झकझोर जाता है : यौवन का तीव्र, सचेत बोध दे जाता है, भीतर के स्नायुमंडल को जगाकर। 'निराला' भले ही कहें कि वह मलयानिल 'उपवन, सर-सरित, गहन गिरि कानन, कुंज-लता-पुंजों को पार कर' दूर देश से आता है, परन्तु मैं तो ऐसा प्राप्त करता हूँ कि सारी प्रक्रिया भीतर होती है, वह मलयानिल भीतर जाता है। वह 'वन-उपवन, सर-सरित, गहन गिरि-कानन' सब कुछ मन के अवचेतन और स्नायु-चक्रों में है और वह अन्तर का मलयानिल अनेक स्नायु-चक्रों को निर्ममतापूर्वक जगा देता है, जो वयःसंधि के बाद सक्रिय होते हैं कविता की भाषा रूपक या 'एलेगरी' होती है। अतः जो व्यापार भीतर घटित होता है उसको यहाँ पर बाह्य नाट्य और प्रतीकों के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इसी से मलयानिल, जो भीतर की काम-चेतना है, बहुत दूर देशों से आते मलयानिल का रूपक धारण कर प्रत्यक्ष होता है। वह 'जुही की कली' इस प्रकार भीतर-भीतर काम-चैतन्य का पूर्ण जागरण पाकर सृष्टि-व्यापी प्रकृति-पुरुष की कामलीला का प्रतीक बन जाती है, न कि आत्मा-परमात्मा के मोक्षमार्गी महामिलन की। यह वेदांती नहीं, वैष्णवी कविता है।"..."इस कविता को वेदांती मानना इसके काव्यत्व को हीन करना है। यह शुद्ध और स्वस्थ कामबोध की कविता है। यह स्वास्थ्य-दीप्त काम-बोध है। वसंत में इस बोध को उद्दीपन प्राप्त होता है और भीतर के बोधचक्र, भीतर की रक्तशिरा और स्नायुप्रवाह जग जाते हैं।...'जुही की कली' रस से भावित काम-बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कविता है।" (किरात नदी में चन्द्र-मधु, पृष्ठ-19,20,21) इस तरह विगत शताब्दी के नवें दशक के आरम्भ में हिन्दी के श्रेष्ठ चिन्तक और ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय ने जो 'जुही की कली' की उक्त अन्तर्मुख, वैष्णवी व्याख्या प्रस्तुत की है, वह विकासात्मक-गयात्मक आलोचना का दृष्टांत है पर हिन्दी आलोचना में इस प्रकार की आलोचना का अभाव उसकी अशक्ति को ही दर्शाता है।—

हिन्दी आलोचना में अब तक हिन्दी साहित्य की क्लासिक कृतियों और महत्त्वपूर्ण रचनाओं, यथा—गोदान, कफन, पूस की रात, कामायनी, 'राम की शक्तिपूजा', 'अँधेरे में', 'असाध्य वीणा' आदि—के सन्दर्भ में विकासात्मक-गयात्मक आलोचना का अभाव खटकता है। ये सभी रचनाएँ बहुध्वनिक (Polyphonic) और अर्थगर्भी रचनाएँ हैं। इस पर गतानुगतिकता से अलग हटकर आलोचना की इस दिशा में ही विमर्श और विवेचन संभव है। अब तक इस दिशा में जो—कुछ प्रयास हुए भी हैं, वे नगण्य हैं।

हिन्दी आलोचना का एक और दुर्बल पक्ष आलोचनात्मक सिद्धांतों के विवेचन के सन्दर्भ में उनकी अनुप्रयोगी और व्यवहार पक्ष की उपेक्षा है। किसी भी सिद्धांत की चरितार्थता और सार्थकता उसके व्यवहार पक्ष से ही सिद्ध हो पाती है। इसी से सिद्धांतों के विवेचक के साहित्य-विवेक का भी पता चलता है। डॉ. नगेंद्र ने पश्चिमी प्रगामी आलोचना-सिद्धांतों में क्या काव्य-बिंब, क्या सौंदर्यशास्त्र, क्या मिथक, क्या शैली-विज्ञान, क्या साहित्य का समाजशास्त्र और क्या तुलनात्मक साहित्य, सभी का सिद्धांत-विवेचन किया, पर इन सिद्धांतों के आधार पर वह किसी भी सर्जनात्मक कृति का अनुप्रयोगी विवेचन नहीं कर सके। उनके द्वारा 'उर्वशी' का किया गया विवेचन भी किसी एक सिद्धांत पर आधारित नहीं है। काव्यबिम्ब के सन्दर्भ में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'संश्लिष्ट बिंब' का सिद्धांत दिया, यद्यपि इस 'संश्लिष्ट' शब्द का पूर्व प्रयोग शुक्ल जी कर चुके थे। पर चतुर्वेदी जी ने भी संश्लिष्ट काव्य बिम्ब के सिद्धान्त के आधार पर किसी कृति का विशेषण-विवेचन नहीं किया। डॉ. कुमार विमल और डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांत पक्ष का सांगोपाग, 'मोनुमेंटल' विवेचन तो किया, पर इस सिद्धांत के आधार पर वे भी किसी कृति का सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन नहीं कर सके। दूसरे शब्दों में इस सिद्धांत का अनुप्रयोगी पक्ष ऋणात्मक ही रहा। इन लोगों ने काव्य और काव्यांदोलनों में उसके उदाहरण-भर रेखांकित किए। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सिद्धान्तों के घटक-तत्त्वों के उदाहरण रचना से ढूँढ़कर प्रस्तुत करना सिद्धांत का ऐसा अनुप्रयोगी पक्ष नहीं है, जिससे उस सैद्धांतिक आलोचना की अनुप्रयोगी चरितार्थता प्राप्त की जा सके, बल्कि यह तो सिद्धांत का ही निर्देशन और स्पष्टीकरण है। ऐसा ही शैलीविज्ञान, मिथकीय सिद्धांत, मनोविश्लेषण, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, साहित्य का समाजशास्त्र, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, विसंरचना (डीकंस्ट्रक्शन), तुलनात्मक साहित्य, उत्तर-उपनिवेशवाद आदि के सिद्धांतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सन्दर्भ में भी हुआ है। इन सिद्धांतों को भी रचना या कृति-विशेष पर साकल्य (Wholeness) में अनुप्रयुक्त करते हुए उसकी साभिप्रायता, सोद्देश्यता और सार्थकता को उद्‌घाटित नहीं किया जा सका है। इस तरह इस क्षेत्र में जिस प्रकार का निदर्शनात्मक और सोदाहरण स्पष्टीकरणात्मक अध्ययन हुआ है, उस तरह के घटकीय निरूपण को पहले 'फाइलोलॉजिकल स्टडी' कहा जाता था। हिन्दी में यदि ऐसा शीर्षक बनाएँ तो उदाहरण होगा—प्रेमचंद के उपन्यासों में किसान, प्रेमचंद की कहानियों में मजदूर, प्रेमचंद के कथा-साहित्य में दलित।

वस्तुतः सिद्धांत के आधार पर भी की जाने वाली आलोचना की एक प्रतीक्षित सोद्देश्यता रही है और वह यह कि यह महान् कृतिकारों तथा अन्य कृतिकारों की भी महत्त्वपूर्ण कृतियों की सम्यक् पहचान-परख कर उसकी अनदेखी साभिप्रायता और सार्थकता को दिखा सके, उसका सही मूल्यांकन कर सके। यदि एक-दो अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी में इसका विराट शून्य ही दृष्टिगत होता है। अपवादों में वासुदेव शरण अग्रवाल का नाम लिया जाएगा, जिन्होंने भारतीय मिथकीय प्रतीकों में 'समुद्र-मंथन' और 'कल्पवृक्ष' को कूटमुक्ति की सार्थकता के द्वारा मिथकीय आलोचना को दिशा प्रदान की है और ऐसे अभाव को भाव में भरने का प्रयत्न किया है। पर हिन्दी में आलोचक अन्यान्य क्षेत्रों के ऐसे समर्थ चिन्तकों-विवेचकों से भी अभिप्रेरणा लेकर इस अभाव को भरने की दिशा में प्रयत्नशील नहीं हैं।

हिन्दी में प्रायः सैद्धांतिक और सर्जनात्मक (व्यावहारिक)—दोनों प्रकार की आलोचना में सही 'तुलनात्मकता' और 'अन्तरपाठीयता' (Inter-Textuality) का अभाव मिलता है, जबकि आलोचना के विकास-क्रम और समृद्धि की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो आलोचना पूर्ववर्ती और परवर्ती, पौरत्य और पाश्चात्य तथा विभिन्न अभीष्ट भाषिक साहित्यों के बीच ऐसे सूत्रों, बीजों और प्रभाव-छायाओं के अन्तर-पाठों का विवेचन करती है, वह आलोचना महत्त्वपूर्ण, सार्थक और श्रेष्ठ मानी जाती है। पर ऐसा नहीं है कि हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना नहीं लिखी गई है। वह लिखी गई है और अधिकाधिक लिखी गई है। पर वह 'तुलनात्मक साहित्य' जैसे पश्चिमी ज्ञानानुशासन के स्वरूप और घटक-तत्त्वों से बिना परिचित हुए ही केवल 'समानता' और 'असमानता' के आधार पर अब तक लिखी जा रही है, जबकि इसमें 'तद्रूपता' (Identity) और 'व्यतिरेकिता' (Contrastivity) जैसी दिशाएँ भी खुलती हैं। इसको मानक रूप तभी प्राप्त हो सकता है, जब यह इस ज्ञानानुशासन की व्यापकता और गहनता—दोनों को ऐसी आलोचना में समाविष्ट करे। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी आलोचना में इसके दृष्टांत भी बहुत कम मिल पाते हैं। हाँ, पुराने पौरत्य-पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों, विभिन्न भाषाओं के कृतिकारों, कृतियों, आंदोलनों और प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में हमें जो-कुछ रूढ़ तुलनात्मक विवेचन प्राप्त होता है उससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता है। अतः इस कमी और दुर्बलता को क्रमशः भावात्मकता और सबलता में भरने और रूपांतरित करने की अपेक्षा और प्रतीक्षा अभी बनी रहेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन हिन्दी आलोचना में 'अनुसंधानात्मक आलोचना' का भी अभाव है। इस प्रकार की आलोचना आलोच्य विषय को पूरी व्यापकता और गहनता में ग्रहण करती है। इसका 'ट्रीटमेंट' 'माइक्रो' (गहन) और 'मैक्रो' (व्यापक) दोनों प्रकार का होता है। ऐसी आलोचना 'परिपूर्ण' और 'प्रादर्श' (Perfect) आलोचना मानी जाती है। हिन्दी में अब तक कुछ गिने-चुने लोगों ने ही इस दिशा में पहल की है। इनमें रामचंद्र शुक्ल, नलिन विलोचन शर्मा और कुमार विमल के नाम आते हैं। हजारी प्रसाद जी का जो लेखन अनुसंधानात्मक है, वह शुद्ध अनुसंधान ही है, उनकी कबीर वाली आलोचना में एक सीमा में ही अनुसंधानात्मकता प्राप्त होती हैं वहाँ 'मैक्रो' का 'ट्रीटमेंट' तो एक सीमा में मिल जाएगा, पर 'माइक्रो ट्रीटमेंट' का अभाव है। इसी तरह नन्द दुलारे वाजपेयी के यहाँ 'माइक्रो ट्रीटमेंट' की विद्यमानता तो है, पर 'मैक्रो ट्रीटमेंट' उनके यहाँ अनुपस्थित है। हिन्दी में लगातार आलोचना लिखी जा रही है, पर इस अभाव और दुर्बलता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जा पा रहा है। कोई भी आलोचक, चाहे वह जिस किसी भी प्रकार की आलोचना लिखता हो, वह अनुसंधानात्मक आलोचना की दिशा में पहल कर हिन्दी आलोचना के इस दुर्बल पक्ष को शक्ति-क्षमता प्रदान कर सकता है।

काव्यभाषा, कथाभाषा एवं नाट्यभाषापरक आलोचना के क्षेत्र में भी लगातार प्रयास चलते रहने के बावजूद यह आलोचना जिस गंतव्य तक पहुँचनी चाहिए थी वहाँ तक अब भी पहुँच नहीं पाई है। इसका कारणं है इन तीनों विधाओं की भाषा के सन्दर्भ में आलोचकों की दृष्टि का साफ नहीं होना। हिन्दी में आलोचक जब साहित्य की भाषा का अध्ययन करने चलता है तब वह प्रायः 'आधारभाषा' अर्थात् जिस भाषा में साहित्य लिखा गया होता है (अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, दक्खिनी), उस भाषा के व्याकरण के विभिन्न तत्त्वों और उसकी विभिन्न कोटियों (Categories) की दृष्टि से भाषा-प्रयोग का विवेचन करने लग जाता है। उसे इसकी बुनियादी जानकारी नहीं होती कि साहित्य की भाषा सर्जनात्मक भाषा होती है। साहित्यकार साहित्य की आधार-भाषा में ही भाषा-कौशलों की निजी बुनावट डाल कर उसे विशिष्ट या सर्जनात्मक बना देता है। यही सर्जनात्मकता साहित्य की भाषा की अपनी पहचान होती है। इस दृष्टि से साहित्य की भाषा अलंकारों (Figure of Speech), रीतियों, वक्रोक्तियों, ध्वनि गूँजों और अर्थ-विच्छित्तियों की भाषा होती है। वह बिंब-प्रतीक, मिथक और फंतासियों की भाषा होती है। वह तनाव, विडंबना, भंगिमा और विरोधाभास की भाषा होती है। वह अन्यथाकरण की, अग्रप्रस्तुति की—विचलन, विपथन और समांतरता की और डिफरेंस' (Difference) की भाषा होती है। यहीं काव्यभाषा साहित्य को साभिप्रायित करती है।

हिन्दी में काव्यभाषा-विषयक आरम्भिक आलोचनाओं को देखें। डॉ. नामवर सिंह ने पृथ्वीराज रासो; डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने 'कीर्तिलता', डॉ. सत्य नारायण त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने 'रामचरितमानस' तथा डॉ. महेंद्र ने कबीर की काव्यभाषा का विवेचन किया है। पर यह सारा विवेचन संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, रूप-रचना, कारकों अव्ययों, क्रियारूपों आदि का ही विवेचन है। यह केवल आधार-भाषा का विवेचन है, जिससे कवियों द्वारा किए गए इनके आनुपातिक प्रयोगों का ही पता चल पाता है। काव्यभाषा के बाद के आलोचकों में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्यकालीन काव्यभाषा'-विषयक अपनी आलोचना-पुस्तक लिखी है। उन्होंने भक्तिकाल के कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की काव्यभाषा पर विचार किया है। रीतिकाल के प्रमुख कवियों में घनानन्द पदमाकर और बिहारी को भी लिया है। पर उनका काव्य-भाषिक अध्ययन-विवेचन भी संबद्ध आधार-भाषाओं की व्याकरणिकता में सिमटकर रह गया है। आश्चर्य इस बात पर होता है कि काव्यभाषा के सैद्धांतिक विवेचन में उन्होंने आधारभाषा और सर्जनात्मक काव्यभाषा का अन्तर भी स्पष्ट किया है। पर अपने व्यावहारिक विवेचन में वे इस सर्जनात्मकता को आधार नहीं बना सके हैं। हाँ, यत्र-तत्र आधार-भाषिक विवेचन के अन्त में उसकी पुच्छभूता यत्किंचित् चर्चा भले ही देखने को मिल जाती है। पर इससे न तो मध्यकालीन काव्यभाषा की सर्जनात्मक क्षमता उद्घाटित-विवेचित हो पाई है और न ही यह भाषिक सर्जनात्मकता संबंधित काव्यकृति को किस प्रकार सार्थक और साभिप्रायित करती है, यही ज्ञापित हो पाया है। कहना न होगा कि आज भी हिन्दी में काव्यभाषा-परक आलोचना इसी सरणि पर की जाती है। मूलतः काव्यभाषा की यह आलोचना रूपवादी आलोचना है, जहाँ भाषा को कथ्य और अर्थ से विच्छिन्न रूपों में विवेचित किया जाता है, पर सर्जनात्मक काव्यभाषा कथ्य और रूप की इस द्वयता को इस 'डिकेटमी' को नहीं मानती है और सर्जनात्मकता को साभिप्रायिता-सार्थकता से जोड़ती है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि काव्यभाषा का अध्ययन केवल 'शब्दकेंद्रित' नहीं होता है, वह 'संरचना' (वाक्य-संरचना)–केंद्रित भी होता है। प्रायः काव्यभाषा के द्वारा कृति में तलस्पर्शी प्रवेश इसी वाक्य-संरचना के जरिए संभव हो पाता है। इसीलिए मिस नवोतनी नामक पश्चिमी आलोचिका ने वाक्य-संरचना को सर्जनात्मक काव्यभाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई तक माना है। हिन्दी काव्यभाषा की आलोचना में काव्यभाषा का यह पक्ष भी उपेक्षित-अतिचारित रह जाता है। कहना न होगा कि हिन्दी के आलोचकों को काव्यभाषिक, विवेचन-विषयक इन सभी दुर्बलताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है, जिससे इस विवेचन को सार्थकता और अद्यतन परिपक्वता प्राप्त हो सके।

हिन्दी में कथाभाषिकी आलोचना की स्थिति भी यथावत् है। वहाँ भी भाषा-विवेचन मुख्यतः 'शब्दकेंद्रित' है। अंतर यह है कि यहाँ शब्द-प्रयोगों के उत्स का, संस्कृत अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी, उर्दू, फारसी, अरबी में वर्गीकरण कर आनुपातिक प्रयोग निर्धारित किया जाता है। फिर व्याकरणिक कोटिगत वर्गीकरण भी किया जाता है तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी संप्रेषणीयता-असंप्रेषणीयता पर प्रकाश डाला जाता है। कभी-कभी कथाभाषा का विवेचन रूढ़ शैलीगत रूप में भी कर दिया जाता है, पर वह भी तालिकाकरण-मात्र होता है। इन सबसे काव्यभाषा की तरह ही इनकी सर्जनात्मकता रेखांकित-उद्घाटित नहीं की जा पाती है। शब्द के अतिरिक्त वाक्यों, वाक्य-संरचनाओं, प्रोक्तियों, प्रोक्ति-गठनों को बिलकुल उपेक्षित कर दिया जाता है, साथ ही सर्जनात्मक भाषिक तत्त्वों की भी बाहरी और भीतरी संगति नहीं दिखाई जा पाती है। अब तक भाषा के प्रकार्यों (Functions) के आधार पर भी यहाँ अध्ययन संभव नहीं हो पाया है।

हिन्दी में नाट्यभाषिक आलोचना तो घोर उपेक्षित है। यहाँ सबसे अधिक बल बोलचाल की भाषा, पात्रानुकूल भाषा और यथार्थ भाषा पर दिया जाता है। पर भाषा की नाट्य-संगति कैसे बनती है, इसकी पहचान हिन्दी के नाट्यालोचकों को नहीं है। वे 'भाषा व्यवहार शास्त्र' (Pragmatics) के जानकार नहीं हैं। पर नाट्यभाषा के अध्ययन-आलोचन के लिए इस क्षेत्र में ग्राइस, ऑस्टिन और सार्ले (Grice, Austin & Sarle) के सिद्धांतों को जानना बहुत आवश्यक है। नाट्यभाषा के आलोचक ज्यादातर यहाँ भी 'शब्द' के पीछे पड़े रहते हैं। पर नाट्यभाषा का नाभिकेंद्र 'प्रोक्ति' (Discourse) है, शब्द नहीं। पर इससे 'शब्द' की अपनी सार्थकता खंडित नहीं होती। मूल तो यहाँ 'अंदाजबयाँ' का अध्ययन-विवेचन है, जो 'भाषा व्यवहार शास्त्र' के सिद्धांतों के स्वरूप और उसकी सक्रियता से परिचित होने पर साभिप्रायित तौर पर निरूपित-विवेचित हो सकता है। नाट्यभाषा का एक दूसरा पक्ष उसके रंगमंचीय पाठ (Theatrical Text) का भी है, जहाँ भाषेतर संकेत-भाषा का अध्ययन भी नाट्य-प्रस्तुति की सार्थकता को उजागर करता है। यद्यपि इस तरह की नाट्य-आलोचना हिन्दी में आरम्भ हो चुकी है, पर विवक्षा-सूत्रों (Maxim of Implicature) की जानकारी का अभाव नाट्यभाषिक आलोचना का दुर्बलतम पक्ष है, जिस ओर नाट्य-अध्येताओं और आलोचकों को अपनी संपन्नता और समृद्धि के लिए ध्यान देना चाहिए।

हिन्दी में 'हरण परक आलोचना' उसकी अकादेमिक आलोचना का दुर्बलतम पक्ष है। ऐसी आलोचना साहित्य-विवेक के अभाव में, ईमानदारी और निष्ठा के अभाव, में जन्म लेती है। यह आलोचना आलोचकत्व नहीं रहने पर भी, आलोचना करने की शक्ति-क्षमता नहीं रहने पर भी, पदोन्नति के लिए अथवा चोर दरवाजे से श्रेय और यश की कामना से लिखी जाती है। राजशेखर ने चौर कवियों के लिए अपनी 'काव्यमीमांसा' पुस्तक में पूरे 'हरण-प्रकरण' का विवेचन किया है। आलोचना के क्षेत्र में जब वह तस्करी (Pagiarism) घटित होती है तब 'हरणपरक आलोचना' सामने आती है। इसमें आलोचक-विशेष की आलोचना के पृष्ठ-दर-पृष्ठ बिना किसी उद्धरण-चिह्न के और बिना किसी प्रकार से उस आलोचक के नाम का उल्लेख किये ही हरणकर्ता आलोचक द्वारा अपनी आलोचना में ग्रहण कर अपना बना लिए जाते हैं। हिन्दी आलोचना में विगत चार-पाँच दशकों में इस प्रकार की आलोचकीय प्रवृत्ति अनुसंधाताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्राध्यापकों द्वारा की जाने वाली आलोचना में प्रभूत मात्रा में सामने आई है। कहना न होगा कि ऐसी प्रवृत्ति किसी भी भाषा-साहित्य की आलोचना पर धब्बा लगाती है, उसे कलंकित करती है। आज हिन्दी में इस 'हरणपरक आलोचना' की विद्यमानता हिन्दी आलोचना के लिए घोर चिन्ता का विषय है, जो हिन्दी आलोचना को क्षीण और शक्तिहीन करती है। अतः ऐसी आलोचना को हिन्दी में प्रतिबंधित किए जाने की अपेक्षा है।

दारोगाई मानसिकता वाली आलोचना भी हिन्दी आलोचना के नाम पर बट्टा लगाती है। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था कि "आलोचक साहित्य का दारोगा होता है।" हिन्दी आलोचना में सर्जकों को उठाने, गिराने, प्रशंसित करने, उपेक्षित करने, इसकी पूरी दबंगई-भरी 'राजनीति', इसी मानसिकता की देन है। यह एक प्रकार की घोर पक्षपातपूर्ण आलोचना है। इससे आलोचना की प्रामाणिकता नहीं रह पाती है। कहना न होगा कि आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवाद की जो माफियागिरी है उसने इस प्रकार की आलोचना को हिन्दी में विकसित किया है। मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रभुत्व में रहने पर या अपने प्रचार-तंत्र के बल पर इस प्रकार की मानसिकता के वशीभूत अपने चहेतों को ऊपर उठाया है और उसके समानांतर योग्य साहित्यकारों की घोर उपेक्षा की है, उन पर आरोप लगाए हैं, उनका छिद्रान्वेषण तक किया है और अपने प्रभुत्ववाद में उन्हें विभिन्न पुरस्कारों और सम्मान तक से वंचित किया है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह विगर्हणात्मक स्थिति अब तक बनी हुई है। सही आलोचना सिद्धांत और कृति—दोनों की गुणात्मकता पर आधारित होती है। पर जनवाद का नारा देने वाले आलोचक अपना घोर राजतंत्रीय प्रभुत्व-सामर्थ्य दिखाकर हिन्दी आलोचना की शक्ति-क्षमता पर ऐसा कुठाराघात करते हैं, जिससे उसकी प्राणशक्ति नष्ट होती है। स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य की आलोचना को ऊर्जा और शक्ति-क्षमता उसके आलोचकों की पूर्वग्रहहीन गुणात्मक परख से प्राप्त होती है, न कि दारोगाई मानसिकता वाली प्रपंच-परकता से। हिन्दी आलोचना में भी जब पूर्वाग्रहहीन न्यायनिष्ठा और निर्णयात्मक संतुलन की प्रामाणिकता के प्रति आग्रह बढ़ेगा, दृढ़ता आएगी तभी इस दुर्बलता से यह मुक्त हो पाएगी।

हिन्दी में अभी प्रत्यालोचना (Meta criticism) भी बहुत विकसित नहीं है। प्रत्यालोचना मूलतः आलोचना की आलोचना है। इसमें पहले की गई आलोचना की भ्रांतियों, गलत स्थापनाओं और तर्क-असंगतियों को उद्घाटित किया जाता है। इसकी सोद्देश्यता पाठकों में वह साहित्य-विवेक जाग्रत करना है, जिससे साहित्य की वास्तविक पहचान और उसके सम्यक् मूल्यांकन के प्रति उसकी दृष्टि साफ हो सके। हिन्दी में इस तरह की युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण प्रत्यालोचना डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखी है। पर उसके बाद 'प्रत्यालोचना' के नाम पर आज जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसमें आरोप-प्रत्यारोप ही अधिक हैं, आरोपों में भावात्मक स्तर पर ही खंडन देखने को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है। इसके लिए न तो तर्क और न प्रामाणिक आधार ही दिए जाते हैं, जिससे यदि पूर्व आलोचना में पूर्वाग्रहपूर्ण आरोप किए गए हैं, तो उसे अयुक्तिसंगत सिद्ध किया जा सके। अतः एक-दो अपवादों को छोड़कर हिन्दी आलोचना में अभी प्रत्यालोचना की स्थिति दुर्बल ही बनी हुई है। वह भी कर्तव्य-चेतना और स्तरीयता प्राप्त नहीं कर पाई है।

अन्ततः यहाँ यह भी विचारणीय है कि अपने साध्य और अपनी सोद्देश्यता को सुरक्षित रखते हुए भी अपने देश की हिन्दी आलोचना 'कच्चे माल' (Raw Materials) तक के रूप में भी प्रौद्योगिकी (टेकनॉलोजी) का अनुप्रयोग और उपयोग नहीं कर पाई है, जबकि जापान जैसे देशों में आज से पैंतीस वर्ष पूर्व से हिन्दी साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और आलोचना के सन्दर्भ में इस दिशा में अभिरुचि, संकल्पशक्ति और क्रियात्मकता देखने को मिल जाती है। हिन्दी आलोचना को इस दुर्बलता से भी शीघ्र मुक्त होने की अपेक्षा है, जिससे इस आलोचना को अद्यतन स्तरीयता प्राप्त हो सके।

इन सभी दुर्बलताओं पर ध्यान देने से यह निष्कर्षित होता है कि हिन्दी आलोचकों को अपनी आलोचना की इन दुर्बलताओं से मुक्ति के लिए अधिक-से-अधिक पढ़ने और चिन्तन-मनन करने की अपेक्षा है। उन्हें अधिक-से-अधिक साहित्य-विवेक और जीवन-विवेक से संपन्न होने की और पूर्वग्रहहीन, मौलिक दृष्टि से प्रणयन करने की अपेक्षा है। कार्लाइल की एक उक्ति अनायास ही याद आ जाती है कि "Reading without thinking is dangerous and thinking without reading is the sheer waste of time."

यहाँ मैंने हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्षों को भावात्मकता और अभावात्मकता, घनात्मकता और ऋणात्मकता तथा विद्यमानता और अविद्यमानता—दोनों ही दृष्टियों से विवेचित किया है। उद्देश्य यह रहा है कि हिन्दी आलोचना में ऐसा क्या है, जो उसका दुर्बल पक्ष है, उसे रेखांकित कर दिया जाए; साथ ही यह भी कि वहाँ क्या नहीं है, जिसके कारण वह परिपूर्ण और शक्तिपूर्ण नहीं हो पा रही है, इसे भी बता दिया जाए। पर इसका यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि हिन्दी आलोचना में कुछ भी श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी में श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण भी है। पर मेरा मन्तव्य विश्व-साहित्य की आलोचना की तुलना में हिन्दी आलोचना की स्थिति और दुर्बलता पर विचार करना रहा है। वह भी बहुकालिक और समकालिक दोनों ही अक्षों पर, पुरातन के साथ तुलना में और समकालीनों के साथ भी तुलना में, जिससे हिन्दी आलोचकों को वह अभिप्रेरण प्राप्त हो सके कि वे विश्व के शेष साहित्यालोचन से टक्कर ले सकें, मौलिक साहित्य-सिद्धांतों का प्रणयन, अपनी संदृष्टि से पूर्व प्रणीत सिद्धांतों की अभिनव व्याख्या कर उसे दिशादान कर सकें तथा अपनी क्लासिक साहित्य कृतियों का मौलिक साहित्यिक निर्वचन और मूल्यांकन कर सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्ष

सरजू प्रसाद मिश्र

प्रायः 'आलोचना' और 'समीक्षा' को समानार्थी मान लिया जाता है जबकि दोनों में अंतर है। 'आलोचना' शब्द में 'लोचन' जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ देखना है। 'समीक्षा' में 'सम' और 'ईक्षण' है, जिसका आशय है समान भाव से देखना अर्थात् गुण और दोष दोनों का अवलोकन करना। कहा जाता है कि साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए समीक्षक में साहित्य-विवेक और भावकत्व की आवश्यकता होती है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान की गठरी ढोने से ही काम नहीं चलता उनमें सहृदयता होना अनिवार्य है। ध्यान से देखें तो प्रत्येक यशस्वी आलोचक प्रारंभ में कवि रहा है और बाद में अपने दोनों व्यक्तियों को समानांतर लिए चल सका है या उसका रचयिता व्यक्ति उसके समीक्षक व्यक्तित्व में पौराणिक सरस्वती की तरह विलीन हो गया है। उदाहरणस्वरूप आचार्य रामचंद्र शुक्ल डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेंद्र, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. 'शीतांशु' आदि के नाम लिए जा सकते हैं। हर समीक्षक सबसे पहले साहित्य का अच्छा पाठक होता है। वह रचना का रस ग्रहण कर अपनी अनुभूति को शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर उसे अन्य पाठकों तक पहुँचाता है। लेखक समीक्षक दूधनाथ सिंह ने आलोचना के संबंध में बड़े पते की बात कही है–'दरअसल, किसी कविता, कला, कथा, विचार या लेखक के प्रति एक सहज उत्सुकता जगाना और उसे समझने का मार्ग प्रशस्त करना ही आलोचना का उद्देश्य है। आलोचना जिस तरह बचाव नहीं उसी तरह 'हलाल की साजिश' भी नहीं है। वह किसी कलाकृति को समझने का एक समानांतर रूपक है। (महादेवी, उपकथन)।

हिंदी समीक्षा का उदय काल यदि हम भारतेंदु-युग को मानें तो आज इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक वह एक लंबा रास्ता तय कर आई है। इस लिहाज से उसे हृष्ट-पुष्ट, तंदुरुस्त होना चाहिए। दुःख की बात है कि वह ऐसी नहीं है। साहित्य

*डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर; पता : 46, पठान ले आउट, रिंग रोड, नागपुर 440022, मो. 9422148067

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जुड़े दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के उद्‌गारों को देखें तो हमारा दुःख गहरा हो जाता है:–

1. ‘प्रायः देखा गया है कि इधर पुस्तक समीक्षाएँ भी हिसाब-किताब चुकाने का अस्त्र बनती जा रही हैं। किसी भी भाषा के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यह कहना भी ज्यादा गलत न होगा कि हिंदी में कम ही समीक्षाएँ पूर्वग्रह से मुक्त दिखाई देती हैं। यह प्रचलन बढ़ता जा रहा है कि मित्र-मित्र की प्रशंसा करता है और जो मित्र नहीं है या समीक्षक के शिविर का नहीं है, उसकी जमकर धुनाई की जाती है। दक्षिण पंथियों के लिए प्रत्येक दक्षिणपंथी उत्कृष्ट रचनाकार है और गैर-दक्षिणपंथी निकृष्ट। वामपंथियों के लिए भी यही सच है।’ (रवींद्र कालिया, संपादकीय ‘दस्तखत’, नया ज्ञानोदय, मार्च 13)।
2. ‘आज समाज में आलोचना का स्थान सिकुड़ा है। यह आलोचना नहीं निर्लज्ज तारीफ, इमेज मैनेजमेंट और ब्रांड एंबेसडरों का जमाना है। अब आलोचना पेड-क्रिटिसिज्म है, यह प्रबंधन का मामला है। कई बार यह वैचारिक तहस-नहस या दूसरे को रौंदते हुए आगे निकलने की होड़ है। अब आलोचना में विचार की कमी हो गई है। इसलिए चारों तरफ चाटुकारिता या आरोप-प्रत्यारोप ज्यादा है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनकी वजह से विचार में जितना ही सन्नाटा है, आलोचना में उतनी ही मारकाट मची है। समाज जब झुंडों में रूपांतरित होने लगता है, सबसे पहले आलोचनात्मक दृष्टि का क्षय होता है।’ (शंभुनाथ, आलोचना से सरोकार, नया ज्ञानोदय, मार्च 13, पृ. 46)।

यह दशा इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की है। हम अब जरा पीछे की ओर लोटें। हिंदी समीक्षा के मूर्धन्य महानुभावों के आचरण की जाँच करें। पूर्वग्रहयुक्त होकर अच्छा लिख रहे समकालीन नयी पीढ़ी के कृतित्व को सहानुभूतिपूर्वक न देखकर उन्हें बाह्य प्रभाव मानना और उनके कथ्य को किसी एक सरल से सूत्र से जोड़कर पल्ला झाड़ लेना कहाँ कि दयानतदारी है? तुलसीदास और सूरदास के काव्य को लाल-पीले वस्त्रों की कैद एवं भक्तमंडली के झाँझ-मँजीरों के निनाद से मुक्ति दिलाकर उसके वृहत्तर साहित्यिक गुणों का दिग्दर्शन करानेवाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल आधुनिक हिंदी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण धारा के साथ न्याय न कर सके। छायावाद के बारे में उनकी दृष्टि पूर्णतः संकुचित है। अपने इतिहास में उन्होंने लिखा है–‘छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।’ उनके अनुसार ‘छायावाद’ का केवल पहला अर्थात् भूल अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य-क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चलनेवाली सुश्री महादेवी वर्मा ही हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।' आगे चलकर यह सिद्ध हो गया कि छायावाद संबंधी शुक्ल जी की समीक्षा कितना एकांगी और अपूर्ण थी। रहस्यवाद संपूर्ण छायावाद न होकर उसकी एक प्रवृत्ति मात्र है और उसकी विषयवस्तु बहुत व्यापक है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने जयशंकर प्रसाद और निराला के काव्य की संतुलित समीक्षा की, लेकिन प्रेमचंद के संबंध में वे निष्पक्ष न रह सके। 'हंस' के आत्मकथा अंक को लेकर वे प्रेमचंद से टकराए। इतिहास में वे प्रेमचंद विरोधी के रूप में अंकित हो चुके हैं। वस्तुतः वे काव्य के आलोचक थे। कथा-साहित्य में उनकी गति नहीं थी। इस विधा से वे छेड़छाड़ न करते तो अच्छा होता। 'गोदान' जैसी कृति को उन्होंने दोषपूर्ण बताया है।

जब समीक्षक किसी विचारधारा, संगठन या शिविर के दबाव का बोझ ढोते हुए समीक्षा कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसकी संवेदनशीलता, उसकी भावन शक्ति अपने प्रकृत रूप में नहीं रह जाती है। साहित्यिक कृति में निहित गहन अर्थों तक वह नहीं पहुँच पाती है। साहित्य अखबारी लेखन से अलग होता है। साहित्य अपनी समकालीनता से जुड़कर उससे परे जाता है। इसे 'कालांकित' और 'कालातीत' शब्दों के द्वारा समझा जा सकता है। मुक्तिबोध प्रसाद की 'कामायनी' का मूल्यांकन करने में 'कालांकित' तक ही सीमित रह गए हैं। प्रसाद जी मनु और श्रद्धा के कथानक के माध्यम से भौतिक जीवन के सुख-दुःख तक ही सीमित न रहकर ऊँची उड़ान भरते हैं। पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाते हैं। 'कामायनी' भौतिकवादी दृष्टि की परिसीमा दर्शाते हुए उसके दुष्परिणामों की ओर संकेत करती है। भौतिकतावाद पर आधारित मार्क्सवादी चिंतन से प्रेरित मुक्तिबोध की प्रज्ञा कामायनीकार के मंतव्य को आत्मसात नहीं कर पाई।

जो प्रगतिवाद से नाता तोड़कर अपने वैचारिक स्वातंत्र्य को वरीयता देते हुए साहित्य-लेखन कर रहे थे, उनके प्रति प्रगतिवादी आलोचकों ने दुर्भावना का परिचय देते हुए उनके साहित्य को आत्मकेंद्रित, व्यक्तिवादी या 'नदी के द्वीप' की संज्ञा प्रदान की। बहुमुखी प्रतिभा के धनी अज्ञेय पर क्षणवादी, अस्तित्ववादी आदि होने का आरोप लगाते हुए उनके लेखन को निकृष्ट सिद्ध किया गया। इन प्रयासों को हम हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्षों में परिगणित करेंगे। हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर डॉ. नामवर सिंह ने स्वयं स्वीकार किया है कि–'1956 तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गई, चाहे वह सोवियत संघ में हो, पश्चिम यूरोप के देशों में हो, चाहे अन्यत्र, यह बहुत ही यांत्रिक, स्कैमेटिक और कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालित थी और आज यह माना जाने लगा है कि इस दौर की साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचनाएँ मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थीं।' जिस 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक पर डॉ. नामवर सिंह को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला उसमें रूपवादी आलोचना के तत्त्वों की भरमार है। रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास की अनदेखी करने पर अब उन्हें पश्चाताप होता है और कृष्णा ताप के 'जिंदगीनामा' को उन्होंने हिंदी का उपन्यास नहीं माना। प्रगतिवादी होकर भी वे मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' की गंभीर और सार्थक समीक्षा नहीं कर सके। डॉ. पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने डॉ. नामवर सिंह की प्रकृति को ठीक-ठीक पकड़ा है—'मेरी दृष्टि में नामवर सिंह साहित्यालोचन की गहराई में नहीं जाते, केवल अपनी ऐसी टिप्पणियाँ देते चलते हैं, जो बाद में हास्यास्पद बनकर रह जाती हैं। वह सुधी पाठक के विवेक को नजरअंदाज कर देते हैं तथा अपनी चमत्कारी उक्तियों से अपना एक अनुगामी वर्ग बना लेते हैं।' (हिंदी आलोचना के आर पार, पृ. 95)।

हम ऊपर कह आए हैं कि समीक्षा गुण-दोष दोनों को उजागर करती है। दोष एक सच्चाई होती है। समीक्षक द्वारा रेखांकित सच्चाई को जब लेखक या कवि पचा नहीं पाता है तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और वह आलोचक को अपना शत्रु समझ उसके प्रति आक्रामक रुख अपना लेता है। इस संबंध में हम दो उदाहरण देना चाहेंगे। डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' की समीक्षा डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखी, जिसमें आलोचनात्मक असंगतियों का उद्घाटन था। (देखिए—'नई कविता और अस्तित्ववाद', पृ. 58-59)। डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. शर्मा के जीवन-काल में इसका कोई उत्तर नहीं दिया। अपने अंदर दबे-छिपे क्रोध को उन्होंने डॉ. शर्मा के निधन के बाद सन् 2001 में 'आलोचना' के सहस्राब्दी अंक पाँच में उन्हें 'इतिहास की शवसाधना' करने वाला कहकर प्रकट किया। इस पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। 'दस्तावेज' के संपादक डॉ. विश्वनाथ तिवारी की राय में 'यह अंक संपादकीय बदनीयत का अविस्मरणीय उदाहरण है।' कमलेश्वर ने पूछा—'यह क्लीव साहस उनके मरणोपरांत क्यों?' मानसिक संतुलन ढलने का दूसरा उदाहरण निराला का है। अपने एकांकियों के आधार पर प्रसिद्धि प्राप्त करेनवाले भुवनेश्वर का लखनऊ से प्रकाशित 'माधुरी' (सन् 1936) पत्रिका में निराला संबंधी एक आलेख प्रकाशित हुआ। निराला की आलोचना करते हुए भुवनेश्वर ने लिखा—'निराला बंगाली संस्कृति का कवि है। वह संस्कृति जो टैगोर के द्रुत Mannerism से पैदा हुई है, जिसके अति विश्लेषण में कबीर, ब्लैक सभी आते हैं। पंत को उसने बार-बार टैगोर का Protege बताया है, पर सत्य यह है कि निराला भी टैगोर को न पचा सका। वह Mannerism का कवि है, वह उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का कवि है, वह अपने सर्वोत्तम रूप में भी एक चतुर शिल्पी है। शायद महान भी, पर महान कवि नहीं।' इस आलेख की भनक पड़ते ही निराला विचलित हो गए और उसे छपने से रोकने की भरसक कोशिश की, लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफलता नहीं मिली। आखिर निराला की इस घबराहट का क्या कारण था? भुवनेश्वर की समीक्षा उनके महत्त्व को कम नहीं कर सकती थी। फिर इतनी दौड़-धूप की क्या जरूरत थी? समीक्षा के प्रति कृतिकारों की असहिष्णुता निष्पक्ष समीक्षा के विकास में बाधक है। इसी कारण समीक्षा में मित्रवाद और वैरीवाद की प्रवृत्ति विकसित हुई। यदि कृति में दम है तो आज नहीं तो कल उसका महत्त्व मान्य होगा ही। लेकिन भवभूति की तरह धैर्य धारण करनेवाले रचनाकार बहुत विरल हैं। वे केवल प्रशंसा चाहते हैं, दोष-दर्शन नहीं।

किसी साहित्यकार को उठाने के लिए किसी अन्य को गिराने की प्रवृत्ति भी समीक्षा का दुर्बल पक्ष है। निराला और पंत को लेकर ऐसा बहुत घटित हुआ है। इसे अंधी भक्ति कहा जा सकता है। इस संबंध में प्रोफेसर दूधनाथ सिंह का कथन द्रष्टव्य है—'पंत के किले को ढहाने में निराला जी के सारे सहयोगियों, श्रद्धालुओं और उनकी चकमक कविता से चौंधियाए हुए लोगों ने उनका साथ दिया। साहित्यालोचना में अंधी भक्ति किसी काम की नहीं होती जो कि रामविलास जी में सबसे अधिक है। निराला को बड़ा करने के लिए पंत को ढहाने की कोई जरूरत नहीं थी, लेकिन यह काम रामविलास जी ने लुहार का हथौड़ा लेकर किया।' ('भुवनेश्वर समग्र' की भूमिका, पृ. 55)। 'निराला की साहित्य साधना' के प्रथम खंड में डॉ. रामविलास शर्मा ने पंत के बारे में जो लिखा है, उसके दो नमूने यहाँ प्रस्तुत हैं :—

1. 'पंत अपनी सुंदर वेशभूषा में, कोमल चरण, लघु भार लेटे हुए निराला की कमर चापते। निराला कहते तुम राधा हो, मैं कृष्ण हूँ। पंत को लगता—निराला का चेहरा कृष्ण जैसा नीला है।' (पृ. 493)

2. 'पंत नित नई काव्य-पुस्तकें भी प्रकाशित कराते रहे, पर उन्हें वह खोई हुई लोकप्रियता न मिली। लोग उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। इसके विपरीत अर्ध-विक्षिप्त निराला का सम्मान बढ़ने लगा और मरने के बाद तो—दिनकर के शब्दों में—वह हिंदी संसार पर छा गए। इसकी प्रतिक्रिया पंत के मन पर हुई। आत्मपीड़न की भावना के साथ आत्मरति के भाव का विस्तार हुआ।' (पृ. 503)

इन उद्धरणों से शर्मा जी की मंशा स्पष्ट हो जाती है। वे निराला को ऊपर उठाने के लिए पंत को गिरा रहे हैं। यदि पंत का काव्य निर्जीव हो रहा था तो 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी कविताओं के रचयिता निराला ईश-वंदना और शरणागति के गीत लिखने लगे थे। क्या उनका काव्य-स्तर नीचे नहीं गिर रहा था?

वैचारिक संगठन, दलबंदी और किसी शिविर से संबद्ध न होने वाले साहित्यकारों की हिंदी के स्वनामधन्य समीक्षक कितनी उपेक्षा करते हैं, इसके ढेरों उदाहरण मिल जाएँगे। मैं यहाँ श्री दूधनाथ सिंह का ही उदाहरण देना चाहूँगा, जिन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, समीक्षा आदि विविध विधाओं में अपनी ऊर्जस्वी रचनात्मक प्रतिभा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय दिया है, लेकिन हिंदी जगत उन्हें साठोत्तरी कहानीकार के रूप में ही जानता है। उनका 'निराला : आत्महंता आस्था' एक मौलिक समीक्षक ग्रंथ है जो निराला संबंधी दर्जनों किताबों में अलग ही दिखाई देता है। अयोध्या की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर उन्होंने वृहदाकार उपन्यास 'आखिरी कलाम' लिखा जो अपने कथ्य और शिल्प में बेजोड़ है, लेकिन हिंदी समीक्षा के कानों पर जूँ न रेंगी। उसकी प्रतिक्रिया हल्की-फुल्की रही। पढ़ा जरूर गया होगा, लेकिन लिखने में कंजूसी की गई। सन् 2009 में राजकमल प्रकाशन से उनकी पुस्तक 'महादेवी' प्रकाशित हुई जो अनुसंधानात्मक समीक्षा का बेहतरीन उदाहरण है। महादेवी अपने गीतों के कारण रहस्यवादी कवयित्री मानी जाती हैं लेकिन उनके रहस्यवाद के मूल स्रोत को खोजने की किसी ने कोशिश नहीं की। दूधनाथ सिंह जी ने सर्वप्रथम इस रहस्य को भेदा है। इसका संबंध मध्यप्रदेश के नरसिंहगढ़ से है—'दरअसल ...उनके पार्थिव-अपार्थिव, उनके निराकार की अलभ्य कुंजी नरसिंहगढ़ के महल के खंडहरों में कहीं गिरी-पड़ी दफन हो गई है।' (महादेवी, पृ. 257)। महादेवी ने अपने संस्मरणों में कहीं भी नरसिंहगढ़ और वहाँ बिताए दिनों का भूल कर भी जिक्र नहीं किया है। उनके पिता गोविंद प्रसाद वर्मा ने सन् 1913 से सन् 1929 तक वहाँ विक्रम हाईस्कूल के हेडमास्टर के पद पर कार्य किया। नरसिंहगढ़ के महाराजा विक्रमसिंह गोविंद प्रसाद जी के शिष्य थे। उनका नायब दीवान एक स्थानीय बोहरा युवक मुल्ला अब्दुल कादिर था। महाराजा की पत्नी रानी शिवकुँवर महादेवी की हम उम्र थीं। दोनों में घनिष्ठता हो गई और महादेवी का महल में आना-जाना बढ़ गया। महादेवी और बोहरा युवक को लेकर जब बाहर प्रवाद फैलने लगा तो उनकी माता हेमरानी देवी के दबाव में आकर उनके पिता ने महादेवी का ब्याह कर दिया, लेकिन ब्याह के बावजूद उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश से इनकार कर दिया। पिता ने उन्हें और छोटी बहन श्यामा देवी को पढ़ाई के लिए इलाहाबाद भेज दिया। यही असफल प्रेम महादेवी के रहस्यवादी गीतों का प्रेरणा स्रोत है। इस प्रेरणा स्रोत के संदर्भ में दूधनाथ सिंह ने महादेवी के काव्य की बहुत तर्कसंगत व्याख्या की है—'कविता में पुराने चरित्रों की जगह आधुनिक स्त्री का प्रवेश हुआ, जो साकार और सर्वत्र थी, लेकिन जिसके प्रेम की ललक एक दबी-घुटी चीख की तरह निकलना शुरू हुई, जैसी कि भारतीय आचार संहिता की निर्ममता के बीच हमारी स्त्रियों का अँधेरा संताप था। महादेवी उसी स्त्री के मौन स्वर और चीख का प्रतिनिधित्व करती हैं।' (महादेवी, पृ. 266) आखिर देवी जी ने एक दिन अपने काव्य-लेखन में पूर्णविराम क्यों लगा दिया? दूधनाथ जी के अनुसार—'जैसे-जैसे महादेवी की स्मृति से नरसिंहगढ़ घुलता और अदृश्य होता गया और उसकी अनुगूँज क्षीण होती गई—या हो गई, वैसे महादेवी का कवि जीवन भी समाप्त हो गया।' (महादेवी, पृ. 267) इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का ठीक से नोटिस भी नहीं लिया गया। राजधानी के एक विद्वान समीक्षक ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कुछ लिखा उसमें अपनी विद्वत्ता का बखान अधिक था, पुस्तक के लिए मात्र व्यंग्
और कटूक्तियाँ। यह हिंदी समीक्षा का सबसे दुर्बल पक्ष ही नहीं घोर अपराध भी है
वे जिस हिंदी साहित्य के बल पर खड़े हुए हैं, उसी की जड़ को निर्ममता से काट र
हैं।

आज साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं में नारी-विमर्श और दलित-विमर्श को प्रधानत
दी जा रही है। देश का संविधान भारतीय समाज के सभी वर्गों के हितों और अधिकार
को मान्यता देता है। इस गारंटी के प्रकाश में दबे-कुचले लोग आंदोलन का सहारा ले
अपनी स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्नशील हैं। राजनीति भी अपने हितार्थ उनसे जुड़ी हु
है। इन आंदोलनों से साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक है। आंदोलनकारियों क
मान्यता है कि नारी और दलित साहित्य ही उनकी व्यथा-कथा को व्यक्त कर सकत
है। इन वर्गों से बाहर के लेखक प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि वे भोक्त
नहीं हैं। यह कट्टरपंथी प्रतिमान समीक्षा में भी प्रयुक्त हो रहा है। इस तरह की समीक्ष
निष्पक्ष नहीं हो सकती। इस तरह की संकुचित दृष्टि प्रगतिवाद ने अपनाई थी, जिसके
दुष्परिणामों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। कट्टर मार्क्सवादियों के लिए सूरदास
तुलसदीस, जायसी, कबीर आदि महत्त्वहीन हो गए थे। आज नारीवाद और दलितवा
के लिए प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल, रेणु आदि अप्रासंगिक हो गए हैं। इस प्रकार की सोच
समीक्षा में प्रविष्ट हो, हिंदी साहित्य का अहित कर रही है। आंदोलनों के कारण
समीक्षा के प्रतिमान नहीं बदले जाते। इस राह को अपनाने पर कालिदास, तुलसीदास
सूरदास, विद्यापति, रवींद्रनाथ आदि को अंधकार में ढकेल देना होगा। फिर हमारे पास
गर्व करने के लिए क्या रह जाएगा। यदि हम धैर्य रखें और बाढ़ में न बहें तो इन
विमर्शों से प्रेरित लेखन में भी कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होगी जो कालांकित
होते हुए भी कालातीत कही जाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी की साहित्यिक आलोचना : कुछ दुर्बल पक्ष

रमेश दवे*

साहित्य मनुष्य की सांस्कृतिक और मानवीय चेतना का सर्जन है। उसमें प्रकृति और संस्कृति एकाकार होती हैं, अनुभव और कल्पना एकाकार होते हैं और वह मनुष्य के संवेदन-तंत्र एवं सौंदर्यपक्ष से जुड़कर उसे अपने मनुष्य होने और मनुष्य बने रहने का स्वभाव पैदा करता है। दुनिया की किसी भी भाषा में कहीं भी, कोई भी साहित्य रचे, उसका भोक्ता न केवल वहाँ का समाज होता है, बल्कि यदि सृजन में सार्वभौम संवेदन है, मानवीय चेतना है तो वह समूची दुनिया का साहित्य हो सकता है, फिर चाहे उसे भारतीय परंपरा में वाङ्मय, काव्य और इतिहास का नाम दिया जाए अथवा पश्चिम में क्लासिक्स कहा जाए। यदि होमर, शेक्सपियर, टाल्सटाय, अब किसी देश विशेष के लेखक नहीं हैं तो वे आलोचना-सिद्ध ऐसे लेखक माने जाएँगे, जिन्हें सार्वभौम कहा जा सकता है और जो समय और भूगोल के सीमांतों को अतिक्रांत करते हुए दुनिया-भर में फैल गए हैं। यह बात कालिदास और तुलसीदास, गालिब और मीर आदि के बारे में भी कही तो जा सकती है, लेकिन अफसोस इस बात का है कि हिंदी-उर्दू आलोचना ने उन्हें विश्व-विश्रुत उस प्रकार नहीं बनाया, जिस प्रकार पश्चिम में आलोचना-सिद्धांत से लेकर आज तक की आलोचना ने वहाँ के लेखकों को बनाया। यह हिंदी आलोचना का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष है कि वह ऐसी आलोचना नहीं बनी, जो हमारे साहित्य को सार्वभौम बना सके।

भारतीय साहित्य मुख्य रूप से काव्य-साहित्य ही रहा है। इसलिए यहाँ साहित्य को भी काव्य कहा गया और उसके सिद्धांत पक्ष को काव्य-शास्त्र कहा गया। व्यापक अर्थबोध के साथ यह काव्य-शास्त्र ही अन्य अर्थात् काव्येतर विधाओं का आलोचना-विधान बना। हमारे पूर्वजों ने जिन रचनाओं को पढ़ा, समझा, उनका विश्लेषण टीका-पद्धति में किया। इस कारण टीका, कुछ काव्य-शास्त्रीय विधानों के साथ आलोचना बन गई।

* संपर्क : एस.एच. 19, ब्लॉक-8, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.); फोन-0755-2777048
मो. 094065 23071 rameshdave12@rediffmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिम ने भी प्रारंभ तो पोएटिक्स से ही किया, लेकिन समय के साथ-साथ सृजन की विविधता को आँकने के लिए उन्होंने अपना आलोचना शास्त्र भी विकसित किया और उसे सतत् बदला भी, बढ़ाया भी और कुछ नए सिद्धांतों का निर्माण भी किया। हम काव्य-शास्त्र पर ठहर गए और आधुनिकता से जुड़कर हमारे आलोचनात्मक मानदंड वे ही हो गए, जो पश्चिम की आधुनिकता ने रचे थे। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हमने काव्य-शास्त्र के बाद आलोचना का कोई नया सिद्धांत रचा ही नहीं और पश्चिमी आलोचना-तंत्र को ही अपनी रचना के मूल्यांकन का आधार बना लिया। क्या एक बहुभाषीय, बहु-सांस्कृतिक और बहु-विधात्मक सृजनशील देश का अपना कोई आधुनिक आलोचना-शास्त्र न होना, हमारी दुर्बलता का परिचायक नहीं है?

आखिर आलोचना होती क्या है? सामान्य रूप से यह माना जाता है आलोचना साहित्यिक पाठ का विश्लेषण और मूल्यांकन है। यह साहित्यिक पाठ अनेक छवियों, बिंबों, सांस्कृतिक रूपाकारों की रचनाओं, लेखन और परिवेशगत अभिव्यक्ति में प्रकट होता है। अरस्तु के पोएटिक्स से लेकर आज तक आलोचना के अनेक प्रकार बने और बदले और आज हम जिस उत्तर-आधुनिकता के बीच खड़े हैं, उसमें बीसवीं शताब्दी के प्रचलित मुहावरे जैसे—क्रिटिकल थियरी, कल्चरल कैपिटल, कल्चरल पोएटिक्स, हिस्टरिसिज्म आदि भी पुराने पड़कर त्याज्य लगने लगे हैं। यह सब इसलिए हो रहा है कि जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसे भी हिंदी आलोचना ने उसके आधुनिक मानवीय बोध से नहीं जोड़ा। संस्कृति है क्या सिवाय मानवीय ज्ञान के विविध स्वरूपों के। हमारे अपने पारंपरिक विश्वास, सामाजिक संरचना और उसकी विविधता-युक्त प्रणालियाँ, जातीय स्मृति, अध्यात्म और समुदायों की विविधता, मनुष्य को अपनी मानवीय अस्मिता और अस्तित्व में एकाकार करती है और यही वजह है कि मनुष्य बौद्धिक और कलात्मक गतिविधियों को रचता है। यही उसका सांस्कृतिक बोध है और उसके इसी बोध से उपजी कला, साहित्य आदि की रचनाएँ संस्कृति का प्रत्यक्ष होना है। समय-समय पर सामाजिक संस्कारों और व्यवहारों का समन्वय करके ही संस्कृति निरंतरता रचती है। इस निरंतरता को हिंदी आलोचना ने अपने साहित्य और कलाकर्म में या सामाजिक संस्कारों-व्यवहारों में ठीक से आजमाया ही नहीं। हम केवल परंपरा और संस्कृति, भारत और भारतीयता का शब्द-कीर्तन करते रहे, लेकिन संस्कृति की विश्व-स्मृति और चेतना से अपनी आलोचना का स्वरूप वैश्विक नहीं बना सके। क्या यह हमारी अध्ययन-विमुखता और अति-देशजता के मोह से उत्पन्न दुर्बलता नहीं है?

जार्ज ल्यूकाच को एक मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री माना जाता है। जार्ज ल्यूकाच ने 'उपन्यास का सिद्धांत' नामक अपनी पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य रचा—''यथार्थ उन बंधनों का भार वहन करता है, जो व्यक्ति की नियति को समग्रता से जोड़ते हैं।'' इस वाक्य पर पूरी तरह विचारधारा निरपेक्ष होकर विचार किया जाए तो क्या ऐसा लगता है—कि ल्यूकाच मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री है, कि ल्यूकाच वामपंथी है, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ल्यूकाच किसी समाजवादी क्रांति के पोषक है या 'यथार्थ' उनके लिए किसी प्रतिबद्धता का प्रमाण है? यथार्थ को व्यक्ति की नियति की समग्रता से जोड़ना क्या यह प्रकट नहीं करता कि 'नियति' ऐसा शब्द नहीं है, जो किसी मार्क्सवाद का सूचक हो, बल्कि लगता तो यह है कि यह एक भाग्यवादी शब्द है। 'समग्रता' का प्रत्यय भी मार्क्सवाद का प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि समग्रता, पहले तो कुछ होती नहीं और यथार्थ अगर किसी समग्रता का प्रतिनिधि है, तो मार्क्सवाद जो वाद के नाम पर अभी तक एकांगी और प्रतिबद्ध प्रत्यय बना हुआ है, वह अपने-आप समाप्त होकर किसी तथाकथित समग्रता में विलीन हो जाएगा। यथार्थ अपने-आप में एक वस्तुगत स्थिति है। उसे कला रूप देना एक सर्जक की कल्पना का परिणाम है। 'यथार्थ' को विचारधारा का कोई नाम देकर आलोचना कर्म करना, आलोचना का एक बड़ा दुर्बल पक्ष है। इससे आलोचना उन्मुक्त, विश्वसनीय और प्रामाणिक न होकर, पूर्वग्रह युक्त हो जाती है। इस कमजोरी को वाद-निरपेक्ष होकर हिंदी आलोचना को दूर करना होगा।

सत्य एक ऐसा मनोभाव है, जो मनुष्य-संवेदी होते ही अनेक वर्जनाओं, पूर्वग्रहों और प्रतिबद्धताओं को खंडित कर देता है। ल्यूकाच की मूल सौंदर्यात्मक दृष्टि यथार्थ के साथ समग्रता से जुड़कर क्या एकदम वादमुक्त नहीं लगती? यदि समग्रता को ल्यूकाच के शब्दों में मान भी लिया जाए तो क्या ऐसा नहीं लगता कि पूरी साहित्यिक आलोचना वादमुक्त समग्रता ही तो होनी चाहिए, फिर उसे वादों, विवादों के ऐसे खाँचों में क्यों डाला जाए कि साहित्य का समूचा आकलन ही अपना पोएटिक जस्टिस या काव्य-न्याय खो बैठे? यदि हम विश्व-भर के क्लासिक्स पढ़ें तो लगेगा कि जैसे वे मिथक हों, पुराण कथाएँ हों, फैंटेसी हों, कल्पना का वायवीय एवं कलात्मक उत्कर्ष हों, लेकिन जब उनके अंदर के चरित्रों को देखते हैं, घटनाएँ देखते हैं, रचा गया परिवेश देखते हैं, भाव संवेदन देखते हैं, स्थिति और संदर्भ देखते हैं तो लगता है कि कपोल-कल्पनाओं के अंदर भी कोई सत्य होता है, कोई यथार्थ होता है और साथ ही कोई आदर्श भी होता है। ऐसा यथार्थ मनुष्य को मनुष्येतर भी बनाता है और मनुष्येतर को मनुष्य भी। इसलिए कहा जा सकता है कि वाद के आधार पर आलोचना का मार्ग संकीर्णता की ओर ले जाता है, पोएटिक जस्टिस की अवमानना करता है और यह उसका कमजोर पक्ष कहा जा सकता है।

भारत में भक्ति-साहित्य को लेकर अच्छा चिंतन हुआ। तुलसी और कबीर को लेकर तो सर्वाधिक शोध एवं समीक्षा कर्म हुआ, लेकिन तुलसी-कबीर पर आलोचना का अतिवाद इस कदर छाया रहा कि सूरें, जायसी, मीरा, अष्टछाप के कवि, सूफी कवि तुलसी की तुलना में कम आँके गए। सूरदास तो केवल एम.ए. के डिस्टेंशन या विशेष कवि के रूप में शोध छात्रों के सरल कवि मान लिए गए। सूरदास पर भक्तिकाल के तमाम कवियों की अपेक्षा विश्व विचाराधीन शोध संभवतः सर्वाधिक है। इसका कारण शोधार्थियों को पूर्वशोधकर्ताओं की सामग्री बनी-बनाई मिल जाती है। काम तो उन पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत हुआ और सूर पर स्वयं रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, नंद दुलारे वाजपेयी आदि ने भी महत्त्वपूर्ण काम किया, लेकिन कबीर, तुलसी के आगे सूर भी दूसरी पंक्ति में ही चले गए। इसका एक बड़ा कारण है तुलसी की लोक-मानस दृष्टि और कबीर का लोक-मानस संवेदन। दोनों के संवेदन समान, लेकिन धरातल अलग-अलग; दोनों ही राम-भक्त लेकिन दोनों के राम अलग-अलग; दोनों ही समाजोन्मुख मगर दोनों की चेतना अलग-अलग। तुलसी जन में भक्ति के पर्याय बन गए, कबीर जन में सत्य के उद्घोषक बन गए, पाखंड के आलोचक बन गए और जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है, भक्ति में वे ईश्वरीय सत्ता के उस रहस्यलोक में चले गए, जहाँ उनकी यौगिक चेतना का कुंडलिनी जागरण था। एक कवि भाव-प्रवण, दूसरा भाव-प्रखर। इससे यह लगता है कि भक्तिकाल की आलोचना भी कुछ सीमा तक पक्षपातपूर्ण रही और समूचा भक्तिकाल कुछ कवियों में सिमट गया।

जायसी को लें तो काव्यात्मक उत्कृष्टता और सूफीयत या निराकार की रहस्य रचना में जायसी किसी कबीर या तुलसी से कम नहीं और कहीं-कहीं तो रहस्यात्मक धरातल पर काव्य-रचना करके भी वे पद्मावत को लोक-जीवन का संवेदनशील यथार्थ बना देते हैं। इसलिए जायसी तुलसी की भक्ति, कबीर के फक्कड़पन और सूरदास के वात्सल्य या श्रृंगार लालित्य के कवि भले ही न हों, लेकिन वे एक भाषा के ऐसे बौद्धिक कवि थे, जिसमें भाषा अपना उत्कर्ष पाती है और अपनी व्यंजना आजमाती है। भक्तिकाल के सगुण पक्ष हों या निर्गुण दोनों का जो आलोचनात्मक विवेचन शुक्लजी से लेकर आज तक हुआ उससे लगता है कि वाद-प्रभावित आलोचना से कितनी भिन्न थी उस समय की आलोचना। हजारी प्रसाद जी ने 'कबीर' लिखकर कबीर को आज की तरह किसी वाद के पिंजरे में नहीं डाला। कबीर की फक्कड़ी को हजारी प्रसाद जी ने अपनी फक्कड़ी बना लिया और कबीर के जिस अध्यात्म ने रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन को प्रभावित या आह्लादित किया था, वह अध्यात्म हजारी प्रसाद जी की भी आलोचना दृष्टि बना। इसलिए कबीर जो अपनी शताब्दी में थे, हजारी प्रसाद जी ने तमाम कलावादी, यथार्थवादी मार्क्सवादी आग्रहों के प्रचलन के बावजूद अपने समय में भी कबीर को उनकी निजता में कायम रखा और तुलसी को कबीर से या कबीर को तुलसी से किसी वाद के आधार पर जोड़ा या तोड़ा नहीं। आज की आलोचना इस दृष्टि से न तो शुक्ल जी की लोकमंगल की उदात्त दृष्टि पा सकी, न नंद दुलारे वाजपेयी की छायावादी-काव्यदृष्टि और न हजारी प्रसाद की कबीर-दृष्टि, क्योंकि अब कबीर किसी मंच की आलोचना के शिकार हैं, शायद वे भक्ति काल के प्रथम विद्रोही से अधिक आज के समय में सर्वहारा कवि के रूप में देखे जा रहे हैं। यह क्या आलोचना की शुद्ध दृष्टि है या राजनीतिग्रस्त स्वार्थदृष्टि? राजनीतिक मानदंडों ने साहित्यिक आलोचना की श्रेष्ठता की हानि की है।

आलोचना अपने प्रारंभिक दौर में तो काव्य-केंद्रित ही रही, फिर चाहे भारत हो या पश्चिम। यहाँ तक कि चीन, जापान, इंडोनेशिया और लातीनी देशों में भी कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और काव्य-आलोचना साहित्य के मुख्य केंद्र रहे। ईरान में ईरानी और अरब में अरबी एवं टर्की में टर्किश कविता में जो लयात्मकता थी, वही वहाँ की गायिकी भी बन गई। इस्लामी परंपरा में मौसिकी का जो जलवा रहा है, उससे अरबी-फारसी के बाद उर्दू कविता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रही। यही कारण है कि गजल, कव्वाली, नज्म आदि अनेक पोएटिक फार्म्स में अरबी-फारसी एवं तुर्की-उर्दू में उत्कृट रचनाएँ तो हुईं लेकिन उनकी काव्य-आलोचना ठीक से विकसित नहीं हो पाई। मीर, गालिब, इकबाल जैसे बड़े शायर होने के बावजूद आलोचना का गद्य उर्दू में उभरा ही नहीं, इतना जरूर है कि गालिब के खतों में उर्दू का नायाब गद्य है और इकबाल ने जो दर्शन संबंधी लेखन किया, उससे उर्दू गद्य को रूहानी ताकत मिली, मगर हिंदी की समांतर भाषा होने के बावजूद उर्दू साहित्य का हिंदी में और हिंदी का उर्दू में विवेचन नहीं हुआ।

जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, रोमैंटिक काव्य के साथ-साथ अंग्रेजी गद्य भी लिखा गया। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शैली सभी ने अंग्रेजी कविता, रोमैंटिक आंदोलन और सौंदर्यशास्त्रीय तत्त्वों को लेकर आलोचनात्मक गद्य लिखा। प्रिरेफलाइट कवियों ने कविता में पेंटिंग को जिस प्रकार देखा और रंगों की भाषा का सौंदर्यशास्त्र रचा, उससे रोमैंटिक कविता के प्रतीक और बिंब चित्रकला के बिंब बनने लगे थे।

पूर्वी यूरोप में रूस, पोलैंड, चेक गणराज्य में जो गद्य लिखा गया, उससे आलोचना को भाषिक ऊर्जा मिली। संरचनावाद, स्टाइल और भाषा वैज्ञानिक हस्तक्षेपों से और समाजशास्त्रीय एवं नृतत्त्वशास्त्रीय भाषा वैज्ञानिकों ने कविता या साहित्य के आकलन को पूरी तरह बदल दिया। पश्चिम की आधुनिक आलोचना में एम्बिग्विटी, तनाव, अर्थविज्ञान, शैली विज्ञान ने कविता की कसौटी न केवल बदली, बल्कि रोमैंटिक-काल की इमेजिनेशन-फैंटेसी के सिद्धांत या प्रिरेफलाइट काव्य के सौंदर्यवादी रूपकों से आगे जाकर कविता के कुछ नए मानक रचे। कविता को गीतात्मक भावुकता से मुक्त किया गया, गद्य की तरह कविता में भी भाव के साथ विचार को प्रधानता दी गई और मार्क्सवाद के प्रभाव के बाद एवं डी-सेश्योर के सिगनीफायर-सिग्निफाइड के प्रत्ययों के बाद कविता की नई भाषा बनी, जिसने आलोचना की भाषा को भी रूपांतरित किया।

यूरोप पश्चिमी साहित्यिक आलोचना में हर समय सार्थक हस्तक्षेप करता रहा। आलोचना का अवांगार्दपन एक प्रकार से क्रांतियों और मार्क्सवादी विचारधारा का संयुक्त संस्करण कहा जा सकता है। भारत में भी आलोचना की भाषा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी और तत्कालीन (1936 के बाद) मार्क्सवादी आलोचकों से विचलन तो किया, भाषा का आलोचनात्मक रूप भी बदला, लेकिन आलोचना और रचना के अंतर्संबंध उतने गहन नहीं हो पाए, जितने शुक्ल जी के समय थे। नंद दुलारे वाजपेयी बीसवीं सदी का ताजा गद्य लाए, छायावाद को वाद की प्रतिष्ठा भी दी, लेकिन हिंदी के आलोचकों की वाहवादी जमात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें स्वीकार नहीं कर सकी। अब जब आलोचना में कॉलरिज की-सी गंभीर तन्मय का अभाव है या अवाँगार्दपन की प्रखरता की कमी है तो नंद दुलारे जी का पुनर्पा किया जा रहा है और डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना के सर्वाधिक शक्ति-संपन्न आलोचक माने जा रहे हैं। रचना के समांतर आलोचकों की जिस पीढी का उदय होना चाहिए था, वह हुआ नहीं, इस कारण हिंदी की श्रेष्ठतम रचनाएँ भी श्रेष्ठ आलोचना से वंचित रह गईं।

मोटे तौर पर आलोचना के दो पक्ष माने गए हैं—एक सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। सैद्धांतिक आलोचना तो काव्य-शास्त्र की रचना से लेकर आज तक हो रही है, लेकिन रचना आधारित व्यावहारिक आलोचना अभी भी विकसित नहीं हुई है। वागीश शुक्ल ने राम की शक्तिपूजा को टीका प्रणाली में प्रस्तुत किया, जो हमारे पुरा काव्य-शास्त्रियों की ही परंपरा है। टीका तो रचना का मात्र अर्थ-निवेश है, वह संपू आलोचना नहीं। टीका से शब्द-पर्याय तो मिलते हैं, लेकिन अर्थ के व्यापक संद सीमित हो जाते हैं। इसलिए टीका एक प्रकार से नोट्स है या एनोटेशन है न कि आलोचना। रमेशचंद्र शाह और प्रभाकर श्रोत्रिय ने व्यावहारिक आलोचना का का किया। रमेशचंद्र शाह ने छायावाद की प्रासंगिकता में रचना और रचनाकार को कें में रखा, इसी प्रकार श्रोत्रिय ने अपनी पुस्तक 'संवाद और कवि परंपरा' में ऐसा ही काम किया। डॉ. विजयबहादुर सिंह ने नागार्जुन पर तो यह काम किया ही था, सा ही 'आलोचक का स्वदेश' में नंद दुलारे वाजपेयी की समूची आलोचना-प्रज्ञा को खँगाला। धनंजय वर्मा ने कहानी का रचनाशास्त्र रचकर पहले तो सैद्धांतिक हस्तक्षे किया, लेकिन उर्दू के बड़े शायरों पर जो व्यावहारिक आलोचना कर्म किया, उससे उर्दू आलोचकों से भी आगे गए। यद्यपि उर्दू के पास गोपीचंद नारंग जैसे आलोचक हैं। यह धनंजय का योगदान माना जाएगा कि उन्होंने उर्दू रचनाकार को उनक गुणवत्ता पर हिंदी में प्रतिष्ठित किया, ऐसा उर्दू वालों ने हिंदी के लिए नहीं किया इससे हिंदी आलोचना में उर्दू के समन्वय की एक गहरी खाई पैदा हो गई। हिं आलोचना को बहुविधात्मक बनाने का काम डॉ. नामवर सिंह ने किया।

हिंदी आलोचना के लगभग सभी संदर्भों पर नामवर सिंह ने विचार किया। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, डायरी आदि तमाम विधाओं पर गंभीर आलोचनात्म टिप्पणी देकर एक उत्कृष्ट पाठक का उदाहरण पेश करते हैं। उनके पास अधुनात विचारों का जखीरा है। भले ही वे लिखें कम मगर आलोचना को बहुपक्षीय बनाने क जो काम उन्होंने किया, वैसा हिंदी के आलोचकों में कम लोगों ने ही किया है। न विचार के साथ आलोचना को खड़ा कर पाने की क्षमता अकेले नामवर जी ने दिखाई है। यह एकलता भी हिंदी आलोचना की कमजोरी है।

वाद-निरपेक्ष आलोचना और साहित्य को लेकर चर्चा की जाए तो प्रश्न उठे कि तुलसी और कबीर की आलोचना क्या वादों में विभक्त करके की जाएगी या उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-गुण पर, उनके फार्म पर, उनके शिल्प पर और जिस काल में जो संगति-विसंगति उन्होंने देखी और भोगी उसकी आंतरिक ध्वनियों पर? भक्तिकाल का संत काव्य हो, या रीतिकाल की रीतियुक्त और रीतिमुक्त कविता, क्या हम उस काल की शृंगार के वियोग-संयोग या रीति-रूपकों को किसी वाद के नाम पर आँकेंगे या उनकी काव्यात्मकता, कल्पनाशीलता सौंदर्य और तत्कालीन सामाजिकता के आधार पर? इसी प्रकार राष्ट्रीय कविता को भी देखना होगा। वैसे तो मैथिलीशरण गुप्त में भी छायावाद की आहट सुनाई देने लगी थी, लेकिन राष्ट्रीय कविता में जिस प्रकार अपने समय का उत्पीड़न, आक्रोश और विचार व्यक्त हुआ, क्या उसमें किसी वाद का कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप था? शोषण, उत्पीड़न, क्रूरता, निरंकुशता आदि तो किसी भी काल में हो सकते हैं, किसी भी समाज में संभव हैं, पूँजीवाद में भी, सामंतवाद में भी और जनवाद में भी, लेकिन इनको लेकर जो साहित्य रचा गया, क्या वह संवेदन का साहित्य माना जाएगा या किसी वाद का? चेतनाएँ अनेक द्वारों से साहित्य में प्रवेश करती हैं। चेतना चाहे यथार्थ का रूपक बने या छाया का, अंततः तो वह प्रतीक, बिंब, ध्वनि, संगीत आदि का भाषिक सर्जन ही होती है, फिर फॉर्म कविता का हो, कहानी-उपन्यास का हो, या नाटक का। चेतना सामाजिक प्रभावों का ही परिणाम होती है। एक साहित्यकार अपनी कल्पना से उसे सर्जनात्मक बनाता है, फिर इसमें वाद की उपस्थिति कैसे हो गई? साहित्यिक विधाओं को अगर विचार या विचारधारा की पोशाक पहनाकर आँका गया तो क्या रचना का आंतरिक संवेदन और सौंदर्य नष्ट नहीं हो जाएगा? राजनीतिक, पार्टीवाद के आधार पर की गई जन कविता में आम सभाओं के भाषणों में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही बयान हैं—एक गद्य में तो दूसरा तुकबंदी में। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को जानना आवश्यक है। फ्रांस की क्रांति के बाद क्रांति के विचारों को लेकर सर्वाधिक और श्रेष्ठ साहित्य रचा गया, वैसा हमारे 1857 और स्वतंत्रता आंदोलन को लेकर क्यों नहीं हुआ? उसे राष्ट्रीय साहित्य के नाम पर दोयम दरजे का क्यों कहा गया? आलोचक का क्या यह विवेक उचित था?

माना कि वाद एक विचार का ही परिणाम होता है, समाज पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह साहित्य में भी अभिव्यक्त होता है। ऐसा तो लोक साहित्य में भी हुआ और अनेक लोक गीत या लोक रचनाएँ ऐसी हैं, जो अपने समय की विसंगतियों के विरुद्ध रची गई हैं, लेकिन वे वाद प्रभावित न होकर परिस्थितियों का परिणाम थीं। वे तात्कालिक थीं और चूँकि वे परिस्थितियाँ लगातार जारी रहीं या कम-ज्यादा होती रहीं, इसलिए लोक-रचनाएँ भी जारी रहीं। लेकिन एक साहित्यकार केवल जन साहित्य या लोक साहित्य नहीं रचता, वह सौंदर्य, संवेदन, स्थिति, ज्ञान, अनुभव, परिवेश, व्यवस्था, विचार सबको मिलाकर एक कल्पना करता है और उसे साहित्य की किसी विधा में रचता है। नए शिल्प या विन्यास के साथ। इसलिए उसकी रचना लोक-संबोधी भले ही न लगे, लेकिन वह विचार और बुद्धि-संबोधी होती है और भले ही समाज में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा बुद्धि-संपन्न, सौंदर्य और संवेदन-मूलक वर्ग छोटा हो, मगर वह छोटा वर्ग ही साहित्य की श्रेष्ठता का सर्जक बनता है। तुलसी या कबीर की आलोचना जो एक आलोचक करेगा, वह साहित्यिक मानी जाएगी या जनरुचि से उत्पन्न टिप्पणियाँ, जो आस्था की भावुक अभिव्यक्ति होती हैं।

भारतीय साहित्यिक आलोचना और विशेष रूप से हिंदी की साहित्यिक आलोचना का स्वभाव साहित्य-गामी होने की अपेक्षा व्यक्तिगामी या स्वयं-गामी होता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी को खड़ा करने में जो योगदान भारतेंदु और महावीर प्रसाद द्विवेदी का रहा, आधुनिक आलोचना को आधुनिक और वस्तुपरक बनाने का जो कार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया, उसका एक परिणाम यह हुआ कि हिंदी में भी साहित्य-गामी आलोचना की परंपरा बनी और इस परंपरा में जायसी, कबीर, तुलसी, संत और सूफी कवि और तत्कालीन तमाम साहित्यिक रचनाओं पर आलोचनात्मक चिंतन पूरी तरह वादमुक्त होकर किया गया, जबकि प्रेमंचद के समय में वाद का प्रवेश साहित्य में हो चुका था। काव्यगत आलोचना का वह दौर रहा, इस कारण शुक्ल जी, नंद दुलारे जी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हजारी प्रसाद जी से लेकर रामविलास शर्मा तक भी हिंदी की आलोच्य विधा काव्य ही रही। प्रेमचंद को उनके समय में और यहाँ तक कि उनके बाद दस-बीस वर्षों तक कोई रामचंद्र शुक्ल नहीं मिला। जैनेंद्र, यशपाल, सुदर्शन, अमृतलाल नागर, चतुरसेन शास्त्री, फणीश्वर नाथ रेणु और उनके समकालीन अनेक कथाकार, जिनमें स्त्रियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही, उन्हें वाद-निरपेक्ष या सामान्य आलोचक भी नहीं मिले। कथा-साहित्य को संभवतया शुक्ल जी और उनके समकाल या परवर्ती काल के आलोचकों ने आलोच्य ही नहीं माना। यदि छायावाद तक आएँ तो इस काल में उत्कृष्ट कथा-साहित्य प्रसाद और निराला और पंत ने रचा, महादेवी ने कहानी की तर्ज पर रेखाचित्र लिखे, फिर भी कथा-साहित्य का नोटिस तत्कालीन समालोचकों ने नहीं लिया। छुटपुट लेखन भले ही हुआ हो, लेकिन बीसवीं सदी के आधे से अधिक समय तक कथा आलोचना उपेक्षित ही रही, जबकि प्रेमचंद, मंटो, सुदर्शन, यशपाल आदि लोकप्रियता में रवींद्रनाथ, शरदचंद्र, बंकिमचंद्र का मुकाबला कर रहे थे। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारी परंपरा में आख्यान भले ही लोकप्रिय विधा रही हो, लेकिन कथा-साहित्य अपनी आधुनिकता में भी प्रेमंचद के पूर्व लगभग नगण्य था। चंद्रधर शर्मा गुलेरी, देवकीनंदन खत्री या इतिहास में जाएँ तो इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी', 'परीक्षागुरु' जैसी रचनाएँ थीं, लेकिन उन पर आलोचकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। जहाँ तक निबंध, नाटक, जीवनी, यात्रावृत्त, डायरी आदि विधाओं का प्रश्न है प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, शिवपूजन सहाय, रायकृष्ण दास का निबंध में; हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण लाल, रामकुमार वर्मा आदि के नाटक में जयशंकर प्रसाद के बाद जो योगदान रहा, उस पर भी ध्यान नहीं दिया गया। अज्ञेय और मुक्तिबोध ने डायरी लिखी, अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि ने यात्रावृत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखे, लेकिन उनकी भी साहित्यिक परख कहाँ हुई? जीवनी साहित्य भी कम नहीं लिखा गया, लेकिन क्या जीवनीकारों का मूल्यांकन हुआ?

सच्चाई यह है कि हिंदी आलोचना आज भी काव्य-प्रवृत्त ही अधिक है, वरना क्या कारण है कि नंद दुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद जी कथा आलोचना के क्षेत्र में नहीं आए, जबकि हजारी प्रसाद जी तो स्वयं कथाकार भी थे। रामविलास जी ने भी निराला और केदारनाथ अग्रवाल पर अपने को निछावर कर दिया, मुक्तिबोध स्वयं कथाकार थे मगर कला के तीन क्षण की डायरी हो या अन्य लेख, कथा आलोचना के बजाय उन्होंने कामायनी का ही एक पुनर्पाठ रचा। रामस्वरूप चतुर्वेदी वाद निरपेक्ष आयोजक अवश्य रहे, लेकिन उन्होंने अपना निर्विवादपन 'कामायनी' पर ही केंद्रित कर दिया, जबकि उन्होंने अनेक विधाओं को लेकर कुछ अच्छे निबंध लिखे, जिन्हें चिंतनपरक कहा जा सकता है। रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, वागीश शुक्ल किसी-न-किसी प्रकार के वैचारिक अतिवाद से मुक्त रहे, वरना विजयदेव नारायण साही ने जो आलोचना की भाषिक प्रणाली पैदा की थी, उसे आलोचना में और अधिक आगे ले जाया जा सकता था। जिस प्रकार वामपंथी, नववामपंथी, मार्क्सवादी आलोचना का एकालाप और जनवादी या प्रगतिवादी कट्टरपन रहा, क्या वैसा ही कलावादी अभिजातों का भी नहीं है? विनोद कुमार शुक्ल, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, भीष्म साहनी पर किस कलावादी ने आलोचनात्मक कलम चलाई? हिंदी में आज भी बौद्धिकता, विचार संपन्न सर्जनात्मक आलोचना का अभाव ही है। हमें यह भी मानना होगा कि प्रगतिवाद या जनवाद ने राजनीतिक ढंग से आलोचना भले ही की है, मगर अपने सर्जकों की आलोचना से उन्हें स्थापित किया, जबकि अमूर्तनवादी और कलावादी तो अपनी बराबरी पर किसी को आने ही नहीं देते। श्रेष्ठता के नाम पर यह कलावादी अहंकार नहीं तो क्या है?

आज जो हिंदी आलोचना का स्वरूप है, वह अधिकांश तो पुस्तक-समीक्षा में सिमट गया है। चिंतन, अध्ययन और कृतिपरक आलोचना की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति घट गई है। यदि एक आलोचक के पास केवल पुरोवाक् या भूमिका पढ़कर टिप्पणी करना ही आलोचना का नया प्रारूप है तो ऐसी आलोचना न कृति के साथ न्याय कर सकती है, न सर्जक के साथ। आलोचना के लिए आलोचक के पास न केवल सर्जक और कृति का अध्ययन आवश्यक है, बल्कि समकाल, पूर्वकाल और संभावनाओं का संदर्भ के साथ अध्ययन आवश्यक है। सैद्धांतिक आलोचना कितनी भी विचार पुष्ट हो, लेकिन तथ्य की सामग्री तो उसे भी अपने पूर्वज, अग्रज या समकाल से ही मिलती है, फिर चाहे वह पश्चिम के मानदंड अपनाए, उत्तर आधुनिक तर्क रचे या अतीत में जाए। आलोचना का अतीत है ही कितना पुराना। आलोचना के सबसे बड़े अतीत-पुरुष तो रामचंद्र शुक्ल ही हैं। अपने वर्तमान को आलोचना के केंद्र में रखकर आलोचना कर्म करने के लिए अतीत को नेपथ्य में रखना होगा क्योंकि अतीत कभी मरता नहीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह तो स्मृति को जीवित रखने का माध्यम है। कहा भी तो गया है कि अतीत भ ही एक मृत संज्ञा है, लेकिन उसकी गंध सदैव मधुर होती है। अतीत की मधुर गं ढोते हुए भी यदि हमारी आलोचना अपने समय के सर्जन के प्रति संवेदित है तं नए-से-नए रचनाकार को आलोचक की जो प्रतिश्रुति मिलेगी, उससे सर्जक कं सर्जनात्मक क्षमताओं का विकास होगा, आत्म-परीक्षण और आत्म-विवेचन होगा भविष्य की संभावनाओं और सर्जना के प्रति भाषा, शिल्प, विषय वस्तु, विचार औ कल्पना सबको नया उत्कर्ष मिलेगा। रचनाकार के मानस से न केवल कल्पना-पुष्ट होगी, बल्कि विचार और शिल्प भी पुष्ट होगी एवं अनुभव का सृजन अधिक संवेदनमय और सौंदर्यमय होगा।

जिस समय हिंदी आलोचना का शुक्ल काल सर्जक और सृजन की आलोचना लिख रहा था, वह समय आज के समय से भिन्न था। आधुनिकता के बावजूद गाँधी के आंदोलन और उनके हरिजन या अंतिम आदमी के संबंध में विचार के बावजूद, न तो हरिजन जो अब दलित माना जाता है, उस पर और न स्त्री को लेकर को महत्त्वपूर्ण सृजन हुआ और न आलोचनात्मक विवेचन हुआ। आधुनिकता इसलिए विचार और विज्ञान की सदी में समा गई और अब प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण औ बाजारवाद की शिकार है।

विचार ने दो धाराएँ दीं—एक वामपंथ की और दूसरी दक्षिणपंथ की। राजनीतिक भाषा में इन धाराओं को जनवादी या समाजवादी और पूँजीवादी कहा गया। सर्वहारा की धारा मार्क्सवाद बन गई, जिसके राजनीतिक संस्करण आज तक मार्क्सवाद लेनिनवाद, माओवाद और नक्सलवाद में मौजूद हैं। यह सही है कि मार्क्सवाद सामंतवादी क्रूरता और जारशाही से त्रस्त सर्वहारा की मुक्ति की क्रांति बन कर आया था। रूसी क्रांति के माध्यम से जिसने पूरे यूरोप को थरथरा दिया था और तत्कालीन सोवियत संघ में स्वयं रूस के आस-पास के छोटे-छोटे देश विलीन हो गए थे और पूर्वी यूरोप तो लगभग रूसी छतरी के नीचे ही आ गया था, लेकिन मार्क्सवाद का अतिवाद इतना प्रचंड था कि सोवियत रूस में पेस्तरनाक और सखारोव नोबेल सम्मान से वंचित कर दिए गए, सोल्जेनित्शिन को देश निकाला दे दिया गया और ब्लोक जैसा कवि नेपथ्य में चला गया। दक्षिणपंथ के पूँजीवादी और सामंतवादी ध्रुव के विरुद्ध एक नया ग्रुप पैदा हुआ वामपंथ और समाजवाद का जिसने शक्ति के एकाधिकार के विरुद्ध शक्ति के ही द्वारा शक्ति संतुलन भी किया। बावजूद 1917 की क्रांति के, समाजवाद से न प्रथम विश्वयुद्ध रुका, न द्वितीय विश्व युद्ध रुका और क्रांति का भी सैन्यीकरण हो गया। यूरोप, युद्ध जिसका प्रिय शौक रहा है, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका जैसी शक्ति के साथ मिलकर नए शक्तितंत्र की खोज में लग गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जापान के अणुबम विध्वंस का परिणाम देखकर भी शक्ति का एक मात्र केंद्र अणुबम बन गया और छोटे-छोटे देश तक आणविक अस्त्र की होड़ में लग गए। अन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हार गया, अणु जीत गया। भूख मार दी गई, भय पैदा कर दिया गया, शांति केवल वार्ता में कैद हो गई और शांति के नाम पर गोरिल्ला युद्ध की तरह आतंकवाद और नक्सलवाद का नया सामाजिक युद्धवाद पैदा हुआ। बीसवीं सदी के युद्ध तो युद्ध थे, मगर बीसवीं सदी के अंतिम दो-तीन दशकों से लेकर इक्कीसवीं सदी के युद्ध, अब युद्ध न कहलाकर आतंकवाद और नक्सलवाद, माओवाद और संप्रदायवाद कहलाने लगे हैं। युद्ध सैन्यशक्ति की आजमाइश से, आतंकवाद सामाजिक शक्ति का एक हिंसक संस्करण।

हिंदी के जो कुछ हिंदीवादी आलोचक हैं, वे अन्य भाषाओं और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य और भाषा को अछूत मानते हैं। वे अपने अन्य भाषाओं के अपरिचय से उपजे अज्ञान को परंपरा का नाम देकर परंपरावादी या अतीतवादी हो गए हैं, जबकि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे आलोचकों का भी भारतीय शास्त्रों या साहित्यिक परंपरा का ज्ञान ऐसा हो जो हमारे समय में भी—स्व. आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, कमलेशदत्त त्रिपाठी, राधावल्लभ त्रिपाठी, गोविंदचंद्र पांडेय, यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ, रमेशचंद्र शाह आदि के समकक्ष हो। जो अवाँगार्द आलोचना के नाम पर भाषा का तेज दिखाते हैं, उनमें से बहुत कम हैं, जो अब उत्तर आधुनिकता के नए हस्तक्षेपों से सही ढंग से परिचित हों। आलोचना का व्यावहारिक पक्ष कुछ हद तक प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनाया, कृष्णदत्त पालीवाल ने भारतीय और उत्तर आधुनिक का समन्वय किया, लेकिन अन्य आलोचक तो आज भी मौलिकता के नाम पर अपना आलोचनात्मक अहंकार ही व्यक्त कर रहे हैं।

साहित्यिक आलोचना, रचना की आलोचना होती है, वाद की इसलिए नहीं कि वाद का मंच राजनीति है, अखबार हैं, जो विचारधारा से संबद्ध या प्रतिबद्ध होते हैं। साहित्य तो कला है, शब्द की अर्थमय कला, शब्द के सौंदर्य की कला, शब्द के संवेदन की कला और शब्द की आंतरिक शक्ति को अभिव्यक्त करने की आस्वादात्मक कला। इसे कलावाद के नजरिए से न देखा जाकर कला के रूप में ठीक उसी तरह देखना होगा, जिस प्रकार हम पेंटिंग या मूर्ति शिल्प को देखते हैं या संगीत को सुनते हैं। पेंटिंग चाहे भारतीय हो या विदेशी, उसके अंदर देशकाल सब तिरोहित होकर कला बन जाते हैं। संगीत चाहे शास्त्रीय हो या सुगम, कंठ्य या वाद्य, वह रस में निष्पन्न या संपन्न होता है, न कि किसी विचारधारा में। ईश्वर अल्ला के नाम पर गाए जाने वाले भक्ति या सूफी संगीत में तो ईश्वर अल्ला को कोई नहीं सुनता, न मजहब या धर्म को सुनता, न देवी-देवताओं को सुनता, बल्कि जो भी सुना जाता है, वह श्रोता और गायक की रस-संज्ञा का संगीत में, रस में, माधुर्य में, आनंद में विलीन हो जाना है अर्थात् संगीत स्वयं ईश्वरीय हो जाता है, धर्म या अध्यात्म हो जाता है। वह मात्र ध्वनियों और रागों का संयोजन नहीं है बल्कि वह मनुष्य में निहित अंतर्ध्वनियों का प्रत्यक्षीकरण है। यही वजह है कि जेज या पॉप हो, मोजार्ट या बीथोवन की सिम्फनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, लोक-संगीत हो या शास्त्रीय, सब अपने देश-काल की पहचान संगीत में विलीन कर देते हैं।

आलोचना का स्वभाव भी रचनात्मक होता है। वह वस्तुनिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ वह भाव-पक्ष, कला-पक्ष, भाषा-पक्ष के साथ लोकमंगल एवं साधारणीकरण जैसे तत्त्वों का भी विवेचन है। यदि यहाँ हम काव्यशास्त्र के मानदंडों के साथ प्लेटो या अरस्तू से लेकर पश्चिम के अधुनातन आलोचकों या उत्तर आधुनिकता के पाठवादी विचारकों की भी चर्चा करें तो यह जरूरी है कि हम रचना को अपनी पसंद-नापसंद का आधार न बनाएँ। वह आलोचना न होकर एक प्रकार का ओपिनियन मेकिंग कहलाएगा आलोचना नहीं। आलोचना रचना के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तंतुओं को खोजती है भाषा में शिल्प में, विचार में और उसकी समग्र निष्पन्नता में। अब जो रीडर्स रिस्पांस का सिद्धांत दिया जाता है, उसका भी अर्थ मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, क्योंकि रचना यदि पाठ है तो पाठ स्वयं आलोचना-संपृक्त होता है और पाठ का पाठक जो रचना का अपना पाठ रचता है, वह मात्र सामान्य रीडर या पाठक नहीं होता, बल्कि वह रचनाकार पाठक होता है, जो आलोचनात्मक पाठ का सृजन करता है।

हिंदी आलोचना यदि अपने श्रेष्ठतम स्तर तक नहीं पहुँच पाई तो इसका एक बड़ा कारण है, आलोचकों का अहंकार और रचना के फलक को आलोचना के फलक तक पाने के हुनर की कमी। जिस प्रकार रामविलास शर्मा ने केदारनाथ अग्रवाल को आलोचना के फलक पर रखकर मार्क्सवादी धारा का उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कवि बना दिया, वैसा आलोचक तो न मुक्तिबोध को मिला, न अज्ञेय को। हम अपने सांस्कृतिक बोध से कितने भी संपृक्त हों, कट्टरता की हद तक भी, लेकिन प्रश्न यह है कि संस्कृत काव्य को छोड़ दें तो कितने आलोचक ऐसे हैं, जिन्होंने ध्वनि सिद्धांत, रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, भाषिक सिद्धांत आदि के आधार पर हमारे साहित्य का तटस्थ मूल्यांकन किया है? आधुनिकता के नाम पर वे न तो ठीक से कलावादी बन पाए न मार्क्सवादी। मार्क्सवादी आलोचना ने प्रगतिशील साहित्य को काफी हद तक खँगाला, उसे प्रतिष्ठित भी किया और नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवि, प्रेमचंद, रेणु, यशपाल जैसे कथाकार यदि आलोचकीय प्रतिष्ठा पा सके तो यह मार्क्सवाद की साहित्यिक सफलता कही जाएगी, लेकिन जिस समाजवादी सौंदर्यशास्त्र के साथ विजयदेव नारायण साही ने आलोचना में हस्तक्षेप किया था, उसे मार्क्सवादी यदि अपना लेते तो शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, नंदकिशोर नवल, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि में वह संभावना थी, जो वाद-निरपेक्ष आलोचना से हिंदी साहित्य की लोक प्रतिष्ठा भी कर सकते थे। वाद-निरपेक्ष न हो पाने के कारण साहित्य का विभाजन केवल कलावाद और मार्क्सवाद तक ही सीमित होकर रह गया।

हम पश्चिम की भर्त्सना की हद तक अवमानना करें, लेकिन क्या हिंदी का आलोचक रोलां बार्थ की तरह यह कह सका कि लेखक की मृत्यु हो गई है अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक रचना में विलीन हो गया है, इसलिए रचना सामने है; न कि लेखक। क्या ल्यूकाच या सूजन सांटेग की तरह हम यह कह सके कि व्याख्या के विरुद्ध हमें रचना को पाठ बनाना होगा या रोर्टी की तरह यह कह सके कि रचना भाषा का खेल है। जिस डिकंस्ट्रक्शन या विनिर्माण का तर्क लेकर देरिदा आए, इतिहास की मृत्यु के साथ फूको और फूकोयामा आए, यहाँ तक कि जिस साहस के साथ मलार्मे और पॉल वेलेरी से आगे का रचना मूल्यांकन लेकर पश्चिम के मार्क्सवादी स्पेंडर और जेम्सन जैसे आलोचक आए, उस प्रकार के हस्तक्षेप हिंदी में न तो परंपरा के नाम पर रचे गए और न आधुनिकता के नाम पर। यदि हम कुछ भी मौलिक न कर सके और पश्चिम हो या लातीनी अमेरिका ये ही हमारे आलोचना बोध पर हावी हों तो फिर यह करुण क्रंदन क्यों कि हमारी संस्कृति और परंपरा की उपेक्षा हो रही है और पश्चिमी मानसिकता हमें बौद्धिक गुलामी की ओर ले जा रही है? क्रिटिकल थियरी और डायलेक्टिकल मटीरियोलिज्म ने बहुत हद तक समय, साहित्य और बौद्धिक वर्ग को प्रभावित किया और आज भी वह जारी है, क्या वैसा कोई क्रिटिकल विजन हमने अपनी आलोचना को दिया?

हम उत्तर आधुनिकता की कोख से पैदा हुए शब्द भूमंडलीकरण और बाजारवाद से डरे-डरे लग रहे हैं, मगर उत्तर आधुनिकता ने फार्मेलिज्म, इमोशनल रिलीज जैसे शब्दों से आगे नई शब्दावली का जखीरा खड़ा कर दिया। कोलाज, डायलागिज्म, डायस्पोरा, एपिस्टिमालाजी, जेंडर पेरॉडी, जिनोसेंट्रलिज्म (स्त्री केंद्रित) हरमेनिटिक्स अर्थात् 'धर्मशास्त्र के पाठ की व्याख्या से आगे भाषिक व्याख्या और दर्शन का समन्वय' इंटर सेक्सचुएलिटी, लिविडिनल इकोनॉमी, पाठ की आकांक्षा मेटा क्रिटिसिज्म, नरेटोलजी, आब्जेक्टीफिकेशन, पेराडी, आदि अनेक नए शब्द आलोचना की भाषा को दिए, वैसे हिंदी आलोचना में कितने नए शब्द रचे गए? मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, जो कार्ल युंग के साथ शुरू हुई थी, उसे पश्चिम आगे ले गया और बारकन ने डायलॉगिक आलोचना (संवादात्मक) का सूत्रपात किया, फिर शिकागो स्कूल बना, जिसने अरस्तु के रेटरिक और पोएटिक्स को टैक्स्ट के रूप में विश्लेषित किया। चिकानो चिकाना अध्ययन प्रणाली भी आई, जिसने मेक्सिकन, क्यूबन, डोमिनिकन, प्यूरटोरिको आदि के स्पेनिश साहित्य में स्त्री-पुरुष रचना और अन्य विविधताओं के साथ हस्तक्षेप किया।

यदि हमें पश्चिम को नकारकर अपनी अस्मिता रचनी है तो केवल बड़बोलेपन की भारतीयता का सांस्कृतिक जाप करने के बजाय बौद्धिकता के नए धरातल खोजने होंगे। यदि पश्चिम अनेक सिद्धांतों की सीमाओं से आगे जाकर 'पाठ' में अपनी आलोचना का केंद्र खोज लेता है तो वह मार्क्सवाद, उत्तर मार्क्सवाद, संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, भाषा और भाषायी विनिर्मिति आदि विचारों के साथ आलोचना को विमर्श मूलक बना रहा है। हम भी तो अब उनके साथ शामिल हो गए हैं, फिर हमें अपनेपन का विलाप क्यों?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हिंदी की साहित्यिक आलोचना को पश्चिम से टकराना है या अपनी उत्कृष्टता साबित करनी है तो उसे विश्वविद्यालयी, शोध के तरीके बदलने होंगे, अध्ययन, अध्यापन की प्रणाली बदलकर उसे अधिक कल्पनाशील और वस्तुपरक बनानी होगी और आज जब हम इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से सारी दुनिया को कंप्यूटर नेट पर पढ़ सकते हैं तो पढ़कर हमें अपने ज्ञान, अनुभव और सर्जनात्मक स्वभाव को विस्तार देना होगा। हिंदी आलोचना की आधुनिकता यदि प्लेटो, अरस्तु, लांजायनस, होरेस, सिडने, ऑरनोल्ड, एलियट आदि से देरिदा, बेंजामिन जैम्सन आदि तक सीमित होकर आलोचना कर्म करती रहेगी तो वह तो पश्चिम की नकल ही होगी, मौलिकता के नाम पर निरी वाग्मिता या रेटरिक होगा। हमें अपने इस स्वभावगत रेटरिक से मुक्त होकर सृजन में ध्यानमग्न होकर डूबना होगा, साहित्य का अध्यात्म ही है साहित्य में डूबना, तभी जाकर उत्कृष्ट आलोचना का भी उदय होगा। पश्चिम यदि हमारे लिए प्रासंगिक नहीं है तो हमें अपने प्रसंगों की खोज करनी होगी, क्योंकि संदर्भ और प्रसंगों में हम पश्चिम से किसी भी तरह कम या पीछे नहीं हैं। हिन्दी आलोचक को संकीर्ण मनोवृत्तियों और अहंकार से मुक्त होना होगा; वाद-प्रदत्त बौद्धिकता से मुक्त होना होगा; अपनी आत्म-मुग्धता त्यागनी होगी; अन्य के छोटे-से-छोटे कार्य को भी स्वीकार कर उसके प्रति उदार होना होगा और एक सर्जक के लिए ऐसे रास्ते तैयार करने होंगे, जिन पर चलकर वह अपनी श्रेष्ठता की मंजिल तय कर सके। आलोचना से सर्जक और पाठक दोनों बनते हैं और यह काम हिंदी आलोचना का वर्तमान ठीक से नहीं कर पा रहा है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

मानसिक स्वास्थ्य एवं आधुनिक जीवन, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक: नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002; प्रथम संस्करण : 2013; पृष्ठ : 108; मूल्य : 250/ रुपये।

हरेराम 'समीप', व्यक्ति और अभिव्यक्ति, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002; प्रथम संस्करण: 2009; पृष्ठ : 210; मूल्य : 300/ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी समीक्षा : भ्रांत धारणाएँ

नरेन्द्र कोहली*

जमशेदपुर में कॉलेज का छात्र था, तो कहानियां तब भी लिखता था। हमारे साथी और अध्यापक परस्पर एक-दूसरे की रचनाएं सुनते थे और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्ति करते थे। ऐसा नहीं था कि वे रचनाओं के दोष नहीं बताते थे, किंतु उनसे रचनाओं का सुधार होता था और लेखक का विकास होता था। एम. ए. की पढ़ाई के लिए दिल्ली आया तो ऐसे सहपाठियों में घिर गया, जिनका विचार था कि मैं बहुत सीधी-सादी कहानियाँ लिखता हूँ। मेरे उन सहपाठियों की कहानियाँ (यदि वे कहानियाँ थीं तो) बहुत उलझी हुई होती थीं। एक लड़की है, जो काम-भावना से इस सीमा तक पीड़ित है कि वह समागम के लिए फुटपाथ से एक लड़का उठा लाती है। लड़का भूख से तड़प रहा है। लड़की उसे अपनी सेज पर बुलाती है और लड़का मेज पर पड़े सेब की ओर लपकता है। लड़की उसका शरीर चाहती है और लड़का मेज पर रखा सेब चाहता है।

मेरे लेखक मित्रों की दृष्टि से यह संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानी थी। उसमें भूख का महत्त्व स्थापित किया गया था। संसार का सारा मार्क्सवाद उसमें आ जाता था। उन्होंने न कभी वैसी लड़की देखी थी, जो सड़क से एक भूखे लड़के को पकड़ कर अपनी सेज पर घसीट ले जाती है, और न कभी वह लड़का देखा था, जो भूखा प्यासा सड़क पर भटक रहा था और फिर निर्वस्त्र लड़की को सेज पर लेटी छोड़कर, बदले में मेज पर रखा सेब खाने लगता है। फिर भी उन्होंने वह कहानी लिख मारी और उसे संसार का महान् साहित्य माना।

मैं तब भी समझता था कि वह एक विचारधारा का प्रचार करने वाला अंधा विज्ञापन था और आज भी वही मानता हूँ। न उन्होंने समाज को देखा, न जीवन को। वर्ग-सिद्धांत के पुजारी ने कभी समाज के उस वर्ग को नहीं देखा, जहाँ लड़कियाँ इस सीमा तक काम-पिपासु होती हैं, और लड़के इस सीमा तक पेट की भूख से तड़प रहे होते हैं। हमारे विश्व विद्यालय में तो वे लड़के थे, जो अपनी कक्षा और आस-पास की

---

* 175, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़कियों से बात करने को तरस रहे थे। उनके साथ पाँच मिनट बिताने के लिए अप कपड़े बेच कर भी उन्हें चाय पिलाने को तैयार थे।... और कहानी वे लिख रहा था, उ लड़के की, जो निर्वस्त्र लड़की को सेज पर छोड़ कर सेब की ओर लपक रहा था समाज को समझने का प्रयत्न वहाँ था ही नहीं। वायवीय विचारों से कहानियाँ बुन का प्रयत्न मात्र था, और उसी के आधार पर साहित्य को परखने के मानक बनाए ज रहे थे।

उन्होंने मेरी कहानियाँ पसंद नहीं थीं। शायद मैं भी पसंद नहीं था। उसक कारण मैं नहीं था। हमारी सहपाठिन शशि थी। जिस समय मुझे कहानी पढ़नी हो थी, वह अपनी दस-पांच सखियों को बुला कर गोष्ठी में बैठा लेती थी। मे साहित्य-सर्जक मित्रों की बाछें खिल जाती थीं। आज वे उन सुंदरियों को अपन रचनाएं सुनाएंगे।... पर यह क्या। मेरी कहानी पूरी हुई और शशि ने अपनी सखिय को संकेत कर दिया। वे सब उठ कर चल दीं। महान् साहित्यकार बैठे के बैठे रह गए जैसे सेज पर बैठी किसी सुहागिन को उसका पति छोड़ गया हो। उनकी सीने की जलन और जिह्वा की खलिश मेरी कहानी पर उतरती थी। हाय रे सौतिया ढाह। औ उसे वे समीक्षा कहते थे।

दूसरी ओर वह कवि था, जो अपनी डायरी में शिश्न् के चित्र बनाने वाले लड़ के आस-पास कविताएँ लिख रहा था। उसके अनुसार वही शाश्वत कविता थी। अक्ष को ऊपर-नीचे लिख कर उनसे कुर्सी मेज की आकृति बना रहा था, और कविता के एक नए युग के सूत्रपात की घोषणा कर रहा था। वह मुझे प्रायः अपने पाठ्यक्रम से ध्या हटा कर साहित्यक सृजन को गंभीरता से ग्रहण करने का उपदेश दिया करता था।

मुझे अपनी कहानियों पर उन लोगों की टिप्पणियाँ पसंद तो नहीं आती थीं, किंतु उनकी प्रशंसा पाने के लिए मैं स्वयं को और अपने सृजन को बदलने को तैया नहीं था। सृजन को भी क्या कभी कोई बदल सका है? मैं ही कैसे बदल सकता था अपने परिवेश से परेशान होकर खिन्न मन से मैंने उन दिनों 'पांच एब्सहर्ड उपन्यास' की रचना की थी। उसे बाद में व्यंग्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना गया औ व्यंग्य साहित्य की उपलब्धि कहा गया। 'कादंबिनी' में उसकी समीक्षा आई। एक अध्यापिका ने लिखी थी, जिन्हें व्यंग्य के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं थी उन्होंने लिखा कि ऊटपटांग शब्दों को एकत्रित कर देने से व्यंग्य नहीं बन जाता लेखक को पहले व्यंग्य विधा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मैं समझ गया कि वे व्यंग्य को नहीं पकड़ पाईं। उसका महत्त्व मान कर उसे हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय मे पाठ्यक्रम में लगा दिया गया—तीन वर्षों के लिए। अति उत्साह के कारण उसे बी.ए पास कोर्स के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया। पहले वर्ष मेरे पास माँग आती रह कि मैं उसकी एक कुंजी लिख दूँ, अध्यापकों को पढ़ाने में कठिनाई हो रही है। भल में ऐसा अपमानजनक प्रस्ताव कैसे स्वीकार कर सकता था। मैंने उस दिशा में अपन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग नहीं बढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि उस पुस्तक को एक ही वर्ष में पाठ्यक्रम से हटा दिया गया। अध्यापकों में जो आलोचना शक्ति थी, वह उसका तेज सहन नहीं कर पाई। मैं लिख रहा था कि एक व्यक्ति बस से ऐसे चिपक गया, जैसे दीवार से चिपकी छिपकली। अब हिमाचल के अध्यापक को यदि दिल्ली की बस सेवा का हाल नहीं मालूम तो वह तो इस उदाहरण को समझने के लिए, कुंजी माँगेगा ही। कुंजी नहीं मिली। उसकी दृष्टि से पुस्तक उतर गई। अतः वह पाठ्यक्रम के योग्य नहीं मानी गई। वहां से हटा दी गई।

मैं अपने स्वभाव के प्रवाह में बहता-बहता राम-कथा पर अपना उपन्यास 'अभ्युदय' लिख बैठा। अभी पहला खंड 'दीक्षा' ही लिखा था कि महानतम पंडित ने दो बातें कहीं, 'तलवार की धार पर चल रहे हो। संभाल नहीं पाओगे।' दूसरी बात कही, "इतने बड़े चरित्रों को लेकर उपन्यास लिखना संभव नहीं है। छोटे चरित्रों के माध्यम से उन्हें प्रस्तुत किया जाता है।" मैं क्या कहता—अरे जब मैंने उपन्यास लिख ही दिया, तो वे कैसे कह सकते थे कि उपन्यास लिखा नहीं जा सकता। उनसे नहीं लिखा गया, यह बात और थी। किंतु उन्होंने तो काव्य शास्त्र का सिद्धांत बना दिया कि महान् चरित्रों को लेकर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता और मैं आज तक समझ नहीं पाया कि किसी लेखक की असमर्थता को काव्यशास्त्र का नियम कैसे माना जा सकता है। एक दूसरे मित्र मिले। बोले, "जिसे रामकथा पढ़नी होगी, वह तुलसीदास को पढ़ेगा और जिसे उपन्यास पढ़ना होगा, वह प्रेमचंद को पढ़ेगा। रामकथा पर लिखा गया, तुम्हारा उपन्यास कोई क्यों पढ़ेगा। इन तिलों में तेल नहीं है। व्यर्थ परिश्रम मत करो। समय नष्ट करना कोई लाभदायक प्रस्ताव नहीं है।" मैंने सुन लिया और सोचता रहा कि जो तिल उन्होंने पेरे हैं, उनमें से कितना तेल निकाल लिया। किंतु उनका सिद्धांत था कि जो साहित्यकार या पत्रकार मार्क्स के मार्ग पर नहीं चलता, वह साहित्यकार या पत्रकार हो ही नहीं सकता। वे एक मार्ग पर चल रहे थे और अन्य लेखकों की आत्मा की रक्षा करने के लिए, पादरियों के समान प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे। मनहर चौहान के प्रयत्न से पहली गोष्ठी ग्वालियर में हुई। नगर के सब से बड़े समीक्षक को बुलाया गया। वे बोले, "इस युग में रामकथा लिखने वाला लेखक सांप्रदायिक और साम्राज्यवादी सोच का प्रचार कर रहा है। वह स्त्रियों और दलितों के विरोध में साहित्य रच रहा है। हमें इस साहित्य की आवश्यकता नहीं है। मैं नरेन्द्रो कोहली का समर्थन नहीं कर सकता।" वे और भी बहुत कुछ बोले और बोल कर ताव में उठ कर चले गए।

लोगों ने मुझसे कहा कि मैं उनके तर्कों का उत्तर दूँ। मैं उस व्यक्ति को क्या उत्तर देता, जो उत्तर सुनने के लिए रुका ही नहीं। मैंने इतना ही कहा कि मैं लिखित रूप में शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि उन्होंने मेरी पुस्तक पढ़ी ही नहीं। जो कुछ उन्होंने कहा, वह उनके मन का विष था। वह वक्तव्य न मेरे विषय में था, न मेरी पुस्तक के विषय में और न रामकथा के विषय में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तभी एक मित्र ने एक समाचारपत्र की कतरन भेजी, जिसमें एक समाचार छ था कि हिंदी साहित्य, के एक बड़े मठाधीश ने मेरा नाम लिए बिना कहा है कि दि के एक लेखक ने एक उपन्यास लिखा है, जिसमें राम अपने गुरु विश्वामित्र से दीक्षा ले रहे हैं, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कोई स्वयंसेवक संघ सचालक से दी लेता है।

मुझे मालूम नहीं था और आज तक मालूम नहीं है कि कोई स्वयंसेवक, सर चालक से कैसे दीक्षा लेता है। अथवा कोई भी शिष्य अपने गुरु से कैसे दीक्षा ले है। मैंने दीक्षांत समारोह में कुलपति से अपनी उपाधि तो ली है, और किसी गुरु कभी दीक्षा नहीं ली। वे आलोचक मुझ से कहीं बेहतर ढंग से दीक्षा लेने की प्रक्रि को जानते हैं, क्योंकि वे दीक्षित थे और हैं। किंतु किसी पुस्तक की न्यायपूर्वक समी करनी उन्हें आज तक नहीं आई। फतवे उन्होंने चाहे कितने ही हों।...जब मैं उनके इस फतवे से उद्विग्न घूम रहा था मुझे विश्वविद्यालय में भी साहनी मिल गए। मिले, क्योंकि मुझे पता था कि वे उस गोष्ठी में आने वाले हैं। अपने साथ 'अभ्युदय' के सारे खंडों का एक सेट ले कर गया था। अवसर मिलते मैंने उनसे उनके उस फतवेबाज मित्र की शिकायत की और पुस्तकों का सेट पकड़ा दिया, "आप स्वयं इसे पढ़ें और मुझे बताएँ कि आपके उस मित्र के फतवे सत्य क्या है।" वे अपने मधुर ढंग से हँसे और बोले, "कह नहीं सकता कि वे बातें क्यों करते हैं।" भीष्म जी के साथ ही एक स्वनामधन्य, लेखिका भी खड़ी बोलीं, "मैं भी इस पुस्तक को पढ़ना चाहती हूँ किंतु यह पढ़ी ही नहीं जाती।" मैं उसी प्रकार तड़क कर बोला, "आपकी पुस्ताकें किसी से पढ़ी जाती हैं।" मेरे ते देख कर वे चुप लगा गईं।

'संघर्ष की ओर' का प्रकाशन हुआ तो 'सारिका' में उसकी एक लंबी समी छपी। समीक्षक मेरे परिचित थे। विश्वीविद्यालय में पढ़ाते थे—इसलिए रोज के मि वाले थे। जब चाहते पुस्तक के विषय में मुझसे बात कर सकते थे। किंतु उन्होंने क बात नहीं की। समीक्षा लिखी और छपवा दी। उसमें कहा कि लगता ही नहीं कि राम-कथा है। ऐसा लगता है कि आदिवासियों को सैनिक प्रशिक्षण दिया जा रहा

मंतव्य यह था कि ऐसा नहीं होना चाहिए था। मैं लिख रहा था कि राक्षसों पीड़ित लोगों को एकत्रित कर राम उनको संगठित कर रहे थे, ताकि वे राक्षसी आ से अपनी रक्षा कर सकें। किंतु समीक्षक महोदय ऐसा नहीं चाहते थे, अतः वह र निन्दनीय हो गई। वे राम-कथा को अपने ढंग से लिखना चाहते थे। उसमें मुझे आपत्ति भी नहीं थी। किंतु मैं चाहता था कि अपने मन की राम-कथा को वे स्वयं और मुझे अपने मन की बात लिखने दें। वे चाहते थे कि लिखूँ तो मैं किंतु उनके की लिखूँ।

मुझे वह सारी समीक्षा नासमझी की बात लगी, और प्रतिक्रियावश मैं नासमझी कर बैठा। मैंने पत्रिका के अनेक अंक खरीद लिए और उसमें से सम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाल कर अनेक लोगों को डाक से भेज दी। मेरी आपत्ति यह थी कि जिस किसी के भी हाथ में कलम हो, उसे इस प्रकार की तर्कशून्य बातें लिखने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए। उसे रोका जाना चाहिए। सिवाय डॉ. धर्मवीर भारती के और किसी ने भी मेरे पत्र का उत्तर नहीं दिया। उन्होंने लिखा कि समीक्षा के क्षेत्र में इसी प्रकार की अराजकता है। मुझे अपने लिखने से काम रखना चाहिए, ऐसी समीक्षाओं की चिंता नहीं करनी चाहिए, वह तो अपनी मौत स्वयं मर जाएगी। मैं चाहता था कि जो भी समीक्षा हो, वह न्यायपूर्ण हो और यदि उसमें कोई द्वेष हो तो अन्य, विद्वानों द्वारा उसका विरोध हो। किंतु मेरी समझ में आ गया कि संसार न तो मेरी इच्छा से चलता है, न न्याय के नियमों से; संसार तो प्राकृतिक नियमों से चलता है और उनमें रजोगुण तथा तमोगुण का ही बाहुल्य है। तब से मेरा वह आग्रह समाप्त हो गया।

संयोग ऐसा हुआ कि मेरी रामकथा पर ही एक अन्य विद्वान् ने एक समीक्षा लिख दी। उसमें समझाया गया था कि मिथ क्या होती है, मिथक क्या होती है। उन्होंने अपना एक मिथकशास्त्र गढ़ डाला था और सिद्ध किया था कि उनकी अपनी एक रचना उस शास्त्र के अनुसार रची गई है और नरेन्द्र कोहली को मिथक का कोई ज्ञांन नहीं है। अतः 'अभ्युदय' मिथकीय साहित्य में प्रवेश पाने योग्य नहीं है। मेरी तो ऐसी कोई कामना ही नहीं थी, अतः मैं उस समीक्षा को पढ़ कर शांतिपूर्वक सो गया। यह तो मुझे प्रातः ही पता लगा कि मेरा पुत्र कार्तिकेय उस समीक्षा से बहुत आहत हुआ था और उसने उस समीक्षा का उत्तर लिख कर पत्रिका के संपादक को भेज दिया था। संपादक ने अगले ही अंक में वह उत्तर प्रकाशित कर दिया और वे विद्वान मुझ से रुष्ट हो गए। मैं मानता हूँ कि वे आज तक यही मानते होंगे कि मैंने स्वयं ही उनकी समीक्षा का उत्तर लिखकर अपने पुत्र के नाम से प्रकाशित करवा दिया है। वैसे उससे कोई अंतर तो पड़ता नहीं था। यदि मेरी रचना। उनकी परिभाषा के अनुसार मिथकीय नहीं थी, तो उससे रचना की गुणवत्ता पर तो कोई प्रभाव पड़ता नहीं था। मैं तो आज तक अपनी रचनाओं को 'पुराकथाएँ' अथवा 'प्रख्यात कथाएँ' कहता और मानता आया हूँ। मैंने कभी मिथ और मिथक जैसे शब्दों की पाश्चात्या परिभाषाओं की चिंता नहीं की।

मेरी मान्यता आज तक यही रही है कि मौलिक रचना का सृजन लेखक के मन में होता है। सृजन के पश्चात् ही यह देखा जा सकता है कि वह रचना कैसी है। उसकी उत्कृष्टता की कसौटी उसके अपने ही भीतर छिपी होती है। आलोचक का कार्य उस कसौटी को उद्घाटित करना ही होता है। जब कोई आलोचक अपनी किसी मान्य कसौटी के चौखटे में किसी रचना को कसने का प्रयत्न करता है तो वह एक प्रकार से उसकी हड्डियाँ तोड़ने का प्रयत्न ही करता है। एक संगीतकार को किसी पहलवान की कसौटी पर कसना उचित नहीं होता। वस्तुतः हमारे अनेक आलोचक अज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात ही नहीं सांस्कृतिक विरोध, राजनीतिक मदांधता के रोगों से ग्रस्त हैं। वे मानसिक दासता और हत्याकरी प्रवृत्तियों से जकड़े हुए हैं। इसलिए सृजन को सृजन के धरातल पर नहीं, किन्हीं अन्य धरातलों पर जाँचते-परखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी आलोचना : भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होने की आहट

कैलाशचन्द्र पन्त*

सन् 2001 में हमारे समय के विख्यात आलोचक डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने ए साक्षात्कार में कहा था– ''हिन्दी आलोचना की स्थिति बहुत ही अराजक और अविश्वसनं होती जा रही है। आचार्य शुक्ल का लोक मंगल पीछे छूट चुका है। बड़े-बड़े आलोच संकीर्ण और एक पक्षीय निष्कर्षों में चक्कर लगा रहे हैं'' (*मेरे साक्षात्कार*, वि.प्र. तिवारी, 115)। इसी साक्षात्कार में आगे उन्होंने यह भी कहा– ''मार्क्सवादी अनुशासन की च शब्दावली में लिखी आलोचना बहुत ही उबाऊ और घिसीपिटी लगती है। उपर्युक्त उल्लेखि वाक्यों में दो बड़े संकेत मिलते हैं। प्रथम तो यह कि हिन्दी आलोचना के शिखर पु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं जिनकी स्थापनाओं के इर्द-गिर्द परवर्ती हिन्दी आलोचना घूम रही। यदि उसके समानान्तर आलोचना की वैकल्पिक पद्धति विकसित हुई है तो व मार्क्सवादी आलोचना है।

आचार्य शुक्ल के पूर्व तक अर्थात् भारतेन्दु से लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवे तक हिन्दी आलोचना की आधार भूमि तैयार की गई। बाबू श्यायसुन्दर दास ने आलोच के सैद्धन्तिक पक्षों का विवेचन किया। उसमें मौलिकता नहीं थी और केवल अंग्रे साहित्य में आलोचना के जो सिद्धान्त थे उनकी प्रस्तुति थी। परन्तु साहित्य के विद्यार्थि के लिये उनका महत्त्व अवश्य था। शुक्ल जी को भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन तो ही, वे पश्चिमी साहित्य के मानदण्डों को भी आत्मसात कर चुके थे। इसीलिये वे हिन् आलोचना को लोकमंगल जैसा सर्वथा मौलिक शब्द दे सके। भारतीय परम्परा की उनक समझ का अनुमान विरूद्धों के बीच सामजस्यों जैसी पदावली से हो जाता है। आचा नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी के संबंध में लिखा था– ''शुक्ल जी ने हमारे साहित्यि अनुशीलनों को नई दृष्टि दी। उनकी दृष्टि पूर्णतः सांस्कृतिक और शालीन थी। वे शवि शील और सौन्दर्य के उपासक थे।'' (*नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली* : पृष्ठ 180)

---

*9/35 सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी आलोचना के बुनियादी सिद्धान्त यही तत्त्व हैं जिन्हें अचार्य शुक्ल ने बहुत दृढ़ता के साथ स्थापित किया था। साहित्य को परखने की कसौटी भारतीय ही होनी चाहिये यह दृष्टि है लोक मंगल। इसके लिये आवश्यक तत्त्व है विरूद्धों का सामंजस्य। समन्वयवादी दृष्टिकोण ने ही भारतीय संस्कृति और साहित्य को शिखर तक पहुँचाया। साथ ही शील, शक्ति और सौन्दर्य साहित्य की कसौटी हो सकते हैं। ये तीन शब्द मात्र शब्द नहीं हैं, एक समूची संस्कृति को परिभाषित करने वाली पदावली हैं। इसी पदावली के सहारे आचार्य शुक्ल तुलसीदास के साहित्यिक अवदान को प्रतिष्ठापित कर सके थे। परवर्ती आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी के काव्य की महत्ता को विवेचित करने में जिस जनवादी पदावली का उपयोग किया उसमें भी परोक्ष रूप से लोकमंगल ध्वनित होता रहा है।

शुक्ल जी के ही समकालीन बाबू गुलाबराय थे। उनकी आलोचना शैली में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष दोनों हैं। साथ ही उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति हिन्दी आलोचना को दी। आगे चलकर इसी मनोवैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप डॉ. देवराज ने विकसित किया। हिन्दी आलोचना-शास्त्र खड़ा करने में भारतेन्दु मंडली के बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं. विश्वनाथ मिश्र, आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. गुलाबराय, डॉ. देवराज, पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी जैसे अनेक विद्वानों की भूमिका रही। लेकिन पं. रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य परंपरा की जिस तेजस्विता के साथ साहित्य आलोचना की कसौटियाँ प्रस्तुत की वे अप्रतिम हैं। यही कारण है कि हिन्दी आलोचना आज तक उनके इर्द-गिर्द ही घूमती रही। इस परम्परा के दूसरे आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। छायावादी काव्यधारा को हिन्दी साहित्य की यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव सिद्ध करते हुए आचार्य वाजपेयी ने पन्त, प्रसाद, निराला की त्रयी के ऐतिहासिक अवदान को प्रतिष्ठित किया। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उनके पूर्ववर्ती आलोचक छायावाद के महत्त्व को नकारते और उसे पश्चिमी साहित्य के रोमान्टिसिज्म की अनुकृति सिद्ध करते रहे थे। आधुनिक काल के समीक्षकों को अपनी दृष्टि संशोधित करने का जो रास्ता वाजपेयी जी ने सुझाया उसी का परिणाम है कि छायावाद और विशेष कर कामायनी की पुनर्व्याख्या संभव हुई।

आचार्य वाजपेयी की भूमिका ने लम्बे समय तक हिन्दी साहित्य जगत को साहित्य की नई उद्भावनाओं और भारतीय परंपराओं के समन्वयात्मक स्वरूप से परिचित कराया। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यह कार्य ऐसे समय में किया गया जब मार्क्स की विचारधारा राजनीति के साथ ही हिन्दी साहित्य को प्रभावित कर रही थी। डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचना के अग्रणी विद्वान थे। उनकी आलोचना दृष्टि से भारत की सांस्कृतिक अस्मिता लुप्त नहीं होती। लेकिन अन्य मार्क्सवादी आलोचक पूरी तरह साहित्य में राजनीतिक अभियानकर्ता बन गये। उनका प्रयास रहा कि साहित्य की सांस्कृतिक धारा जन सामान्य की स्मृति से समाप्त हो जाय। उनके बाद डॉ. शिवदान सिंह चौहान, डॉ. नामवर सिंह और डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय जैसे आलोचक हिन्दी में आये। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय के साथ मार्क्सवादी आलोचना हाशिये पर पहुँच गई। फिर भी यह सच है कि मार्क्सवादी आलोचना ने पचास वर्षों तक हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। सच यह भी है कि हिन्दी के प्रतिभा संपन्न लेखकों और कवियों को सामान्य पाठकों की दृष्टि-पटल से दूर रखने में मार्क्सवादी आलोचक कुछ सीमा तक सफल रहे।

इस बात पर गहरे विमर्श की आवश्यकता है कि साहित्य-जगत पर अपना वर्चस्व बना लेने के बाद मार्क्सवादी लेखक और आलोचना पच्चीस वर्ष की अवधि में हाशिये पर क्यों कर चली गई। साहित्य में विचारधारा का प्रबल आग्रह रखने वाले मार्क्सवादी आलोचक डॉ. विश्वनाथ तिवारी के इस कथन से सहमत नहीं होंगे कि "साहित्य का केन्द्र संवेदना है, विचारधारा नहीं।.... संवेदना से ही विचारधारा पैदा होती है, मगर विचारधारा से संवेदना पैदा नहीं होती।" (*आलोचना के हाशिये पर* : पृ.8) अपने इस कथन को ज्यादा स्पष्ट करते हुए *राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य* में डॉ. विश्वनाथ तिवारी ने लिखा- "रचना की शक्ति सत्य की शक्ति होती है। यही नैतिक शक्ति है। सबसे मजबूत। जो अकेले भी खड़ी हो सकती है और सत और असत् के संघर्ष में मनुष्यता को राह दिखा सकती है। उसे सामयिक और चिरन्तन प्रश्नों से रू-ब-रू कर सकती है। जो कुछ भी मूल्यवान है और मनुष्य के भीतर सो रहा है, उसे जगा सकती है।" यह शक्ति उसी रचनाकार में आकार ले सकेगी जो अपनी चेतना को स्वतंत्र रख पाता है। पार्टियों या विचारधाराओं के बाड़े में बन्दी लेखक से इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य के प्रबुद्ध वर्ग ने जब देखा कि मार्क्सवादी आलोचना ने जिस लेखक या कृतिकार को युगान्तरकारी बताने की कोशिश की थी वे अल्प समय में ही अपनी चमक गँवा बैठे तो मार्क्सवादी आलोचना को भी सिरे से खारिज कर दिया। यद्यपि हिन्दी आलोचना के स्तर को व्यापकता देने में उसका भी योगदान है।

मार्क्सवादी लेखन ने अपने प्रारंभिक दिनों में युवा लेखकों को आकार्षित किया था। इसका एक मुख्य कारण कल्पनाशीलता की छाया में रहस्यात्मक अनुभूतियों के शब्द-चित्रों की अपेक्षा जीवन की गहरी सच्चाइयों का यथार्थ निरूपण था जिसमें परिवर्तन के लिये क्रांति अपेक्षित है। एक तरफ देश में स्वतंत्रता की इच्छा बलवती हो रही थी, तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त विषमता का अनुभव भी किया जा रहा था। उपेक्षित वर्ग की आकांक्षाएं भी जागने लगी थीं। ऐसे वातावरण में मार्क्सवाद की वर्ग-भेद की अवधारणा ने परिवर्तन की दिशा में एक आधार प्रदान किया था। अंग्रेजी शासन काल ने भारत के विद्या केन्द्रों को नष्ट कर भारतीयों की मानसिकता को पराधीन कर दिया था। ऐसी उर्वरा भूमि पर विदेशी अवधारणाओं के बीजों का रोपण करना सरल था। ऐसी स्थिति में यथार्थ के नाम पर समाज की उन कमजोरियों का उजागर कर दिखाया गया जो हमारे राजनीतिक पराभव की विवशताओं के बीच समाज में व्याप्त हो गई थी। यथार्थवाद की जिस भ्रान्त धारणा का प्रचलन समाज में किया या उसके प्रति जब स्वतंत्रचेता लेखकों का ध्यान गया तो भ्रान्ति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुहरा छँटने लगा। हमारे अपने समय के तेजस्वी लेखक अज्ञेय ने सबसे जोरदार दस्तक दी थी। उन्होंने लिखा-

"आज यथार्थ शब्द का संबंध अर्थ और अर्थवत्ता से बहुत कम रह गया है और स्थूल भौतिक तत्वों से ही वह बँध गया है- भौतिक वस्तु से, उससे हमारे सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कार्य-कारणतत्व से। इस चिन्ताधारा की हमारे यहाँ कमी थी और उसका यहाँ प्रगट होना उपयोगी होता। लेकिन उसने क्रमशः और सभी चिन्ता-धाराओं को दबा दिया- और यह तर्क के बल पर उतना नहीं जितना आग्रह के बल पर। इससे हमारे चिन्तन जगत को गहरी क्षति पहुँची है और हमारा आलोचना साहित्य बहुत छिछला हो गया है। सतह और सतही संरचना का महत्त्व उस चिन्तन और आलोचना में बहुत अधिक है और भीतरी संरचना अथवा आभ्यन्तर सत्ता की कोई भी चर्चा संदिग्ध हो गई है- सिवाय भौतिक पदार्थ की ही आभ्यांतरिक संरचना के।"(अज्ञेय: *जोग लिखी* : पृ. 28)

अज्ञेय वस्तुतः ऐसे बौद्धिक रचनाकार थे जिनकी भारतीय और विदेशी चिन्तन धाराओं की समझ का लोहा एक पूरी पीढ़ी को मानना पड़ा और हिन्दी आलोचना ने नई करवट ली। उनके तर्क अकाट्य होते थे। इसका परिणाम हमें पचास के दशक में साफ दिखाई दिया। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अज्ञेय के यथार्थ चिन्तन को न केवल उनके निबंधों से बल्कि उनके साहित्य के गहरे अध्ययन से समझते हुए ही लिखा था-

"अज्ञेय के काव्य में मानवीय व्यक्तित्व को या कि समूची सृष्टि को ही एक नये अनपेक्षाकृत गैर-रोमांटिक ढंग से देखने की शुरुआत मिलती है जिसमें आग्रह परंपरागत राग पर उतना नहीं जितना कि यथार्थ को सही ढंग से समझने पर है। उपन्यासों में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा लेखक की चिन्तना का केन्द्रीय तत्व है। और इस प्रकार कविता तथा उपन्यास मिलकर व्यक्तित्व का, और इसलिये अन्ततः यथार्थ का भी एक समग्रतर चित्र उपस्थित करते हैं।" (*अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या* : रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ. 52)। मानवीय व्यक्तित्व की समग्रता की बात मार्क्सवादी आलोचना का सबसे बड़ा प्रतिरोधक तर्क है। मार्क्सवाद और मार्क्सवादी लेखन की इस एकांगिता से ही निराश होकर अज्ञेय, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, शमशेर जैसी प्रतिभाएँ उससे विमुख हुईं और अपना स्वतंत्र रास्ता चुना। अज्ञेय के प्रति वामपंथी लेखकों का जो आक्रोश-भाव निरन्तर बना रहा उसका मुख्य कारण भी यही है। यथार्थवाद की आधार-भूमि यदि वस्तुतः सत्य का अन्वेषण और उस दिशा में निरन्तर यात्रा वाली होती तो शायद भारत की भूमि से (और अब तो कहा जा सकता है कि विश्व के बौद्धिक जगत से भी) प्रभाहीन नहीं हो जाती। भारतीय मनीषा किसी भी तथ्य को अंतिम सत्य न तो मानती है और न स्थापित करती है। वैसे तो निरन्तर खोज की यात्रा ही समूची मानवीय सभ्यता का इतिहास है। समग्रता की ओर हिन्दी साहित्य के लेखन को जोड़ने का श्रेय विस्सन्देह अज्ञेय को जाता है। छायावाद और प्रगतिवाद से भिन्न रचनात्मक प्रक्रिया की खोज में 'तार ससक' के कवियों के एक साथ आने में मुख्य भूमिका सैद्धान्तिक विचार-भूमि की थी। इस प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में बौद्धिक उत्तेजना उत्पन्न की। आज के साहित्य-चिन्तन में इसे व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

आलोचना में साहित्य-समीक्षा की कसौटियाँ क्या हों यह प्रश्न भी बार-बार उठता रहा है। संस्कृत में काव्य-शास्त्र की लम्बी परम्परा रही है। हिन्दी के प्रारंभिक आलोचकों ने उन कसौटियों पर आलोचना के सिद्धान्त प्रस्तुत करने की कोशिश भी की। पश्चिमी साहित्य से संपर्क के बाद सौन्दर्य शास्त्र, मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र के कुछ सूत्रों का समावेश भी किया गया। लेकिन आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने *नया साहित्य: नए प्रश्न* में लिखा- ''काव्य की मीमांसा प्रमुखतः तीन भूमियों पर होती है। पहली भूमि कल्पना तत्व से संबंधित है, इसे ही आधुनिक शब्दावली में सृजन-प्रक्रिया कहा जाता है। जीवन और जगत के अनन्त वस्तु व्यापार जिस प्रकार कवि मानस को प्रभावित और उद्बुद्ध करते हैं तथा उसकी रचनात्मक क्षमता जिन 'रूपों' में जाग्रत होती है, वह सारा विवेचन सृजन-प्रक्रिया के विवेचन की सीमा में आता है। मेरा मत यह है कि भारतीय अलंकार संप्रदाय अपने मौलिक रूप में काव्य के इसी पक्ष से संबंधित है। इसके पश्चात् रूपों या कल्पनाओं के व्यक्तीकरण की स्थिति आती है। रीति और वक्रोक्ति के मत अपनी मूल भूमिका में इसी व्यक्तीकरण या वाणी-व्यापार की प्रक्रिया से संबद्ध हैं। इसे ही समुद्र बंध ने काव्य का व्यापार-मुख कहा है। ध्वनि और साधारणीकरण के भारतीय विवेचन इस व्यक्तीकरण के प्रश्न को काव्य की प्रेषणीयता से जोड़ देते हैं। इस प्रकार रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और साधारणीकरण की मीमांसा काव्य के व्यापार-पक्ष को पूर्णता प्रदान करती है। अंततः 'रस' सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र आता है जो मूलतः काव्य के आस्वाद पक्ष से संबंधित है। (*नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली* भाग-1 सं. डॉं विजयबहादुर सिंह : पृ. 14)।

वाजपेयी जी ने पश्चिम के सौन्दर्य शास्त्र और भारतीय काव्य शास्त्र का सम्यक अध्ययन करने के बाद ही साहित्य समीक्षा की कसौटियाँ प्रस्तुत की थीं। इसीलिये हमने प्रारंभ में ही कहा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद आचार्य परंपरा में नन्ददुलारे वाजपेयी ही आ सके। वे एक समर्थ और दृष्टि संपन्न आलोचक थे जो अपने पूर्ववर्ती विचारकों के मत को नकारते नहीं, विस्तार देने की कोशिश करते हैं। पाश्चात्य विचारों के प्रवाह में भी वह भारतीय भाव-भूमि पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहे। उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र चेतना से संपन्न था। इसीलिये शुक्ल जी के बाद आलोचना के क्षेत्र में प्रतिस्थापनाओं को लेकर उनको ही याद किया जाता है।

इसके बावजूद हिन्दी की आलोचना में अभाव की बात जब की जाती है तो उसका मुख्य कारण मार्क्सवादी आलोचना के उन मानदण्डों का प्रभाव रहा जो किसी भी रचना को 'विचारधारा' की कसौटी पर तौलते रहे।

एक समय विशेष में पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशनों, विश्वविद्यालयों और प्रचार के अन्य साधनों पर वर्चस्व जमाकर ऐसा वातावरण तैयार कर दिया गया था जहाँ बौद्धिक विमर्श के लिये कोई जगह नहीं थी। हिन्दी की आचार्य परंपरा ने वैचारिक प्रतिरोध खड़ा करने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी भूमिका निभाई। फिर भी साहित्य-समीक्षा में कृति से अधिक उसके रचनाकार को केन्द्र में रखने की प्रवृत्ति कायम रही। इस संबंध में अज्ञेय के मत का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है : "कोई वास्तव में कृतिकार है तो उसकी दृष्टि कृति में ही दीखनी चाहिये और उसी से उसको पहचानना और ग्रहण करना चाहिये। यह दृष्टि हमें डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. विश्वनाथ तिवारी और डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय में दिखाई देती है। डॉ. चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर ने आलोचना के क्षेत्र में अपना स्थान केवल इसीलिये बना लिया क्योंकि उन्होंने कृति की समीक्षा की और उसके जरिये रचनाकार को समझने का प्रयास किया। यह तभी संभव है जब आलोचक में भी संवेदना मौजूद हो। अपनी संवेदनाशीलता से ही वह रचना के गहरे और मर्मस्पर्शी भावों को पाठकों तक पहुँचा सकता है। ऐसा न कर पाने वाली आलोचना, कृति की अपेक्षा कृतिकार पर ही केन्द्रित हो जाती है। यहाँ उन तथाकथित आलोचकों का उल्लेख न करना ही उचित होगा जो अपनी लम्पट भाषा में दूसरे को नंगा करने को ही साहित्य-कर्म मानते हों और फतवे जारी करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हों।

हिन्दी आलोचना में भारतीयता का स्वर उभरता अवश्य रहा है, परन्तु भारत की सांस्कृतिक आधार-भूमि पर साहित्य को परखने की साफ दृष्टि उपलब्ध नहीं हुई। साहित्य को छायावाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, परंपरावाद जैसी कसौटियों में बाँट कर देखने की दृष्टि ही पूर्णतः अभारतीय है। साहित्य को उसकी समग्रता में तभी देखा जा सकेगा जब उसके लक्ष्य को समझने की कोशिश होगी। साहित्य का लक्ष्य आचार्य शुक्ल के अनुसार लोकमंगल है। यह मूलतः भारत की सांस्कृतिक दृष्टि है। दूसरी ओर पाश्चात्य दृष्टि मनुष्य को ही अर्थ केन्द्रित या सेक्स केन्द्रित अथवा वस्तु केन्द्रित मानकर उसे विखंडित करती रही है। इसे आधार बनाकर हिन्दी साहित्य को परखने और तदनुसार लेखकों के विभाजन करने की कसौटी यह होनी चाहिये थी कि कौन सी कृति सांस्कृतिक धारा के अन्तर्गत रखी जाय और किसे आयातित धारा का माना जाय। क्योंकि हिन्दी साहित्य में घोषित प्रगतिवादी परंपरा के अनेक ऐसे रचनाकार मौजूद हैं जो भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों से प्रेरणा लेते रहे। विखंडन की प्रक्रिया से ऐसे रचनाकारों की भी उपेक्षा हुई। इस द्वन्द्व ने हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक आघात पहुँचाया है। इसका एक स्वाभाविक दुष्परिणाम होगा-साहित्य पूरी तरह राजनीति से संचालित होने लगेगा। यह उसकी स्वायत्तता के लिये बड़ा खतरा है। इस संभावना के प्रति सचेत करते हुए डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा- "आलोचना को पंथों के साथ बाँधने से दोनों ओर भयानक भूलें और अपराध हुए। आलोचना अगर साहित्य की तरह एक सर्जनात्मक कर्म है और तटस्थ भी, अगर वह यह नहीं है तो वह रचना को भी क्षति पहुँचायेगी, आलोचना को भी और अपने समय, समाज और मनुष्य को भी।"(*मेरे साक्षात्कार* : पृ. 86)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन काव्यालोचन : शब्दों के घटाटोप में अर्थ का भटकाव

शशि मुदीराज*

आलोचना का व्युत्पत्तिपरक आशय है—देखना, यह 'देखना' कोई इकहरी आंगिक क्रिया मात्र नहीं है बल्कि एक मानसिक, बहुआयामी और चयनधर्मी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया है। हम देखते हैं—अपने व्यक्तित्व की पूरी बनावट और बुनावट के साथ, और वही देखते हैं जो कि हम देखना चाहते हैं और देख सकते हैं, वह नहीं जो कि हमारे सामने 'है' या 'होता है'। इस 'है' या 'होता है' को देखने के लिए जो निरेपक्ष वस्तुनिष्ठता चाहिए उसे प्राप्त करना दुस्साध्य है। क्योंकि 'देखना' तो इस कदर आत्मनिष्ठ है कि 'मूँदहु आँख कतहूँ कछु नाहीं' (तुलसी) यानी न देखने से सब कुछ निरस्तित्व हो जाता है, इसलिए 'देखना' अपने और वस्तुजगत के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए आवश्यक् है।

आलोचना न केवल इस 'देखने' से संबंधित है, बल्कि 'दिखाने' से भी। आलोचक केवल देखता नहीं, बल्कि दिखाने का दायित्व दायित्व भी लेना है। इसलिए आलोचना एक नितांत सामाजिक कर्म है। तब सवाल उठता है कि अपने व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से ऊपर उठकर सामने प्रस्तुत 'दृश्य' या 'पाठ' को उसकी रचनात्मक शर्तों पर देखना-दिखाना क्या संभव है? शमशेर ने 'बात बोलेगी, हम नहीं, भेद खोलेगी बात ही'—कहकर जो अप्राप्य-सा आदर्श हमारे सामने रख दिया, क्या हमारी साहित्यालोचना उसके नजदीक या उसके इर्दगिर्द भी पहुँची है या पहुँच सकती है?

कविता एक 'पाठ' है और हमारा काव्यालोचन उसका भाष्य। जाहिर है कि भाष्यकार की अपनी सोच, रचनात्मकता और अपने भाषिक मुहावरे का प्रभाव और प्रयोग उसके भाष्य को निरूपित करने में प्रबल भूमिका निभाएगा, तब 'पाठ' की

---

*शशि मुदीराज : सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिंदी विभाग, यूनिवर्सिटी ऑफ हैदराबाद, हैदराबाद-500046
संपर्क: Plot No. 311, Gulmohar Park, Lingampall, Hyderabad-500019. Phone: 040-23010421; Mobile: 09391092053: E-mail: shashi1948mudiraj@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठता को अर्थात् रचना की अपनी माँग और शर्तों को बनाए रखना इस भाष्यकार या आलोचक के लिए बहुत कठिन होता है, फिर भी आलोचना अपना धर्म निभाती है और रचना के गुण-दोष-विवेचन और मूल्यांकन की परंपरा को बनाए रखती है। हिंदी आलोचना में भी यही होता है। रचना और आलोचना के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते को निभाने में आलोचना के कई प्रकार, कई रूप और कई अभिगम सामने आए हैं। इनके इतिहास में जाने की यहाँ जरूरत नहीं, लेकिन ध्यातव्य है कि पिछले कुछ दशकों में काव्यालोचन का एक ऐसा रूप सामने आया है और आज की कविता और उसकी आलोचना में ऐसी प्रवृत्ति प्रबल हो चली है कि कवि के बहाने आलोचक अपने मनमिजाज, अपनी सोच और अपने शब्द-चातुर्य को आगे रखकर ऐसा समाँ बाँधता है कि आलोच्य कविता या पाठ-विशेष पीछे छूट जाता है, मूल कवि हक्का-बक्का-सा देखता रह जाता है या अपनी प्रशस्ति हो तो कृतज्ञ-मुग्ध होकर रह जाता है और आलोचक अपनी 'रचनात्मकता' और 'कल्पनाशीलता' के प्रतिमान स्थापित करने में लग जाता है। उदाहरण के लिए निराला को आधार बनाकर लिखी गई दूधनाथ सिंह की पुस्तक 'निराला: आत्महंता आस्था' को लिया जा सकता है। इसकी भूमिका में ही अपनी मान्यता लेखक ने इन शब्दों में रख दी है—"दरअसल सच्चा रचनाकार घनी-सुनहली अयालों वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्मकता का खून लगा होता है। अपनी सिंह-वृत्ति के कारण वह कभी भी इस खून का स्वाद नहीं भूलता और हर वक्त शिकार की ताक में सजग रहता है—चारों ओर से अपनी नजर समेटे, एकाग्रचित्त, आत्ममुख, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शांति में जुझने और झपटने को तैयार। इसी तरह की एकाग्रचित्तता और आत्ममुखता में सिंह को मचान पर बैठे हुए शिकारी का ध्यान नहीं रहता। ...वह कोशिश करता है, जैसे सिंह भी कभी-कभी मचान की ओर झपटता है (और निराला ने भी शायद बहुत कोशिश की होगी।) लेकिन उसकी सघन आत्ममुखता इसमें बाधक होती है।" आगे दूधनाथ सिंह ने स्पष्ट किया है कि "निराला की जीवनी से भी अधिक—मौलिक और शाश्वत कला-रचना के प्रतीक 'निराला' को उनकी रचनाओं से ही समझा जा सकता है। अगर उनका जाना हुआ जीवन हमारी आँखों से तिरोहित भी हो जाए, तब भी गुफा के अंधेरे में बैठी हुई उनकी सिंह-वृत्ति जलती हुई आँखों से एकटक बाहर की ओर घूरती है।" आलोचना के नाम पर यह नई रचना है, इसे आलोचना कहा जाए या आलोचनाभास, या आलोचना कहा भी जाए या नहीं—यह विचार का विषय है। क्योंकि निराला के बहाने गुफा में बैठे सिंह का यह बिंब दूधनाथ सिंह की अपनी कल्पना है। निराला के जीवनीकार रामविलास शर्मा ने निराला की रचनाओं की भी समीक्षा की है और 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे भाग में निराला के जीवन और रचनाओं को और अधिक तथ्यपरक व वास्तविक बनाने के लिए पत्रों को भी संकलित-प्रकाशित किया है। किसी रचनाकार के व्यक्ति या रचना पक्ष को समझने के लिए यह एक सुपुष्ट आधार है। दूसरी ओर पांडेय शशिभूषण शीतांशु की लिखी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक 'निराला का अलक्षित अर्थगौरव' है और नंदकिशोर नवल की दो भागों में लिखी गई 'निरालाः कृति से साक्षात्कार' है। इन दोनों पुस्तकों में निराला की काव्यरचनाओं की पाठपरक विवेचना है। ऐसे में दूधनाथ सिंह की पुस्तक काव्यालोचन की तीसरा मोर्चा खोलती है जहां नितांत आत्मपरक, नितांत निजी और अंतरंग ढंग से निराला के काव्य को देखने और दिखाने की कोशिश है। दूधनाथ सिंह ने स्वीकार भी किया है कि निराला की कविता के उनके 'एंजॉयमेंट' के लिए लिये गये उनके नोट्स ...उन्हीं 'नोट्स का क्रमबद्ध रूपांतरण' यह पुस्तक उनके 'निजी' आनंद की अभिव्यक्ति है। लेकिन आगे वे यह भी दावा करते हैं कि "यह पुस्तक... नई शास्त्रीयता की तलाश की ओर एक कदम है। लेकिन जब दूधनाथ सिंह का यह 'निजी आनंद' उनकी 'निजी नोट बुक' से बाहर निकल कर पुस्तकाकार में सन् 1972 में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया, तब यह एक 'सामाजिक अनुभव' बन गया। और एक सामाजिक कर्म के नाते सामाजिक दायित्व से भी जुड़ गया। स्वाभाविक है कि निराला-काव्य के अन्य अध्येताओं के संदर्भ में दूधनाथ सिंह की आलोचना-दृष्टि का भी परिगणन-अध्ययन-मूल्यांकन हो। उदाहरण के लिए पांडेय शशि भूषण 'शीतांशु' की पुस्तक 'निराला का अलक्षित ली जा सकती है। 1977 में प्रथम संस्करण में आई इस पुस्तक में लेखक ने जो 'स्टैंड' लिया है वह दूधनाथ सिंह के विपरित ध्रुवांत पर है। शीतांशु जी इस पुस्तक की भूमिका में गिल्बर्ट हाइएट को उद्धृत करते हुए अपनी आलोचना-दृष्टि स्पष्ट करते हैं—"प्रायः कविता पढ़ने के बाद कवित की तीव्र अनुभव-प्रक्रिया, उसकी सांगीतिकता, लयकता बिंबमयता आदि में हम तल्लीनता पूर्वक खो जाते हैं। इसमें संशय नहीं कि यह हमारे लिए एक आह्लादकारी स्थिति होती हैं।" लेकिन ऐसी स्थिति में हम कवि के मूल विचार और कविता के मर्म को पाने से रह जाते है।" इस 'खो जाने' की परिणति है 'निजी आनंद', लेकिन जब इस निजी आनंद को आलोचना की परंपरा में शुमार करवाने की हसरत हो तो 'पाठ' का आधार लिया जाना चाहिए। रचना को खुली आँखों से चतुर्दिक जीवन-वास्तव को ध्यान में रखते हुए पढ़कर ही कवि के मूलभूत विचार और कविता के मर्म को पाया जा सकता है। 'निराला का अलक्षित अर्थगौरव' के द्वितीय संवर्द्धित संस्करण (2009) में शीतांशु जी ने अपनी बात को और अधिक स्पष्ट किया है—"किसी भी भाषिक पाठ में निहित अर्थ उस पाठ की भाषा-व्यवस्था से निष्पन्न होता है, भले ही कोई सर्जनात्मक लेखक कितनी ही नव्यता क्यों न दिखाए, पर वह अपनी भाषिक व्यवस्था से बाहर नहीं जा सकता है। यही स्थिति सर्जनात्मक पाठक के साथ भी होती है।" (पृ. 13) दूधनाथ सिंह और शीतांशु—इन दोनों आलोचकों के दृष्टि-वैभिन्न्य को समझने के लिए निराला की एक कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है जहां आलोचकीय क्षमता की सर्वाधिक अपेक्षा है—

ताक कमसिन वारि
ताक कम सिनवारि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताक कम सिन वारि
सिनवारि सिनवारि

इरावनि समक कात्
इरावनि सम ककात्
इराव निसम ककात्
सम ककात् सिनवारि।

ये पंक्तियां पाठकीय समझदारी और भावयित्री क्षमता के लिए चुनौती हैं। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को यह 'निराला की विक्षिप्तावस्था को प्रकट करने वाली शब्द क्रीड़ा' लगी तो रामविलास शर्मा ने इसे 'ध्रुपद जैसी पुरानी गायकी में शब्दों को उलटफेर करना' मान लिया। दूधनाथ सिंह के अनुसार "अर्थप्रसार से सनातन मौन की ओर जाते हुए किस तरह शब्द संक्षिप्ततम बिंबों में बदलते गए हैं, छंद किस तरह संक्षिप्त होते हैं और अर्थ की जगह किस तरह एक सूक्ष्म, व्याकरणहीन, अर्थरहित (निरर्थक नहीं) लय ले लेती है... जैसे निराला शब्दार्थ से आगे, उस शब्तातीत लय के झीनेपन से खेल रहे हों।" (पृ.25) लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। निराला की ये पंक्तियाँ भी अर्थहीन, अर्थातीत या अर्थातिक्रमित नहीं हैं। 'पाठ' को प्रस्थानबिंदु मानकर चला जाए तो इनका भी अर्थ है। शीतांशु जी ने निराला की इस रचना-प्रक्रिया को 'विवेकोत्तर भावसमाधि' और इसकी भाषा को 'द्रवित स्थिति की काव्याभाषा' का उत्कृष्ट उदाहरण मानते हुए इन पंक्तियों का अर्थ किया है—"इसकी पहली पंक्ति में किसी कम उम्र नवयुवती से अपनी ओर देखने के लिए आग्रह अभिव्यक्त हुआ है। संरचना में सेंध लगाकर प्रवेश करने से बाद की तीन पंक्यियों में भी कुछ अर्थवत्ता प्राप्त हो जाती है। दूसरी पंक्ति में चढ़ती उम्रवाली के वेधक दृष्टि-निक्षेप के कारण कम देखने, दबी आँसे से, चितवन से देखने का आग्रह है। तीसरी पंक्ति में कम देखने, अपांग से निरखने के आग्रह के साथ-साथ उस दृष्टि के लिए अपनी उम्र न्योछावर करने का कथन है और चौथी पंक्ति में चढ़ती उम्रवाली पर अपनी उम्र न्योछावर करने का स्पष्ट उल्लेख है। ये चार पंक्तियां कुल मिलाकर एक संदर्भ की सर्जना करती हैं।" शीतांशु जी बाद की चार पंक्तियों को "संगीत और नृत्यकला के स्तर पर झीमता-झूमता गत्वर हो उठने" वाला मानते हुए यह भी निर्दिष्ट करते हैं कि "इस कविता में शरीर के केवल एक अंग का क्रियाव्यापार लिया गया है। अंग 'आँख' है और इसका क्रिया-व्यापार निरखना ('ताक') है।... कविता के बाद के दो चरणों में प्रथम चरण में व्यक्त उद्‌गार के आह्लाद को ही ध्वनि-प्रतीकों में दुहराया गया है। यहाँ व्याकरण और रचना के नियम ध्वस्त हो गए हैं और द्रवित स्थिति की यह विचलन (Deviation) तथा विपथन (Deflection)—प्रसूत भाषा विवेकोत्तर भावसमाधि में पहुँच गई है। (पृ. 162-63) पाठकेंद्रित वस्तुपरक विवेचन के कारण यह व्याख्या पाठक को कविता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्म में प्रवेश करने का मार्ग दिखाती है, केवल 'आह' और 'वाह' वादी आलोचना में सिमट कर नहीं रह जाती।

लेकिन चिंतनीय है कि यह तीसरा मोर्चा यानी आलोचना में आलोच्य कवि और कविता को पीछे छोड़कर अपने ही कल्पना-वैभव और शब्द-कौशल में पाठक को उलझाए रखने का यह अंदाज आज की समीक्षा में बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए निराला की ही परंपरा में आनेवाले दो और कवियों को लिया जा सकता है। ये दो कवि—मुक्तिबोध और शमशेर—पाठक/आलोचक को अपने चुनौतीपूर्ण स्वभाव के कारण आकर्षित भी करते हैं और ललकारते भी हैं। मुक्तिबोध पर ढेरों समीक्षाएँ लिखी गई हैं लेकिन इनमें से कुछ मुक्तिबोध की कविता में हिस्सेदारी करने के बजाय शब्दों का तूमार खड़ा करती हैं। 'आलोचना' के जुलाई-सितंबर 2009 के अंक में अपूर्वानंद का लेख है—"मुक्तिबोधः आह्लाद की लय" (पृ.55-61)। सात पृष्ठों का यह लेख शुरू के साढ़े तीन पृष्ठों में मुक्तिबोध को पढ़ाने के लिए कक्षा की ओर बढ़ते अध्यापक की मनःस्थिति, संकोच और भ्रम की नाटकीय प्रस्तुति से आरंभ होता है लेकिन इसके बाद अपूर्वानंद मुक्तिबोध की कविता 'मुझे कदम कदम पर' के अध्यापन पर केंद्रित हो जाते हैं। बेशक यह अध्यापकीय पाठ-विश्लेषण मुक्तिबोध की कविता को समझने में मदद करता है। लेख का अंत फिर उसी आत्मीय आलाप में होता है कि "कविता में चुनाव अनेक स्तरों पर करना होता है, खोज भी कई स्तरों पर की जाती है। अंततः वह अपने लिए एक सही लय की खोज में बदल जाती है। पहली बार मुक्तिबोध को सुनने के कोई तीस बरस बाद जब फिर उन्हें सुना तो वही लय जग पड़ी। उसको आशा के आह्लाद की लय मैं कहना चाहूँगा।" (पृ.61) आलोचना की यह एक अलग भंगिमा है जिसमें आलोचक कवि से और कविता से एक निजी रिश्ता बनाता है। कहना न होगा कि दूधनाथ सिंह ने निराला पर अपने 'निजी नोट्स' को सार्वजनिक किया है तो अपूर्वानंद ने अपने 'क्लास नोट्स' को आलोचना की शक्ल दी है।

मुक्तिबोध के ही प्रसंग में एक लेख की चर्चा और कर ली जाए। 'जैसे कोई लहर लौटकर किनारे के पत्थर पर सिर पटकती है'— शीर्षक' सोच-1 (2003) में प्रकाशित सुधीश पचौरी का लेख (पृ.73-78) कुछ यूँ शुरू होता है—"अचानक मुक्तिबोध की पंक्तियाँ याद आने लगीं, पूरी नहीं उनकी काव्य-स्थिति, उक्ति की स्थिति, उक्ति के तर्क अचानक दरवाजे पर खड़े हो मुस्कुराने लगे। यह अजीब-सी व्यंग्य-दीप्त मुस्कान। किसी टेक्स्ट का यों इस तरह लठ लेकर खड़े हो जानाः यह अक्सर होता है—जब भी किसी 'थियरी' में आता हूँ। किसी ऐसी जगह जहाँ से इस देशकाल को कामचलाऊ ढंग से ही सही, समझा जा सके, वहाँ पहुँचने के लिए, कई बार कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टों, कई बार मुक्तिबोध की कुछ काव्य-पंक्तियाँ, अचानक एक महामिक्स-सा बनकर विराजती हैं। बहुत कुछ मुक्तिबोध की कविताओं के 'मिक्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरह। और इससे बड़ी गड़बड़ होती है। ...यह लिख लिखकर फाड़ना नहीं है, लिखने से पहले 'हकलाना' है। (!) यह टेक्स्ट बनाने से पहले अपने जंगल से निकलना है, अपने कबाड़ से, अपने 'खंडहर'! शायद यही वह शब्द था जिसने मुक्तिबोध की एक पुरानपी कविता तक पहुँचाया।

इसके बाद मुक्तिबोध की कविता-पंक्तियों का उल्लेख दो पृष्ठों में, फिर मुक्तिबोध 'आदि विद्रोही' के स्पार्टाकस-प्रसंग के साथ मिलजुलकर पीछे छूट जाते हैं, लेख के अंत में 'असमाप्त' दिया हुआ है इस लिए मुक्तिबोध, स्पार्टाकस, सोवियत संघ के विघटन का यह 'महामिक्स' कहाँ पहुँचेगा या पहुँचाएगा—भविष्य की बात है।

तीसरे कवि हैं शमशेर और वे आलोचकों के लिए निराला ही की तरह, बल्कि उनसे कुछ अधिक, चुनौती हैं। शमशेर अपने कविता के दुरूह सौंदर्य के कारण आलोचकों के आगे चुनौती फेंकते हैं। कई आलोचकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया, लेकिन कुछ ऐसी भी आलोचनाएं लिखी गईं जो शमशेर की कविता को और अधिक दुरूह और अधिक दुर्बोध्य बना देती है। जैसे 'तद्भव' के जनवरी 2011 के अंक में सुबोध शुक्ल का लेख है—'प्राण का है मृत्यु से कुछ मोल सा'। आठ पृष्ठों के (पृ. 23 से 39 तक) इस लेख में शमशेर की कविता से उद्धरण केवल छः हैं। बिना उदाहरण के, बिना संदर्भ के इस लेख में कई फतवेनुमा वक्तव्य हैं जो कुछ मिलाकर शमशेर की कविता में प्रवेश का कोई द्वार नहीं खोलते। विस्तार में न जाते हुए केवल एक उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है—"शमशेर की कविता में संसार एक प्रश्न की तरह मौजूद है जिसका उत्तर कविता की अंतर्मुखी स्थानीयता में मिलता है। यह *स्थानीयता* शमशेर की कविता को समझने का दूसरा पड़ाव है। किसी कविता में पैठी जमी स्थानीयता का आयतन, कविता के आकस्मिकता को पहचान लेने के क्रम में चिह्नित होता है। इसको आँकने या परखने का यही निर्णायक बिंदु है। आकस्मिकता का व्यवहार, कविता के गठन को जितना मथेगा, उसकी स्थानिकता उतनी ही स्पष्ट और सीमांकित होती चली है। शमशेर की कविता में इस स्थानिकता की एक अलग पहचान है। ऐसा नहीं है कि सांसारिक उपस्थिति के दबाव उनकी कविता पर नहीं है पर प्रतिरोध के आलोचकीय संस्कार उनकी अपनी ही कविता के वस्तुगत आत्मालाप को, स्वायत्त करने की क्षमता रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह वस्तुगत आत्मालाप, कविता बनाने की प्रक्रिया का सबसे निजी और भावुक पहलू है; शमशेर की कविता में। ये आत्मालाप ही हैं जो संवाद से लेकर विवाद तक और बतकही से लेकर बड़बोलेपन तक के कविजनित अंतरंग कलह के प्रति उत्पाद हैं। किंतु ये किसी फिनिश्ड उत्पाद की तरह हल भी होते हैं ये जरूरी नहीं। ये सारे निर्माण, शमशेर की कविता के मनःजनित क्षितिज हैं। या कहें कोशिकाएं हैं। यह ध्यान रहे कि जैसी प्रक्रिया रचना के अंतर्जगत में काम कर रही है, वही रचना की सतह पर भी चल रही होती है। अंतर मात्र इतना ही होता है कि सतह का रेखांकन, कविता के भीतरी द्वंद्वों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निपटारे के बाद ही किया जा सकता है और इस आयोजन का जोखिम यह है कि अंदरूनी तनाव से उत्पादित चरित्र, कभी-कभी सतह के अस्तित्व को निगल जाता है और कविता अपनी ही बनाई गई पारदर्शिता में आक्रामक हो जाती है और उसे अप गर्भ तक पहुँचाने के लिए स्वयं को आंदोलित करना पड़ता है—

"सींग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर
सीने में सूराख हड्डी का
आँखों में: घास कोई की नमी
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उल्टी कलम थामे
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है"

(सींग और नाखून)

तो यह हुई कविता और यह रही आलोचना। उद्धृत काव्य पंक्तियाँ चुनौती क तरह सिर उठाए खड़ी हैं—आलोचकीय/पाठकीय समझदारी और भागीदारी की अपे में—मगर आलोचक है कि इन पंक्तियों से नजरें चुराकर अपने ही दर्प में वक्तव्य दि चले जा रहा है।

सवाल उठता है कि ऐसे क्यों है? क्या कविता को समझने, उसमें हिस्सेदा करने की जगह अपनी ही समझदारी (?) को उस पर आरोपित करते चले जा आलोचक की एक नए किस्म की मजबूरी है या अपनी सत्ता बनाए रखने का षड्यं है?

आज की कविता के सदंर्भ में स्थिति और जोखिमभरी हो गई है। आलोचक पास बने-बनाए औजार हैं—विचारधाराएँ हैं, दृष्टियाँ हैं, जिन्हें वह रचना पर आजमा चाहता है। निश्चय है कि ऐसी स्थिति में रचनाकार और पाठक—दोनों को शिका होगी। मंगलेश डबराल का कहना है कि "हिंदी आलोचना के साथ सबसे बड़ी दिक्क यह है कि उसकी माँग होती है कि उसे महत्त्व दिया जाए। उस रचना से भी ज्या जिसकी वह आलोचना है।" (तद्भव, जुलाई, 2007, पृ.55) जाहिर है कि ऐ आलोचना पाठक को दृष्टि के बजाय दृष्टिभ्रम देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियाँ

अरुण होता*

सन् 1963 ई. में 'धर्मयुग' के किसी अंक में देवीशंकर अवस्थी ने लिखा था—"हिंदी के जीवंत लेखन से संबद्ध आप-हम सभी लोग यह अनुभव कर रहे हैं कि आलोचना-कार्य एक निहायत घटिया स्तर पर पहुँच गया है।" देवीशंकर अवस्थी की यह चिंता उस समय प्रकट हुई थी जब रामविलास शर्मा का आलोचना-कर्म अपने उत्कर्ष पर था। मुक्तिबोध की 'कामायनी : एक पुनर्विचार' पुस्तक आ चुकी थी। नामवर सिंह प्रसिद्ध आलोचक के रूप में परिचित हो चुके थे। देवीशंकर अवस्थी ने एक और टिप्पणी की—"यह एक खेदपूर्ण तथ्य है कि पिछले 15 वर्षों में कुछ अपवादों को छोड़कर जो भी आलोचना-कार्य हुआ है, वह सृजनशील लेखकों द्वारा ही संपन्न हुआ है।" उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से अवस्थी जी की चिंता जाहिर होती है। 50 वर्ष बाद भी हिंदी आलोचना की स्थिति में बहुत कुछ बदलाव दिखाई नहीं पड़ता।

इधर एक उपेक्षा-भरा पदबंध चला—'प्राध्यापकीय आलोचना'। यह सृजनशील लेखकों द्वारा प्रवर्तित हुआ। आलोचक को परजीवी माना गया। और भी बहुत कुछ कहा गया। लेकिन सच्चाई यह है कि पाँच मूर्धन्य आलोचकों के नाम गिनाए जाएँ तो वे पाँचों 'प्राध्यापक' ही होंगे। मसलन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह। ये सभी आलोचक विश्वविद्यालयों से संबद्ध थे। आलोचना की कल्पना विश्वविद्यालय के बिना साकार होती नहीं दिखाई पड़ती है।

कुछ सृजनशील लेखकों की दृष्टि में आलोचना दोयम दर्जे का काम है। उनकी दृष्टि में असली बात रचना है। मौलिक होती है रचना और आलोचना रचना पर आश्रित होती है। तभी तो उन्होंने आलोचक को परजीवी कहा है। खैर, यह दूसरा

*प्रो. अरुण होता, पश्चिम बगाल बरासत स्टेट विश्वविद्यालय कोलकाता-700126; 2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता—700042, मो. 09434884339, ahota5@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंग है। रचना और आलोचना के विवाद को विराम देते हुए समकालीन आलोच के परिदृश्य और उसकी चुनौतियों पर चर्चा अपेक्षित है।

हिंदी आलोचना को लेकर सबसे बड़ी चिंता है कि यहाँ सैद्धांतिक बहसों क अभाव है अथवा न के बराबर है। आचार्य शुक्ल से लेकर 'शीतांशु' जी तक सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के बीच एक अद्भुत समन्वय बनाए रखने क प्रयास किया है। आज की हिंदी आलोचना में व्यावहारिकता ही अधिक है। सम आलोचक वे ही कहलाते हैं जो सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का मणिकांच योग प्रस्तुत करते हैं। अन्यथा, आलोचना के प्रतिमान निर्मित न होंगे। आलोचना सारे पुराने प्रतिमानों के आधार पर रचना का मूल्यांकन करना अनुचित है। क्योंकि तेजी से बदलते समय के अनुरूप रचनाएँ निर्मित हो रही हों और उसकी परख इ पूर्व समय के मानकों पर हों तो हास्यास्पद प्रतीत होता है।

उत्तर आधुनिक दौर में समकालीन हिंदी आलोचना की सबसे बड़ी चुनौती वातावरण का असाहित्यिक होना। कहने के लिए तो तमाम किताबें, साहित्यि पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, संस्थानों, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों आदि की कृ से किताबें खूब खरीदी जा रही हैं। आये दिन पुस्तक-विमोचन, लोकार्पण, पुस्त केंद्रित गोष्ठियाँ, सम्मान, पुरस्कार आयोजन आदि होते रहते हैं। सामर्थ्य के अनुरू आलोचक जुटाये जाते हैं। आलोचक तो क्या, स्तावक कह लीजिए। वह किताब बारे में नहीं, लेखक के बारे में बोलता है। 'अच्छी जगह' पर आयोजन संपन्न होते हैं मीडिया में यथासंभव 'हाइलाइट' करने की कोशिश होती है। बावजूद इन प्रयासों पूछा जा सकता है कि कितने उस रचना का पाठ करते हैं? ऐसी स्थिति में आलोच की स्वस्थ्य परंपरा कैसे निर्मित होगी?

आज पुस्तक समीक्षा सबसे अविश्वसनीय होती जा रही है। पुस्तक समीक्षा लिखी नहीं जा रही है, लिखवाई जा रही है। मित्र संपादक उसे प्रकाशित कर रहे हैं समीक्षक को पूरी किताब में या तो कोई त्रुटि या कोई अच्छाई दिखाई नहीं पड़ती अत्यधिक प्रशंसा या अत्यधिक निंदा से समीक्षा लिखी जा रही है। कहा भी गया "सर्वम् अत्यंत गर्हितम्।" किसी भी बात की अति त्याज्य है। ब्लर्व पढ़कर पूरी किता की समीक्षा कर देने की कला भी फल-फूल रही है। ऐसी स्थिति में आलोचना मार्गच्युत होना स्वाभाविक है। संदिग्धता आ जाती है, आलोचना अंतर्विरोधों से ग्रसि हो जाती है।

किसी भी रचना के अंतस्तल तक पहुँचनेवाली दृष्टि को आलोचना कहते हैं इस अंतर्दृष्टि में समय एवं समाज के तमाम संदर्भ सन्निहित होते हैं। रचना तो मह रचना नहीं होती उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिवेश का भी चित्रण हो है। रचना को उसके सामाजिक, सांस्कृतिक आदि संदर्भों में देखना आलोचना का का है। यह काम तभी संपन्न हो सकता है जब दृष्टि हो और दृष्टि-दोष न हो। आलोच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में 'लोचन' तो है ही। अर्थात् बिना लोचन की आलोचना नहीं हो सकती है। 'लोचन' तो है लेकिन दृष्टि सही जगह पर न पड़े तो फिर क्या? अच्छी रचना अपने परिवेश की यांत्रिकता, कृत्रिमता, अमानवीयता को समाप्त करती है और मानवीयता की आवाज को बुलंद करती है। आलोचना रचनाकार के उद्देश्य और दृष्टि को समाज तक सही ढंग से प्रस्तुत करती है। इसलिए आलोचना केवल साहित्य तक सीमित नहीं है बल्कि उसके प्रभाव सुदूरप्रसारी हैं। समय के बुनियादी सवालों से टकराकर रचना का विवेचन हो तो आलोचना का क्षेत्र व्यापक होता है।

आज की हिंदी आलोचना संकट के दौर से गुजर रही है। इस संकट में युग के दबावों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के दौर में पूँजी और बाजार का वर्चस्व चरम पर है। बड़े घराने के मीडिया घरों ने साहित्य की स्पेश विज्ञापन को दे दिया है। बड़े-बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों ने अपनी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ बंद कर दी हैं। तर्क यह दिया जाता है कि आज का मध्यवर्ग पत्र-पत्रिकाओं में रुचि नहीं रखता है। अधिकांश पत्रिकाएँ व्यक्तिगत प्रयास से निकल रही हैं। आर्थिक साधन के अभाव में पत्रिकाएँ एक-आध अंक के बाद बंद भी हो रही हैं। अतः साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ आलोचना के सामने गंभीर संकट खड़ा हुआ है।

दृश्य-श्रव्य माध्यमों के बढ़ते प्रभाव, सर्वग्रासी विस्तार के चलते साहित्य की दुनिया को हाशिए पर धकेला जा चुका है। शब्दों के संसार की इस स्थिति पर गंभीर रूप से चर्चा होनी चाहिए। आलोचना समझे कि उसका संबंध सभ्यता-संस्कृति से है। उसकी सामाजिकता होती है। इसे पहचाने बिना आलोचना-कर्म पूरा नहीं होगा। दृश्य-श्रव्य माध्यमों के मालिक पूँजीपति होते हैं। उन्हें मुनाफा चाहिए, सिर्फ लाभ। साहित्य से वह मुनाफा कहाँ मिलनेवाला है? पूँजीवादी सभ्यता साहित्य और आलोचना के लिए सबसे बड़ा खतरा बनकर उभर रही है। इस स्थिति में आलोचना का दायित्व और भी बढ़ जाता है। हिंदी आलोचना, एक-आध अपवाद छोड़कर, इस दिशा में लगभग चुप्पी साधे बैठी है। पूँजीवादी ताकतों की साजिशों और चालाकियों को उघाड़कर प्रस्तुत करना आवश्यक है। क्योंकि यह संकट न केवल आलोचना का या साहित्य का है, बल्कि पूरे समाज का है।

समकालीन हिंदी आलोचना को सत्ता के ठेकेदार आलोचकों ने बहुत हानि पहुँचाई है। सत्ता बदलते ही इनकी दृष्टि बदलती है। सत्ता को सुहानेवाले विचार पेश करने की कला में वे माहिर हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलने की भाँति ये आलोचना के रुख को बदलते हैं। आलोचकीय विवेक के सामने प्रश्नचिह्न लग जाता है। रचनाकार को कभी काँग्रेसी, तो कभी बजरंगी; और कभी साम्यवादी सिद्ध करने में जुट जाते हैं। "जो रोगी को भावै, वही वैद्य बतावै।" सत्ता का नैकट्य हासिल करने का यह कैसा उपाय है? जीवनभर धार्मिक कठमुल्लेपन पर प्रहार करनेवाले कबीर को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हिंदू मानस का कवि' करार दिया जाता है, जब सत्ता घोर दक्षिणपंथियों के कब्जे में हो। इसी प्रकार, प्रेमचंद को काँग्रेसी सिद्ध किया जाता है जब काँग्रेस के हाथ सत्ता हो। इतना ही नहीं, आलोचना में आजकल उठा-पटक, मार-धाड़, बक-झक अधिक है। लोकतंत्र कम है। चंद आलोचकों के पास समकालीन हिंदी आलोचना गिरवी पड़ी हुई है। ये जिसे छू दें, जिसकी रचना पर एक या दो वाक्य लिख दें तो वह कालजयी रचना का दर्जा पा जाए, सोना बन जाए; जिस पर नजर न पड़ी वह कोयला या मिट्टी का टुकड़ा। इसलिए समकालीन हिंदी आलोचना के सामने सबसे बड़ी चुनौती है कि इस खेमेबाजी और मठों को तोड़ा कैसे जाए? साहित्यिक मठ और मठाधीशों से साहित्य की दुनिया सर्वाधिक प्रभावित हो रही है। अतः मुक्तिबोध की निम्न पंक्ति स्मरण रहें :-

> *"अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की होंगे*
> *तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।"*

अंतरअनुशासनीय ज्ञान के अभाव में समकालीन हिंदी आलोचना में पैनापन का अभाव परिलक्षित होता है। एक आयामी आलोचना लिखी जा रही है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संदर्भों में आलोचना का विकास प्रभावित हो रहा है। इस दृष्टि में रामविलास शर्मा को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है। वेदों से लेकर नई कविता या यूँ कहें कि समकालीन साहित्य, दर्शन, इतिहास, नृ-तत्त्व शास्त्र, विज्ञान आदि का गंभीर अध्ययन करने के पश्चात् वे आलोचना कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। इससे आलोचक का 'इंटरडिसिप्लिनरी अप्रोच' सामने आता है। शुद्ध साहित्यिक आलोचना और वह भी 'वाह-वाह' या 'आह-आह' की शैली में आलोचना से कोई लाभ नहीं होता। हाँ, अंतरविषयवर्ती आलोचना के बारे में कुछ लोगों का मानना है कि आलोचना को ज्ञान के अन्य अनुशासन से जोड़ने का अर्थ साहित्य को अन्य अनुशासनों का उपनिवेश बना देने जैसा है। ऐसा मानना निराधार है। साहित्य-संसार की स्वतंत्रता का हनन नहीं बल्कि प्रसार होता है। आलोचना बहुआयामी होती है, व्यापक बनती है। उसका एकांगीपन दूर होता है। आज जो आलोचना केवल विश्वविद्यालयी छात्रों तक सीमित है, उसका प्रसार होना बहुत जरूरी है। जनतंत्र के विकास के लिए आलोचना में असहमतियाँ हो सकती हैं। मार्क्सवादी आलोचना पद्धति अथवा नामवर सिंह या मैनेजर पांडेय के आलोचना-कर्म की कमजोरियों को यदि शशिभूषण 'शीतांशु' प्रदर्शित करते हैं तो उनसे गुजरना जरूरी है। उनके तर्कों, तथ्यों और प्रमाणों का विवेचन करने के बाद सहमति-असहमतियाँ उभर सकती हैं। संवाद कायम हो सकता है। ऐसा होने पर हिंदी आलोचना की स्वस्थ परंपरा विकसित हो सकती है।

समकालीन हिंदी आलोचना के लिए एक गंभीर चुनौती है कि इसे अभिजात संस्कृति का हिस्सा बनाने का प्रयास हो रहा है। आम आदमी और उसके सरोकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आलोचना को असंपृक्त रखने का प्रयास भी जारी है। उस आलोचना का भला क्या हो सकता है जिसमें सामान्य मनुष्य को नजरअंदाज किया गया हो। यदि आलोचना को सार्थक बनाना है तो अपने समय और समाज के हलचलों के बारे में सजग रहकर रचना-कर्म करना जरूरी है। भारतेंदु युग से लेकर प्राक्-स्वातंत्र्य-युगीन आलोचना ने स्वाधीनता आंदोलन से प्रेरणा ली थी। स्वाधीनता को केंद्रीय मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया था। मार्क्सवादी आलोचना ने किसानों और मजदूरों के आंदोलन से प्रभावित होकर जनपक्षधरता को साहित्य के मूल्यांकन का आधार बनाया था। इसलिए सामाजिक आलोचना के विविध रूपों को उजागर करना आवश्यक है। आलोचना समाज-केंद्रित हो तो पूरे समाज की उपस्थिति विसंगतियों के साथ सामने आएगी। आलोचना व्यक्ति-केंद्रित होने से उसे 'ठकुरसुहाती' या 'रक्तरंजित' होने की संभावना रहती है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का एक कथन है जिसमें उन्होंने सामाजिक उपयोगिता को महत्त्व देते हुए कहा था—"कोई रचना मेरे सामने हो तो सबसे पहले तो मैं यह देखूँगा कि उसके पीछे लेखक की दृष्टि क्या है? वह सामाजिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है या उसमें रोड़े अटकाती है। इस लिहाज से उपयोगी हुई तो मैं उसकी विशेषताएँ बताऊँगा और अगर समाज को अस्वस्थ करनेवाली चीज हुई तो मैं पूरे जोर से उस पर आक्रमण करूँगा और उसमें दो-एक खासियतें भी हों तो उनकी चर्चा की मुझे जरूरत नहीं। जैसे, अगर मान लीजिए, आज कोई नायिका-भेद की कविता लिखे और उसमें सुंदर-सुंदर शब्द, कल्पनाएँ ले आए तो आज जमाना तो है नहीं, नायिका-भेद का, इसलिए उसमें कैसी कलात्मक खासियतें हैं, यह चर्चा करने की मैं जरूरत नहीं समझता।" (मेरे साक्षात्कार, पृ. 287) कहा जा सकता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिस लोकमंगल की बात कही थी, उसका प्रतिफलन रामविलास शर्मा के यहाँ समाज के लिए उपयोगी के रूप में हुआ है। मैनेजर पांडेय इसे सामाजिकता के नाम से आख्यायित करते हैं।

राजनीति की आलोचना एक मामूली बात है। यह जनतंत्र को बनाए रखने के लिए आवश्यक भी है। लेकिन आलोचना की राजनीति एक गंभीर समस्या है। आज आलोचना एक माध्यम बनी हुई है। किसी को उखाड़ने या स्थापित करने के लिए आलोचना को माध्यम बनाया जा रहा है। रचना के मर्म को थाहने का प्रयास बहुत कम हो रहा है। लेखक एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करते हैं। चढ़ाने-गिराने की राजनीति खूब जोरों पर चल रही है। व्यक्तिगत द्वेष आलोचना-कर्म में प्रबल रूप से दिखाई पड़ते हैं। रचना में राजनीति लुक्कायित दशा में रह सकती है। आलोचना में उसे खुलकर आना चाहिए। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय कहते हैं—"प्रायः महत्त्वपूर्ण रचनाकार अपनी रचनाशीलता की राजनीति को छुपाने की उतनी कोशिश नहीं करते जितनी कुछ आलोचक करते हैं। जो आलोचक अपनी राजनीति छिपाते हैं, उनकी आलोचना में भी राजनीति किसी-न-किसी रूप में प्रकट हो जाती है। रचना में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति छिपकर आ सकती है, लेकिन आलोचना में उसे साफ तौर पर आना है चाहिए।” (आलोचना की सामाजिकता, पृ. 21) स्पष्ट किया जाना जरूरी है कि आलोचना की राजनीति हितकर नहीं है, लेकिन आलोचना में राजनीति का उल्लेख अनुचित नहीं है।

आज आलोचना से संबंधित अधिकांश प्रकाशित पुस्तकों के पन्ने पलटकर स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि उनमें समय-समय पर विभिन्न विषयों, विधाओं पर लिखे गए प्रकाशित लेखों या निबंधों का संग्रह किया गया है। इससे कई अंतर्विरोध सामने तो आते ही हैं। साथ ही पूरी पुस्तक का विवेचन करने के बाद कोई दृष्टि खुलकर सामने नहीं आ पाती है। आलोचना संबंधी वे भी पुस्तकें सामने आती हैं जिसे पी-एच.डी. आदि डिग्री हेतु शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत किया गया था। सभी जानते हैं कि शोध का स्तर क्या है? इसलिए जब तक गंभीर अध्ययन न हो आलोचना संश्लिष्ट रूप से लिखी न जाए, तब तक आलोचना के सामने गंभीर चुनौती खड़ी मिलेगी। दरअसल, फास्ट फूड, फास्ट कल्चर की सभ्यता ने आलोचना जगत को गहरे रूप से प्रभावित किया है।

समकालीन हिंदी आलोचना शिविरों में बँटी आलोचना है। प्रत्येक शिविर का आलोचक खास चश्मे से चीजों को देखता आ रहा है। जो उसके अनुसार फिट हो गया वह श्रेष्ठ और शेष कूड़ा-करकट। कई बार ऐसा भी होता है कि अपनी विचारधारा से प्रेरित रचना को ही महान साबित करने का प्रयास होता है। ऐसी परिस्थिति में अगर आलोचक अपने विचारों को व्यापक मानव-समाज के अनुभवों से प्राप्त विचारों से न जोड़ ले तो खतरे दिखाई पड़ते हैं। अतः आलोचक किसी रचना को एक साँचे में डालकर रचना के अंगों को न काटे, बल्कि रचना की गहराई में पहुँचकर उसके निहितार्थों को समझने की कोशिश करे; ईमानदारी के साथ मूल्यांकन करे। न तो उसे लाभ की उम्मीद रहे और न लोभ की। आलोचना के लिए अनुभव, अनुभव से प्राप्त विचार और वैज्ञानिक सूझ-बुझ का समन्वय स्थापित कर पाना भी एक चुनौती है। उत्तर आधुनिक काल में साहित्य खंडों में बँटा हुआ है। विमर्शों की भागमभाग है। वह वैश्विकता की ओर उन्मुख है। सवाल यह है कि हिंदी आलोचना की देशीयता को कैसे सुरक्षित रखा जाए? पुनः देशीयता और वैश्विकता के बीच संतुलन कैसे बनाया जाए? आचार्य शुक्ल का रचना-संसार इस संबंध में हमारा दिशा-निर्देश कर सकता है। उन्होंने हिंदी आलोचना को संस्कृत काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचना शास्त्र के प्रभावों से मुक्त किया तथा उसे एक नई पहचान दी। बड़ा सवाल यह है कि क्या आज के दौर में ऐसा कोई आलोचक उभरेगा?

समकालीन आलोचना के सामने भाषा की चुनौती भी महत्त्वपूर्ण है। समकालीन हिंदी आलोचना की भाषा का स्वरूप कैसा हो? कठिन-से-कठिन क्लिष्ट भाषा, तत्सम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान भाषा, अँगरेजीदाँ भाषा, आम बोलचाल की भाषा अथवा किसी अन्य भाषा-रूप का प्रयोग हो? ये सवाल इसलिए कि आज की हिंदी आलोचना में उपर्युक्त सभी भाषा-रूपों का प्रयोग हो रहा है। क्लिष्ट भाषा के प्रयोग से आलोचक की विद्वत्ता जाहिर होती है तो अभिजन संस्कृति का निदर्शन भी हो जाता है। अंग्रेजीदाँ भाषा से ज्ञान के आतंक से भीतत्रस्त किया जा सकता है। समकालीन हिंदी आलोचना को समाज से जोड़ना है तो उसकी भाषा आमजन की भाषा होनी चाहिए। लेकिन, कुछ लोगों का तर्क हो सकता है कि आलोचना की अपनी गरिमा होती है। उसका अपना शास्त्र है। अतः उसकी भाषा में गांभीर्य होना चाहिए। बहरहाल, इस समस्या अथवा चुनौती का समाधान न प्रस्तुत करते हुए केवल कुछ उदाहरण पेश किए जा रहे हैं। ये सभी उदाहरण समकालीन हिंदी आलोचना के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों के हैं ताकि सहृदय पाठक स्वयं आलोचना की भाषा का चयन कर सकें—

(क) "Intertextuality के जमाने में सिर्फ मूर्ख ही दलित को कबीर में ढूँढ़ सकते हैं Geneological Deconstruction की यह खास बात है कि दलित कबीर की किताब में भले न हो, लेकिन Geneology के वर्तमानत्व और दलितवाद के युद्ध में कबीर एक प्राथमिक Text हो सकते हैं।"

(ख) "मिथक और अप्सरा कथा, निजंधर और अन्योपदेश के दो युगल परस्पर अनुस्यूत हैं। मिथक और दिवा-स्वप्न दोनों ही विधा स्वप्नमूलक होती है—पहली में स्वप्न का तथा दूसरी में वैयक्तिक स्वप्नों का अन्वयन होता है। द्वंद्व न्याय की दृष्टि से मिथक और दिवा-स्वप्न में वाद (थीसिस) से सीधे समरूपता की ओर अग्रसर होता है।"

(ग) "इसमें कोई शक नहीं कि 'कामायनी' के प्रतीक एक हद तक छायावादी आवरण से ढँके हुए हैं, लेकिन दूसरी ओर उनमें अपने युग की जीवंत समस्याओं का स्पंदन है। प्रसाद ने अपने युग की वास्तविकता को इतने व्यापक सामाजिक परिवेश में तथा भावना के गहरे स्तरों के साथ चित्रित किया है कि इन प्रतीकों में युग-युग को रस-मग्न और प्रेरित करने की क्षमता आ गई है।"

(स) "पांडेय जी को विचलन शब्द से चिढ़ है। विचलन केवल साहित्य में नहीं, जीवन में भी होता है। जहाँ भी निर्धारित मर्यादा का खंडन है, वहाँ विचलन है, चाहे वह जीवन का व्याकरण हो या भाषा का व्याकरण। बिना इसके काव्य-तत्त्व आ ही नहीं सकता। यह एक स्वयंसिद्ध कथन है।"

आलोचना को सभ्यता-समीक्षा या सांस्कृतिक समालोचना के रूप में विकसित करना एक बड़ी चुनौती है। साहित्यिक कृतियाँ भावों और मूल्यों के साथ विचारों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहन करती हैं। ये कृतियाँ विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करती हैं। आलोचना रचनाकार की दृष्टि तलाशती है उसकी कृति के माध्यम से। इसलिए आलोचना को 'आत्मसजग सांस्कृतिक रणनीति' का हिस्सा कहा जाता है। साहित्य और जीवन के मध्य एकत्व स्थापित करने की चिंता अहम हो जाती है। ऐसी चिंता मुक्तिबोध की भी थी। वे निरंतर साहित्यिक यथार्थ एवं जीवन-यथार्थ के बीच की दूरी की पाटने में लगे रहे। आज भले ही विचार के अंत की घोषणा जोर-शोर से हो रही हो; लेकिन मुक्तिबोध की कविता हमें आश्वस्त करती है—

"नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है
व मैं उसका नहीं कर्त्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्वशास्त्री है।"

असहमति, संवाद एवं बहुवाचिकता का अभाव समकालीन आलोचना को दिग्भ्रमित कर सकता है। उल्लेख किया जा चुका है कि असहमतियाँ दर्ज कराने का साहस होना लोकतंत्र का बड़ा मूल्य है। इस मूल्य की रक्षा एक बड़ी चुनौती है। आलोचक को 'आँखन देखी' कहने के भय से मुक्त होना आवश्यक है। अकेले पड़ जाने का डर उसे न सताए। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा है—"जदि केउ डाक सुने तोर ना आसे तबे एकला चलो रे।" खुश करके खुश होने की नीति सच्चे आलोचक की नहीं होती है। बकौल नामवर सिंह—"आलोचना अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति है।" यह बौद्धिकता आत्मसजग है। इस आत्मसजगता से चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। आलोचक सृजनशील भी होता है। वह अपने समय, समाज और संस्कृति के ताने-बाने से उलझता है, उलझकर कुछ हासिल करता है। हासिल की गई चीज को जन के समक्ष रखता है। ऐसा कर पाने से न तो वह किसी तंग घेरे में उलझता है और न दूसरों को उलझाता है।

हमारा समय भयावह है। एक ओर भय है तो दूसरी ओर प्रलोभन। एक ओर पराधीनता है तो दूसरी ओर सम्मोहन। रचना का ही नहीं मनुष्य जाति तक का व्यवसायीकरण होने लगा है। संस्कृति के इतिहास में इससे बड़ी दुर्घटना और क्या हो सकती है? साहित्य, संस्कृति, मानवीय संबंध सभी प्रॉडक्ट बनकर रह न जाएँ, इसकी चिंता तथा इसका प्रतिरोध अत्यंत आवश्यक है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था से पूरा समाज प्रभावित है, बुरी तरह से। आलोचना को उसके दुष्प्रभावों से बचा पाने की पुरजोर कोशिश होनी चाहिए। नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्मला जैन, रमेश कुंतल मेघ, मैनेजर पांडेय, पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', जबरीमल्ल पारख आदि की पीढ़ी ने उसके दुष्प्रभावों से अपने को बचा लिया है या फिंर उसका विरोध किया है। खगेंद्र, ठाकुर, अजय तिवारी, रविभूषण, भगवान सिंह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि की पीढ़ी तमाम चुनौतियों से जूझ रही है। युवा ब्रिगेड–जितेंद्र श्रीवास्तव, रोहिणी अग्रवाल, वैभव सिंह, प्रियम अंकित, आशीष त्रिपाठी, विनोद तिवारी, राजकुमार, पल्लव, राहुल सिंह, संजय कुमार, कृष्णमोहन, नीरज खरे आदि–को भली-भाँति मालूम है कि समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियों का सामना कैसे और किस तैयारी के साथ किया जाना चाहिए। उम्मीद ही नहीं भरोसा भी है कि युवा पीढ़ी के आलोचक समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियों का साहसपूर्वक सामना करेंगे तथा हिंदी आलोचक जगत् को एक नया आकाश प्रदान करेंगे।

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-स जन', जुलाई-सितम्बर 2012 आपका संपादकीय बड़ा प्रासंगिक और द गोन्मीलक (eye opener) है। एक राजनीतिक विचारक ने कहा था कि 'politics is a game of scoundrels' यही सही अर्थ में चरितार्थ हो रहा है। वे जनता का प्रतिनिधि वे बनते हैं और जनता का ही निरंतर शोषण करते हैं। यह प्रजातंत्र (लिंकन की परिभाषा के अनुसार) परतंत्र हो गया है, प्रजा गौण। आपका कहना वाजिब है कि "सरकार खैरात, आरक्षण आदि के नाम पर बोट की राजनीति करती है। जनता सदा हासिए पर है। ऐसा विशुद्ध राजनीतिक लाभ लेने के लिए किया जाता है।"

'हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता' लेख में डॉ. आचार्य ने बताया है कि भारतीय साहित्य की भूमिका सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रही है, बल्कि भारतीय चिन्तन के स जन में उसकी केंद्रीय भागीदारी है। रामायण और महाभारत प्रबल उदाहरण हैं। आचार्य जी के प्रकाण्ड पांडित्य की सुरभि कृष्णदत्त पालीवाल ने फैलाई है, 'रचना का अंतरग' की समीक्षा द्वारा। आचार्य जी की मान्यता है कि "उत्तर संरचनावाद एक प्रकार की अनेकान्तवादी साहित्यिक सैद्धान्तिकी है।" (पृ.108) सभी रचनाएँ प्रेरक और दिशा-दर्शक हैं। सबको साधुवाद।

–प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, धनबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी परंपरा का विमर्श*

सुधीर कुमार**

प्रस्तुत लेख में हिंदी के मूर्धन्य आलोचक/चिंतक नामवर सिंह की महत्त्वपूर्ण पुस्तक—"दूसरी परंपरा की खोज" (1982) में व्याख्यायित "परंपरा" के विमर्श का निम्न बिंदुओं के आधार पर आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है:

(1) परंपरा क्या है? और—"दूसरी" परंपरा क्या है?

(2) क्या साहित्यकारों, चिंतकों, कलाकारों, संस्कृति-कर्मियों और आलोचकों को "पहली/महान" "परंपरा और दूसरी/लोकधर्मी परंपरा" जैसी कोटियों/श्रेणियों में विभाजित कर उनके अवदान/योगदान/कृतित्व का तथा तत्कालीन समाज और संस्कृति में उनके महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप का सही मूल्यांकन संभव है?

(3) क्या परंपरा, संस्कृति, धर्म और साहित्य/कला के विमर्शों की पारस्परिक समावेशी प्रकृति भारतीय लोकचेतना की प्रमुख पहचान नहीं है?

(4) क्या सैद्धांतिकी (थियरी) अथवा आलोचना की समग्रतावादी दृष्टि तार्किक रूप से और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वहीन है या हो चुकी है? क्या साहित्यिक आलोचना में खंडित विमर्शों/अन्य-परंपराओं के परस्पर द्वंद्व और संघर्षों का ही अन्वेषण/पुनरान्वेषण समीचीन है?

(5) क्या परंपरा से ही, उसके लोकोन्मुख/लोकपरक मूल्यों के अंतर्द्वंद्वों, संघर्षों विरोधाभासों, सामंजस्यों, सह-संबंधों के विभिन्न कालसंवेदी रूपों से ही परंपरा के अनुपयोगी, निकृष्ट और अनैतिक स्वरूपों का पतन/क्षय होता है और इस प्रकार परंपरा अपने नए संस्कारित स्वरूप में पुनः प्रवाहित होती है?

---

* दूसरी परम्परा की खोज, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982

**सुधीर कुमार (प्रोफेसर—अंग्रेजी तथा विभागाध्यक्ष—डी.ई.एस—मल्टीडिसिप्लिनरि रिसर्च सेंटर) पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ (भारत) 160014। दुरभाषः—09876675149।
ई-मेलः Kumarsudhir_pu@rediffmail.com; निवासः एफ-27, सेक्टर-25, चंडीगढ़-160014

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

I. परंपरा का चिंतन/ चिंतन की परंपरा

नामवर सिंह जी कृत "दूसरी परंपरा की खोज" का पाठ करते हुए एक आम पाठक भी, सर्वप्रथम इस बात की ओर आकृष्ट होता है कि आखिरकार यह "पहली" परंपरा कौन-सी है?, और क्या इस पहली परंपरा के विलुप्त होने पर, या बीत जाने पर ही एक सर्वथा नवीन "दूसरी" परंपरा का प्रादुर्भाव होता है? उसकी "खोज" संपादित होती है—समालोचकों और चिंतकों की कृतिओं में—चाहे परंपरा लोकसमुदाय में एक प्रवाह—के रूप में, व्यष्टि-समष्टि में अंतर्भुक्ति काल-चेतना के रूप में, जिसकी उपस्थिति कला, साहित्य, संगीत, लोक-मिथकों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक संस्थाओं और आख्यानों में दर्ज रहती हो—पहले से ही और अनवरत क्रम से!! यही कारण है एक सुधी पाठक को किंचित निराशा होती है कि हिंदी आलोचना के स्तंभ कहे जाने वाले विद्वान श्री नामवर सिंह की उक्त पुस्तक में परंपरा के तात्त्विक विश्लेषण पर आधारित आलेख—"दूसरी परंपरा की खोज" में "परंपरा"—"परंपरा की खोज" और "दूसरी परंपरा" जैसे गंभीर, गहन विषयों को मात्र नौ पृष्ठों में (आश्चर्य है कि यह उक्त पुस्तक का सबसे छोटा लेख है!!) निबटा दिया गया है, यहाँ पृष्ठ-संख्या को गुणवत्ता के मानक के तौर पर स्थापित करने का हास्यास्पद प्रयास नहीं किया जा रहा है। आइए, लेख के प्रमुख बिंदुओं की चर्चा करें।

प्रश्न यह है कि नामवर जी ने परंपरा-बोध का कैसा विमर्श 'दूसरी परम्परा की खोज' में पाठक के सम्मुख रखा है? अपनी "भूमिका" में वे स्पष्ट करते हैं—"परंपरा के समान खोज भी एक गतिशील प्रक्रिया है। ...इसमें न पंडित जी की कृतिओं की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास। अगर कुछ है तो बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज, जिसमें एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गई थी। उस कौंध को अपने अंदर से गुजरते हुए जिस तरह मैंने महसूस किया, उसी को पकड़ने की कोशिश की है। सफल कहाँ तक हो सका, इसका उत्तर परंपरा की 'दूसरी खोज' ही देगी। संभव है, इसमें मेरी अपनी खोज भी मिल जाए!" (पृ. 8). यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नामवर जी ने पुस्तक की भूमिका में ही "दूसरी" परंपरा—जिसे वे द्विवेदी की "बदल देनेवाली दृष्टि के उन्मेष" के रूप में दर्शाते हैं—के साथ ही "परंपरा की दूसरी खोज" को अभिन्न रूप से संयोजित किया है। ऐसा तो नहीं कि नामवर जी प्रच्छन्न रूप से इलियट के 1919 में प्रकाशित परंपरा-विमर्श के एक महत्त्वपूर्ण आलेख से प्रभावित रहे हों जिसमें कि 'वर्तमान' के द्वारा 'अतीत' का उसी प्रकार प्रत्याख्यान किया गया है जैसे कि 'वर्तमान' का 'अतीत' के द्वारा! (देखें पृ. 24—'Tradition and the Individual Talent in T.S. Eliot: Selected Prose')[2]:—

"...the past should be altered by the present as much as the present is directed by the past."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परंपरा—इलियट के अनुसार एक "महाख्यान" (Grand Narrative) न होकर समाजों और संस्कृतियों में इतिहास-बोध के मूलभूत तत्त्व के रूप में उपस्थित रहती है—"This historical sense, Which is the sense of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and of the temporal together is what makes a writar Traditional." (p.23).

अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तुलसी तथा कबीर उसी परंपरा-प्रवाह, उसी इतिहास-बोध से उद्भूत दो जीवन-दृष्टियाँ हैं—जिन्हें न तो आचार्य शुक्ल ने, न आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही—"पहली" और "दूसरी" परंपरा के प्रतीक के रूप में देखा है। फिर नामवर जी ने आचार्य हजारीप्रसाद और गुरुदेव टैगोर के विधवा-विवाह को लेकर हुए एक संवाद का (1930) उदाहरण देते हुए "परंपरा" के "खंड-खंड" होने की बात कही है—

"जिस परंपरा को अब तक वे अखंड समझते आ रहे थे, देखते-देखते शिवधनुष के समान खंड-खंड हो गई। लगा कि परंपरा और भी हो सकती हैं। एक तरह से यह इतिहास-बोध का उदय था।" (पृ. 11)।

पुनःश्च नामवर जी इसी आलेख में इस "दूसरी परंपरा" का प्रमुख उद्देश्य/लक्षण—"जाति धर्म-निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा" बताते हैं और कबीर के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि—"एक प्रकार से यह दूसरी परंपरा है।"

इस "दूसरी" परंपरा का एक और उद्देश्य—"विश्व दृष्टि" नामवर जी के अनुसार है। "आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि" तथा "लोक-जीवन से लगाव" इसी दूसरी परंपरा के अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। परंपरा या इसी "दूसरी परंपरा" के नामवर जी के अनुसार, प्रतीक द्विवेदी जी के कबीर हैं तो वही महान या पहली परंपरा में, शुक्ल जी के अनुसार, तुलसीदास जी "लोकधर्म के प्रतीक" हैं। उपसंहार में नामवर जी यह निष्कर्षतः कहते हैं कि हिंदी साहित्य की इसी "दूसरी परंपरा" के कारण हिंदी साहित्य की "लोकोन्मुख प्रगतिशील परंपरा" का विकास संभव हुआ है (पृ. 19)।

यद्यपि नामवर जी ने टी.एस. इलियट को अपनी "दूसरी" परंपरा के विमर्श में उद्धृत नहीं किया है, फिर भी इलियट का परंपरा-चिंतन उनके लेख में बारंबार प्रकट होता है। 1934 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "आफ्टर स्ट्रेंज गॉड्स (After Strange Gods)" में इलियट परंपरा को रूढ़िगत, या रूढ़िबद्ध सामाजिक/सांस्कृतिक रीतियों और विचारों का पर्याय नहीं मानते हैं; बल्कि परंपरा की गत्यात्मकता, क्रियाशीलता और व्यापकता पर विशेष बल देते हुए उसे (परंपरा) मानव-जीवन-दृष्टि, दर्शन और जीवन-पद्धति का समावेशी विमर्श मानते हैं—

"Tradition is not solely, or even primarily, the maintenance of certain dogmatic beliefs... What I mean by tradition involves all those habitual actions, habits and customs, from the most significant religious

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

rite to our conventional way of greeting a stranger, which represent the blood kinship of 'the same people living in the same place'... nor should we cling to tradition as a way of asserting our superiority over less favoured peoples. What we can do is to use our minds, remembering that a tradition without intelligence is not worth having, to discover what is the best life for us not as a political abstraction, but as a particular people in a particular place; what in the past is worth preserving and what should be rejected; and what conditions, within our power to bring about, would faster the society that we desire." (pp. 20.22) (emphasis mine).

स्पष्ट है कि परंपरा-ग्रहण-प्रक्रिया मानवीय विवेक और बुद्धि (जिसे नामवर जी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की कबीर जी के कृतित्व की समीक्षा के माध्यम से अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है) की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि इसी विवेक/बुद्धि के माध्यम से परंपरा (अथवा आधुनिकता के भी) के अंदर से ही निरंतर चलने वाली, क्रियाशील या गत्यात्मक सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रक्रियाओं के अंतःसंबंधों के द्वारा, परंपरा का पुनरान्वेषण, पुनर्व्याख्या, प्रत्याख्यान (जिसे नामवर जी "दूसरी परंपरा" कहते हैं) और पुनर्प्रवाह संभव तथा संपादित होते हैं।

अकारण नहीं है कि अपने मूल अर्थों में "परंपरा" को, भारतीय दृष्टि के अनुसार, "अविच्छिन्न शृंखला, नियमित सिलसिला, आनुपूर्व्य, प्रणाली, क्रम, सुव्यवस्था"[4] आदि का द्योतक माना गया है। यदि हम किसी भी समाज में एक समय या भिन्न-भिन्न काल-खंडों में विभिन्न रचनाकारों/कलाकारों/चिंतकों की कृतियों में प्रतिबिंबित परंपरा-विमर्श को नामवर जी की "दूसरी... तीसरी... परंपरा" की (विखंडित दृष्टि) दृष्टि से मूल्यांकित करने का प्रयास करें, तो हम ऋग्वैदिक काल से—छठवीं शताब्दी ईसापूर्व तक ही, गिनती की सुविधा (?) की दृष्टि से—पहली, दूसरी, तृतीय नहीं बल्कि अनंत, अनगिनत परंपराओं की महाखोज के आलोचनात्मक- प्रपंच (या परंपरा-प्रपंच?) में ही उलझकर रह जाएँगे। कहना न होगा कि आचार्य अमर्त्य सेन ने भारतीय चिंतन-परंपरा की अपनी बहुचर्चित, प्रसिद्ध पुस्तक "दि ऑर्गुमेंटेटिव इंडियन[5] (The Argumentative Indian)" में भारतीय परंपरा की बहुकेंद्रिकता, बहुलार्थकता और समग्रतावादी दृष्टि को रेखांकित किया है। परंतु नामवर जी के "कबीर" और "तुलसी", प्रकारांतर से नामवर जी आचार्य रामचंद्रशुक्ल के "तुलसी" एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी के "कबीर"—क्रमशः समीक्षात्मक सुविधा (?) की तरह, क्रमशः पहली और दूसरी (जिसे नामवर जी प्रगतिशील परंपरा कहते हैं) परंपरा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं :

"अब यदि अपनी प्रगतिशील परंपरा को मजबूत बनाने के लिए किसी तरह दोनों आलोचकों को एक ही परंपरा के अंतर्गत रखने की विवशता ही हो, तो जरूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कि एक की परंपरा में ही दूसरे को भी रखा जाए? क्या यह नहीं हो सकता कि दो लेखक भिन्न परंपराओं से आकर प्रगतिशील परंपरा के विभिन्न अंगों को समृद्ध और विकसित करें?" (पृ. 19)।

इसी उपर्युक्त आलोचनात्मक दृष्टि के अंतर्गत नामवर जी शुक्ल जी के लोक-धर्म के प्रतीक—"तुलसी" बनाम द्विवेदी जी के लोक-धर्म के नायक/प्रतीक—"कबीर" जैसी परस्पर विरुद्ध कोटियों का निर्माण कर उन्हें (प्रथम) परंपरा तथा दूसरी परंपरा के प्रतीक के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यदि हम कबीर और तुलसी के कृतित्व को, उनके साहित्य में प्रतिबिंबित "सामाजिक आदर्श" को सामने रखकर चिंतन करें तो हमें यह पता लगता है कि कबीर और तुलसी दोनों ने अपने कृतित्व में "लोकधर्मी परंपरा" (जिसे नामवर जी दूसरी/प्रगतिशील परंपरा कहकर—तुलसी और कबीर—दोनों का परस्पर-विरोधी ठहराते हुए परंपरा की गणनापरक कोटियों में कैद करते प्रतीत होते हैं!) का अपने काव्यात्मक विवेक या अपनी-अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा, निर्वहन और पुनराख्यान किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य का इतिहास" में दोनों महाकवियों (कबीर तथा तुलसी) को हिंदी साहित्य की "परंपरा" में ही साथ-साथ रखा है। आचार्य शुक्ल की समग्रतावादी दृष्टि में परंपरा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है "धर्म"; अतः वे "धर्म" की समग्रतावादी अवधारणा की व्याख्या करते हुए कहते हैं :

"धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव में वह विकलांग रहता है।"[6]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार कबीरदास जी (व अन्य भक्त कवियों के संदर्भ में भी) की काव्य-प्रतिभा के द्वारा भारतीय परंपरा (या संस्कृति) या साहित्यिक परंपरा में समन्वयवादी, लोकपरक जीवन-दृष्टि भक्तिकाव्य के माध्यम से प्रकट हुई—जैसा कि आचार्य शुक्ल ने बार-बार "हिंदी साहित्य का इतिहास" में रेखांकित किया है :

"कालदर्शी भक्तकवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए! प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया (पृ. 35)।"

कबीरदास जी की समन्वयवादी सांस्कृतिक चेतना ने लोक-भाषा तथा सधुक्कड़ी शैली का प्रयोग करते हुए 'वेदांत' तथा 'सूफी इस्लाम' इन दोनों जीवन-दृष्टियों का संयोजन अपने काव्य में किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार—"कबीर ने जिस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना 'निर्गुण पंथ' धूमधाम से निकाला।" (पृ. 36) पुनःश्च शुक्लजी ने कबीरदास के काव्य-प्रतिभा की सामासिकता और समग्रता का उल्लेख करते हुए कहा :

"जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं। ...उपासनाा के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों--दोनों को उन्होंने खरी-खोटी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।" (पृ. 43-44).

आश्चर्य की बात यह है आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कबीर जी के काव्य में प्रकट हुए "राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की एकता के सूत्रों" को बड़ी खूबी और आलोचनात्मक औदार्य तथा विवेक के साथ प्रस्तुत किया—यह वही भारतीय परंपरा है जो अथर्ववेद[7] के पृथ्वी सूक्त में "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः", "जनं ब्रिभती बहुधा विवाचसम् नाना धर्माषं पृथिवी यथौकसम्" (अर्थात्—"यह धरती हमारी माता है, और हम सब उसके पुत्र हैं", "अनेक प्रकार की धार्मिक मान्यता वालों और विभिन्न भाषा-भाषीजन-समुदाय को एक परिवार के रूप में आश्रय देने वाली अविनाशी और स्थिर स्वभाव वाली पृथ्वी"), सम्राट अशोक के शिलालेखों[8] तथा स्तंभलेखों में, महात्मा बुद्ध के धम्मपद[9] में, तथा गाँधीजी के हिंद स्वराज[10] (1909) में अपने विभिन्न रूपों में लोक-जीवन में धार्मिक-सांस्कृतिक (धार्मिक या नैतिक मूल्य—आधारित परंपरा के अर्थ में) चेतना के प्रमुख आधार का निर्माण करती है। आचार्य शुक्ल के द्वारा कबीरदास जी को भारतीय परंपरा के प्रतीक के रूप में ही चित्रित किया गया है—फिर भी नामवर जी का यह कहना है कि, "उनके लिए कबीर का महत्त्व 'इतिहास' तक ही सीमित रहा; और इतिहास में भी कबीर के प्रति सम्मान या सहानुभूति का भाव नहीं दिखता। ...उनकी उक्तियों में... कवित्व भी है—यह शुक्ल जी ने कहीं नहीं कहा है।" (पृ. 43)

एक सुधी पाठक का आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कबीरदास जी की काव्य-भाषा और शैली को लेकर मतभेद हो सकता है किंतु कबीरदास जी की विद्रोही चेतना को तो उसी प्रकार की विद्रोही भाषा स्वीकार्य थी—क्योंकि उनका लोक से या जन-सामान्य से संवाद का माध्यम उनकी "अशिष्ट" भाषा ही थी। परंपरा में यदि विद्रोह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्नता, बहुलता की अभिव्यक्ति नहीं संभव है, तो वह मृत परंपरा ही रहेगी। अत: कबीर और तुलसी दोनों ही लोक-चेतना पर व्यापक प्रभाव डालते हैं—अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा—वे दोनों ही समय के साथ पूरमपूर संवाद करते हैं। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि समाज, संस्कृति और परंपरा के वर्ग-विभेद पर आधारित साहित्यिक-सांस्कृतिक सैद्धांतिकी के नववामवाद के प्रकांड पंडित/आचार्य रेमंड विलियम्स ने सर्वप्रथम 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक—"मार्क्सिज्म एंड लिटरेचर"[11] में "संस्कृति" के तीन गतिशील, परस्पर संबंधित स्वरूपों की चर्चा की (वर्चस्ववादी or Dominant, पुरातनवादी or Residual, तथा Emergent or वैकल्पिक जिसे दूसरी संस्कृति भी कहा जा सकता है) है जिसमें वैकल्पिक स्वरूप में भी संस्कृति (जिसे परंपरा भी कहा जा सकता है) वर्चस्ववादी तथा पुरातनवादी विमर्शों से संयुक्त/प्रभावित रहती है। अतः नामवर जी द्विवेदी जी के परंपरा-विमर्श की उस समन्वयात्मक दृष्टि की ओर संकेत करते हैं जिसकी नींव "विविधता, जटिलता, परस्पर विरोधी जीवंतता और समृद्धि" पर टिकी है (देखिए पृ. 90)।

प्रश्न यहाँ यह है कि यदि आचार्य द्विवेदी तुलसीदास को कबीरदास से अलग करते हुए—दोनों को पृथक-पृथक परंपरा के विमर्शों में बंदी बनाना चाहते हैं तो क्या यह समालोचना या साहित्य का सत्य या धर्म कहा जा सकता है? या "परंपरा" को आलोचनात्मक प्रपंच के द्वारा गणितीय पद्धति से खंड-खंड करने का जादुई करिश्मा द्विवेदी जी का नहीं बल्कि उनके ही शिष्य नामवर सिंह जी का है!! उदाहरणार्थ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "रामचरितमानस" को "दिव्य प्रेरणा की अप्रतिम ग्रंथ"[12] कहा है। वे कहते हैं :

"आज से चार सौ वर्षों में यह ग्रंथ देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके संसार में समादृत हुआ। यह सच्चे अर्थों में कालजयी ग्रंथ है।...यह संदेह था कि जो ब्रह्म सब प्रकार की धारणाओं के ऊपर है, व्यापक है, निर्गुण है, अजन्मा है ...वह क्या मनुष्य के रूप में अवतार ग्रहण कर सकता है? इस संदेह का उन्मीलन तुलसीदास का एक लक्ष्य था। यह एक सामयिक प्रश्न था। तुलसीदास के पूर्ववर्ती महान निर्गुणवादी संतों ने सगुण राम का प्रत्याख्यान किया था और लोकचित्त में ऐसा संशय उत्पन्न किया था। ...*इस द्वंद्व ने तुलसीदास के संवेदनशील चित्त को केवल खंडन-मंडन की ओर प्रवृत्त नहीं किया, बल्कि उनकी रचनात्मक प्रतिभा को झंकृत कर दिया जिससे शाश्वत मानवीय मूल्यों का अद्भुत रागात्मक सृजन हुआ।*" (द्विवेदी, भाषा पृ. 78-79).

निर्गुण तथा सगुण के पारस्परिक किंतु आभासी द्वंद्व को तुलसीदास जी ने रामचरितमानस की लोकोन्मुखी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक दृष्टि व दर्शन के अद्भुत समन्ववादी संदेश के द्वारा एकत्व के सूत्र में समाहित किया :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।।"[13]

"नाम और रूप की गति की कथा अकथनीय है। वह समझने में सुखद है परंतु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्गुण और सगुण के बीच में नाम सुंदर साक्षी है और दोनों का यथार्थ ज्ञान करानेवाला चतुर दुभाषिया है।"

अतः द्विवेदी जी के राम भी कबीरदास के निर्गुण राम की भाँति (तथा द्विवेदी जी और नामवर जी के निर्गुण राम की तरह ही) लोक-चेतना पर "नाम" के रूप में-प्रतिष्ठित होते हैं—चाहे नाम को सगुण या मूर्त रूप में देखा जाए या उसे अमूर्त या निर्गुण रूप में। यही परंपरा का सगुण और निर्गुण स्वरूप भी है—जिसमें परस्पर द्वंद्व तो है पर वह आभाषी है—ज्ञान अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् इन दोनों का तिरोहन शाश्वत सत्य/परम अर्थ/ में होता है। अतः द्विवेदी कहते हैं कि—"लोकचित्त में प्रतिष्ठित इस राम को जनता के दैनंदिन संघर्षों और विषम परिस्थितियों के भीतर से पूर्ण ब्रह्म के रूप में प्रकाशित करना तुलसीदास की कठिन साधना थी। एक ओर जहाँ राम परात्पर ब्रह्म हैं, वहीं दूसरी ओर वे सहजभाव से जनता के अपने प्रतिनिधि भी हैं।" (द्विवेदी—भाषा...पृ. 81)।

अतः कबीर के निर्गुणिया ब्रह्म स्वरूप 'राम' तथा तुलसीदास के सगुणिया दाशरथि 'राम' भारतीय लोक परंपरा के अभिन्न, अविच्छिन्न अंग ही हैं—और इन स्वरूपों का आभाषी संघर्ष/विरोध/विद्रोह इन्हें पृथक-पृथक परंपराओं के पिंजड़ों में कैद नहीं करता। यह बात और है कि निर्गुण-सगुण "राम तत्त्व" किसी अति गुणी साहित्यिक आलोचना के हाथ लग जाए और तत्पश्चात् उसी अविच्छिन्न परंपरा को खंड-खंड करते हुए वही आलोचक अपनी अंकगणितीय परंपरा-दृष्टि से मूल्य-बोध को परस्पर विद्रोही कोटियों या श्रेणियों में बद्ध कर दे। भारतीय परंपरा के इसी समग्रतावादी, समन्वयवादी विमर्श के बारे में द्विवेदी जी कहते हैं :

"भारतवर्ष बहुत विशाल देश है, इतिहास की दृष्टि से भी और भूगोल की दृष्टि से भी। इसकी साहित्यिक परंपरा भी विशाल और अपने ढंग की निराली रही है। संसार में प्राचीन सभ्यता वाले देश अनेक हैं। *पर ऐसी अविच्छिन्न धारावाहिक प्राचीन साहित्यिक परंपरा, जो आज भी जीवंत प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है, किसी दूसरे देश के पास नहीं है। इस दिशा में भारतवर्ष की साहित्यिक परंपरा अनुपम और अद्वितीय है। ऐसी विशाल, अटूट और जीवंत चिंतन-धारा को थोड़े में कह सकना कठिन है। पर सौभाग्यवश कठिन होने पर भी वह असंभव नहीं है।"* (द्विवेदी : भाषा पृ. 60).

यदि द्विवेदी जी के कबीर किसी तथाकथित "दूसरी" परंपरा के प्रतीक होते—तो क्या द्विवेदी जी पूर्वोक्त ढंग से भारतीय साहित्यिक परंपरा की अविच्छिन्नता, अखंडता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सतत प्रवाहमानता का वर्णन कर सकते थे? 1889 में प्रकाशित निबंध "साहि (Literature)"[14] में गुरुदेव टैगोर ने साहित्यिक परंपरा की इसी अबाधित जीवन-शक्ति (जीवंतता) को अपनी विश्व-दृष्टि का केंद्र माना है—इसी गत्यात्मक, क्रियाशील परं को अर्जित अथवा ग्रहण करते हुए एक कालजयी लेखक/कलाकार/चिंतक साहित्य शाश्वत अथवा सनातन सत्य/अर्थ की अभिव्यंजना करने का प्रयास करता है।

भारतीय परंपरा/संस्कृति की इसी बहुकेंद्रिकता तथा समन्वयवादी जीवन-दृ के कारण हमारी परंपरा ऐतिहासिकतावाद से, जैसा कि अज्ञेय ने कहा भी है, "आक्रां होकर भी अपनी अस्मिता को टूटने से बचाए रख सकी।"[15]

उपसंहार

यह तो उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट ही है कि परंपरा की भारतीय दृष्टि में परस् विद्रोहों, विभिन्नताओं, संघर्षों और द्वंद्वों का समाहार उसकी समग्रतावादी कि बहुकेंद्रिक परंपरा विमर्श में होता है—अतः जोतिबा फुले, अंबेडकर, राजा राममोह राय, पंडित रमाबाई, बंकिमचंद्र चटर्जी, श्री अरविंद, काजी नजरुल इस्लाम, गाँ तिलक, लाला लाजपत राय, लोहिया, स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, रम महर्षि, जिद्दू कृष्णमूर्ति, टैगोर, जयप्रकाश नारायण इत्यादि जैसे आधुनिक भारती चिंतकों के विमर्श में विद्रोह तथा द्वंद्व की प्रमुखता होते हुए भी उनका सांस्कृतिक परंपरा का चिंतन समावेशी तथा समग्रतावादी है। अतः नामवर जी की पुस्तक य "परंपरा की दूसरी खोज" के शीर्षक से प्रकाशित होती जिसमें कि प्रत्येक चिंत साहित्यकार का प्रमुख धर्म—"सत्य अथवा परंपरा की अपनी खोज" अथवा उस पुनराविष्कार होता हो यह स्वतः सिद्ध आलोचनात्मक दृष्टि होती, क्योंकि परंपरा पहली, दूसरी ही नहीं, अनंत खोजें संभव हैं, क्योंकि मूलतः शब्द शक्ति में ही अ अर्थों की सृष्टि/उत्पत्ति निहित है।

संदर्भ

1. नामवर सिंह, *दूसरी परंपरा की खोज*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1994 (प्र प्रकाशनः 1982)। प्रस्तुत लेख में उद्धृत अंश इसी संस्करण से लिए गए हैं तथा पृ संख्या के साथ दिए गए हैं।
2. टी.एस. इलियट, *सिलेक्टिड प्रोज*, हारमॉण्ड्सवर्थ, पेंग्विन बुक्स, 1953, पृ. 2 अन्य सभी उदाहरण इसी पुस्तक से पृष्ठ-संख्या के साथ उद्धृत हैं।
3. वही (पृ. 20-21)।
4. वामन शिवराम आप्टे, *संस्कृत-हिंदी कोश*, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1997, 577-578ः तत्पश्चात् आप्टे, पृष्ठ संख्या के साथ उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. अमर्त्य सेन, *दि ऑर्गुमेंटेटिव इंडियन*, नई दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, 2005। विशेषतः पृ. 3-44, 121-160, 334-356.
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1997, पृ. 34। तत्पश्चात् लेख में पृष्ठ संख्या के साथ उद्धृत।
7. *अथर्ववेद संहिता*–भाग-2, (संपादक–श्रीराम शर्मा आचार्य), मथुरा, युगनिर्माण योजना, 2010, बारहवाँ कांड, 1-63 (पृ. 1-10)।
8. जर्नादन भट्ट (संपादक) *अशोक के धर्म लेख*, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2000, पृ. 24-115.
9. *धम्मपद* (संपादक–एस. राधाकृष्णन), दिल्ली, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1997 (प्रथम प्रकाशन 1950), यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि धम्मपद के टेक्स्ट (पाठ) में सबसे बड़ी व्याख्या "ब्राह्मणवग्गो" में ब्राह्मण के लक्षण तथा कर्तव्यों की है (देखें पृ. 177-187)। यदि श्रमण तथा ब्राह्मण जीवन-दृष्टियाँ (यदि इन्हें पृथक-पृथक जीवन-दृष्टियों के तौर पर भी माना जाए) दो अलग-अलग परंपराएँ होतीं (पहली और दूसरी) तो धम्मपद में ब्राह्मणवग्ग किस प्रकार सबसे बड़ा कांड होता? छब्बीस कांडों में विभक्त धम्मपद में सर्वाधिक अवकाश ब्राह्मणों के लक्षणों। कर्तव्यों को दिया गया है–यह हमारी परंपरा के उस स्वरूप को बताता है विभिन्नताओं तथा विरोधी-स्वरों को एक सामासिक परंपरा में समन्वित करता है। अंकगणितीय पारंपरिक, प्रपंच की तरह पहली, दूसरी तीसरी.. इत्यादि परंपराओं का निर्माण भारतीय परंपरा के अनुसार नहीं हो सकता है।
10. मोहनदास करमचंद गाँधी–*हिंद स्वराज*, अहमदाबाद, नवजीवन, 2009 (प्र. 1909)। विशेषतः पृ. 25-26, 30, 42-46, 52-57, 84-90.
11. रेमंड विलियम्स–*मार्क्सिज्म एंड लिटरेचर*, आक्सफर्ड, ग्रेट क्लेरेंडन प्रेस, 2010 (प्र. प्रकाशन 2010)। पृ. 121-144.
12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी–"*रामचरितमानस : दिव्यप्रेरणा की अप्रतिम कृति*"– संकलित है हजारीप्रसाद द्विवेदी–भाषा, साहित्य और देश, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 1998, पृ. 78-82। यही पुस्तक द्विवेदी-भाषा की तरह पृष्ठ संख्या सहित लेख में उद्धृत है।
13. गोस्वामी तुलसीदास–*रामचरितमानस*, गोरखपुर, गीताप्रेस, 1996, 'बालकांड' 2004, पृ. 24।
14. रवींद्रनाथ टैगोर–*सिलेक्टिड राइटिंग्स ऑन लिटरेचर एंड लैंग्वेज* (संपादक–एस. के. दास, एवं सुकांत चौधरी), नई दिल्ली, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2012, (प्र. संस्करण 2001) पृ. 49-50.
15. अज्ञेय–*स्मृति और काल*–संकलित है–"खुले में खड़ा पेड़" (सं. नंदकिशोर आचार्य), बीकानेर, वाग्देवी पॉकेट बुक्स, 1999, पृ. 21.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ

कमल किशोर गोयनका*

आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचना-इतिहास में प्रेमचंद की आलोचना का इतिहा काफी बड़ा और विस्तृत है। प्रेमचंद-साहित्य पर जितने शोध-कार्य हुए हैं तथ आलोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं, उतना कार्य आधुनिक साहित्य के किसी साहित्यका पर नहीं हुआ, लेकिन इस व्यापक आलोचना-संसार की त्रासदी यह है कि सैकड़ शोध-प्रबंधों में अधिकांशतः एक-दूसरे की आवृत्ति है तथा जिनमें कुछ मौलिकता ए नवीन स्थापनाएँ हैं, उनकी चर्चा कभी हिंदी के आलोचना-संसार में नहीं हुई और उनकी स्थापनाओं को ही प्रेमचंद के पाठकों-छात्रों-अध्यापकों तक पहुँचाया गया। हिं में शोध-कर्म तथा शोध-निष्कर्षों की उपेक्षा ज्ञान के विकास में बहुत बड़ी बाधा है प्रेमचंद की आलोचना का एक पक्ष उनकी समकालीन आलोचना का है, जिसे अब त किसी आलोचक या शोधकर्मी द्वारा नहीं देखा गया और जो आज भी पुरा पत्र-पत्रिकाओं में बंद पड़ा है और वह कभी भी दीमकों के हवाले हो सकता है। उनक आलोचना का एक पक्ष और भी है। देश की स्वतन्त्रता के साथ और उससे कुछ पू प्रेमचंद की आलोचना में कई नए आलोचकों का आविर्भाव हुआ और प्रेमचंद-आलोच की परंपरा निरंतर पुष्ट होती गई। इन आलोचकों में मदन गोपाल, रामविलास शर्म नंददुलारे वाजपेयी, रामरतन भटनागर, श्रीपति शर्मा, जितेंद्रनाथ पाठक, मन्मथना गुप्त, नलिनविलोचन शर्मा, राजेश्वर गुरु, इन्द्रनाथ मदान, गोपाल राय, नगेंद्र, शचीरा गुर्टू : गौतम सचदेव आदि ने प्रेमचंद की आलोचना का विस्तार किया और उन साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला; किंतु प्रेमचंद-आलोचना में प्रगतिशी आलोचकों का एक ऐसा समूह रहा और जो अब तक है, जिसने प्रेमचंद-साहित्य की आलोचना एवं मूल्यांकन को मार्क्सवाद और उसके जीवन-दर्शन तक सीमित क

*कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052; मो. 09822052

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया और प्रेमचंद को मार्क्सवादी, रक्तिम क्रांति एवं वर्ग-संघर्ष के समर्थक गाँधीवाद के विरोधी तथा घोर यथार्थवादी के रूप में स्थापित किया और कई दशकों से प्रगतिशील आलोचक इसी की बार-बार आवृत्ति, बार-बार घोषणा तथा बार-बार स्थापनाएँ कर रहे हैं। इस प्रगतिशील आलोचना के विरुद्ध और विपरीत जब कुछ मौलिक एवं नई अवधारणाएँ आती हैं, तो यह प्रगतिशील-समूह अपने अविवेकी-असंगत-अतार्किक आलोचना-महल को ढहते देखता है तो सचाई को तथा नए शोध-निष्कर्षों को स्वीकार करने की अपेक्षा उन्हें शत्रु समझकर उन पर आक्रमण करता है और गालियाँ बकता है तथा बदनाम करता है। मेरा लगभग आधी शताब्दी का ऐसा ही अनुभव है। मैंने जब से प्रेमचंद के जीवन, साहित्य तथा चिंतन के नए सूत्र उनके दस्तावेजों के आधार पर खोले हैं प्रगतिशील आलोचकों का यह आक्रमण तब से अब तक चल रहा है। नामवर सिंह ने 'जनसत्ता' (5 अप्रैल, 2012) तथा मधुरेश ने 'पुस्तकवार्ता' (मई-जून, 1912) में प्रगतिशीलों की इसी युद्ध नीति से मुझ पर आक्रमण किया और मेरा समुचित उत्तर इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं में छपा है। हिंदी की प्रगतिशील आलोचना सिद्धांत और व्यवहार में एकाधिकारवादी है, क्योंकि उसके मूल-स्रोत मार्क्सवाद की यही प्रकृति और दर्शन है। प्रेमचंद के प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद पर अपना एकाधिकार समझते हैं और प्रेमचंद की प्रगतिशील मूर्ति को, जो उनके बहुत बड़े अंश को काट-छाँट कर बनी है, साहित्य-संसार को स्वीकार करने के लिए दबाव डालते रहते हैं।

प्रेमचंद की प्रगतिशील आलोचना ने प्रेमचंद का बहुत बड़ा अहित किया है। उन्होंने प्रेमचंद की 301 कहानियों, 14 उपन्यासों, तीन नाटकों तथा हजारों पृष्ठों के अन्य साहित्य में केवल 10-15 रचनाओं को ही प्रगतिशील प्रेमचंद की रचनाएँ मानते हुए उन्हें ही वास्तविक प्रेमचंद अर्थात् मार्क्सवादी प्रेमचंद अर्थात् यथार्थवादी प्रेमचंद की रचनाएँ माना है। प्रेमचंद का शेष विपुल साहित्य उनके लिए कपोल-कल्पना, भावुकतापूर्ण, आदर्शवादी तथा अवास्तविक जीवन की रचनाएँ हैं। इस प्रकार प्रगतिशीलों ने प्रेमचंद को प्रेमचंद के विरुद्ध खड़ा कर दिया है तथा कुछ ऐसे मिथक बनाए हैं जो अवास्तविक तथा तर्कहीन होने पर भी अभी तक चल रहे हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन पर विश्वास बना हुआ है। प्रेमचंद की गरीबी का मिथक ऐसा ही है जो अब तक चल रहा है जो पूर्णतः गलत और भ्रामक है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा था कि प्रेमचंद का जन्म गरीबी में हुआ, गरीबी में जिंदा रहे और गरीबी में ही मर गए। अमृतराय ने 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' में भी उनकी गरीबी दशा का ही चित्रण किया है, किंतु प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय ने कभी नहीं माना कि उनके पिता गरीब थे। सन् 1980 में जब मैंने उनके बैंक खातों, वेतन तथा रायल्टी आदि का तथ्यात्मक विवरण 'कादंबिनी' में प्रकाशित कराया तो हिंदी संसार में जैसे भूचाल आ गया और मार्क्सवादी डॉ. नामवर सिंह ने कई स्थानों पर कहा कि एक हिंदू लेखक प्रेमचंद की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पासबुक दिखाते फिरते हैं। एक बार तो इलाहाबाद में दूधनाथ सिंह तथा मार्कण्डेय से झड़प ही हो गई। प्रेमचंद के देहांत के समय उनके दो बैंक खातों में पाँच हजार रुपये के लगभग बैलेन्स था। मैंने उनके लगभग 35 वर्षों की आर्थिक स्थिति का जो विवरण प्रस्तुत किया उससे उनके गरीब होने का मिथक टूटा, परंतु आज तक भी हमारे प्रगतिशील अपनी पुरानी असत्य धारणा से ही जुड़े हैं, क्योंकि उनके गरीबी के मिथक के टूटने से उनको जो मानसिक आघात लगा है उससे वे अपना मानसिक संतुलन खो चुके हैं। वे आज भी प्रेमचंद की गरीबी का रोना रोते हैं और प्रेमचंद के पाठकों-प्रेमियों को अंधकार में रखते हैं।

हिंदी-उर्दू के प्रगतिशीलों ने इसी प्रकार के कई मिथ्या मिथक बनाए हैं और वे आज भी उन्हें लादे चल रहे हैं। ये लोग बराबर कहते रहे हैं कि प्रेमंचद साम्राज्यवाद एवं सामन्तवाद के विरोधी लेखक थे, पर ये भूल जाते हैं कि यह प्रेमचंद-साहित्य की एक प्रवृत्ति है, इससे सम्पूर्णता में उनकी पहचान नहीं होती है। प्रेमचंद को समग्रता में देखने-पढ़ने-समझने से ही उनके भारतीयता के कथाकार होने का ज्ञान होता है, उन्हें टुकड़ों में बाँटने अथवा एक प्रवृत्ति में ही प्रेमचंद की मूर्ति की प्रतीति अज्ञान का प्रमाण है। इन्हीं आलोचकों ने प्रेमचंद के मार्क्सवादी और यथार्थवादी होने का मिथक गढ़ा और प्रगतिशील आलोचक आज तक इसका डंका पीटते हैं, बिना यह देखे-समझे कि प्रेमचंद इस विषय में क्या कहते हैं। प्रेमचंद ने सन् 1919 में एक पत्र में यह अवश्य लिखा था कि मैं वोल्शेविक उसूलों का करीब-करीब कायल हो गया हूँ, किंतु इसके बाद वे अपनी रचनाओं और लेखों में साम्यवाद और उनके अनुयायियों की बराबर आलोचना करते रहे हैं। 'स्वदेश' में सन् 1928 में छपे एक लेख में उन्होंने लिखा कि साम्यवाद तो पूँजीवाद से अधिक भयानक है। सन् 1933-34 के लेखों में उन्होंने लिखा कि सोवियत रूस अपने विचारों का साम्रज्य चाहता है। इसी समय उन्होंने सोवियत व्यवस्था के पतन तथा नई व्यवस्था के आने की भविष्यवाणी भी की। उन्होंने 'गोदान' तक में प्रो. मेहता से साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करवाई है।

यदि प्रगतिशील आलोचक उनकी 'कैदी', 'कातिल' तथा 'कातिल की माँ' कहानियाँ पढ़ लें और समझ ले तो उन्हें मालूम होगा कि प्रेमचंद मार्क्स के दर्शन तथा लेनिन के कामरेडों के कितने विरुद्ध थे। इसी प्रकार प्रेमचंद बार-बार अपने को आदर्शवादी कहते हैं और यह भी कहते हैं कि हममें से कोई यथार्थवादी नहीं है, किंतु प्रगतिशील आलोचक उन्हें कभी यथार्थवादी, कभी क्रांतिकारी यथार्थवादी आदि की रट लगाए रहते हैं। अब प्रगतिशीलों का यह मिथक भी चूर-चूर हो गया है। कोई भी समझदार आलोचक सैकड़ों-हज़ारों रचनाओं के होते हुए तीन-तेरह रचनाओं के आधार पर यथार्थवादी बनाने की मूर्खता नहीं कर सकता। मुझे अब तक आम जनता में जो प्रेमचंद के पाठक मिले हैं, वे सभी उन्हें आदर्शवदी मानते हैं और कहते हैं कि प्रेमचंद ने मनुष्य को ऊँचा उठाकर मनुष्यता की रक्षा की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने उन्हें मार्क्सवादी बनाने के लिए और भी तरह-तरह के प्रयास किए हैं और वे मिथक जैसे बन गए हैं। प्रेमचंद ने सन् 1908 में लिखा था कि साहित्य अपने युग का दर्पण है, लेकिन प्रगतिशील युग की व्यापक अवधारणा में देश-प्रेम, धर्म, संस्कृति, समाज-सुधार, देवत्व की अनुभूति को स्वीकार नहीं करते। उनके युग-दर्पण में जीवन का दुःख-दर्द, शोषण-दमन ही आता है, जीवन का उल्लास, परिष्कार, संस्कार, जिजीविषा, अस्तित्व-बोध, भारतीयपन आदि सब कपोल-कल्पना, भावुकतापूर्ण एवं यथार्थ विरोधी हैं। प्रेमचंद ने कहा था कि जीवन के यथार्थ में जीवन का आदर्श क्यों नहीं आ सकता, लेकिन प्रगतिशील इस पर मौन हैं। प्रेमचंद ने जब यह कहा कि साहित्य जीवन की आलोचना है, तो क्या जीवन की आलोचना में जीवन का सौन्दर्य एवं शिव-पक्ष शामिल नहीं है? प्रेमचंद ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का साहित्य-दर्शन दिया, परंतु प्रगतिशीलों ने आदर्श को काटकर फेंक दिया और उन्हें उनके साहित्य-सिद्धांत के विपरीत यथार्थवाद तक सीमित कर दिया। प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के भाषण में मन के संस्कार तथा आध्यात्मिक आनंद की बात कही थी, लेकिन प्रगतिशीलों ने इनकी कभी चर्चा नहीं की और इन विचारों के विपरीत मिथकों की रचना करते रहे। इन प्रगतिशील आलोचकों ने प्रेमचंद के स्वराज्य प्राप्ति तथा भारतीय आत्मा के संकल्प को कभी महत्त्व नहीं दिया और वर्ग-संघर्ष एवं हिंसक क्रांति से राजसत्ता की प्राप्ति का दिवा-स्वप्न देखते रहे।

प्रेमचंद पर प्रगतिशील आलोचना के इस आधिपत्य ने उनके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को नगण्य बना दिया और यदि उन पर विचार हुआ तो उन्हें अवास्तविक, महत्त्वहीन तथा कमजोर बताकर प्रेमचंद को अपमानित किया गया। हमारे प्रगतिशीलों के लिए प्रेमचंद का लेनिन-स्टालिन का समर्थक होना बहुत बड़ी बात हो सकती है, किंतु उनके साहित्यिक कृतित्व के अनेक ऐसे पक्ष हैं, जिनमें उनके भारतीय आत्मा के कथाकार होने के कालजयी सूत्र विद्यमान हैं। उनके इस व्यापक साहित्यिक वाङ्मय के बिना उनकी मूर्त्ति पूर्ण नहीं हो सकती। किसी भी लेखक को उसकी समग्रता में ही पहचाना और समझा जा सकता है, उसे सीमित करके अथवा किसी राजनीतिक कटघरे में बंद करके अपने विचारों के अनुरूप उनकी मूर्त्ति तो बना सकते हैं, किंतु इस अल्पांश मूर्त्ति को समग्र मूर्ति होने का दावा नहीं कर सकते। अतः यह आवश्यक है कि हम धूमिल हुए तथा लोक-स्मृति से गायब कर दिए गए प्रेमचंद के साहित्य की उन प्रवृत्तियों को भी जानें जिनसे उनके साहित्य की मुख्यधारा बनती हैं तथा जिनके कारण वे भारतीय कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित और मान्य हुए।

प्रेमचंद-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की है। इसकी चर्चा कुछ किताबों में तो मिलती है, किंतु पहले इनमें भावुकता तथा अंध राष्ट्रवाद होने की बात कहकर खिल्ली उड़ाई गयी और फिर आलोचक इनकी चर्चा से बचने लगे। भारत की पराधीनता और स्वतंत्रता के दोनों कालों में राष्ट्रीयता का भाव प्रत्येक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिक के मनमें होना आवश्यक है। देश के प्रति निष्ठा और समर्पण न हो तो देश सुरक्षित नहीं रह सकता। विदेश के कम्युनिस्ट और मुस्लिम देशों में प्रबल राष्ट्रीय भाव देखा जा सकता है। आज तो भारत चारों ओर से शत्रु-भाव से घिरा है, अतः राष्ट्र-प्रेम का होना और भी आवश्यक है। प्रेमचंद ने 27-28 वर्ष के आयु में 'दुनिया का अनमोल रतन' तथा 'यही मेरी मातृभूमि है' दो ऐसी कहानियों लिखीं जिनमें देश-प्रेम और भारत-भक्ति का आख्यान है। प्रेमचंद को देश-भक्तिपूर्ण कहानियों के संग्रह 'सोजेवतन' के कारण अंग्रेजी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा, परंतु उन्होंने गाँधी के राजनीति में आने पर तथा उनके आंदोलनों को लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और उपन्यास लिखे और वे स्वाधीनता संग्राम के महागाथाकार बने। उन्होंने देहांत से दो वर्ष पूर्व कहा था कि उनका उद्देश्य स्वराज्य प्राप्ति है और वे चाहते हैं कि इसके लिए दो-चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखें। प्रेमचंद ने इसी उद्देश्य के लिए कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं, जैसे 'रानी सारन्धा', 'आल्हा', 'राजा हरदौल', विक्रमादित्य का तेंगा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि। इससे वे पाठक के मन में अतीत के प्रति गौरव, अस्मिता एवं स्वतंत्रता-बोध तथा देश के लिए उत्सर्ग की भावना उत्पन्न करना चाहते थे। प्रेमचंद ने लिखा था कि जो देश अपने अतीत पर गर्व नहीं करता वह नष्ट हो जाता है, परंतु आलोचक लेखक की इस मर्म-दृष्टि को समझना नहीं चाहते। प्रेमचंद की सांस्कृतिक चेतना को भी गंभीरता से नहीं देखा-परखा गया और अधिकांशतः उनकी हिंदू धर्म की आलोचना तथा उनकी सेक्यूलर-दृष्टि की ही विवेचना करते रहे। प्रेमचंद ने हिंदू, ईसाई और मुस्लिम धर्म-संस्कृति का अध्ययन किया था और इन पर लेख भी लिखा था। किन्तु आलोचक उन्हें देखना ही नहीं चाहते। प्रेमचंद ईसाई धर्म, संस्कृति, जीवन-शैली तथा खेल-कूद तक के विरोधी थे। 'रंगभूमि' उपन्यास में जॉनसेवक के परिवार के माध्यम से उन्होंने ईसाइयों के जीवन तथा विचारों का चित्रण किया है, किंतु मुस्लिम धर्म-संस्कृति के प्रति उनके मन में आदर का भाव था। हजरत मुहम्मद साहब पर 'नबी का नीति निर्वाह' कहानी तथा कर्बला के शहीदों पर 'कर्बला' नाटक लिखा था, यद्यपि इस नाटक के लिखने पर उन्हें मुस्लिम अदीबों की आलोचना सहनी पड़ी थी। वे हिंदू संस्कृति के प्रशंसक थे और उसके त्याग, उत्सर्ग, सेवा, परोपकार, अपरिग्रह, अहिंसा आदि जीवन-मूल्यों को श्रेष्ठतम मानवीय मूल्य मानते थे। उन्होंने एक लेख में लिखा कि 'अहिंसा परमो धर्मः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि हिंदू धर्म-संस्कृति की बड़ी उपलब्धियाँ हैं, लेकिन उन्होंने हिंदू धर्म-संस्कृति में जो विकृतियाँ, अंधविश्वास, पाखंडपूर्ण कर्मकांड तथा ब्राह्मणों के शोषण आदि आ गई है, उनकी तीव्र आलोचना भी की और इसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता के समाज पर पड़ने वाले कुप्रभावों तथा विसंस्कृतीकरण पर भी गहरी चोट की और लिखा कि हमें इस पश्चिमीकरण से भारतीयता की रक्षा करनी होगी। वे अंग्रेजों की सभ्यता की नकल को मानसिक पराधीनता कहते थे और समाज को उससे मुक्त करके भारतीय जीवन-मूल्यों की छाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाना चाहते थे। उनका एक दार्शनिक चिंतन था। वे आत्मा का विकास, आत्मोन्नति तथा आत्मिक तृप्ति और आनंद को सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (10 अप्रैल, 1936) के व्याख्यान तक में मन के संस्कार तथा आध्यात्मिक आनंद, आध्यात्मिक सामंजस्य और आध्यात्मिक तृप्ति की बार-बार चर्चा की है। प्रेमचंद की इस सांस्कृतिक चेतना के गंभीर अध्ययन से ही हम प्रेमचंद-साहित्य की आत्मा को समझ सकते हैं। इसकी उपेक्षा से न तो प्रेमंचद को, न उस युग को तथा न उस युग के सांस्कृतिक नवजागरण के मर्म को ही समझ सकते हैं। उस युग में सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय नवजागरण, अस्तित्व एवं अस्मिता-बोध के साथ भारत-राष्ट्र का कायाकल्प करके उसे एक ऐसा आधुनिक राष्ट्र बनाने का प्रयास था, जिसमें पुरातन भारत के जीवन-मूल्यों के साथ देश के अनुकूल आधुनिक चेतना के तत्त्वों का सहज सामंजस्य हो सके। इस संश्लिष्ट नवजागरण के साथ प्रेमचंद के साहित्य को रखकर हम प्रेमचंद की कलात्मक श्रेष्ठता की अनुभूति कर सकते हैं। जो प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद को 'साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के विरोधी लेखक तक सीमित कर देते हैं, वे कितने व्यापक जीवन-परिदृश्य तथा राष्ट्रीय-संकट को आँखों से ओझल कर देते हैं। इसलिए उन्हें समग्रता में पढ़ना-समझना आवश्यक है।

प्रेमचंद-साहित्य की सामाजिकता तथा समाजोन्मुखता की इतनी चर्चा हुई है कि उसमें व्यक्ति की सत्ता, उसकी शक्ति और अस्तित्व प्रायः खो गया है। इसी कारण उन्हें समाज-सुधार, समाजोत्थान, समस्यामूलक कथाकार आदि सिद्ध किया जाता रहा है। यह सच है कि वे समाज-सुधार के लिए कटिबद्ध हैं और वे कथा का ताना-बाना इसी दृष्टि से बुनते हैं, परंतु समाज के परिवर्तन का मार्ग उनके पात्र की प्रशस्त करते हैं। प्रेमचंद के पात्र परिस्थितियों में जीते हुए उन्हें बदलते हैं और स्वयं को भी बदलते हैं और अपने मूल्यों के लिए जूझते और संघर्षशील रहते हैं। 'गोदान' में होरीराम पटेल एक व्यक्ति है, बाद में एक छोटा भारतीय किसान और वह अपनी जिजीविषा से भयंकर कष्टों के बीच अपने अस्तित्व की रक्षा में लगा रहता है। प्रेमचंद की कहानी 'रूहे हयात' (जीवन की प्राण-शक्ति) की ग्रामीण अनाथ बालिका गुजराती की जिजीविषा, सेवा, परोपकार की अनुपम उदाहरण है जो अपनी कर्मशीलता और लगन से ऊँचे स्थान तक पहुँचती है। उनकी कहानी 'रंगीलेबाबू' का नायक रसिक लाल तो पुत्री तथा दुल्हा बने पुत्र की मृत्यु पर ईश्वर को चुनौती देता है और बेटे की अर्थी को दुल्हा बनाकर उसकी बारात निकालता है। 'मंत्र' कहानी का बूढ़ा भारत अपने आखिरी बेटे को खोने पर भी डॉ. चड्ढा के पुत्र की सर्पदंश से रक्षा करता है और रंगमंच से गायब हो जाता है। प्रेमचंद अपने पात्रों से मनुष्यता की रक्षा कराते हैं। प्रेमचंद की प्रेम कहानियों की भी कोई चर्चा नहीं होती, लेकिन कहानी-उपन्यास दोनों में प्रेम-कथाएँ हैं, बस अंतर यह है कि राजेंद्र यादव और 'हंस' में प्रकाशित कहानियों जैसी भोगवादी कहानियाँ नहीं हैं। प्रेमचंद के प्रेम-दर्शन को स्त्री और पुरुष दोनों दृष्टियों से समझना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक है। प्रेमचंद ने 'लिव-इन-रिलेशनशिप' पर 'मिस पद्मा' कहानी लिखी थी, जिसकी इधर खूब चर्चा है। प्रेमचंद ने दिखाया कि ऐसे रिश्ते में स्त्री की ही दुर्दशा होती है। प्रेमचंद स्त्री की यौन-पवित्रता की रक्षा करते हैं और जहाँ पुरुष इस पवित्रता को भंग करता है, लेखक उसे दंडित करता है। वे 'बालक' कहानी में स्त्री की यौनिक को एक नई नैतिकता देते हैं। कहानी में अशिक्षित नायक विवाह के छह महीने के बाद उत्पन्न बच्चे को इस तर्क से स्वीकार करता है कि मैंने एक खेत खरीदा था, उस पर किसी ने फसल बोई हुई थी तो क्या वह फसल मेरी नहीं होगी। प्रेमचंद की यह नैतिकता और आधुनिकता विचारणीय है तथा इसे पाठकों तक पहुँचाना जरूरी है। उनकी कहानी 'कैदी' तथा 'जिहाद' को भी आलोचकों ने परिदृश्य से हटा दीं, क्योंकि 'कैदी' में लेनिन के रूसी कामरेडों की धोखाघड़ी, स्वार्थपरता तथा क्रांतिद्रोहिता साहित्य में मार्क्सवाद के प्रचार में बाधक थी तथा 'जिहाद' तो वर्तमान जिहाद का पूर्व-रूप है। एक मुल्ला के आह्वान पर अफगानिस्तान के पठान हिंदुओं का धर्मान्तरण और उनका कत्ल करते हैं। प्रेमचंद ने परिवार-नियोजन पर 'गमी' कहानी लिखी जो दो बच्चों तक परिवार को सीमित करती है और उन्हें भविष्यद्रष्टा लेखक बनाती है। उन्होंने विदेशी पात्रों, विदेशी लुटेरों, पशु-पक्षियों तथा बाल जीवन पर भी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, किंतु इन पर कभी गंभीरतापूर्वक विचार नहीं हुआ।

अंत में, आवश्यक है कि प्रेमचंद-आलोचना को एक स्वस्थ तथा वैज्ञानिक रूप दिया जाए और ऐसे मिथकों को हटा दिया जाए जिनका कोई तर्क-संगत आधार नहीं है। प्रेमचंद के प्रामाणिक ज्ञान में ये झूठे मिथक बहुत बड़ी बाधा हैं। प्रेमचंद को प्रगतिशील कथाकार बनाने के चक्कर में आलोचक यह भूल जाते हैं कि उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के व्याख्यान में 'प्रगति' शब्द का ही विरोध किया था। प्रेमचंद प्रगतिशील थे भारतीय अर्थ में, न कि मार्क्सवाद के अर्थ में। इसके साथ प्रेमचंद को समग्रता में पढ़ना और समझना होगा। 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' उनके साहित्य का समग्र दर्शन है, अतः छोटे-छोटे कटघरों, विचार-समूहों में बाँटकर प्रस्तुत करना उनका अंग-भंग करना और अवमूल्यन है। प्रेमचंद का साहित्य भारतीयता को वाणी देनेवाला साहित्य है। इस भारतीयता में उनके साहित्य के सभी रंग, सभी प्रसंग और जीवन के सभी परिदृश्य समा जाते हैं। इस भारतीयता के मूल में राष्ट्र-प्रेम एवं स्वतंत्रता तथा भारतीय आत्मा की खोज है। देश-प्रेम, स्वतन्त्रता, अस्मिता तथा आत्मा की अनुभूति परस्पर संश्लिष्ट हैं और ये ही भारतीयता को रूपाकार देती हैं। अतः प्रेमचंद को भारतीयता के व्यापक वाङ्मय में अवस्थित करके उनके सरोकारों, चिंताओं तथा स्वप्नों को समझना चाहिए, न कि कुछ को चुनकर तथा कुछ की उपेक्षा और अवमूल्यन करके प्रेमचंद की भारतीयता हमें भारत के पुरातन और आधुनिक दोनों रूपों से जोड़ती हैं और विश्वास है कि आनेवाली पीढ़ियाँ भी इसी भारतीयता से प्रेमचंद को पढ़कर जान सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराला का वास्तविक पाठ

शंकर शरण*

हिन्दी साहित्य में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के स्थान के बारे में रटी-रटाई बातें कहने का चलन अधिक रहा है। निराला साहित्य को पढ़ना, गुनना कम। विशेषकर 1960 के बाद की पीढ़ियों के बीच। हिन्दी के कई वर्तमान प्रोफेसरों तक ने निराला की इक्की-दुक्की, प्रायः कोर्स में लगी रचनाएँ ही पढ़ी हैं। बहुतों के पास उनकी पुस्तकें तक नहीं हैं। वैसे, अधिकांश मनीषियों के प्रति हमारे बौद्धिक वर्ग में यही प्रवृत्ति है। हिन्दी साहित्य संबंधी प्रतिष्ठानों में वाम प्रचारकों के वर्चस्व से यह महामारी रूप में मिलती है। इसीलिए, निराला के बारे में सुनी-सुनाई, फार्मूलाबद्ध बातें दुहराई जाती हैं। उस से भिन्न अपनी चार-छः पंक्ति भी कहने में अधिकांश हिन्दी प्राध्यापक, आलोचक असमर्थ मिलेंगे। क्योंकि उन में पढ़ने और स्वयं सोच-विचार करने की आदत नहीं।

इसीलिए निराला की बनी-बनाई 'प्रगतिशील' छवि को झटका लगता है, जब कोई मनोयोग से उन की रचनाएं उलटना, पढ़ना आरंभ करे। उदाहरणार्थ, उन की रचना *तुलसीदास*। छः-छः पंक्तियों के एक सौ छंदों की यह लंबी कविता निराला ने एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की थी। राय कृष्णदास जैसे अद्वितीय कला-मर्मज्ञ ने पुस्तक के आरंभ में इस का 'परिचय' लिखा था। यह पहली बार 1935 ई. में भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी।

तुलसीदास की महत्ता निराला के संपूर्ण काव्य में विशिष्ट है। एक बार जब गाँधीजी ने हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के संबंध में कुछ ऊल-जुलूल टिप्पणियाँ कर दी, तब निराला उन से उलझने गए। बातचीत के क्रम में जब उदाहरण देने की जरूरत पड़ी तो, उन्होंने अपनी रचनाओं में केवल *तुलसीदास* का नाम लिया।[1] निराला जिस तरह भारतीय पारंपरिक अर्थ में स्वाभिमानी और सुसंस्कृत थे, उस में समझा जाना चाहिए कि अन्य महत्तम हिन्दी कवियों के साथ स्वयं अपनी रचना का नाम उन्होंने तभी लिया होगा जब उपस्थित प्रसंग में इसकी अनिवार्य आवश्यकता पड़ी

*IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी। इसका अर्थ अभी हमारे लिए यह निकलता है कि निराला स्वयं अप *तुलसीदास* को प्रधान महत्त्व की रचना मानते थे।

इसपर एक अन्य महान कवि की विस्तृत गवाही से भी *तुलसीदास* का महत्त्व समझा जा सकता है। कवि अज्ञेय ने लिखा है कि निराला के काव्य के बारे में उ की धारणा *तुलसीदास* पढ़ कर ही पूरी तरह बदल गई थी। *तुलसीदास* पढ़कर उन्हें जो अनुभव हुआ, वह अज्ञेय के अपने ही शब्दों में।

> अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्ति-पूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन *तुलसीदास* जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएं तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। विरली ही रचना ऐसी होती है जिस में एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप से अवतरित हुई हो। *तुलसीदास* मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा।[2]

ऐसी अनूठी रचना है निराला का *तुलसीदास*, जो लिखी गई नहीं, बल्कि अवतरित हुई! किन्तु बड़े आश्चर्य और दुःख की बात यह है कि आज इस के उपलब्ध संस्करणों में वह सभी टिप्पणियाँ हटा दी गई मिलती हैं, जो स्वयं निराला ने विस्तार से दी थीं, ताकि कविता का अर्थ हृदयंगम में सुविधा हो। वह कितनी आवश्यक टिप्पणियाँ हैं, यह इसी से पता चल सकता है कि निराला द्वारा प्रकाशित संस्करण में *तुलसीदास* 50 पृष्ठों में है, और टिप्पणियाँ उस के बाद 35 पृष्ठों में। वे उसका अनिवार्य अंग हैं। अतः यदि बिना उन टिप्पणियों के यह कविता या पुस्तक छापी जाती रही, तो इसे अपूर्ण कविता या पुस्तक का अंग-भंग किया हुआ माना चाहिए (क्या यह एक जानी-मानी सेंसरशिप रही है? इस पर भी सुधी पाठकों को विचार करना चाहिए।)

निराला द्वारा प्रकाशित तुलसीदास के मूल संस्करणों में दी गई टिप्पणियाँ उसे समझने के लिए तो अनिवार्य हैं ही। मूल्यांकन की दृष्टि से उन का महत्त्व यह भी है कि कवि द्वारा स्वयं दे दिए जाने के कारण वे टिप्पणियाँ उस कविता की किसी मनमानी, तोड़ी-मरोड़ी व्याख्या की संभावना खत्म कर देती हैं। (संभवतः इसीलिए उन्हें लुप्त करने का प्रबंध किया गया!) क्योंकि उस से न केवल निराला, बल्कि स्वयं कवि तुलसीदास की 'जनवादी' व्याख्या असंभव हो जाती है। इस प्रकार, निराला द्वारा दी गई वे विस्तृत टिप्पणियाँ दो महाकवियों को समझने के लिए आवश्यक, बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य हैं। यह आज के हिन्दी अध्ययन-अध्यापन एवं प्रकाशन पर एक टिप्पणी है कि वह बहुमूल्य सामग्री पाठकों को नहीं दी जाती। बहुतेरे हिन्दी प्रोफेसरों को उस की जानकारी तक नहीं है।

जैसा अज्ञेय ने लिखा, यह कविता एक ऐतिहासिक संदर्भ रखती है। क्या है वह ऐतिहासिक संदर्भ? देखिए, कविता के पहले ही छंद में निराला ने *तुलसीदास* का युग इन सीधे शब्दों में रखा है ः

उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान।

पूरे छंद का अर्थ समझाने के लिए निराला ने जो टिप्पणी दी है, वह इस प्रकार है, "मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू संस्कृति का जो ह्रास हो गया है, उसी का यहाँ वर्णन है। ... सिर की रक्षा के लिए मुसलमान राजा हैं पर वे छाती पर बैठ कर शासन करते हैं, भारतीयों को दास् बनाए हैं।"[3]

आगे बढ़ने से पहले, यहाँ जान लेना जरूरी है कि हमारे देश में पूरी मार्क्सवादी मंडली ने कई दशकों से कथित सांप्रदायिकता की जो परिभाषा कर रखी है, और जिसके आधार पर जिस किसी को हिंदू-सांप्रदायिक-फासिस्ट आदि कह कर गालियाँ दी हैं, उसमें सर्वप्रमुख बात यही है कि मुगल शासन को विदेशी, या अत्याचरी कहना, हिन्दू सांप्रदायिकता की पहली पहचान है। रोमिला थापर, बिपनचंद्र से लेकर सारे ही वामपंथी प्रचारक उसी को मूलाधार मानते हैं। किसी लेखक या बुद्धिजीवी के सेक्यूलर या सांप्रदायिक होने की कसौटी, उस का लिटमस-टेस्ट, ही यही है कि वह बाबर से लेकर औरंगजेब तक को क्या मानता है? तदनुरूप मुगलकाल की मनोहर छवि दिखाना, उसे स्वदेशी शासन बताना; इसीलिए राणा प्रताप और शिवाजी को राष्ट्रीय नायक मानने का कड़ा विरोध करना, यह वामपंथी प्रगतिवाद की बुनियादी टेक रही है।

इसलिए, 'हिन्दू सांप्रदायिकता' के विरुद्ध दशकों के वामपंथी-सेक्यूलर प्रलाप को ठीक से जानने वाले पाठक को *तुलसीदास* आरंभ करते ही महसूस होगा कि उस दृष्टि से निराला सांप्रदायिक हैं, किसी हाल में प्रगतिशील नहीं। क्योंकि बात कोई एक पंक्ति, या चलते-चलाते वक्तव्य की नहीं है। यह रचना पूरी तरह उसी पृष्ठभूमि को निरूपित करते हुए लिखी गई है। कविता के अनेक अंश, बल्कि उस के सौ छंदों में आरंभिक 36 छंद केवल उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन हैं, जिस का स्वर निराला ने पहले ही छंद में, और टिप्पणियों की पहली ही पंक्ति से स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमानों के आक्रमण से हिंदू संस्कृति का ह्रास हुआ, समाज की दुर्गति हुई, और मुगल शासन विदेशियों का शासन था जिस में हिन्दू जनता गुलामों की तरह अपमानजनक अवस्था में रह रही थी। निराला की इस महान कविता में पहला एक तिहाई हिस्सा इसी पृष्ठभूमि का चित्र-लिखित वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ और बानगी देखिए, किस तरह देश मुगलों से पदाक्रांत होकर सब कु इस्लाम के अनुरूप कहने, रहने को विवश हो रहा है—

यों, मोग़ल-पद-तल प्रथम तूर्ण
संबद्ध देश-बल चूर्ण-चूर्ण ...
संचित जीवन की, क्षिप्रधार,
इसलाम सागराभिमुखअपार
बहती नदियाँ, नद; जन-जन हार वशंवद।

तथा इस हाल में जो बचे-खुचे भारतीय राजा हैं, वे दरअसल राजाओं के वे में केवल मुगलों के नौकर-चाकर भर हैं -

भारत के उर के राजपूत
उड़ गए, आज वे देवदूत
जो रहे शेष, नृप-वेश सूत-वन्दीगण।

कविता के 21 वें छंद का अर्थ निराला ने इस प्रकार दिया है, "मुसलमा सभ्यता में पड़े हुए भारतीयों की दुर्दशा की ओर प्रकृति भी इंगित करती है। पार्थि ऐश्वर्य के मोह में सत्य की ज्योति ढँक गई है।"[4] निराला के अनुसार, कवि तुलसीदा ने भी इसी भाव में अपने समय के समाज को देखा था। जैसे सूर्य को राहु ने ग्रस लि हो, उसी तरह भारतीय संस्कृति और देश-काल बंधन में था। 24 वें छंद से तुलसीदा की यह भावनाएं रखी गई हैं

ज्यों राहु-ग्रस्त आभा रवि की,
देखी कवि ने छवि छाया-सी, भरती-सी
भारत का सम्यक् देशकाल;
खिंचता जैसे तम-शेष जाल...

भारत में शूद्रों की स्थिति पहले सम्मानजनक थी। इस्लामी शासकों के काल ही वह हीन हुई, यह भी निराला ने नोट किया है

रक्खा उन पर गुरू-भार, विषम
जो पहला पद, अब मद-विष-सम;
द्विज लोगों पर इस्लाम-क्षम वह छाया,
जो देश-काल को आवृत कर
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर,
देखी कवि ने, समझा अब वर, क्या माया

यदि निराला ने इस 30वें छंद का अर्थ स्वयं न दे दिया होता, तो इस का आशय कौन प्रगतिशील आलोचक मानता, "सेवा के लिए जो पहले शूद्रों को पद मि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सम्मानहीन हो उनके लिए विष-तुल्य हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर ही इस्लाम शक्ति वाली वह छाया फैली अपना काम कर रही थी। उस छाया को देख कवि समझा देश के लिए क्या वर था, क्या माया (अभिशाप) थी।"[5]

आगे के छंदों में उस काल की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति का आकलन समेटते हुए निराला ने लिखाः

सोचा कवि ने, मानस-तरंग,
यह भारत संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग-संग जन-गण को;
इस अनिल-वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल-जीवन-चुम्बनकर मानस-धन जो।

इसका आशय समझाते हुए निराला कहते हैं, "कवि ने सोचा कि मुक्ति इस इस्लामी संस्कृति से परे है। इस्लाम की छाया जो भारतीय संस्कृति को ढंके हुए है। यह छाया वास्तविक नहीं, हवा की तरह बहने वाली, अदृश्य है। इस के ऊपर किरणों का घर है अर्थात् सत्य का आलोक इस छाया से परे है। वह सत्य का घर सूर्य की किरणों के संस्पर्श से जीवित है। वही मानस का वास्तविक धन भी है। रामचरित मानस और उसके नायक रामचन्द्र की ओर भी भी इंगित है कि सूर्यवंश की आत्मा वही किरणों का घर है।"[6]

ऊपर हमने जिस तरह निराला के तुलसीदास को रखा है, ठीक उसी तरह राय कृष्णदास जैसे ज्ञानी-मर्मज्ञ ने भी उसे समझा था। तुलसीदास की भूमिका ('परिचय') में वे लिखते हैं,

> मन की अत्यंत ऊँची उड़ान से उन्होंने (तुलसीदीस ने) देखा कि सब प्रकार भारत की सभ्यता एक जाल में फँसी हुई है, जैसे सूर्य की आभा को राहु ने ग्रस लिया है। भारतीय संस्कृति किस प्रकार अधोगति को प्राप्त हुई इस का कवि ने मर्मस्पशी वर्णन किया है। इस भारतीय संस्कृति को एक लहर की तरह मुस्लिम सभ्यता आक्रांत किए हुए थी; इसी विदेशी सभ्यता की लहर के ऊपर वह आलोकमय सत्य का लोक है जो इस समय हिन्दुओं की दृष्टि से ढँका हुआ है। बिना इस बीच के अंधकार को पार किए सत्य तक पहुँच नहीं हो सकती।[7]

इसमें संदेह न रहे कि यदि उपर्युक्त बातें निराला के बदले किसी और ने कही, लिखी होती तो उसे प्रगतिशील लेखक संघ के दबंग रहे डॉ. रामविलास शर्मा शब्दों में गोली मार चुके होते! गालियों और व्यंग्य-वाणों से छलनी कर चुके होते। आज भी, कहीं वामपंथियों की उपस्थिति में तुलसीदास के युग के बारे में निराला की ऊपर्युक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातों में से एक भी कह कर देख लें, आप का कैसा सत्कार होता है! इसलिए, निरा के दिवंगत हो जाने के बाद उन्हें और उन के काव्य को मार्क्सवादियों द्वा 'प्रगतिशील' कवियों के खाने में रखना एक प्रकार की रणनीति या धूर्तता ही रही है

वैसे भी, निराला के तुलसीदास में तात्कालीन युग की जो सामाजिक-राजनीति पृष्ठभूमि दिखाई गई है, वह हमारे प्रसिद्ध वामपंथी प्रोफेसरों की दृष्टि से घोर हि सांप्रदायिक विचार वक्तव्य है, जिसके लिए उनके शब्द-भंडार में गालियों के सिवा कु नहीं रहा है। प्रमाणिक तुलना के लिए देखिए, सन् 1969 में रोमिला थापर, हर मुखिया और बिपन चंद्र द्वारा लिखित संयुक्त पुस्तिका 'कम्युनलिज्म एंड द राइि ऑफ इंडियन हिस्ट्री'। इस में थापर, मुखिया आदि ने मुगल शासकों पर आलोचनात्म टिप्पणियाँ करने वालों को ही हिन्दू सांप्रदायिकता का जनक माना है। पिछले लगभ पचास वर्ष से हिन्दू सांप्रदायिकता की पहचान और उससे संघर्ष करने का बुनिया मार्क्सवादी टेक्स्ट इसी पुस्तिका को माना जाता है। इसका हिंदी संस्करण *सांप्रदायिक और इतिहास लेखन* कम्युनिस्ट पाटी प्रेस से ही प्रकाशित हुआ था। इसमें पा पी-पीकर उन सबको कोसा गया है जो भारत में मुगल शासन को विदेशी शासन मान हैं,[8] तथा उसे भारतीय उन्नति का काल नहीं कहते। तदनुरूप मुगल शासन प आलोचनात्मक लिखने वाले इतिहासकारों, जैसे यदुनाथ सरकार या रमेशचंद्र मजूम को मार्क्सवादियों ने सदैव अंतहीन गालियाँ दी हैं। इस की झलक उक्त पुस्तिका में मिलेगी।

मगर वही आलोचनात्मक बातें निराला ने भी बड़ी स्पष्टता और विस्तार लिखी हैं। कई स्थलों पर प्रेमचंद ने भी लिखी हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी लिखी है बंकिमचंद्र और श्रीअरविन्द ने भी लिखी हैं। स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकान ने भी कही है। इसलिए कही कि वास्तविक इतिहास ही वही है। सच्चे ज्ञानी या विद्वा के रूप में निराला या यदुनाथ सरकार कुछ और लिख ही नहीं सकते थे! यही का है कि वही कथ्य निराला की अनेकानेक रचनाओं में मिलता है। उन की एक बड़ी लं कविता 'महाराज शिवाजी का पत्र' भी है, जिस में हिन्दू भावनाएं कूट-कूट कर भ हुई हैं।

पहली बार निराला के 'परिमल' संग्रह में छपी 21 पृष्ठों की कविता *महा शिवाजी का पत्र* बिना पढ़े नहीं समझा जा सकता कि उसमें किन विचारों को निरूपि किया गया है। और क्यों शर्मा जी के पूरे संप्रदाय को उसे देख कर ही मर्मांतक क होता है। यदि भारत पर कम्युनिस्ट कभी सत्ता में आते तो निसंस्देह इसे औ *तुलसीदास* को भी प्रतिबंधित साहित्य की श्रेणी में डाल दिया गया होता। वैसे, बि शासन पर स्वयं आरूढ़ हुए भी जिस हद तक विद्वत अकादमियों, विश्वविद्यालयों मार्क्सवादी सत्ता बनी, वहाँ सहज देखा जा सकता है कि यह कविता कहीं, कि पाठ्यक्रम या विचार-विमर्श में नहीं रही। बादशाह औरंगजेब के सेनापति रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयसिंह को छत्रपति शिवाजी द्वारा लिखा गये पत्र के, निराला की कविता में कुछ अंश देखें

मोगल-दल-विगलित-बल
हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वंश की
देखो आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर-प्रखरतर दीखती
...
सुना है मैंने, तुम
सेना से पाट दक्षिणा-पथ को
आए हो मुझ पर चढ़ाई कर,
जय-श्री, जयसिंह!
मोगल-सिंहासन के
औरंग के पैरों के
नीचे तुम रक्खोगे,
काढ़ देना चाहते हो दक्षिण के प्राण
मोगलों को तुम जीवनदान,
काढ़ हिन्दुओं का हृदय,
...
क्या कहूँ मैं,
लूँ गर तलवार,
तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिन्दुओं का, अपना ही।
उठता नहीं है हाथ
मेरा कभी नरनाथ
देख हिन्दुओं को ही
रण में विपक्ष में।
हाय री दासता!
पेट के लिए ही
लड़ते हैं भाई-भाई
कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी।
...
तुम्हें यहाँ भेजा जो
कारण क्या रण का?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकयही निस्संदेह,
हिन्दुओं में बलवान
एक भी न रह जाए।
...
गुप्त भेद एकमात्र
है यही औरंग का,
समझो तुम,
बुद्धि में इतना भी नहीं पैठता?
...
और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय ही, हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जाएगी
चिन्ह भी न हिन्दू सभ्यता का रह जाएगा।
...
कैसी चाल चलता है रण में औरंगजेब?
बहुरूपी, रंग बदला ही किया।
सांकलें हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार से।
....
यदि एकीभूत शक्तियों से एक ही
बन जाए परिवार,
फैले समवेदना,
एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर यवनों के
पस्त हौसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य।
...
आयेगी भाल पर
भारत की ज्योति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायँगे।

...

यदि यह शिवाजी के प्रति निराला की श्रद्धा थी, तो राणाप्रताप पर निराला ने संपूर्ण उपन्यास ही लिखा। अर्थात, ठीक वे दोनों महान ऐतिहासिक हिन्दू नायक, जिन से मार्क्सवादी वैसे ही भड़कते हैं जैसे लाल रंग से साँढ़।

निराला का उपन्यास *महाराणा प्रताप* शुरू ही इस तरह होता हैः "मुगलों के जीवनकाल में जिन वीरों ने अपने सर्वस्व का बलिदान करके अपनी जाति, धर्म, देश और स्वतंत्रता की रक्षा की, उनमें अधिक संख्या राजपूत वीरों की ही देख पड़ती है, जैसे मुसलमानों की दुर्दम शक्ति का प्रतिरोध करने के लिए ही उन वीर राजपूतों की शक्ति-रेखा विधाता ने खींची हो।"[9]

ऐसे आरंभ से ही भारत में विचारधारा की लड़ाई लड़ने वाले वामपंथी, और गैर-वामपंथी भी, समझ जाएंगे कि पूरे उपन्यास का कथ्य और संदेश क्या होने वाला है। इसीलिए *निराला ग्रंथावली* के कम्युनिस्ट संपादक फिर भी यह क्षुद्र संकेत करने से बाज नहीं आए कि यह सब 'बाजार के लिए लिखा गया था'[10] और महाराणा प्रताप के 'चरित्र को इस्लाम-विरोधी के रूप में न देखकर स्वतंत्रता के लिए प्राणपन से संघर्ष करने वाले योद्धा के रूप में देखना चाहिए।' अर्थात्, पहले तो पाठक यह समझें कि निराला ने यह सब कुछ 'बाजारू' चीज लिखी थी। मगर जब लिख ही दी तो इसे ऐसे नहीं वैसे देखना चाहिए, जैसे कम्युनिस्ट मार्ग-दर्शक दिखा रहे हैं।

तुलसीदास, शिवाजी, महाराणा प्रताप पर विस्तार से लिखने के अलावा निराला ने बड़े मनोयोग से श्रीरामकृष्ण परमहंस के वचनों, उपदेशों का संपूर्ण हिन्दी अनुवाद भी किया है। स्वामी विवेकानन्द के अंग्रेजी भाषणों का तथा उनकी पुस्तक का भी हिन्दी अनुवाद किया। विवेकानन्द के 'राजयोग' का हिन्दी रूपांतर निराला के अलावा कोई और उसी निष्ठा से कर भी नहीं सकता था। भगवान राम, कृष्ण और हिन्दू देवी-देवताओं की अभ्यर्थना में निराला ने अनेक कविताएं भी लिखीं। उनके काव्य में ज्ञान के साथ-साथ स्वर-योग भी है। उसमें एक धर्म-प्राण, आस्थावान योगी का संदेश बारम्बार है।

उदाहरण के लिएः 'कामरूप, हरो काम; जपूँ नाम, राम, राम।' एक स्थल पर तुलसी और कबीर का अक्षरशः अनुकरण करते हुए निराला लिखते हैं, 'राम के हुए तो बने काम, सँवरे सारे धन, धान धाम।' मानो आधुनिक, नास्तिक या सेक्यूलरवादी संदेह को ही संबोधित करते निराला वहीं जोड़ते हैं, 'पूछा जग ने, वह राम कौन? बोली विशुद्धि जो रही मौन, वह जिसके दून न ड्योढ़-पौन, जो वेदों में है सत्य, साम।' एक और जगह हरि-नाम की महिमा में गदगद होकर निराला लिखते हैं, 'बहुविध तुम्हारा उपाख्यान गाया फिर भी कहा अन्त अब भी न पाया...'। अंततः यह भी कि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अशरण-शरण राम, काम के छवि-धाम' तथा 'हरि-भजन करो, भू-भार हरो, भव सा निज उद्धार तरो।'[11] कई बार साहित्य उत्सवों में निराला जिन कविताओं को सस्व सुनाते थे, वह थीं 'वरद हुईं शारदा जी हमारी', तथा 'जिधर देखिए श्याम विराजे'। यह संयोग नहीं कि निराला द्वारा लिखित अंतिम कविता 'हाथ वीणा समासीना, वि वादन रत प्रवीणा' देवी सरस्वती के सम्मान में लिखी गई।[13]

अतः निराला का काव्य व चिंतन गोस्वामी तुलसीदास वाली मनीषा परंपरा है। वह विशुद्ध हिन्दू मनीषा जो भारत पर इस्लामी, अंग्रेजी आक्रमणों से त्रस्त हुई, मुगल शासन को भी गुलामी काल मानती है जिससे हमारी संस्कृति तहस-नहस हु निराला चिंतन का किसी रेडिकल, प्रगतिवादी मानसिकता से दूर-दूर तक कोई सं नहीं है। केवल *तुलसीदास* ही नहीं, निराला का संपूर्ण लेखन उस वैचारिकता के वि खड़ा है जो मार्क्सवादी प्रचारकों ने तिकड़म के सहारे विश्वविद्यालयों में दशकों से फै रखी है। 'गंगा-जमुनी संस्कृति' की मधुर संज्ञा में वह विषैली लफ्फाजी, जो मु काल में कथित रूप बनी किसी हिन्दू-मुस्लिम 'मिश्रित' संस्कृति को ही भारत संस्कृति बताती है। उससे भिन्न कुछ भी केवल घृणित हिन्दू सांप्रदायिकता। विचारधारा सन् 1960 के बाद कम्युनिस्ट प्रचारकों के षडयंत्र, सत्ता-समर्थित जबर्द और गाली-गलौज की धौंस से फैलाई गई। विशेषकर विश्वविद्यालयों के इतिहास साहित्य विभागों में। वहाँ से लंबे समय तक निर्बाध रिसते-रिसते वह धीरे-धीरे ब की पाठ्य-पुस्तकों, पत्रकारों तथा अंततः मीडिया का भी प्रधान स्वर बन गई।

तब हैरत हो सकती है कि हिन्दी साहित्य में वामपंथियों ने निराला प्रगतिवादी बिल्ला किस तरह दिया! जिस समय निराला राम, कृष्ण, दुर्गा, शारदा त तुलसीदास, राणा प्रताप, शिवाजी की पूजा में लगे हुए थे, उसी समय डॉ. रामवि शर्मा उतनी ही भक्तिपूर्वक तब के कुख्यात कम्युनिस्ट तानाशाह स्तालिन की पु हिस्टरी ऑफ दि कम्युनिस्ट पाटी ऑफ द सोवियत यूनियन (बोल्शेविक)रू ए श कोर्स का अनुवाद करने में लगे हुए थे। गाली-गलौज से भरी हुई यह पुस्तक 19 से 1956 के बीच दुनिया भर के कम्युनिस्टों की बाइबिल रही है। मार्क्सवादियों लगभग संपूर्ण संज्ञा-विशेषण भंडार इसी पुस्तक का ऋणी है!

इसलिए चाहे निराला ने युवक 'रामविलास'[14] को आरंभ में अपना स्नेह दि हो, किन्तु रामबिलास ने निराला से कुछ नहीं सीखा! बल्कि उससे ठीक विप सीखा। यही कारण रहा कि जहाँ निराला ने बड़े आत्मीय भाव से कवि अज्ञेय अनुशंसा 'सबसे अग्रणी कवि' के रूप में की, परन्तु डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन कार्य पर निराला की कोई अनुशंसा देखने में नहीं आती। जबकि शर्मा जी का स लेखन दो दशकों से अधिक निराला के जीवनकाल में रहा। स्पष्टतः निराला लेखन-चिंतन से शर्मा जी का लेखन बिलकुल विपरीत दिशाओं व भाव-भूमि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्मा जी प्रगतिशील लेखक संघ के अनन्य नेता थे। प्रगतिशीलों के बारे में निराला की धारणा बड़ी खराब थी। एक वामपंथी लेखक ने ही नोट किया है, कि नवंबर 1936 में एक सभा में प्रगतिशीलों का विचार-व्यवहार देख कर निराला ने यह महसूस किया कि "प्रगतिशील लेखकों में अधिकांश वे ही हैं जो बड़े घरानों के हैं, ऊँची डिग्रियाँ और समाजवादी विचारधारा का एक बौद्धिक आवरण यूरोप से लेकर आए हैं तथा मुक्त घूमती हुई नव-शिक्षित आधुनिकाएं हैं।"[15] तथा निराला की नजर में, "ये प्रोग्रेसिव राइटर्स...लेखकों से ज्यादा नेता थे, विशेष रूप से हिंदी साहित्य से अपरिचित, लेकिन दूसरों को रास्ता बताने को उत्सुक थे।"[16] ऐसे उत्सुक उद्धत प्रगतिवादी नेताओं में सबसे बड़े शर्मा जी ही हुए। यह भी इसी पुस्तक में विस्तार से दिया गया है, जो वैसे भी जानी-मानी बात है।

यदि लगे कि इस से प्रगतिवाद और मार्क्सवाद पर निराला की कोई सुचिंतित राय नहीं मिलती, तो नेहरू के साथ निराला की झड़प देखी जा सकती है। मार्क्सवादी-प्रगतिवादियों के लिए सदैव सबसे बड़ा 'वैज्ञानिक' तर्क सोवियत रूस का उदाहरण हुआ करता था। मानो मानवता की हर समस्या का समाधान वहाँ कर दिखाया गया, इसलिए कम्युनिस्टों की हर दलील प्रणाणिक है। शर्माजी भी सोवियत रूस के नाम से सैकड़ों बार इस या उस बात को पुष्ट करने की कोशिशें करते रहे हैं। यह अलग बात है कि सोवियत व्यवस्था के बारे में अधिकांश बातें खुद रूसी कम्युनिस्टों का झूठा प्रचार थी, जिसे तानाशाही और लौह-सेंसरशिप के बल पर कम से कम दुनिया भर के वामपंथियों के बीच लंबे समय तक सफलता पूर्वक चलाया गया। फिर भी निराला, और प्रेमचंद भी, उन लोगों में नहीं थे जो ढोल-बाजे के साथ फैलाए गए हर आकर्षक प्रचार को मान लेते।

इसीलिए जब ठीक हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर नेहरू ने सोवियत संघ का उदाहरण दिया तो निराला ने उन्हें आड़े हाथों लिया, "क्या हिन्दुस्तान की दशा वैसी ही समझते हैं आप? संस्कृति, हिन्दू-मुस्लिम मनोवृत्तियाँ क्या वैसे ही वर्ग-युद्ध से दुरुस्त होंगी? यहाँ के मन की बिल्कुल दूसरी परिस्थिति है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल भी हिन्दी के नए साहित्य में जितना सही पाया जाएगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसलिए, कि राजनीति आपकी प्रभावित है पश्चिम से, जबकि साहित्य मौलिकता से पनपा है।"[17]

यदि ध्यान से देखें, तो इस छोटे से वक्तव्य में निराला ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के मूलाधार को ही खारिज कर दिया है। वर्ग-युद्ध, हिन्दू-मुस्लिम समस्या में मनोवृत्ति की भूमिका, राजनीति, साहित्य और साहित्य का मुख्य गुण इन पाँचो बिन्दुओं पर निराला के विचार मार्क्सवादियों, प्रगतिशीलों के ठीक विपरीत हैं।[18]

निराला के अनुसार, साहित्य का मुख्य गुण *मौलिकता* है, *विचारधारा* नहीं। (टॉलस्टॉय ने भी साहित्य-कला की पहचान वही बताई है)। इसलिए विचारधारा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनियादी तत्व मानने वालों का प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील का पूरा विभाजन ही दोषपूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार, हिन्दू-मुस्लिम समस्या दोनों समुदायों की मनोवृत्ति की समस्या है, और बिना दोषपूर्ण मनोवृत्ति में बदलाव के उसका कुछ नहीं किया जा सकता। वर्ग-युद्ध की पूरी बात ही परिकल्पना भर थी। भारतीय वामपंथियों ने यह राजनीतिक विचार केवल पश्चिमी प्रभाव में ले लिया। उसे उन्होंने कोई परीक्षण करके नहीं स्वीकार किया, बल्कि महज अंधविश्वास में उस पर लट्टू रहे। नेहरू तो, खैर, वैसे भी हल्के किस्म के लेखक और राजनीति कमी थे। मगर क्या डॉ. रामविलास शर्मा की संपूर्ण विचारधारा ठीक उन्हीं अंधविश्वासों पर नहीं खड़ी थी, जिसे निराला ऊपर खारिज करते हैं? बात-बात में रूस का उदाहरण, बिना किसी प्रमाणिकता के, और वर्ग-युद्ध को राम-बाण की तरह हर रोग का एक इलाज मानना, हिन्दू-मुस्लिम समस्या को, बल्कि हर समस्या को, आर्थिक, वगीय आधारों पर समझाने की झक, और साहित्य में घोर पाटी-बंदी क्या शर्माजी का लगभग संपूर्ण लेखन इन्हीं से आप्लावित नहीं रहा? शर्मा जी ने निराला से सचमुच कुछ नहीं सीखा था!

उन्हें कुछ सीखना था भी नहीं। शर्माजी पहले ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्तालिनवाद को अपना दिल और दिमाग दोनों दे चुके थे। तभी उनका एक मात्र उद्देश्य यह रहा कि कैसे जनता को कम्युनिस्ट क्रांति के लिए उभारें, तैयार करें, और लेखक-कवियों को भी उसी को अपना लक्ष्य बनाने के लिए उकसाएँ, साम-दाम-दंड-भेद किसी तरह। यही लेनिन की सीख थी। इसीलिए जब भी शर्माजी किसी कवि या लेखक या किसी रचना पर लिखते थे, तो इस मूल राजनीतिक कसौटी से ही सब कुछ तौलते थे। कभी किसी वजनी लेखक-कवि के लेखन में मार्क्सवादी दृष्टि से कोई आपत्तिजनक बात मिल जाती, तो उसे चुपचाप छोड़ दिया जाता था, बाकियों की निर्मम लानत-मलानत होती थी।

तुलसीदास को ही लें। रामविलास शर्मा ने जब भी निराला की इस रचना पर लिखा है, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि गोल कर दी है। केवल तुलसीदास और निराला के व्यक्तित्व, मनोभाव, आत्मिक संघर्ष, आदि की तुलना पर ही केंद्रित रहे हैं। एकदम शुरू से ही, 1938 में शर्मा जी ने यही किया, और 1990 में भी। पहली वाली बानगी देखिए, शर्मा के शब्दों में 'तुलसीदास' में निराला ने "अपना पूरा द्वंद्व तुलसीदास पर आरोपित करके उसका विशद चित्रण किया है। भक्त कवि तुलसीदास के लिए यह संघर्ष, विजय-पराजय, तत्वों की क्रियाशीलता, सत्य हो या न हो, निराला के लिए अवश्य है। तुलसीदास में निराला ने अपनी प्रतिच्छाया देखी है, पुरातन कवि की मनोभूमि को उसने अपने संघर्ष का रंगमंच बनाया है। तुलसीदास भारत की सभ्यता के सूत्रधार हैं; और जो कुछ है, वह विरोधी, तमोगुणपूर्ण है। तुलसीदास इसी विरोधी तत्व से युद्ध करते हुए अन्त में 'अस्ति' को लिए हुए विजयी होते हैं।"[19] बस, पूरी कविता पढकर रामविलास शर्मा को बस इतना ही कहना था! यह 1938 का लेख है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो वर्ष बाद शर्माजी निराला के *तुलसीदास* पर एक आधा लेख ही लिखते हैं। अर्थात, निराला की दो पुस्तकों *अनामिका* और *तुलसीदास* पर। लेख छोटा ही है, तुलसीदास पर दो पृष्ठ दिए गए हैं, मगर वही बाजीगारी और सधे रूप में दिखती है। इस कविता की 'भाषा-क्लिष्टता', 'भाषा को इतना ज्यादा तोड़ा-मरोड़ा क्यों गया है?,' तुलसीदास की भाषा से तुलना, फिर निराला के व्यक्तित्व की तुलसीदास के व्यक्तित्व से तुलना, 'वैचियपूर्ण व्यक्तित्व,' 'भावों का द्वंद्व,' 'विद्रोही रूप', रत्नावली का 'मोह', फिर रत्नावली का 'योगिनी' रूप, अंत में तुलसीदास को मिली 'शांति', और फिर पाठक को आभास होना कि अब तुलसीदास 'रामचरितमानस अवश्य लिखेंगे'। पुस्तक की साज-सज्जा सुन्दर होने से यह जान पड़ना कि निराला का 'आदर बढ़ रहा है'।[20] बस कविता के आरंभिक एक तिहाई हिस्से की अनिवार्य सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि का कोई नोटिस नहीं लिया गया है। यह तुलसीदास को पढ़कर शर्माजी की संपूर्ण प्रतिक्रिया है।

जरा इसकी तुलना ऊपर उद्धृत अज्ञेय की *तुलसीदास* पढ़कर की गयी प्रतिक्रिया से कर के देखें। लगेगा ही नहीं कि शर्माजी ने कोई कविता पढ़ी है। निराला के तुलसीदास पर शर्मा जी का लेख ऐसा लगता है, मानो किसी अखबारी समाचार पर टिप्पणी लिखी गई हो। यह युवा आलोचक रामविलास शर्मा की समझ थी। जो अंत तक नहीं बदली। हर लेखन उन के लिए मानो एक कच्चा माल थी जिसका 'जनता के संघर्ष' और 'पूँजीवादी सत्ता के विरुद्ध' कम्युनिस्ट संग्राम में कैसे उपयोग किया जाए, यही चिन्ता शर्मा जी के संपूर्ण लेखकीय भावजगत की चिंता रही।

इसीलिए *महाराज शिवाजी का पत्र* पढ़कर शर्मा जी को अंतहीन चिढ़ होती है, मगर कहें कैसे? आखिर निराला की रचना है! इस कविता में यह गुंजाइश भी नहीं कि तुलसीदास वाली बाजीगरी करके निकल जाएं। यानी कविता के ऐतिहासिक कैनवास को पूरी तरह नजरअंदाज करते हुए कवि के आत्मिक संघर्ष, निजी कष्ट, तुलसीदास से निराला के व्यक्तित्व की तुलना, मानसिक उद्वेलन, आदि पर यह वह कुछ भी लिखते हुए अंततः प्रगतिवादी शर्मा जी तुलसीदास और निराला दोनों की आध्यात्मिकता और हिन्दू भाव पर स्वयं विजयी हो जाएँ। इसलिए शर्मा जी की चिढ़ साफ झलक उठती है जब परिमल (निराला का वह काव्य संग्रह, जिसमें 'महाराज शिवाजी का पत्र' कविता छपी थी) पर लिखते हुए वे लिख जाते हैं, "'शिवाजी का पत्र' मुक्त ही नहीं, उच्छृंखल भी है। गति के साथ विचारों का बंधन भी उसमें नहीं है। केवल अपने धारावाहिक वक्तृत्व के ओज पर ही बढ़ता चला जाता है, और कुछ लोगों को, जिन्हें 'परिमल' में अन्यत्र कुछ भी रस नहीं मिलता, अवश्य प्रभावित करता है।"[21]

इस दुष्ट, उच्छृंखल कविता, जिसमें विचारों का बंधन नहीं है—मगर उन विचारों पर शर्माजी को क्या कहना है, इस पर सारा जीवन विचारधारा-विचारधारा रटते हुए ही सारा लेखन करने वाले शर्माजी एकदम चुप्पी लगा गए। और 'कुछ लोगों को',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्हें निराला की यह कविता बहुत प्रभावित करती है, शर्मा जी व्यंग्य से कहते हैं कि उन लोगों को उस कविता संग्रह में 'अन्यत्र कुछ नहीं मिला'। यानी कैसे मूढ़ लोग हैं जो और किसी कविता से नहीं, बल्कि ठीक इस गड़बड़, उच्छृंखल कविता 'शिवाजी के पत्र' से ही प्रभावित होते हैं! शर्मा जी का क्षोभ छिपाते-छिपाते भी उभर गया है कि कम्युनिस्ट दिमाग की कसौटी पर यह घोर-मुस्लिम विरोधी, कट्टर हिन्दूवादी कविता, इतनी ओजपूर्ण और निराला द्वारा लिखी गई क्यों है, जिस की लानत-मलानत नहीं की जा सकती!

अतएव, कई कारणों से निराला पर डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन को आधिकारिक मानना भारी भूल है। शर्माजी तो निराला जैसे कवियों, लेखकों को पुराने पतनशील जमाने का नमूना जैसा मान रहे थे, जिन्हें बाद में कवि भी नहीं माना जाएगा। यह शर्मा जी का मार्क्सवादी अंधविश्वास था, जिससे वे ऐसी विचित्र बात लिख सके, "आने वाले युग में, राजनीति को लिए हुए साहित्य के अंतरंग घोर संघर्ष में, निराला को कोई साहित्य सिंहासन पर बिठाएगा, यह भी कल्पना में नहीं आता।"[22] यह किसी साहित्य समालोचक का मूल्यांकन हो ही नहीं सकता था। यदि शर्माजी को ऐसा महसूस हुआ तो इसलिए क्योंकि वे मूलतः कम्युनिस्ट अंध-विश्वासी थे, जिन्हें लगता था कि आगे कम्युनिज्म की अग्रगति के साथ केवल राजनीति के साथ चलने वाले कवि ही कवि माने जाएंगे। शर्मा जी को कविता, काव्य और कवियों के मूल्यांकन की कैसी समझ थी, वह उन के इस एक वक्तव्य से देखी जा सकती है।

पूरे पचास वर्ष तक शर्मा जी निराला पर जब-तब लिखते रहे। मगर सच यह है कि उन्होंने निराला को निराला के अपने विचारों, मूल्यों की दृष्टि से नहीं परखा बल्कि हर जगह, जिद्दपूर्वक, निराला में अपने कम्युनिस्ट विचारों को भरने की हठधर्मी की। इस निरंतरता, और आत्मविश्वास पूर्वक, जो सदैव अपनी ही दुनिया में रहने-बहने वाला जड़-अंधविश्वासी ही कर सकता है। देखिए, सन् 1990 में शर्मा जी निराला पर क्या और किस तरह लिखते हैं। लगभग सोलह पृष्ठों का यह लेख है, "प्रगतिशील कविता और निराला", जिसकी शुरुआत होती है इस तरहः 'दूसरे महायुद्ध के दौरान भारत की जनता ने बहुत दुख सहे, साथ ही उसके सबसे सचेत अंश ने पूँजीपतियों और पूँजीवादी नेताओं की नीति भी पहचानी और साम्राज्यवादी दासता से मुक्ति पाने के लिए उसका मनोबल और दृढ़ हुआ।'[23] इस आरंभ के साथ पूरा एक पन्ना केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं पर लिखा गया है। फिर जवाहरलाल से निराला की बातचीत का एक हवाला आता है। फिर एकाएक शर्माजी घोषणा कर देते हैं "युद्धकाल में निराला प्रगतिशील विचारधारा को आत्मसात कर स्वाधीनता आंदोलन के साथ निरंतर आगे बढ़ रहे थे। सन् 42 के अंतिम चरण में अपनी बीमारी के बाद अपना दुर्वल शरीर संभालने का प्रयास करते हुए वे प्रगतिशील लेखकों की बैठकों में शामिल होने लगे थे।"[24]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर यह आज तक शर्मा जी ने नहीं बताया कि उन बैठकों में निराला ने क्या कहा, या बैठकों के बारे में क्या कहा, या कम्युनिस्टों की विचारधारा, समाजवाद आदि पर क्या कहा, कुछ कहा-लिखा भी कि नहीं? बस, हर जगह केवल निराला का नाम देकर उसके बाद अपनी ही लफ्फाजी से शर्मा जी ने काम चलाया है। यहाँ, इस लेख में भी, कभी निराला की किसी कविता की दो पंक्ति देकर, या नेहरू पर निराला का कोई व्यंग्य वाक्यांश भर देकर, जिस से प्रगतिवाद का कोई संबंध नहीं है, शेष उन्होंने केदार, गिरजा कुमार माथुर, आदि अन्य कवियों के ढेरों उद्धरण दिये हैं, ताकि किसी तरह 'मजदूर के संघर्ष', 'मिल-मालिक', 'शोषण की चक्की', आदि जरूरी शब्दावली लाई जाए, और फिर अपना रटा-रटाया कम्युनिस्ट नेता वाला भाषण भर डाला है। निराला का अपना कहा हुआ कुछ न मिला तो क्या हुआ, निराला पर किन्हीं अनाम दूसरों के हवाले खुद शर्मा जी स्वयं घोषित कर देते हैं कि "उस समय का शायद ही कोई कवि हो जिसने क्रान्ति से निराला का संबंध न जोड़ा हो।"[25] अब क्रान्ति का सीधा अर्थ तो प्रगतिवादी-कम्युनिस्ट क्रांति ही है। यह हो गया, शर्माजी का निराला के प्रगतिवाद से संबंध पर लेख!

इसी लेख में, और हर कहीं देखा जा सकता है, कि शीर्षक में 'प्रगतिवाद' देकर, या लेख, पुस्तक में भी निराला को प्रगतिवादी, वामपंथी, कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखने वाला, आदि आदि दावे करते हुए शर्माजी कोई स्पष्ट, ठोस प्रमाण या उद्धरण नहीं दे पाते। इसीलिए, उक्त लेख के शीर्षक में 'निराला' और 'प्रगतिशील' देकर अंदर लेख में निराला के छंद, छंद की गूँज, पंक्ति विन्यास, अनुप्रास, शैली, बंध, आवृत्ति, यति, विराम आदि बिन्दुओं पर विस्तार से लिखा मिलता है। इन्हीं बिन्दुओं से संबंधित निराला के ढेर से लंबे-लंबे उद्धरण भी दिए गए हैं। जबकि मजदूर, किसान, कम्युनिस्ट आदि भाव वाली कविताओं के उद्धरण किन्हीं और कवियों के दिए गए हैं। यदि कोई सरसरी तौर पर नजर डालते हुए बढ़ता जाए तो उसे गलतफहमी हो सकती है कि गिरजा कुमार, केदारनाथ, पंत, नरेन्द्र शर्मा, आदि की वे पंक्तियाँ, बल्कि लंबे-लंबे पाराग्राफ, पन्ने के पन्ने कविता उद्धरण निराला के होंगे, क्योंकि शीर्षक में निराला है! मगर केवल शीर्षक में निराला और प्रगतिवाद है। अंदर का माल सारा या तो दूसरे कवियों की कम्युनिस्टोपयोगी रचनाओं का है या फिर शर्माजी की अपनी ही सपाट घोषणाएं जो खींच-तान कर, जबरन निराला को प्रगतिशील बता-बता कर आत्मतुष्ट होती रहती हैं।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण शर्माजी की वह पुस्तक ही है जिसे निराला पर सबसे आधिकारिक लेखन की गलत संज्ञा मिली हुई है। अर्थात, *निराला की साहित्य साधना*। तीन खंडों की इस पुस्तक का दूसरा खंड 'विचारधारा और कला का विवेचन' को समर्पित है। निराला की विचारधारा को केंद्र में रखकर लगभग डेढ़ सौ पन्ने में वास्तव में शर्माजी ने अपनी विचारधारा का प्रतिस्थापन, पोषण करने का काम किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस विचारधारा वाले भाग के पंद्रह लेखों के शीर्षक ही यह संकेत दे देते हैं। "अंग्रेजी राज और भारतीय जनता", "राजा, जमींदार और किसान", "द्विज और शूद्र", "नारी की स्वाधीनता", "शास्त्र और रूढ़िवाद", "राष्ट्रीय एकता और मुसलमान", "जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद", "सामाजिक परिवर्तन और साहित्य", "हिन्दी साहित्यः आंतरिक संघर्ष", आदि निराला की विचारधारा पर लिखे लेखों के शीर्षक हैं। यह सब वास्तव में शर्माजी और भारत में कम्युनिस्ट विचारधारा की चिंताएं थीं, निराला की नहीं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि निराला साहित्य में विचारधारा को महत्त्वपूर्ण मानते ही नहीं थे। कविता में वह स्वर-योग और संगीतं की चिंता करते थे। जहाँ तक फिर भी विचारों की बात है, तो निराला की चिंताएं आद्योपांत आध्यात्मिक दार्शनिक रहीं। उन्होंने अपने लेखन का आरंभ और अंत, दोनों ही आध्यात्म पर किया है। मृत्यु से ठीक पूर्व अपने सार्वजनिक मंचीय पाठों में वे कृष्ण, शारदाजी आदि देवी-देवताओं पर लिखी अपनी कविताएं सस्वर, मगन होकर सुनाते थे।

फिर जब निराला गाँधी, नेहरू जैसे राजनीतिकों से उलझने भी गए, तो सारी बात भाषा के महत्त्व और हिन्दी की भूमिका पर थी। राजनीति पर निराला का यदि कोई ध्यान था तो इसी रूप में कि बड़े राजनीतिज्ञ अपने विचारों और प्राथमिकताओं में कहाँ गलती कर रहे हैं। निराला द्वारा 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' तो तुम्हें ऐरे-गैरे, पाखंडी नहीं पूज रहे होते, किसी क्षणिक रौ में लिखी गई कविता नहीं है। यह 1940 में लिखी गई, जबकि इस बात की पहली चर्चा निराला ने अपने निकट बैठे किसी व्यक्ति से 1938 में की थी। अर्थात्, कम से कम पूरे दो वर्ष निराला ने इस पर सोचा और पक्के निर्णय पर पहुँचे कि गाँधी यदि मांसाहारी होते, यानी किसी कारण संत वाली छवि, रूपक उनके साथ न होता तो उन्हें इतनी महत्ता नहीं मिली होती। विशेषकर हर तरह के पाखंडियों, दागियों, कायरों के बीच गाँधी की लोकप्रियता के पीछे जो व्यंग्य है, वह ठहर कर विचार करने की चीज है। यदि निराला का कोई विशिष्ट राजनीतिक विचार है, तो ऐसे ही लेखन में।

मगर कहाँ है, शर्मा जी द्वारा निराला की विचारधारा पर लिखे ग्रंथ में इन बिन्दुओं का स्थान? रामायण पर निराला ने 20 खंडों की पुस्तक लिखी। मगर शर्माजी द्वारा निराला की विचारधारा में "अंग्रेजी राज और भारतीय जनता", "राजा, जमींदार और किसान", "शास्त्र और रूढिवाद", "जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद", "सामाजिक परिवर्तन और साहित्य", "हिन्दी साहित्यः आंतरिक संघर्ष" आदि अवतरित हो गए हैं![26] यह सब प्रगतिवादी-कम्युनिस्ट पाटी स्कूल में नए रंगरूटों को पढ़ाने के विषय थे। चूँकि शर्माजी को इन्हीं विषयों को पढ़ाना, रटाना था, इसलिए वे निराला के बहाने भी अपनी विचारधारा को धार दे रहे थे। शर्मा जी ने पूरी निष्ठा से, निरपवाद रूप में सदैव यही किया। निराला का एकाध जुमला, वह भी प्रायः संदर्भहीन, कुछ भिन्न अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखने वाला, मगर उसी को यहाँ वहाँ जोड़ते हुए शर्मा जी अपने ही विचारों से भरकर निराला की विचारधारा में राजा, जमींदार, किसान, रूढिवाद, आदि को मुख्य चिंताएं बनाने का यत्न कर निराला को जैसे-तैसे प्रगतिशील बताने की कोशिश करते हैं।

ऊपर "प्रगतिशील कविता और निराला" वाले लेख में भी शर्माजी ने दावा किया कि 'युद्ध काल में निराला प्रगतिवादी विचारधारा को आत्मसात कर स्वतंत्रता आंदोलन में आगे बढ़ रहे थे'। तर्कपूर्ण होता कि इस दौर में, यानी 1939 से 1945 तक निराला ने जो लिखा, बोला, किया उस का कोई हवाला दिया जाता। मगर वह गधे के सिर से सींग की तरह शर्मा जी के संपूर्ण लेख में गायब है! यहाँ तक कि जो लेख शर्माजी ने 1944 में भी निराला पर लिखा है, वहाँ भी ऐसा कोई प्रसंग उद्धृत नहीं है। जबकि वह वही युद्ध वाला दौर है, जब शर्माजी के दावे के अनुसार निराला प्रगतिशील हो चुके थे। मगर शर्माजी सारी चर्चा मुक्त-छंद, काव्य सौष्ठव, गठन, कौशल आदि पर करते है।[27] शर्माजी जैसे जिद्दी कम्युनिस्ट के लिए, जो किसी भी विषय पर लिखते हुए मजदूर, पूँजीवाद, शोषण, जनता का संघर्ष, आदि अपने प्रिय बीज-शब्दों को डाले बिना नहीं रहते थे, निराला पर लिखे 1944 के लेख में ऐसी कोई बात क्यों नहीं मिलती जो उसी काल में 'निराला के प्रगतिवादी विचारधारा को आत्मसात' कर लेने का दूर से भी कोई संकेत दे सकती हो?

शर्मा जी का लेख हर विषय पर उनके अपने पहले से तयशुदा निष्कर्ष से शुरू होता है। फिर उस में वे जरूरत के मुताबिक हर तरह के प्रासंगिक, अप्रासंगिक, दूर या बहुत दूर का समाचार, वक्तव्य, कविता या पत्र के उद्धरण के साथ उसी निष्कर्ष को बार-बार विज्ञापन की तरह दुहराते हैं। शर्मा जी के अधिकांश लेख इसी तरह के हैं। किसी दीन-दुर्बल के प्रति संवेदना, करुणा प्रकट करने वाली कविता-पंक्ति दिखाकर यह कहना कि निराला 'प्रगितिवादी' विचारधारा के साथ चल रहे थे', उसी तरह की घोषणा है, जैसे कोई कहे कि टॉल्सटॉय रूसी बोल्शेविकों के साथ चल रहे थे। क्योंकि उन्होंने रूस में भूदास-किसानों की स्थिति पर मार्मिक लेख लिखे थे।

यदि वास्तव में स्वयं निराला के लेखन, वक्तव्यों और कार्यों को आधार बना कर देखा जाए, तो आरंभ से अंत तक निराला एक हिन्दू आध्यात्मिक कवि और चिंतक थे। जिस समय शर्माजी निराला के प्रगतिवादी यानी कम्युनिस्ट समर्थक बन जाने का दावा करते हैं, उसी दौर की उनकी रचनाएं हैं *शिवाजी का पत्र, तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा* और रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द के वचनों, भाषणों का अनुवाद। बल्कि निराला के संपूर्ण जीवन काल में ऐसी ही रचनाएं और लेख लिखे गए हैं। कितने लोग जानते हैं कि निराला ने रामायण पर 20 खंडों में टीका लिखी है? या महाराणा प्रताप, भीष्म, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव,[28] पर पूरे के पूरे उपन्यास लिखे हैं?

इनके अलावा, जरा निराला के विस्तृत निबंधों, लेखों के शीर्षक भर ही देख लीजिए, "तुलसीकृत रामायण में अद्वैत तत्व", "विज्ञान और गोस्वामी तुलसीदास",

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"श्रीदेव रामकृष्ण परमहंस", "युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण", "भारत में श्रीरामकृष्णावतार", "वेदान्त केशरी स्वामी विवेकानन्द", आदि[29] कब लिखे गए थे यह सब लेख? उनके प्रगतिवादी बनने से पहले या बाद में? शर्मा जी जैसे कम्युनिस्ट प्रचारकों के लेखन में ऐसे प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलेंगे। उनकी निराला की साहित्य साधना के 'विचारधारा' वाले खंड में भी इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलेगा। क्योंकि कटिबद्ध वामपंथी प्रचारक 'शूट एंड स्कूट' की तकनीक पर चलते हैं। कुछ भी जोर-जोर से बोल दो, और चल दो। जिसने सुना, उस पर जितना असर पड़ा, पड़ा। किसी श्रोता या पाठक द्वारा कुछ पूछने, उसकी शंकाओं का उत्तर देने और अपने दावे के प्रमाण देने की परवाह ही मत करो! यह है *शूट एंड स्कूट* की तकनीक, जिसका उपयोग सारे वामपंथी प्रचारक करते रहे हैं।

इसीलिए शर्मा जी जैसे लोगों द्वारा निराला पर लिखी सभी बातों को मूलतः अपने कम्युनिस्ट प्रचार के लिए निराला का दुरुपयोग करने के रूप में ही देखना चाहिए! जैसे रूसी मार्क्सवादियों ने लेव टॉल्सटॉय या पुश्किन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था, उसी तरह रामविलास शर्मा ने निराला या प्रेमचंद पर किया है। उन में टॉल्सटॉय या निराला की आत्मा की जानबूझ कर हत्या की जाती है। ताकि कम्युनिस्ट राजनीति को बल पहुँचाने में उन महान नामों का सहारा लिया जाए, जिन में जनता की श्रद्धा है। टॉल्सटॉय के बहाने लेनिन-स्तालिन में भक्ति जगाने का लक्ष्य रहता है। साहित्य का नहीं, राजनीति का लक्ष्य। वह भी समाज-घातक राजनीति का। यही मानसिकता शर्मा जी और उन जैसों के लेखन में कूट-कूट कर रही है। अतः तुलसीदास और निराला के काव्य को गुनने-समझने में शर्मा जैसों का लेखन नितांत बाधक है, सहायक नहीं।

यह सारी दुनिया का निरपवाद अनुभव है कि कथित प्रगतिशील लेखक आलोचक, आदि मूलतः राजनीतिक प्रचारक रहे हैं। इसीलिए शर्मा जी ने निराला, प्रेमचंद या वृंदावनलाल वर्मा के साहित्य में भारत पर इस्लामी आक्रमण, उस की मनोवृत्ति और शासन आदि के बारे में की गई आलोचनात्मक टिप्पणियों, उन की धर्म-निष्ठा तथा वृहत हिन्दू समाज की सच्ची भावनाओं को या तो चुपचाप छोड़ दिया है, अथवा उस की मनगढ़ंत, तोड़ी-मरोड़ी व्याख्याएं की हैं।

निराला के संपूर्ण काव्य में तुलसीदास की ही तरह हिन्दू आध्यात्मिक आभा है। इस पर शर्माजी ने भारी पर्दा डालने की हरचंद कोशिश की, क्योंकि निराला को 'रास्ता दिखाने' की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ी, या ऐसा करने में हानि की संभावना दिखी। इसीलिए, जैसा निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है, जहाँ निराला का लेखन शर्माजी के मार्क्स-लेनिन-स्तालिनवादी साँचे में फिट नहीं होता वहाँ शर्मा जी ने निराला को समेट-सिकोड़ कर उस में जबरन समाने का प्रयत्न किया! अतः निराला को ठीक से समझने में शर्माजी जैसों का लेखन नितांत बाधक है। उस से दूर रहकर ही कविता, निराला के तुलसीदास और स्वयं कवि तुलसीदास को भी पढ़ना-गुनना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः हिन्दी साहित्य लेखन, प्रकाशन और अध्यापन में प्राण लौटाने के लिए संपूर्ण प्रगतिवादी प्रचार-लेखन को अजायबघर में रख देना जरूरी है। उस ने हमारे उदीयमान कवियों, लेखकों, पत्रकारों, विद्यार्थियों के लिए बौद्धिक अफीम का काम किया है। साहित्य की रस-धारा, प्राण-धारा के बदले उस के नाम पर नशीला द्रव्य खिलाने का काम किया है। उस की पिनक से जब तक हिन्दी साहित्य लेखन-व्यापार से जुड़े लोग नहीं उबरेंगे, इस का दैन्य, राजनीति के अनुचर होने की वृत्ति, आत्मसम्मान-हीनता और बौद्धिक मरियलपन खत्म नहीं होने वाला।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. पूरे प्रसंग के लिए देखें, रमेशचंद्र शाह, "स्वर विवादी ही लगाः गाँधी और निराला", नेपथ्य से, (नई दिल्लीः किताबघर प्रकाशन, 2002), पृ. 42
2. अज्ञेय, "वसन्त का अग्रदूत", स्मृतिलेखा (नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1996), चौथा संस्करण, पृ. 62
3. श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', (प्रयागः लीडर प्रेस, वि. संवत् 2008), पृ. 62. इस पुस्तक में ई.सन् में निराला ने 22 दिसंबर 1938 की तारीख दी है, जो पुस्तक के प्रकाशन में जाने की तारीख है।
4. श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', तुलसीदास, उपरोक्त, पृ. 71
5. वही, पृ. 75
6. वही, पृ. 75
7. (राय) कृष्णदास, "परिचय", श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', तुलसीदास, उपरोक्त, पृ. 2
8. रोमिला थापर, हरबंस मुखिया और बिपन चंद्र, 'सांप्रदायिकता और इतिहास लेखन' (नई दिल्ली, 1970)। पूरी पुस्तिका में जहाँ-तहाँ।
9. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, "महाराणा प्रताप", निराला रचनावली, खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1983), पृ. 195
10. "निराला रचनावली", खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1983), पृ. 9 तथा 12
11. "निराला की यह कविताएं आराधना" (प्रयागः साहित्यकार संसद, लीडर प्रेस, 1953) तथा गीत गुंज (इलाहाबादः वसुमति, 1970) में देखी जा सकती हैं।
12. शिवगोपाल मिश्र, जयगोपाल मिश्र लिखित भूमिका, "निराला, गीत गुंज", उपरोक्त, पृ. 38
13. श्री नारायण चतुर्वेदी, "भूमिका", निराला, सांध्यकाकली (इलाहाबादः वसुमति, 1969),पृ. 7
14. जब अज्ञेय को निराला ने पहली बार देखा तो शारीरिक डील-डौल में रामविलास शर्मा से तुलना कर प्रशंसा की। देखें, अज्ञेय, "वसन्त. का अग्रदूत", उपरोक्त, पृ. 61

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. कर्ण सिंह चौहान, ''प्रगतिवादी आंदोलन का इतिहास'' (नई दिल्लीः प्रकाशन संस्थान, 1998), पृ. 76
16. वही, पृ. 77
17. रमेशचंद्र शाह, "स्वर विवादी ही लगाः गाँधी और निराला", उपरोक्त, पृ. 42-43
18. इसीलिए संभवतः अपने मंचीय वक्तव्य (14 नवंबर 1958?) में निराला ने लोगों से जो प्रार्थना की थी, वह ध्यान देने योग्य है। उसे शिवगोपाल मिश्र तथा जयगोपाल मिश्र ने निराला के गीत गुंज, (उपरोक्त, पृ. 21) की भूमिका में उद्धृत किया है। वह प्रार्थना, निराला के अपने शब्दों में, उनकी अंतिम इच्छा भी हैः "मैं अब वृद्ध और कमजोर हो गया हूँ। सभी प्रकार की मानव व्याधियों ने मुझे घेर लिया है। किन्तु आप लोगों को मेरी सेवाओं के प्रति कुछ भी प्रेम और सम्मान हो, तो मेरी प्रार्थना है कि राष्ट्रभाषा की पताका ऊँची करें। हिन्दी की सेवा का व्रत लीजिए और स्व साहित्योत्पादन में सहायता दीजिए। संस्कृत तथा अन्य राज्य भाषाओं का अध्ययन करिये और उनका सम्मान करिये। इससे मुझे शान्ति और सुख मिलेगा।"
19. रामविलास शर्मा, "कवि निराला", भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 93
20. रामविलास शर्मा, "'अनामिका' और 'तुलसीदास'", भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 118-19
21. रामविलास शर्मा, "कवि निराला", भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 91
22. रामविलास शर्मा, "कवि निराला", भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 90
23. रामविलास शर्मा, "प्रगतिशील कविता और निराला", रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की पृष्ठभूमि (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 19901), पृ. 214-15
24. वही, पृ. 215
25. वही, पृ. 217
26. रामविलास शर्मा, ''निराला की साहित्य साधना'', द्वितीय खंड (नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1972), पृ. 13-140
27. रामविलास शर्मा, "निराला और मुक्तछंद", भाषा, युगबोध और कविता, उपरोक्त, पृ. 97-103
28. इन रचनाओं के लिए देखें, ''निराला रचनावली'', खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1983)
29. इन लेखों के लिए देखें, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', संग्रह (प्रयागः निरूपमा प्रकाशन, 1963), सं. रामकृष्ण त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी आलोचना का वैचारिक धरातलउसोपान और संकट

कामेश्वर पंकज*

हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम विशेषकर "हिन्दी प्रदीप" (1877 ई.) से हुआ। आचार्य शुल्क जी के काल में यह परिपक्व हुआ, इसका फैलाव छायावाद काल के बाद हुआ और आज यह उत्तर-आधुनिकता के संरचनावाद के दौर में हैं। यहाँ तक की यात्रा में हिन्दी आलोचना को कई वैचारिक सोपानों और संकटों से गुजरना पड़ा है। इसका प्रथम सोपान भले ही भारतेन्दु-कालीन है, परन्तु संकट गार्सा-द-तासी के इतिहास लेखन (1839 ई.) से ही आरम्भ हो गया था।

गार्सा-द-तासी फ्रांस के एक विद्यालय में भारत की पूर्वी भाषाओं के अध्यापक थे। इनकी बहुचर्चित पुस्तक है—"इस्तवार दल लितरेत्युर ऐ हुई—ऐ ऐन्दुस्तानी" (प्रथम भाग 1839 ई. तथा द्वितीय भाग 1847 ई.)। इसमें हिन्दी-उर्दू के अनेक कवियों की जीवनियाँ, ग्रंथ विवरण एवं उद्धरण हैं। इनकी भाषा-दृष्टि यूरोपीय थी। इनका मानना था कि भारत की पूर्वी भाषा को जिन्हें वहाँ के लोग "हिन्दी" या "हिन्दवी" कहते हैं, उन्हें यूरोप के लोग "हिन्दुस्तानी" के नाम से जानते हैं। इसे मुसलमान फारसी लिपि में तथा हिन्दू देवनागरी लिपि में लिखते हैं। एक ही भाषा की दो लिपियाँ, वे मानते थे। भारतीय भाषाओं को देखने की यह अलगाववादी दृष्टि यूरोप की उपनिवेशवादी दृष्टि थी जिसे फ्रांस में बैठकर गार्सा-द-तासी ने व्यक्त की है। उनका लेखन और वक्तव्य तब (1868 ई.) आ रहा था, जब भारत में कचहरी की भाषा नीति पर द्वन्द्व छिड़ा था। उर्दू और हिन्दी भाषा, फारसी और देवनागरी लिपि पर सर सैयद अहमद और शिव प्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मण प्रसाद आमने-सामने थे। गार्सा-त्त-तासी इस झगड़े को हवा दे रहे थे। शुक्ल जी ने तासी के विचार को कुछ इस तरह उद्धृत किया है—"इस वक्त हिन्दी की सिफत भी एक बोली (डाइलेक्ट) की रह गई है, जो

*डॉ. कामेश्वर पंकज, अध्यक्ष, स्नोतकोत्तर हिन्दी-विभाग, दर्शन साह महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर गाँव में अलग-अलग ढंग से बोली जाती हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 413) उन्होंने उर्दू को मजहबी जामा पहनाकर एकेश्वरवाद से जोड़कर ईसाइयत के करीब लाने का प्रयास किया। इसकी समीक्षा दृष्टि गुलाम भारत के शासक की दृष्टि थी। यहाँ जॉन गिलक्राइस्ट की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। ये एक चिकित्सक की हैसियत से ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए भारत आए थे। इनकी भाषा अध्ययन में रुचि थी और इन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया। जब फोर्ड विलियम कॉलेज की स्थापना (सन् 1800 ई.) हुई तो ये भाषा विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। इन्होंने देशी भाषा की गद्य पुस्तकों को तैयार करने के लिए हिन्दी उर्दू की अलग-अलग व्यवस्था की। वस्तुतः यह भाषाई भेद से अधिक मजहबी भेद का प्रयास था। गार्सा-द-तासी इसी शृंखला में हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में गार्सा-द-तासी की पुस्तक को प्रथम प्रयास माना जाता है। इस पुस्तक का उपयोग जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास लेखन में किया है। जार्ज ग्रियर्सन महान भाषा विज्ञ और प्रज्ञ इतिहासकार थे। इन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। इनकी बहुत सारी पुस्तकों में से दो पुस्तकें–माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नादर्न हिन्दुस्तान (सन् 1888 ई.) और लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया– महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने भारत की लगभग सभी भाषाओं का अध्ययन किया था। लगभग तैंतीस वर्षों (1894 से 1927 ई. तक) के अध्ययन और लेखन से भाषा सर्वेक्षण का कार्य पूरा किया गया था। यह महान कार्य था। उनकी भाषा दृष्टि विभाजक थी। इन्होंने भारतीय भाषाओं में संयोजक तत्त्वों को कम और विभाजक तत्त्वों को अधिक उजागर किया। ये फारसी की तरह संस्कृत को भी भारत के लिए विदेशी भाषा मानते थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में इनका बड़ा ही सम्मान है। सामग्री संकलन से लेकर विवेचन तक इनकी दृष्टि ऐतिहासिक रही है। ग्रियर्सन हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य की निरन्तरता में नहीं मानते हैं। यह सिद्ध है कि हिन्दी साहित्य का भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से आई हुई भक्ति धारा से प्रेरित है लेकिन ग्रियर्सन मानते हैं कि उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन अचानक मेघ खंड की तरह प्रकट हुआ। ग्रियर्सन का इतिहास लेखन काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग था। ग्रियर्सन के विचार दृष्टि से दूर हिन्दी आलोचना साहित्य का स्वतंत्र स्वरूप बन रहा था–"हिन्दी प्रदीप" जैसी पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के अतिरिक्त स्वतंत्र पुस्तक के रूप में भी लक्षण ग्रंथ और टीकाएँ रही थीं। समीक्षक के रूप में बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" और बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। आलोचना साहित्य के आरम्भिक काल में आलोचना की सूक्ष्मता और व्यापकता की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। आलोचना की अपेक्षाकृत ठोस धरातल मिश्रबंधुओं ने तैयार किया।

मिश्रबंधुओं की दो पुस्तकें–"हिन्दी नवरत्न" (सन् 1910 ई.) और "मिश्रबंधु विनोद" (1913 ई.) महत्त्वपूर्ण हैं। "हिन्दी नवरत्न" में हिन्दी के श्रेष्ठ नौ कवियों की समीक्षा है और "विनोद" में हिन्दी के लगभग पाँच हजार कवियों का जीवन-वृत्त और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य परिचय है। मिश्रबंधु ने निर्णयात्मक समीक्षा प्रणाली को जन्म दिया। इन्होंने हिन्दी के तत्कालीन नौ श्रेष्ठ कवियों को तीन श्रेणियों—बृहत्तत्रयी, मध्यत्रयी तथा लघुत्रयी में बाँटा। यद्यपि मिश्रबंधुओं ने अलग-अलग कवियों के लिए अलग-अलग मापदंड अपनाया, तथापि यह प्रयास इसलिए सराहनीय है कि कवियों की समग्र आलोचना का सूत्रपात यहीं से हुआ। मिश्रबंधु ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा प्रणाली—भाषाई दोष निर्देश, पुस्तक समीक्षा आदि से आगे बढ़कर काव्य के भावजगत, जीवन-दर्शन, विचारधारा, कला पक्ष आदि पर विचार करना आरम्भ किया। इनका विचार था कि समालोचना में रस, अलंकार, छवि आदि के अतिरिक्त "अन्य बहुत-सी बातों" का भी विचार करना पड़ता है। अन्य बहुत-सी बातों का तात्पर्य कला और भाव जगत के अतिरिक्त भाषाई और जातीय संवेदना, विचार समग्रता आदि से है। मिश्रबंधु की यह देन ही है कि इन्होंने कवियों की समग्र और स्वतंत्र समीक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य शुक्ल जी ने समीक्षा साहित्य को और आगे बढ़ाया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में आलोचना पुरुष हैं; *हिन्दी साहित्य का इतिहास* के अतिरिक्त *गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार, जायसी ग्रंथावली, चिन्तामणि, रसमीमांसा,* इनके महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ हैं। शुल्क जी ने अपनी समीक्षा-प्रणाली में भारतीय काव्यशास्त्र के मानदंड, काव्य परम्परा, काव्यादर्श को अपनाते हुए पश्चिमी समीक्षा के रचना-विधान आदि को ग्रहण किया। शुक्ल जी यूरोपीय साहित्य और समीक्षा से पूरी तरह परिचित थे। वहाँ के कलावाद और अभिव्यंजनावाद से असहमत होते हुए आई. ए. रिचर्ड्स से वे अधिक प्रभावित थे। इन्होंने पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्त को अपने विवेक की कसौटी पर ग्रहण किया और हिन्दी-आलोचना को ठोस धरातल और नवीन दिशा दी। "रस मीमांसा" में संग्रहित "काव्य" निबंधन में इन्होंने स्पष्ट किया है कि काव्य-रचना मनोरंजन जैसे हल्के-फुल्के उद्देश्य के लिए नहीं होती है। इसलिए इसकी समीक्षा भी अपेक्षित गम्भीरता की मांग करती है। इन्होंने केवल अपने समकालीन समीक्षकों को प्रेरित ही नहीं किया बल्कि अपने आदर्शों और मानदंडों के अनुरूप तुलसी, जायसी, सूरदास पर व्यावहारिक समीक्षाएँ भी लिखीं और साहित्येतिहास में रचनाकारों की समीक्षा भी इसी तरह की। अपनी समीक्षा में शुक्ल जी ने लोक संग्रह को महत्त्व दिया और तुलसीदास को अपना आदर्श बनाया। इसी दृष्टि से उन्होंने साहित्येतिहास की परिभाषा दी है—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित्र प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। "(हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 3) "चित्तवृत्तियों की परम्परा की परख" शुक्ल जी की समीक्षा" का मूलाधार है। इन्होंने हिन्दी आलोचना को नई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा दी। अपने पूर्व की हिन्दी समीक्षा पर इन्होंने कड़ी टिप्पणी की ओर समकालीन समीक्षकों का दिशा-निर्देश किया। शुक्ल जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"द्विवेदी जी की तीसरी पुस्तक कालिदास की निरंकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यक्तिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई है, यह ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। जो भी हो इन् पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं"। (हिन्दी सा. इति. पृ. 505)

द्विवेदी काल में ही तुलनात्मक समीक्षा की शुरुआत हुई। देव बड़े कि बिहारी, इस मुद्दे को लेकर पद्म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदी और मिश्र बंधुओं ने अपने ढंग की समीक्षा की। समीक्षा की इस तुलनात्मक पद्धति पर शुक्ल जी ने लिखा—"अच्छा हुआ कि छोटे-बड़े इस मुद्दे-झगड़े की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।" (हि.सा.इति. पृ. 508)

शुक्ल जी ने अपने समकालीन अतिवादी समीक्षा के बारे में लिखा है—"कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं।" (हि.सा.इति. पृ. 538)

वस्तुतः शुक्ल जी ने अपने अध्ययन और विवेक से आलोचना के अपने आदर्श, मूल्य और मानदंड को स्थापित किया था। उनका संपूर्ण साहित्य इसी अनुशासन से प्रणीत है। विचारों में कहीं टकराहट नहीं। ऐसा इसलिए था कि उन्होंने सिद्धान्त को व्यवहार की कसौटी पर कसकर ही अपनाया था।

हिन्दी आलोचना जगत को इनकी देनें और इनका व्यक्तित्व आज भी महान है। नलिन विलोचन शर्मा का कहना है कि शुक्ल जी अपने समय के सबसे बड़े समीक्षक हैं, उस समय उनसे बड़ा समीक्षक किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था।

आचार्य शुक्ल जी की समीक्षा परम्परा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी शुक्ल परम्परा में सबसे प्रखर समीक्षक थे। इनका वैचारिक धरातल मानवतावादी था। द्विवेदी जी अपने लेखन के आरम्भिक काल में शान्ति निकेतन आश्रम में थे। वहाँ रवींद्रनाथ नाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन, विधु शेखर शास्त्री, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि मनीषियों और विचारकों के सान्निध्य में द्विवेदी जी के वैचारिक धरातल का निर्माण हुआ। शुक्ल जी की प्रवृत्तिमूलकता और लोक संग्रह के स्थान पर द्विवेदी जी ने साहित्य को एक अविछिन्न विकास परम्परा और मानवतावाद से जोड़ा और साहित्य समीक्षा में इसे महत्त्व दिया। शुक्ल जी ने धार्मिक कारणों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध और नाथ साहित्य को काव्य की मुख्य धारा से पृथक् रखा था, द्विवेदी जी ने सिद्ध नाथ साहित्य को साहित्य की अविच्छिन्न विकास परम्परा से जोड़कर उसकी व्याख्या की। द्विवेदी जी मानते थे कि मनुष्य ही श्रेष्ठ है। कोई सामाजिक मूल्य स्थायी नहीं है। युगानुकूल मनुष्य की आवश्यकतानुसार ये मूल्य परिवर्तनशील हैं। किसी रचनाकार ने अपने युग के किन श्रेयस्कर मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है, यह महत्त्वपूर्ण है। द्विवेदी जी का सारा साहित्य इसी वैचारिक धरातल पर स्थित है। *सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, नाथ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य* आदि समीक्षा ग्रंथों में द्विवेदी जी ने साहित्य की निरन्तरता और लोक-चेतना की श्रेष्ठता को महत्त्व दिया है। द्विवेदी जी के बाद हिन्दी समीक्षा में मुख्यतः नामवर सिंह का हस्तक्षेप रहा है। इनका वैचारिक धरातल साम्यवादी रहा है। नामवर सिंह ने "छायावाद" नामक पुस्तक से हिन्दी आलोचना जगत में प्रवेश किया और "कविता के नए प्रतिमान" में इनकी समीक्षा का उत्कर्ष देखा जा सकता है। हिन्दी आलोचना के पचास के दशक में वैचारिक विखराव नजर आता है। यह हिन्दी साहित्य के विकास का वह समय था जब पद्य के साथ-साथ गद्य की कई विधाओं का विकास और श्रेष्ठ लेखन हो रहा था। पद्य में छायावाद के बाद कई वाद—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद, नई कविता, समकालीन कविता आदि आगे पीछे चलते रहे। गद्य साहित्य में कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि का उत्कर्ष तो छायावाद में ही दिख रहा था। इस काल में प्रवृत्तिमूलक फैलाव अधिक हुआ। हिन्दी समीक्षा को इन रचनाओं से गुजरना था तो तदनुरूप परिवर्तन लाजिमी था। यह परिवर्तन नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी एवं अन्य की समीक्षाओं में देखा जा सकता है। इसमें विचार पक्ष से अधिक संरचना पक्ष को महत्त्व दिया गया और साहित्य परम्परा की निरन्तरता आदि "जनता की चित्तवृत्ति" का कोई अवकाश नहीं। आलोचना रचना केंद्रित होने लगी। समीक्षा में अधिकांश उदाहरण पश्चिमी और साम्यवादी देशों के साहित्य और समीक्षा से आने लगे। कभी-कभी ऐसा लगता है कि बिना इन उद्धरणों के समीक्षा पूरी नहीं होगी। समीक्षा से रस, ध्वनि अलंकार, आदि भारतीय काव्यशास्त्र को खारिज कर दिया गया। मानदंड की अनिश्चितता के कारण हिन्दी आलोचना में अनिश्चितता और बिखराव आ गया है। एक ही पाठ पर कई परस्पर विरोधी मन्तव्य आते रहे हैं। इसके आगे उत्तर-आधुनिकता ने समीक्षा में प्रवेश किया।

नब्बे के दशक में उत्तर-आधुनिकता का दौर आरम्भ हुआ। इन्होंने रही-सही स्वदेशी जमीन ही खिसका दी। यह आँधी यूरोप से आई। डॉ. पांडेय शशिभूषण शीतांशु का मत है कि "यह नयापन 1950 के दशाब्द में उभरा, 1960 के दशाब्द में इसने गति प्राप्त की, 1970 के दशाब्द के दौरान बहुतेरे कलात्मक ज्ञानानुशासन में सक्रिय हुआ तथा 1980 के दशाब्द के आरम्भ तक इसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।" (उत्तर-आधुनिकता : बहुयामी संदर्भ, पृ. 16)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-आधुनिकता का सैद्धानिक स्रोत फ्रांसीसी उत्तर-संरचनावाद है। इस व्याख्याकार जाक दरिदा, जाँय फ्रेकोइम ल्योतार, बौद्रिआ आदि हैं। उत्तर-आधुनिक सारे महान मूल्यों को सिरे से नकारती है। डॉ. शितांशु ने अपने आलेख में स्पष्ट कि है कि उत्तर-आधुनिकता चिन्तन उद्धर्व धरता-विरोधी है, सम्पूर्णता की अवधारणा तोड़ती है, वहाँ विवेक नहीं इच्छा मूल है, इतिहास की चेतना को नकारती है। (व पृ. 26) वस्तुतः उत्तर-आधुनिकता बाजारवाद के वैचारिकता के रूप में सामने आ है। बाजारवाद (खुले व्यापार की नीति) के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा स्वदेशीपन था उत्तर-आधुनिकता के पोषकों ने स्वदेशीपन के सारे उपादानों—इतिहास चेतना, मह वृतांत, संपूर्णता आदि को सिरे से खारिज कर दिया और विश्वग्राम के "बैलून" क आसमान में छोड़ा। विकासशील देशों के लिए यह "बैलून" लुभावना तो है परन्तु पहुँ से बाहर। साहित्य समीक्षा में जब सारे परम्परागत मूल्य ढह गए तो समग्रता औ राष्ट्रीयता को अवकाश कहाँ? समीक्षा के इस नए धरातल पर सभी कृतियाँ केव "पाठ" हैं। इन कृतियों का हमारी सांस्कृतिक विरासत से कोई सरोकार नहीं—य वैचारिक दरिद्रता है, समीक्षा-कर्म नहीं।

समीक्षा-कर्म भी रचना-कर्म के समकक्ष माना गया है। एक रचनाकार रचन क्रम में जिस संवेदना को जीता है एक समीक्षक को उस संवेदना के करीब जाना पड़त है—यह सामान्य कर्म है। अपेक्षित संवेदना के करीब जाकर रचना के फैलाव औ फलक को स्पष्ट करना समीक्षा का विशेष दायित्व है। एक रचनाकार अपने समय-समा की संवेदना और संभावना को व्यक्त करता है। समाज की अपनी जातीय चेतना के साथ-साथ उसकी एक राष्ट्रीयता भी होती है। रचना का फैलाव राष्ट्रीय क्षितिज क भी छूता है। केवल महान रचनाएँ ही नहीं, छोटी रचनाएँ भी अपेक्षित फैलाव की माँ करती हैं—"राम की शक्तिपूजा" की जो समग्रता है, "भिक्षुक" की उससे कम नहीं है भारतेंदु की प्रसिद्ध कविता "निजभाषा" का शब्दार्थ और भावार्थ काफी नहीं है। जि संदर्भ में यह रचना हुई है—अंग्रेजों द्वारा प्रेरित हिन्दी-उर्दू के झगड़े से उत्पन्न भाषा और राष्ट्रीय संकट को उजागर किए बिना इस कविता की व्याख्या अधूरी है। उ प्रकार "भिक्षुक" कविता में आए "भाग्य विधाता" शब्द को राष्ट्रगान में व्यवह "भाग्य विधाता" शब्द से जोड़े बिना निराला की संवेदना तक नहीं पहुँचा जा सकत है। समीक्षा केवल पाठ-वाचन नहीं है, संदर्भ सहित व्याख्या भी नहीं है, बल्कि रचन का फैलाव जिस समग्रता में है, उसकी तलाश भी होनी चाहिए। रचना अपन भाषा-साहित्य की धारा को किस तरह समृद्ध करती हुई राष्ट्रीय चिन्तन-धारा को स करती है—इस प्रभाव को भी देखा जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 2 अक्टूबर–दिसम्बर 2013

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2013 के चुनाव : कुछ संकेत

राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, दिल्ली एवं मिजोरम विधान-सभाओं के 2013 में हुए चुनावों के परिणाम देश की जनता एवं राजनीतिक दलों के लिए दृगोन्मीलक रहे हैं। इस चुनाव में दिल्ली, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश में कांग्रेस बुरी तरह हारी; छत्तीसगढ़ में उसने भारतीय जनता पार्टी को टक्कर तो दिया, लेकिन सत्ता में न आ सकी। वैसे वहाँ बस्तर के क्षेत्र में कांग्रेस के नेताओं के नक्सलियों द्वारा मारे जाने के कारण सहानुभूति के मत भी मिले; मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं छत्तीसगढ़ में भाजपा की तथा मिजोरम में कांग्रेस की सरकार बनी। दिल्ली में आम आदमी पार्टी सत्ता में आयी, यद्यपि उसे भाजपा के 32 के मुकाबले मात्र 28 स्थान मिले थे। कांग्रेस ने जिसे मात्र 8 स्थान मिले थे, ''आप'' को सत्ता से बाहर रहकर सरकार बनाने में सहयोग दिया। कांग्रेस की हार के बाबजूद इस चुनाव के परिणाम दो दलों को चुनने की तरफ जनता के झुकाव दिखाते हैं। तीसरा मोर्चा, जो मात्र चुनावी मौसम में बरसाती मेढ़कों की तरह अस्तित्व में आता है, कहीं दिखायी नहीं दिया। नीतीश कुमार ने बिहारी लोगों एवं ''सेकुलर'' वोटों का भरोसा करके लगभग 30 प्रत्याशी खड़े किए थे। उनका मात्र एक प्रत्यासी जमानत बचा कर जीत सका। लगता है मायावती का जाटव व्होट-बैंक उनसे कन्नी काट गया। बहुजन समाज पार्टी का पिछले चुनाव की तुलना में कम–मध्यप्रदेश में सात के स्थान पर चार, राजस्थान में छः की जगह तीन, छत्तीसगढ़ में दो की जगह एक तथा दिल्ली में दो की जगह शून्य–प्रत्याशी ही चुनाव जीत पाये। दूसरे दलों को राजस्थान में 20 के स्थान पर 13 एवं मध्य प्रदेश में नव की जगह तीन स्थानों पर ही सफलता मिल पायी।

दिल्ली में, मात्र एक वर्ष पहले बनी, 'आप' की अप्रत्याशित सफलता से दोनों राष्ट्रीय दलों को झटका लगा है। कांग्रेस न केवल सत्ता-विहीन ही हुई, उसे 70 सदस्यों की विधान सभा में मात्र 8 स्थान ही मिले। भारतीय जनता पार्टी को सत्ता मिलते मिलते रह गयी। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 1970 के दशक में मात्र चार महीने पूर्व बनी जनता पार्टी को चुनाव में अभूतपूर्व सफलता मिली थी। फिर दिल्ली जैसे छोटे राज्य में चुनाव लड़ना अपेक्षाकृत आसान है राष्ट्रीय स्तर पर सफल होने के लिए इस दल को दिल्ली में अपने कार्य के सफल प्रदर्शन के साथ ही देश भर में ईमानदार कार्यकर्ताओं की फौज खड़ी करनी पड़ेगी, जिनमें देश तथा समाज एवं उनकी समस्याओं की समझ हो। साथ ही आन्दोलन से उपजे इस दल को मूल्यों से जुड़ाव का उदाहरण देश के सामने रखना होगा। स्पष्टतः ऐसा कर पाना कठिन होगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि मानव निर्माण की प्रक्रिया उतनी आसान नहीं। आसान रास्ता अपनाने पर यह दल राजनीतिक दलों की भीड़ में इजाफा ही करेगा।

जनता के पैसे का लोकलुभावने कार्यों के लिए दुरूपयोग इस देश की विकृत राजनीति का अंग बन गया है। देश का एक बहुत बड़ा प्रबुद्ध वर्ग जनता के सामने विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा रोटी के टुकड़े फेंके जाने को अपमानजनक तथा राजनीतिक ठगी मानता है। इस चुनाव के ठीक पहले कांग्रेस खाद्य-सुरक्षा विधेयक लाना चाहती थी। अन्ततः अध्यादेश द्वारा उसके लाभ लोगों तक पहुँचाकर इसने चुनाव में लाभ लेने की बात सोची। भारतीय जनता पार्टी ने भी विधेयक का विरोध नहीं किया था, जिसका कारण सर्व-विदित है। लेकिन चुनाव में तो खाद्य-सुरक्षा अध्यादेश का लाभ कांग्रेस को नहीं ही मिला। स्पष्टतः दिल्ली, राजस्थान या देश के किसी अन्य भाग की जनता कांग्रेस या अन्य राजनीतिक दलों से अधिक समझदार है। वह आर्थिक सशक्तिकरण चाहती है। रोटी के टुकड़े या लैपॅटाप नहीं। आखिर जनता को स्थायी लाभ तथा गरीबी का हटाया जाना सरकारी पैसे के—जो उसी का पैसा है — के ठोस कार्यों में उपयोग द्वारा ही संभव है। वैसे कांग्रेस की इस हार के कई अन्य कारण भी रहे हैं। कांग्रेस पार्टी का अपनी ही पार्टी की सरकार से तालमेल का अभाव, भ्रष्टाचार और मँहगाई का अत्यधिक बढ़ लाना, सरकार का कमजोर होना, आदि लोगों की नजर से छिपा नहीं रह सका। भ्रष्ट सरकारी तंत्र के चलते सामाजिक एवं लोक-लुभावन कार्यों में खर्च की जानेवाली राशि का लाभ तो लोगों तक कम ही पहुँच पाता था, पर वह महँगाई बढ़ाने का कारक तो था ही। फिर अपराधी राजनीतिकों को बचाने के लिए निकाले जानेवाले गलत अध्यादेश को कांग्रेस दल एवं मंत्रिमण्डल की स्वीकृति प्राप्त थी। ऐसे में राहुल गांधी द्वारा उसे बकवास तथा फाड़ने लायक करार देना विश्वासप्रद कदम नहीं लगता। इससे प्रधानमंत्री पद की गरिमा भी घटी है। फिर जिस लालू यादव के लिए अध्यादेश लाया जा रहा था, उसी से मिलकर चुनाव लड़ने की बात करना, या इसी तरह फिक्की में अपने भाषण में राहुल गांधी का भ्रष्टाचार के विरूद्ध भड़ास निकालना और महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार द्वारा आदर्श घोटाला काण्ड आयोग की रिपोर्ट का नकारा जाना जनता की नजर में कांग्रेस तथा राहुल गांधी की छवि को बिगड़ने से नहीं बचा सका। स्पष्टतः उन्हें अपनी बात एवं व्यवहार के अन्तर्विरोध, पार्टी एवं सरकार के बीच के अन्तर्विरोध, विधेयक बनाने जैसे संसद के कार्यको राष्ट्रीय सलाहकार समिति जैसी बाहरी संगठनों को सौंपने जैसे कार्यों से परहेज तो करना ही चाहिए था; साथ ही, पार्टी के अंदर संगठनात्मक सुधार, आन्तरिक वैचारिक स्वतंत्रता तथा चापलूसों के महत्त्व को कम करने जैसे कदम भी उठाया जाना चाहिए था। इस चुनाव में मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ की पदस्त सरकारें तीसरी बार सत्ता में आयी हैं; मिजोरम में ऐसा चौथी बार हुआ है। जनादेश स्पष्ट है कि जनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदस्त सरकारों को अकारण नहीं बदलती। जनादेशके कुछ अन्य संकेत निम्न-लिखित हैं:

* जनता ने उन दलों को नकार दिया है जिनके नेता अस्थिर जनादेश में लाभ देखने लगे हैं; जिनको लगता है कि अस्थिर जनादेश की स्थिति में उनके दलों के कुछ ही सांसदों के होने पर भी उनके लिए प्रधान-मंत्री का पद पाना संभव हो पायेगा, जैसा कि देवे गौड़ा या गुजराल के साथ हुआ, या फिर राज्य-स्तर पर झारखण्ड में मधु कोड़ा के साथ हुआ।
* लोगों ने 'सेकुलर-कार्ड' की असलियत जान लिया है। अब उसका अत्यधिक प्रयोग हानिकारक होता जा रहा है। लगातार की जानेवाली निन्दा से नरेन्द्र मोदी की स्वीकृति बढ़ी है। वैसे अपने कुशल प्रशासन एवं जनहित के कार्यों से भी उन्होंने जनता का विश्वास अर्जित किया है। फिर ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो गोधरा काण्ड के उल्लेख के बिना गुजरात के दंगों की बात करनेवालों, या इसे एक-पक्षीय कार्रवाई माननेवालों को पाखण्डी समझते हैं।
* जनता व्होट-बैंक की सँकरी राजनीति के स्थान पर जन-केन्द्रित राजनीति चाहती है, जो सर्व-समावेशी हो।
* जनता राजनीतिक दलों द्वारा राजनीति से जुड़े परिवारों के अनुभवहीन नवजवानों को अपने ऊपर लादा जाना पसंद नहीं करती। ऐसे नवयुवकों को देश एवं समाज की, हमारी समस्याओं की पूरी समझ विकसित करने के बाद ही नेतृत्व सँभालना चाहिए।
* राजनीतिक दलों को आन्तरिक आत्म-विश्लेषण, आन्तरिक कार्य-समीक्षा एवं अपने कार्य की लेखा जोखा की प्रक्रिया विकसित करनी चाहिए।

आज इस देश में नेताओं एवं राजनीतिक दलों का एकमात्र उद्देश्य तिकड़म, धन-वल के प्रयोग, राजनीतिक ठगी, या फिर जैसे भी, सत्ता प्राप्ति बन गया है। समान लक्ष्य, समान कार्य पद्धति, सभी दलों में सिद्धान्तहीनता, आदि से उनकी अलग पहचान गड़बड़ायी है; सबके चेहरे सपाट, बिल्कुल एक तरह के हो गये हैं। सार्थक बदलाव आवश्यक है।

दीनानाथ मिश्र नहीं रहे

जाने माने लेखक पत्रकार, स्तंभ लेखक एवं संपादक तथा राज्य-सभा के पूर्व-सदस्य दीनानाथ मिश्र जी नहीं रहे। वे कुछ समय से बीमार चल रहे थे; कैलाश अस्पताल में भर्ती थे। 13 नवम्बर 2013 को वे हमारे बीच नहीं रहे। मिश्रजी दूर-दृष्टि सम्पन्न चिन्तक, विद्वान एवं कर्मठ तथा ईमानदार राष्ट्र-सेवक थे। इण्डिया फर्स्ट फाउण्डेसन द्वारा–जिसके वे संस्थापक अध्यक्ष थे–कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें एवं दो महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिकाओं के कई वर्षों तक के प्रकाशन—हमारे बौद्धिक जगत में उनके महत्त्वपूर्ण स्मारक की तरह बने रहेंगे। उनमें राष्ट्र-हित एवं समाज हित में किए गये किसी भी, और किसी के द्वारा किए जा रहे कार्य के प्रति गहरी सहानुभुति थी और वे उसमें ईमानदारी पूर्वक योगदान एवं सहायता करना चाहते थे। आस्था भारती तथा इसकी पत्रिकाओं—डायलॉग एवं चिन्तन-सृजन—से उनका आत्मिक तथा बौद्धिक लगाव रहा। उनके स्वर्गवास से देश, समाज एवं हम सबको अपूरणीय क्षति पहुँची है। हम उनकी याद ताजा बनाए रखना चाहते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है वे उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

—ब्रज बिहारी कुमार

लेखकों से अनुरोध है कि पुस्तक-समीक्षा संपादक के अनुमति के बिना न भेजें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य सार्वभौमिकता को एक अद्यतन भारतीय चुनौती

रमेशचन्द्र शाह*

हमारी हिन्दी के एक बड़े कवि-विचारक जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'स्कन्दगुप्त' में आया एक वाक्य मेरे भीतर जब-तब कौंधता रहा है कि ..."हमारी अत्यधिक क्षमा करने की आदत ने हमें औरों के सामने स्पृहणीय या अनुकरणीय नहीं, उल्टे वेध्य ही बनाया है।" निश्चय ही, प्रसाद जी की उस नाटकीय उक्ति के पीछे कहीं यह अहसास भी काम कर रहा होगा कि क्षमा भी समर्थों को ही शोभा देती है। जिसकी सामर्थ्य खुद ही संकटापन्न या सन्दिग्ध है, उसकी क्षमा या सहिष्णुता शत्रु को उसकी दुर्बलता ही प्रतीत होती है–उसे और अधिक आक्रान्त बनने को आमन्त्रित करती हुई। जरा सोचिए यह बात 'स्कन्दगुप्त' के जमाने के भारत के बारे में की जा रही है–जब हम अपनी शक्तिमत्ता के शिखर पर तो नहीं, पर कम-से-कम ढलान पर तो डटे ही थे। आज की तारीख में, जब तथाकथित पश्चिम के एक लम्बे अरसे से फल-फूल रहे धार्मिक, नैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद की चपेट में समूचा विश्व आ चुका है। आज की तारीख में वह बात कैसे किस तरह हमारे सिर पर चढ़के बोलती है–बोलती भी है कि नहीं, यह विचारणीय है। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि यह आधुनिक हिन्दी के सर्वाधिक विश्व-चेतस् महाकाव्य 'कामायनी' के लेखक की उक्ति है। उस 'कामायनी' की, जो संकटापन्न विश्व-मानवता की कथा कहती है–जो अपने रूपाकार और कथ्य दोनों में विश्व-मानव की नियति को लेकर उतनी ही चिंताकुल और प्रतिबद्ध है जितनी भारतीय परम्परा और संस्कृति को लेकर। जाहिर है कि यह घटना कोई अपवाद नहीं है : हिन्दी साहित्य का हजार बरसों का इतिहास ही इस तथ्य को हमारे सामने उघाड़ देता है कि इस देश की मिट्टी में, इसके मूल मनःसंस्कार में ही कुछ ऐसा है, जो इसे हर तरह की सीमा और संकीर्णता से ऊपर उठाए रखना चाहता है। इसे महज भावुकतावश नहीं, बल्कि तत्त्वतः विश्व-चेतस् बनाता है। लोहिया जिसे

*रमेशचंद्र शाह, एम–4, निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003, दूरभाष : 0755-2775314

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विश्वयारी' कहते थे, वह नहीं, बल्कि जीवन और सृष्टि की हमारी तात्त्विक समझ से ही अनिवार्यतः प्रगट हुई विश्वात्मकता, या कह लीजिए—चराचरवाद। आप अँग्रेजी या अन्य विश्व की भाषाओं में रचे गए महाकाव्य देखे होंगे—आप जानते ही होंगे कि हर महाकाव्य का आरम्भ इस प्रार्थना या 'इन्वोकेशन' (आवाहन) से होता है कि रचना निर्विघ्न सम्पन्न हो। तो आप याद करें, हमारी हिंदी का महाकवि अपने 'रामचरितमानस' में किसका आवाहन कर रहा है और कैसे कर रहा है, और तब मुझे बताएँ कि क्या कहीं अन्यत्र भी आपको इस तरह का, इससे तुलनीय उदाहरण मिला है? तुलसीदास अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' का आरम्भ इस प्रार्थना या निवेदन से करते हैं, कि—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल नभ वासी॥
सियाराममय सब जग जानी। करहु प्रनाम जोरि जुग पानी॥

यह है भारतीय कवि की विश्वात्म-दृष्टि और दिव्यता की उसकी समझ—जिसमें केवल मात्र मानव-जाति या मानव समाज ही नहीं, प्रत्युत समूची चराचर जीव-सृष्टि समाई हुई है। मानव और मानवेतर, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के भेद से भी सर्वथा मुक्त, हर जीव का जोड़ा यहाँ सर्वव्यापी परमात्मा और उसकी 'शक्ति' का ही संयुक्त रूप और लघु संस्करण है। यह कोई अमूर्त रहस्यवाद नहीं, दिखाई-सुनाई देनेवाली ठोस चराचरमूलक, चराचरवादी विश्व-दृष्टि है और यह भारत की धर्म-चेतना में ही अन्तर्निहित विश्व-दृष्टि है। जैसा कि प्रसाद-निराला के परवर्ती आधुनिक दौर के सबसे बड़े कवि-चिन्तक अज्ञेय ने भी कहा है—"किसी भी मतवाद से निरपेक्ष धर्म की उद्‌भावना ही विश्व को भारत की सबसे मूल्यवान देन है।" ... सवाल यह है कि क्या इस 'देन' को, इस सबसे न्यारी धार्मिकता और मूल्य-चेतना को विश्व-स्तर पर यथोचित और यथातथ्य समझा और स्वीकारा गया है—विश्व-सभ्यता का सबसे पुरजोर दावा करनेवालों द्वारा?

किन्तु हिन्दी का—यानी स्वयं को भारतीय भाषाओं का लघुतम समावर्त्य और महत्तम समापवर्तक सावित कर चुकी, भारत की समग्र अस्मिता को वहन करनेवाली हिन्दी का—यह विश्व-चेतस् स्वरूप आत्मालोचन की दृष्टि से भी सदैव सजग-सावधान रहा है, जो कहना न होगा, बेहद जरूरी है : हमारी आत्मतुष्टि को झिंझोड़ते रहने के लिए। यह आत्मतुष्टि और अविचारित गौरव-भाव हमारी दूसरी दुर्बलता या दुर्गुण है जो हमारे शिक्षित वर्गों में—खासकर सर्वाधिक राष्ट्रवादी तेवर दिखानेवालों की कथनी और करनी में—अक्सर पाया जाता है। कदाचित् इसी छिद्र को लक्ष्य करते हुए हमारे राष्ट्रकवि ने अपनी 'भारत-भारती' में ही हमें चेता देना जरूरी समझा था कि ....

गौरव जताने में यहाँ, उत्साह का लगता पता।
वस बाद में ही वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो हुए हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। अब उनके साथ-ही-साथ उनके परवर्ती प्रसाद जी के भी आलोचनात्मक विवेक का रंग पहचान लें। 'काव्य और कला' शीर्षक अपने प्रख्यात निबन्ध में वे क्या कह रहे हैं, जरा ध्यान से सुनें : यह आज से कोई अस्सी वर्ष पहले लिखे गए थे। वे कहते हैं—

"इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना-शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है, किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है। परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है।"

इतना ही नहीं, प्रसाद जी इससे आगे जिस तरह अपने हृदय की बात का खुलासा भी कर देते हैं, वह आज के हमारे विचारणीय विषय में उसके निमित्त-प्रसंग को भी पूर्वापेक्षित कर देता प्रतीत होता है। वे कहते हैं—

"यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितिवश तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।"

मित्रो! उक्त 'भिन्न-भिन्न अस्तित्व (संस्कृति के कारण)' वाली बात पर जरा गौर फरमाएँ। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अब आज की तारीख में उक्त प्रसादीय विवेक की प्रासंगिकता और भी प्रखर और सांगोपांग रूप धरके हमारे सामने—कहें, दुनिया के सामने—उजागर हो रही है। इसका अद्यतन दृष्टांत है, राजीव मल्होत्रा की एक मूलतः अँग्रेजी में, किन्तु श्री देवेन्द्र सिंह द्वारा हिन्दी में अनूदित पुस्तक—जिसका नाम ही 'विभिन्नता' है, और जो अपने उपशीर्षक 'पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती' को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली कृति है। पहली ही प्रतिक्रिया जो इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने के बाद हमारे जैसे पाठकों की होती है और होनी चाहिए, वह यह है कि यह जिन पाश्चात्यों को मुख्यतः सम्बोधित है, उनसे भी पहले या उनके साथ-साथ हम पौर्वात्यों को यानी भारतीयों को भी अवश्यमेव यह पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए। प्रथमतः इसलिए कि 'दूसरे' को उसके दूसरेपन में यथातथ्य जाने-पहचाने बिना उसके प्रति हमारा आत्मीय भाव भी अधूरा और इसीलिए अयथार्थ रह आता है, और दूसरे, इसलिए, कि स्वयं अपनी भारतीय विश्व-दृष्टि और धर्म-दृष्टि के बारे में हमारी जानकारी में छिद्र-ही-छिद्र हैं। 'छिद्रेषु अनर्थाः बहुली भवन्ति'। इस कारण हममें से बहुतों को यह पुस्तक ढेर सारी पुस्तकों में एक और पुस्तक की तरह नहीं, बल्कि पाठ्य-पुस्तक की तरह पढ़नी पड़ेगी।

बहरहाल, इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में ही ग्रन्थकार इसके लिखे जाने का औचित्य और उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिन्दे की तरह नहीं देखा जा सकता, जिसे बिना किसी नैसर्गिक एकता के कृत्रिम ढंग से जोड़ दिया गया हो। न तो भारत पश्चिमी आधुनिक जीवन-शैली के कुछ हिस्सों का एक विचित्र संग्रह भर है और न ही वह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में एक कनिष्ठ भागीदार। भारत की स्व: एक विशिष्ट और एकीकृत सभ्यता है, जिसकी तमाम गहन मतभेदों का समाधान करने की, विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों और दर्शनों के साथ रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की और मानवता की कई विविध धाराओं को शान्तिपूर्वक समाहित करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। भारतीय सभ्यता के मूल्य देवत्व, ब्रह्माण्ड और मानवता विषयक अनुभूतियों-विचारों पर आधारित हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की मौलिक अवधारणाओं के विपरीत हैं। मैं इस भारतीय-धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक दृष्टि को उलट देना चाहता हूँ, जो प्रायः पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित होता है और अनजाने ही पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान कर देता है।"

यह उद्देश्य—पाठक देखेंगे—यह ग्रन्थ बड़े सधे ढंग से और प्रामाणिक दृढ़ता के साथ कई सारे प्रासंगिक ब्यौरों में जाकर पूरा करता है। प्रथम तीन अध्यायों में पश्चिम की इतिहास-केन्द्रिकता तथा उसकी भीतर से विभाजित और द्वैतवादी विश्वदृष्टि के जबरदस्ती एकसूत्रित करने की ज़द्दोजहद का खुलासा करते हुए दर्शाया गया है कि किस तरह यह बलात्कृत एकता मूलतः कृत्रिम और अस्थायी है; जबकि इसके ठीक उलट भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ब्रह्माण्ड की अखण्ड एकता की अवधारणा मत-मान्यताओं की विविधता और बहुलता के प्रति अधिक टिकाऊ और तनाव-मुक्त दृष्टिकोण रखती और निभाती आई है। चौथे अध्याय में राजीव पश्चिमी विचारकों और टिप्पणीकारों द्वारा भारतीय जीवन-पद्धति और संतुलनकारी रीति-नीतियों पर लगाए गए अव्यवस्था और अराजकता के आरोपों के सचोट प्रत्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। वे प्रमाणपुष्ट ढंग से इस आलोचना पर पलटवार करते हुए उसे उलट देते हैं—यह वखूबी दर्शाते हुए, कि तथाकथित अव्यवस्था और व्यवस्था के प्रति पश्चिम का सोच भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से कितना और किस प्रकार भिन्न है।

उदाहरण के लिए अच्छाई-बुराई का द्वैतवाद, जो यहूदी और ईसाई मतों में स्थायी रूप से स्थापित है। इसके विपरीत हिन्दू धर्म में किसी बाहरी शैतान अथवा ईसा-विरोधी अवधारणा का कोई समतुल्य नहीं है। हमारा धर्म तत्त्वज्ञ ही नहीं महाकवि भी स्पष्ट कहता है अपने महाकाव्य में, कि 'कहेउ बेद इतिहास पुरान विधि-प्रपंच गुन-अवगुन साना'। यह पुस्तक भी इसी तारतम्य में दर्शाती है कि "यहाँ कोई ब्रह्मविरोधी, ईश्वर-विरोधी अथवा शिव-विरोधी नहीं है, क्योंकि अच्छाई और बुराई जटिल रूप में परस्पर गुँथे हुए हैं। हिन्दू विश्वदृष्टि—निश्चय ही अधर्म को क्षमा नहीं करती, किन्तु साफ-साफ जताती है कि अच्छाई और बुराई मानव-व्यक्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर ही स्थित हैं तथा उन्हें किसी बाहरी नियन्त्रण से नहीं; बल्कि अपनी चेतना की जागृति से ही काबू किया जा सकता है।'' असल में पश्चिम की ज्ञान-मीमांसा 'या तो यह, या फिर वह'—यानी 'Either-or' के मताग्रह से परिचालित रही है, जबकि अपने यहाँ 'यह भी और वह भी' 'दिस ऐज वैल एज दैट' का अनुभवसिद्ध प्रमाण ही स्वाभाविक और निर्णायक महत्त्व प्राप्त करता है। राजीव यहाँ 'रिचर्ड लेनॉय' को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार, ''भारतीय समावेशी परम्परा अच्छाई और बुराई के दो विरोधी ध्रुवों से कहीं अधिक गहराई के धरातल पर काम करती है। यहूदी और ईसाई मतों में सही या गलत के विपरीत विकल्पों में से एक को चुनने की अनिवार्यता जैसा आग्रह भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं है। भारतीय नैतिक सिद्धान्तों में अच्छाई और बुराई हमेशा सापेक्ष होती है और मूलभूत रूप से 'अच्छे' या 'बुरे' की किसी निर्णायक सटीक परिभाषा से दूर रहा जाता है।''

आगे राजीव मल्होत्रा ने यह भी दर्शाया है कि भारतीय दृष्टिकोण में 'सत्य', 'अच्छाई' और 'सौन्दर्य' के क्षेत्र किस प्रकार भिन्न हैं और प्रत्येक दूसरों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील है। पश्चिम में प्रायः इस तिकड़ी का प्रत्येक भाग बाकी दोनों पर एकपक्षीय ढंग से आरोपित हो जाता है। राजीव बताते हैं कि इसकी जड़ में पश्चिम की दो परम्पराएँ हैं—बाइबिल के 'चुने हुए लोग' सम्बन्धी अवधारणा और प्रकाश, समरूपता एवं रूप की शुद्धता सम्बन्धी यूनानी आग्रह। यह भी, कि भारतीय संस्कृति में अरण्य की खास भूमिका और महत्त्व है; जबकि दूसरी ओर मरुस्थली परिवेश ने इब्राहमी मतों को आकार दिया। हम आरण्यक भारतीय जन प्रकृति की दिव्यता का सम्मान करते हैं और उसे शैतान से कदापि नहीं जोड़ते। यह भी नहीं मानते कि ईश्वर ने मनुष्य को इस सृष्टि पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने या उसका निरंकुश उपभोग करने के लिए बनाया है। प्रकृति और उसके चराचर जीव एक ही ब्रह्माण्डीय परिवार का अंग हैं। भारतीय सभ्यता राजीव के शब्दों में 'वटवृक्ष' के समान एक ऐसी रचना है, जिसका कोई केन्द्रीय नियन्त्रक नहीं है; वह आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में अन्तर्गठित एक खुली संरचना है : स्वभावतः समावेशी और विविधता का बढ़ावा देने वाली।'' इसी अध्याय का समापन करते हुए लेखक ने 'पश्चिमी जोकर और भारतीय विदूषक' के तुलनात्मक सन्दर्भ का अपनी विषय-वस्तु के सार्थक निरूपण के लिए बड़े प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल किया है। अराजकता के प्रति पश्चिमी मानस में गहरे पैठे भय का उदाहरण है हालीवुड के बैटमेन की फिल्में। जबकि, दूसरी ओर संस्कृत नाटकों में अराजकता को जिस विदूषक के जरिए साकार किया जाता है, वह विदूषक अपने राजा से—जो कि व्यवस्था के रूप में धर्म की रक्षा करता है—विरोधाभासी और द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध रखते हुए भी विशेषाधिकार पाता है। इस तरह राजीव मल्होत्रा के अनुसार व्यवस्था का प्रतीक 'आकार सदृशः प्रज्ञः' वाला सुन्दर राजा और अराजकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रतीक विकृत चेहरेवाला विदूषक न केवल एक-दूसरे से अविभाज्य हैं, बल्कि सहकर्मी जैसे हैं—एक-दूसरे के प्रति समान और मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखते हुए।

इस पुस्तक को पढ़कर पाठक के चित्त में यह बात बैठ जाती है कि अब पुरानी लीक पीटना व्यर्थ है : वैश्विकता या विश्व-बोध या तुलनात्मक धर्म-दर्शन की चर्चा मात्र सदाशयी भावुकता और अनालोचित इकतरफा सहिष्णुता और सतही समानता की रटन्त से नहीं की जा सकती। एक भ्रामक विश्वयारी को विश्वबन्धुत्व के आसन पर नहीं बिठाया जा सकता; न परम्परागत और आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के वर्चस्वमूलक पूर्वग्रहों के कटु यथार्थ का सीधा सामना करने से कतराते रहने से ही अब काम चलने वाला है। अपने ढुलमुलपन का बहुत महँगा मोल हमने चुकाया है, जिसे आगे भी चुकाते रहने को हम कदापि अभिशप्त नहीं हैं।

ऐसा भी नहीं है कि हमारे निकट अतीत में इस तरह की सजगता और चिन्ता कभी व्यक्त की ही नहीं गई। हमारे स्वाधीनता-संग्राम की शुरुआत में ही इतिहास-विधाता ने हमारे बीच दो-दो विभूतियाँ ऐसी उपजाईं, जिन्होंने भारत की अपनी सभ्यता और विश्व-दृष्टि की पक्की पहचान के आधार पर ही राष्ट्रनिर्माण की राह दिखाई थी। यह अकारण नहीं है कि राजीव अपनी पुस्तक में इन दोनों विभूतियों के योगदान का यथास्थान और भरपूर उल्लेख-विनियोग करते हैं। चूँकि उनका क्षेत्र धर्मदर्शन का है और श्रीअरविन्द का जीवन-कार्य इस क्षेत्र में विशेष प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण ठहरता है, अतएव श्रीअरविन्द को अधिक विस्तार से उद्धृत किया गया है। किन्तु महात्मा गाँधी का 'हिन्द स्वराज' और श्री अरविन्द का 'फाउण्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर' दोनों ही इस पुस्तक के प्रणेता के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। एक में मानो हमारी सभ्यता के 'सुपरस्ट्रक्चर' का शंखनाद नए सिरे से और नई कालज्ञता (अजेंन्सी) के साथ सुनाई पड़ा था और दूसरे में उसी सभ्यता के क्षत-विक्षत 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' के कायाकल्प की आवश्यकता का आह्वान किया गया था। सवाल उठता है स्वभावतः कि आखिर क्या बात है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में इन्हीं शलाका -पुरुषों के योगदान की सर्वाधिक उपेक्षा हुई? *इस विकट और दुर्दान्त प्रश्न के सामने हमें उस कालखण्ड में ही विद्यमान हमारी सबसे तगड़ी दार्शनिक मेधा का स्मरण और पुनराह्वान करना होगा।* यूँ तो इन पंक्तियों के लेखक ने जब से लिखना शुरू किया, तभी से वह इस प्रसंग को बारम्बार दोहराता रहा है, किन्तु राजीव मल्होत्रा की यह पुस्तक उसे इस प्रकरण को फिर से रेखांकित करने की प्रेरणा दे रही है। यह आज से कोई तीस वर्ष पहले की घटना है, जब महात्मा गाँधी के पौत्र और स्वयं भी दर्शन के प्रोफेसर स्व. रामचन्द्र गाँधी ने मुझे कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का एक विस्मृतप्राय व्याख्यान लाकर दिया था—'स्वराज इन आइडियाज' शीर्षक। उसे तब पढ़ना मेरे लिए उसी तरह का उत्तेजक अनुभव था, जैसा अब आज राजीव मल्होत्रा की इस पुस्तक से गुजरने का अनुभव है। भट्टाचार्य का यह लेख मानो इस पुस्तक को पूर्वापेक्षित करता हुआ, सचमुच उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वाभास की तरह लगने लगता है। उस व्याख्यान को पढ़कर मेरी आँखें खुल गई थीं। इस किताब से भी उसके मर्म की पुष्टि होती है। इसमें पहली बार कायदे से और पूरी तैयारी और दमखम के साथ पश्चिम को अपना पूर्वपक्ष बनाकर उसके साथ सचमुच बराबरी के स्तर पर तगड़ा संवाद करने और उसे उसकी बुनियाद पर ही चुनौती देने की पहल सम्भव हुई है। किन्तु, दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने यह व्याख्यान हुगली कालेज के प्रिंसिपल प्रद पर काम करते हुए सन् 1927 में ही दे दिया था। यह अवसर मुझे प्रेरित कर रहा है कि उस दिशासूचक और बेहद महत्त्वपूर्ण व्याख्यान में उठाए गए मुद्दों को संक्षेप में सिलसिलेवार आपके सामने फिर से रेखांकित किया जाए। यह आज की हमारी विषय-वस्तु को भी समझने और मूल्यांकित करने में मददगार होगा। तो, ...लीजिए सुनिए—हमारा उस वक्त का सबसे तगड़ा दार्शनिक हमसे क्या कह रहा है—उस 'वैचारिक स्वराज' की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए, जिससे राजीव मल्होत्रा की प्रस्तुत पुस्तक भी अपने ढंग से अनुप्राणित जान पड़ती है। कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के कथनानुसार,

1. सांस्कृतिक गुलामी अवचेतन स्तर पर हमें जकड़े हुए है। यह तब उपजती है, जब विचारों-भावनाओं का हमारा पारम्परिक ढाँचा बगैर किसी स्पर्धा या तुलना के एक विजातीय साँचे के द्वारा विस्थापित कर दिया जाता है। तब वह विजातीय सभ्यता एक प्रेत की तरह हमसे चिपट जाती है।
2. तिस पर शिक्षा का समूचा तन्त्र ही हमारा ऐसा है कि पाश्चात्य संस्कृति ही हमारे भीतर सबसे पहले पैठ जाती है। जबकि, अपनी प्राचीन संस्कृति को हमारी चेतना इस तरह आत्मसात् नहीं कर पाती।
3. पाश्चात्य संस्कृति हम पर लादी तो गई। परन्तु हमने खुद उसकी माँग की थी। हममें जागरूकता होती, स्वाभिमान होता तो आँखें खुली रखके उसे पचाते। पर वैसा नहीं हुआ। उल्टे, हमारा जो परम्परागत मस्तिष्क था; मन था, वही हमारी चेतना से विच्छिन्न होकर अवचेतना में जा धँसा।
4. इस तरह हमारी चेतना पर हावी हो गए ये विजातीय विचार एक 'शैडो माइण्ड' को उपजाते हैं और जैसा कि लाजिमी है, यह शैडो माइण्ड (छाया-मस्तिष्क) कभी भी सृजनात्मक नहीं हो सकता। अनुकारी ही हो सकता है—सारे ऊपरी तेजतर्रारपन के बावजूद। हमारा अपना देसी माइण्ड इस 'शैडो माइण्ड' द्वारा विस्थापित और बेदखल कर दिया गया है।
5. इसी स्थिति के चलते हम अपने बारे में दूसरों के—यानी हम पर विजयी और हावी हो चुकी विजातीय सभ्यता के फैसलों को ज्यों-का-त्यों कबूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेते हैं। या फिर एक नपुंसक नाराजगी में कैद मन-ही-मन कुढ़ते रहते हैं।

6. हमारी राजनीति में शक्ति की कोई मौलिक कल्पना या 'पर्सेप्शन' नहीं। चाहे हमारा निर्विचार परम्परावाद हो, चाहे काल्पनिक मनमाना प्रगतिवाद हो, दोनों ही मुद्राएँ हमारी निहायत नकलची हैं।
7. जगद्गति सबको व्यापती है। बदलती हुई जगत्-गति के साथ तालमेल बनाए रखना अनिवार्य है। किन्तु यहाँ पैबन्दों से काम नहीं चलता।
8. इस विडम्बना और मतिभ्रम से उबरने के लिए विजातीय आक्रामक सभ्यता के साथ एक सुनिश्चित टकराव और संघर्ष अनिवार्य है; पर यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी सभ्यता के बुनियादी मूल्यों-प्रतिमानों के प्रति गम्भीर हों।
9. इस संघर्ष की प्रक्रिया में सचमुच उतरने पर हम पाएँगे कि पश्चिम के साथ संश्लेषण या 'सिन्थेसिस' हर जगह जरूरी नहीं है।
10. विश्ववाद के पक्ष में भी हमारी गतिविधियाँ तभी सार्थक होंगी, जब सारी तर्क-बुद्धि एक सुदीर्घ आत्म-मन्थन की प्रक्रिया से गुजरेगी। यहाँ बुद्धिवाद श्रद्धा का विलोम नहीं, बल्कि गहरे में अन्तर्निहित श्रद्धा द्वारा ही प्रेरित और परिचालित होता है। इसके ठीक विपरीत दिशा वह है, जिसमें हम एक सतही और कामचलाऊ यान्त्रिक समझ द्वारा ही काम चलाने के आदी हो चुके हैं।
11. वास्तविक सांस्कृतिक आत्मविश्वास प्राप्त करने के लिए हमें संकीर्ण राष्ट्रवाद और मिथ्या देशाभिमान से ऊपर उठना होगा।
12. वास्तविक रूप से सार्वभौम केवल आत्मा, यानी 'स्पिरिट' है। तर्क या 'रेलीजन' नहीं।
13. जब हम अपने जनमानस के भीतर गहरे भिदे संस्कारों-विचारों के अनुसार उनसे उनकी अपनी शब्दावली और अपनी शर्तों पर सोचना नहीं सीखते, तब तक हमारे सोचे-किए का उन पर कोई असर नहीं पड़ेगा। मसलन, जाति-प्रथा के निन्दक हमारे बुद्धिजीवी अपने-आप में एक जाति-व्यवस्था में जड़ीभूत हो चुके हैं, जो पहले से भी बदतर है।

राजीव मल्होत्रा की पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है पश्चिमी सार्वभौमिकता के दावों का खण्डन करना। इन दावों के मुताबिक पश्चिम ही विश्व-इतिहास का चालक और नियन्ता है। हेगल का सारा दार्शनिक अध्यवसाय इसी सार्वभौमिकता को स्थापित करने को समर्पित जान पड़ता है। यहाँ तक कि, इस पुस्तक में जहाँ काण्ट का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया है, उससे भी कुछ इसी तरह के मनोभाव का सूचन होता है। मगर, जैसा कि हमने ऊपर देखा—भारतीय दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य का मानना है कि सार्वभौम केवल 'आत्मा' होती है, तर्क या धर्म नहीं। अब हेगल भी बात तो 'स्पिरिट' की करता है। क्या 'स्पिरिट' से भट्टाचार्य का वही आशय है, जो हेगल का है? अपनी सहज बुद्धि यही सुझाती है कि भारतीय तत्त्वज्ञान जिसे 'आत्मा' कहता है और पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का प्रतिनिधि हेगल जिस 'स्पिरिट' की बात करता है, जिसके आधार पर पश्चिम का सार्वभौमिकता का दावा प्रतिष्ठित है, उनमें कुछ तो फर्क होगा। वह फर्क क्या है? भट्टाचार्य का उपर्युक्त 'वैचारिक स्वराज' वाला निबन्ध इसमें हमारी मदद नहीं करता। क्या राजीव मल्होत्रा इस पर कुछ सोचने-कहने को प्रेरित हुए हैं? वैसे उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "पश्चिम एक साँचा प्रदान करता है, जिसमें सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों को बैठना ही है। पूर्वपक्ष को पलटने से हम उन तरीकों का पर्दाफाश कर सकते हैं, जिन्होंने भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति गलतफहमियाँ फैलाकर उनकी अवमानना की है।"... स्पष्ट ही तब इनमें आत्मा की भारतीय अवधारणा का विरूपण भी शामिल है। इसी अध्याय पाँच के अन्तर्गत 'अरूपान्तरणीय संस्कृत शब्द और उनके पश्चिमी पाचन' का खुलासा करते हुए राजीव मल्होत्रा ने ब्रह्म या ईश्वर को 'गॉड' का समानार्थी मान लेने का खंडन किया है, और उसी तरह धर्म को 'रिलीजन' का और वेद को भी 'बाइबिल' अथवा 'गौस्पेल' का समतुल्य ठहराने का भी खण्डन किया है, उसी दृढ़ता के साथ उन्होंने यह भी युक्तियुक्त ढंग से दर्शाया है कि क्यों 'आत्मा' को Soul अथवा स्पिरिट नहीं कहा जा सकता। उन्हीं के शब्दों में—

"हिन्दू धर्म में व्यक्ति की सच्ची अस्मिता को आत्मा के रूप में जाना जाता है। 'आत्मा' परम, सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है तथा इस प्रकार वह यहूदी-ईसाई अवधारणा की Soul या Spirit से एकदम भिन्न है। बहुत से ईसाई इस सोच को पसन्द नहीं करते कि Soul के बारे में उनकी अवधारणा आत्मा की तुलना में सीमित है, फिर भी वे उस विशिष्ट इतिहास पर अपनी निर्भरता त्यागने को तैयार नहीं, जो स्वयं ही इन सीमाओं का आधार है।"

"आत्मा की भारतीय अवधारणा 'पुनर्जन्म' और 'कर्म' की अवधारणाओं से जुड़ी हुई है। ...वास्तव में, यदि ईसाई मतानुसार मानव की अवस्था के वर्णन में मूल पाप (ओरीजिनल सिन) को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से विस्थापित कर दिया जाए तो उनका पूरा इतिहास-केन्द्रिक ढाँचा अपने स्वर्ग और नरक की अवधारणाओं समेत भरभराकर ध्वस्त हो जाएगा।"

अब हेगल की 'विश्वात्मा' भी तो अन्ततः इसी इतिहास-केन्द्रिक ढाँचे का पुनर्नवीकरण जैसा ही करती है। इसी अध्याय के 'हेगल का पश्चिमी मिथक' (पृ. 347-49) शीर्षक खण्ड में राजीव हमें याद दिलाते हैं कि हेगल का दार्शनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यवसाय भारत के अतीत के प्रति फैले जर्मन रोमैण्टिकों के जुनून की प्रतिक्रिया स्व-रूप में प्रगट हुआ। अद्वैतवाद के भारतीय दृष्टिकोण को अपनाने के बावजूद और साथ-साथ ही उसने भारतीय सभ्यता की उपयोगिता को निरस्त करने में भी अपनी जान खपाई। क्यों? इसलिए, कि "उसने यह माना हुआ था कि पश्चिम और केवल पश्चिम ही इतिहास और प्रयोजनवाद का एकमात्र प्रतिनिधि है। इसलिए उसने भारत को 'जड़ सभ्यता' मानकर उसकी तुलना में पश्चिम को परिभाषित किया। राजीव मल्होत्रा ने अन्य विचारकों से हेगल के भेद और वैशिष्ट्य को ठीक-ठीक परखते हुए ही हेगल को यह श्रेय दिया है कि यूरोपीय 'एनलाइटनमेण्ट' के संस्थापक के रूप में उसने इतिहास के एक शक्तिशाली और प्रभावकारी दर्शनशास्त्र का विकास किया, जिसमें सभी सभ्यताओं का भूतकाल और वर्तमान एक ही साँचे में समाहित कर दिया गया।" साथ ही हेगल ने अब्राहमी परम्पराओं की इतिहास-केन्द्रिकता और उनके Salvation के कथानकों को गहरे में आत्मसात् करते पुनर्निर्मित किया—एक अधिक धर्मनिरपेक्ष और व्यापक सन्दर्भ में।

निश्चय ही यह पाश्चात्य दर्शन और धार्मिकता के इतिहास को देखते हुए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और इसने विश्वस्तर पर विचारकों को प्रभावित किया है। सवाल यह है कि पाश्चात्य सार्वभौमिकता के इस तरह पुनर्नवीकृत दावे को—अर्थात् हेगल के विश्ववाद और इतिहासवाद को—आधुनिक भारत के विचारकों में से क्या किसी ने कभी चुनौती दी है? यह भी, कि स्वयं राजीव मल्होत्रा ने उसका कैसा-क्या खण्डन किया है? राजीव का कहना है कि—

"धर्म से अलग होते हुए और एक विशुद्ध ग्रीक धर्मनिरपेक्ष तर्क प्रणाली को अपनाने से हेगल का भव्य कथानक कई मायनों में यहूदी-ईसाई मुक्ति (Salvation) के इतिहास की प्रतिच्छाया जैसा है। इस तरह हेगल की 'वर्ल्ड स्पिरिट' अर्थात् विश्व-प्रवृत्ति इसी इतिहास की समर्थक है, जिसके अनुसार 'पश्चिम असाधारण है क्योंकि वह इस यात्रा का नेतृत्व करने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है, जबकि अन्य सभ्यताओं को उसके पीछे चलना होगा या फिर मिट जाना होगा।"

क्या है हेगल की यह प्रछन्न इतिहासवादी विश्व-प्रवृत्ति? राजीव के कथनानुसार ..."वह समग्र मानवता को लिए हुए एक कृत्रिम एकता है। यह पश्चिम को विशेषाधिकार से मण्डित करती है और जो इस योजना में फिट नहीं बैठते, वे इतिहास का हिस्सा ही नहीं हैं।" भूगोल भले सभी मानव-प्राणियों का एक हो, परन्तु इतिहास एक नहीं है। नीचे से ऊपर की ओर विकसित होनेवाली यह 'स्पिरिट' हेगल के अनुसार ईश्वर की योजना है और विश्व इतिहास-विधाता (हमारे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी प्रिय शब्द—ध्यान दें) की योजना के सिवाय और कुछ नहीं है। विश्व ईश्वर द्वारा संचालित होता है और विश्व-इतिहास उनके प्रशासन का तत्त्व तथा उनकी योजना का क्रियान्वयन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु राजीव का मानना है कि हेगल द्वारा प्रस्तावित एकता जातिवादी है, जहाँ पश्चिम ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र में है। वैश्विक इतिहास इस दृष्टिकोण से पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। यूरोप पूर्णतः सार्वभौमिक इतिहास का अन्तिम छोर है, जबकि एशिया उसका प्रारम्भ। उसके प्रागैतिहासिक रंगमंच में वे देश आते हैं, जो इतिहास विधाता द्वारा नहीं चुने गए। जैसे अफ्रीकी और मूल अमरीकी। वे हेगल के कथनानुसार 'मूर्ख और अज्ञानी बच्चे' हैं। रहा भारत, तो उसके बारे में हेगल का स्पष्ट अभिमत है कि 'भारत का कोई इतिहास ही नहीं है।' हेगल का ईश्वर स्वयं तर्कसंगत है और उसने पश्चिम को ही तर्कबुद्धि से सम्पन्न किया है। इसलिए वह इतिहास की संचालक शक्ति है। राजीव के अनुसार, "भारत के प्रति हेगल अजीब ढंग से भयभीत और अन्ध प्रतिक्रियाग्रस्त है।" हेगल की दृष्टि में भारत स्वयं कुछ ठोस कार्य करने की बजाय विश्व-इतिहास के नायकों का पिछलग्गू बना रहा। यह भी, कि "भारतीय मनीषा की सहज प्रकृति ऐतिहासिक सत्य नहीं है, केवल सपने ही उपजाने में सक्षम है। भारतीय बुद्धि कल्पना और अराजकता में खोई हुई है और उसमें विशिष्टता के स्पष्ट भाव की और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भारी कमी है। यह ऐसा दमनकारी समाज है, जिसमें धार्मिकता और निरंकुश कामुकता अपने चरम पर है। इसीलिए भारत शैशवावस्था में फँसा हुआ है, उसका विकास स्थगित है और वह स्वयं परिपक्व होने में असमर्थ है। यह पश्चिम का दायित्व था कि वह भारत को उपनिवेश बनाकर उस पर शल्यक्रिया करे।"

भारत के बारे में इसी हेगलीय समझ को कार्ल मार्क्स द्वारा बनाए रखा गया। सारांश यही, कि "हेगल के इतिहासवाद ने पश्चिम की उदार-पंथी श्रेष्ठता को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई जो सार्वभौमिकता प्रदान करने की धारणा के पीछे छुपी रहती है। यूरोपीय 'एनलाइटनमेंट' से लैस ये पूर्वधाराणाएँ शिक्षा-दर्शन, भाषाशास्त्र, समाज-विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धतियों के संगम में सम्मिलित कर ली गईं और ये सभी ईसाई मतवाद के साथ-साथ विभिन्न साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक मूल्यों से संचालित रहीं।

राजीव ने इसी अध्याय में एक तालिका के द्वारा दर्शाया है कि भारत के पश्चिमी अध्ययनों में बड़ी संख्या में भारतीय विद्वानों को हड़प लिया गया है। वे उत्तर-उपनिवेशवादी विद्वानों को भी बखूबी पहचानते हैं, जिन्होंने पश्चिमी एकाधिपत्यवादी विचारों को चुनौती तो दी, लेकिन धार्मिक आधारों पर खड़े होकर नहीं। राजीव मल्होत्रा के लिए ये धार्मिक आधार सर्वाधिक निर्णायक महत्त्व के हैं। धार्मिक श्रेणियों का उपयोग—सिर्फ भारतीय सभ्यता के अवलोकन हेतु नहीं, प्रत्युत् पाश्चात्य सभ्यता के अवलोकन के लिए करना उनकी प्राथमिक अभीप्सा और लक्ष्य हैं। वे साफ-साफ कहते भी हैं कि धार्मिक श्रेणियों का आधिकारिक उपयोग कर सकनेवाले विद्वान बहुत ही दुर्लभ हैं और उनका सख्या बढ़ाना ही उनका लक्ष्य है। यह पुस्तक निश्चय ही इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्य को समर्पित है और निराशा के कर्तव्य की तरह नहीं, बल्कि आशा और आस्थाजनित कर्तव्य की तरह उनके समानशील को सम्बोधित करती है। इसमें उन्हें सर्वाधिक प्रेरणा और पुष्टि श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी से मिली है। मुझे ऐसा लगता है कि मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियों (जिन्हें चर्च ने नकारा) और भारतीय तत्त्वज्ञान तथा कला के मर्मज्ञ आनन्द कुमार स्वामी को तथा हेगेलोत्तर पाश्चात्य दार्शनिक हाइडेग्गर जिसने पाश्चात्य दर्शन-परम्परा को 'कॉन्सेप्चुअल कण्ट्रोल ऑव दि यूनिवर्स' की तरह परिभाषित करते हुए भाष्यात्मक चिन्तन की नई लीक डाली तथा जो देरिदा इत्यादि उत्तर-आधुनिक विखण्डनवादियों का प्रेरणास्रोत बना, उसके तथा उसके सबसे अधिकारी प्रवक्ता दर्शनाचार्य जे.एल. मेहता को भी इस पुस्तक में स्थान मिलना चाहिए था। साथ ही, श्री अरविन्द के बाद या साथ-साथ जो योगी-रहस्यदर्शी यहाँ प्रकट हुए और जिनका लिखा या बोला यूरोपीय शिष्यों की बदौलत ही सही, हमें आसानी से उपलभ्य है प्रकाशित रूप में, उनका साक्ष्य भी इस पुस्तक की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के लिए प्रासंगिक और पुष्टिकारक हो सकता है। जैसे विशुद्धानन्द परमहंस, रमण महर्षि, निसर्गदत्त, मंगतराम, श्री अनिर्वाण (जो उच्चकोटि के साधक-योगी होने के साथ ही साथ अभिव्यक्ति-कुशल आचार्यत्व से सम्पन्न थे।) इत्यादि ...। ये सब उसी 'अभिन्न एकता' के ही मर्मी और प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ सरीखे महापुरुष हैं, जो इस ग्रन्थ के रचयिता राजीव मल्होत्रा का प्रतिपाद्य पक्ष है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी दुनिया और मैं

शंकर पुणताम्बेकर*

मैं पहली–सामान्य दुनिया का आदमी दूसरी–विशेष दुनिया पर लिखने को बाध्य हूँ। जो मस्तिष्क में है वह न लिखूँ तो अपने शब्दों के प्रति मैं बेईमान हूँ यह कचोट मन को खाती रहेगी।

यह दूसरी दुनिया अमरीकी या यूरोपीय दुनिया नहीं है या स्वर्ग की ही। यह तो हमारे ही फुटपाथ के समानांतर चलनेवाली सड़क की दुनिया है। पैदल को पीछे छोड़ आगे दौड़ जानेवाली वाहन की दुनिया।

यह पैसे के बाजार और सत्ता के आजार की वह दुनिया है, जिसमें अमरीका, यूरोप, स्वर्ग सब-कुछ है। उन सारे सुख-सुरक्षा साधनों से सम्पन्न है, जिनकी खोज और निर्माण में पहली दुनिया मर-खप उठती है।

पहली दुनिया का मैं स्कूल का अध्यापक हूँ, दूसरी दुनिया का वह स्कूल की इमारत है। वास्वत में हम दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वह मेरी किताब पढ़ा नहीं सकता और मैं उसकी इमारत बनवा नहीं सकता। पर नहीं, मेरे बिना वह शून्य नहीं, मैं उसके बिना शून्य हूँ। मेरी अन्दरूनी कीमत लाख हो, जब तक वह मुझे खरीद नहीं लेता, मैं शून्य हूँ। इसके विपरीत जब तक उसका बाहरी मूल्य लाख है, लाख वह शून्य और शून्य हो, मैं लाख नहीं हूँ।

पहली और दूसरी के अलावा एक और दुनिया है। इसे मैं तीसरी दुनिया नहीं कहूँगा। किसानों-श्रमिकों-दलितों की दुनिया है यह, जो होकर भी नहीं है, तो इसे कैसे कोई श्रेणी दी जाए।

मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। हाँ, नई नहीं। वही कर रहा हूँ, जो युगों से हो रही है।

मैं मूर्ख हूँ कि वही बात कर रहा हूँ, जो युगों से की जा रही है!

* प्रख्यात लवित निवंधकार; संपर्क : मायादेवी नगर, जलगाँव 425002; मो. 0940315931

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, मैं मूर्ख, युग नहीं, जिसे देख मैं कह रहा हूँ, एक ऐसी भी दुनिया है, जो होकर भी नहीं है। उस युग को देखकर जो ज्ञान-विज्ञान की डींग हाँकता है, लोकतन्त्र का ढोल पीटता है, न्याय-विवेक के गीत गाता है। वह युग कैसे मूर्ख हो सकता है जो अणु से परमाणु बन गया है।

युग बदला, दुनिया भी बदली और तेजी के साथ बदलती जा रही है। पर कौन सी दुनिया? दूसरी दुनिया। लक्जरी की दुनिया। क्लब की दुनिया—हार्ट की दुनिया नहीं। इक्का-राजा की दुनिया। दुप्पी-तिप्पी-गुलाम की दुनिया नहीं। क्रिकेट की दुनिया—गुल्ली-डंडा की दुनिया नहीं।

दूसरी दुनिया में इण्टरनेट आ गया, लाखों मील की दूरी का दृश्य देखते-देखते सामने उपस्थित, जबकि मेरी दुनिया का दृश्य नहीं सन्देश भी पन्द्रह मील की दूरी का पन्द्रह दिनों बाद मिल पाता है।

मुझे पानी उपलब्ध नहीं पीने के लिए, दूसरी दुनिया में कोकाकोला और पेप्सी की नदियाँ बह रही हैं।

पानी देसी है और मैं मुहताज हूँ, कोकाकोला-पेप्सी विदेशी हैं और दूसरी दुनिया सरताज है।

मेरी दुनिया का चूल्हा मिट्टी के तेल के लिए कलपता है और दूसरी दुनिया का कैम्पफायर विमान का पेट्रोल फूँकता नजर आता है। मेरी सूरज कविता न्यूज प्रिण्ट में रोती है तो दूसरी दुनिया का जुगनू निमण्त्रण ग्लेज्ड पर फुदकता है। मेरी स्टडी मिट्टी है दूसरी दुनिया का टॉयलेट संगमरमर है।

मैं फिर कहता हूँ कि मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। बिलकुल घिसी-पिटी कर रहा हूँ। ऐसी घिसी-पिटी की सुनकर कोई संवेदना नहीं होती है। डाका डाला, बलात्कार किया, खून किया ... इक्का-दुक्का नहीं यह सब बड़े पैमाने पर हुआ, बड़ी बीभत्सता से हुआ, पर सुनकर या पढ़कर हमें कोई संवेदना नहीं।

हम भावुकता के युग में तो नहीं रह रहे हैं, कि हमें संवेदना हो, हम ज्ञान-विज्ञान के युग में जी रहे हैं। इण्टरनेट में जिसने देखते-देखते हमें इन दुर्घटनास्थलों पर पहुँचा दिया है।

कभी ऐसी वारदात केवल सुनते तो हम ऐसे कच्चे थे कि सुनते ही हमारे रोंगटे खड़े हो उठते थे। कितने पिछड़े हुए थे हम। अब ऐसी वारदात प्रत्यक्ष देखकर भी हम ऐसे पके हुए हैं कि हमारी चमड़ी पर कोई असर ही नहीं होता। हाँ, ऐसे ही प्रगत हैं हम।

संवेदना का पारा जितना नीचे, उतने प्रगत हम।

क्रिकेट मैच चल रहा है। प्रगत दुनिया का खेल, दूसरी दुनिया का खेल। दूसरी दुनिया मैच अपने एअरकण्डिशण्ड हॉल में टीवी पर देख रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस एअरकण्डिशण्ड दुनिया में बाहर की खुली रोशनी और हवा नहीं, वह जो प्रकृति की है। ये हैं मशीनी। प्रकृति से रिश्ता जितना दूर-दूर, उतने हम प्रगत। किसान और मजदूर प्रकृति से कितने जुड़े हुए हैं, सो वे कितने पिछड़े हुए।

ओफ! मुझे फिर कहना पड़ रहा है, मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। हाँ, एअरकण्डिशण्ड में टीवी देखने की भी। क्या अब नई बात यह करूँ कि लोकतन्त्र आ गया है? पर अब यह बात भी तो पचास साल पुरानी हो गई है। क्या यह बात करूँ कि नया प्रधानमन्त्री आ गया है? नया कलेक्टर और पुलिस सुपरिंटेंडेण्ट आ गए हैं। कितने ही प्रधानमन्त्री आए-गए, कलेक्टर-सुपरिंटेंडेंट आए-गए। मुझे और श्रमिक को तो नित्य यही लगा है कि लोकतन्त्र मुझसे और सामान्य आदमी से दूर-दूर जा रहा है, वह दूसरी दुनिया में सिमटता जा रहा है। मेरी दुनिया को छत मिली हो या न मिली हो, दूसरी दुनिया को एअरकण्डिशनर जरूर मिला है।

हाँ तो, एअरकण्डिशनण्ड हॉल में टीवी पर क्रिकेट मैच देखा जा रहा है।

बैटिंग, बोलिंग, फिल्डिंग, एलबीडब्ल्यू, बाउंस, कैच, रन, लेगस्पिनर, सिक्सर, वगैरह-वगैरह में दुनिया सिमट गई है। दूसरी दुनिया। नहीं नहीं। मेरी दुनिया भी।

और क्या बताऊँ, अचानक बिजली चली जाती है और बिजली क्या जाती है लोग बौखला उठते हैं।... अरे अरे, यह क्या। बिजलीघर को फोन करो। क्या बात है, बिजली कैसे चली गई। हरामखोरों, सोते रहते हो क्या? हमारे खेल का क्या होगा?

एअरकंडिशनिंग बन्द पड़ गया। दम घुटने लगा। इस दूसरी दुनिया का दम बाजार-कंडिशनिंग बिगड़ जाने से नहीं घुटता, एअरकंडिशण्ड बन्द हो जाने या बिगड़ जाने पर घुटता है।

आखिर बिजली आती है, एअरकंडिशनिंग के दम में दम आता है। ओफ्, भारत ने इस बीच बहुत कुछ खो दिया है। अब भारत जरूर हार जाएगा। बिजली क्या चली गई, सब कुछ चला गया।

तभी कोई बेहूदा आदमी फोन पर बताता है, नगर में नक्सलवादियों ने एक परिवार के दस लोगों को गोलियों से भून दिया। सुनकर एअरकंडिशण्ड कहता है, जानते हो भारत हार रहा है। नाव पार लगती नहीं दिखती, तेन्दुलकर जो आउट हो गया है।

नक्सलवादियों का आतंक बढ़ता जा रहा है।

क्या लिए बैठे हो, अरे सौरभ गांगुली ने छक्का लगाया है छक्का! ब्रेवो सौरभ गांगुली।

तीन माह के अन्दर यह दूसरी वारदात है।

होगी। तीसरी-चौथी भी हो सकती है। भारत को अपनी नाक ऊँची रखनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेलिफोन दूसरी तरफ से सवाल करता है, क्या ऐसी वारदातों को चुपचा झेलकर?

मूर्ख हो, मैं क्रिकेट की बात कर रहा हूँ।

और भारत जीत जाता है। भारत क्रिकेट में जीत गया, इससे भारत ने आसमा छूती महँगाई पर, बढ़ते हुए भ्रष्टाचार पर, आतंकवादियों की हरकतों पर ही जैसे जी हासिल कर ली।

ऐसा ही एक क्रिकेट खेल और है। लोकतन्त्र है इस खेल का नाम। इस मैदान को स्टेडियम नहीं पार्लियामेण्ट और लेजिस्लेचर कहते हैं।

एअरकंडिशनिंग वाले लोग ही इस खेल में विशेष आनंद लेते है। खिलाड़ियों रन पूरे देश के रन हैं, पर देश के लोगों तक ये पहुँच ही नहीं पाते। इन् एअरकंडिशन्ड लोगों के कारण। ये ही बीच में बहुत-कुछ हड़प लेते हैं। दूसरी दुनि के इन लोगों के लिए पार्लियामेंट और लेजिस्लेचर जैसे रेस का मैदान है। घोड़ों की तरह ये मन्त्रियों पर रकमें लगाते हैं।

कहा जा सकता है कि मैं यह भी कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ।

अब नई बात करूँ तो कैसे करूँ? हम रोज जो अखबार पढ़ते हैं, वह भी क नया होता है, एक तारीख को छोड़कर? सोचें, विचार करें! उसमें नई छूटों-सुविधा की बात होती है, ...हाँ, होती है नई सरकार की भी होती है, पर सब दूसरी दुनि हड़प ले जाती है। पहली दुनिया को तो आज पचास वर्षों में हर छूट या सरकार-क नई क्या पुरानी एक-सी रही हैं।

अतः पुरानी गलत बात के अस्तित्व में रहते नई बात की बात क्यों कम-से-कम मेरी दुनिया के...पहली दुनिया के लोग तो इस बारे में गम्भीरता से विच करें। ....गम्भीरता से विचार करें कि जो भी आज हमारे देश में गलत है, उसकी ज में दूसरी दुनिया है।

दूसरी दुनिया विकास के नाम क्या फालतू चीजों का निर्माण नहीं कर रही है टूथपेस्टों का, शैम्पू-साबुनों का, चॉकलेट-बिस्कुटों का, क्रीम-पावडरों का, खाद्यों-पे का, कैसेटों-टेपों का?

टूथपेस्टों से हमारे दाँत मजबूत न बनते हों, पर दूसरी दुनिया के दाँत हमारी जे कुतरने के लिए जरूर पैने बनते हैं।

कितने प्रकार के साबुन-शैम्पू तैयार होते हैं बाप रे बाप! क्या स्वच्छता ही स कुछ नहीं है, उसमें 'चमकार' होनी ही चाहिए?

दाँतों का सत्यानाश करने वाले चॉकलेट-बिस्कुट हमें अपने ही भाड़ से दूर क भाड़ में ही झोंक रहे हैं, इसका विचार हमने कभी किया? और क्रीम-पावडरी त्वचा ह अपनी ही मिट्टी से दूर नहीं कर रही है? पेप्सी-कोकाकोला पीते हुए कभी हमने सो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इनके निर्माता हमारा रक्त पी रहे हैं? कैसेट-टेप हमें पैरों की थिरकन के सिवा ऐसा कुछ देते हैं, जिसमें मस्तिष्क का भी स्थान हो।

ये सारी-की-सारी चीजें कितनी गैरजरूरी! पर इन गैरजरूरी चीजों ने दूसरी दुनिया का क्या-से-क्या बना दिया...उस दूसरी दुनिया को जो हमारे देश से कहीं अधिक विदेशों में फैली हुई है।

एक बारीक बात की ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। गैरजरूरी चीजें हम पर लादनेवाली इस दूसरी दुनिया के लिए हम क्या हैं? अपनी चीजें हमारे मत्थे मढ़ देने के बाद सर्वथा गैरजरूरी।

इन गैरजरूरी चीजों से दूसरी दुनिया विकास के चरम पर है। इन चीजों ने उसे पंचतारा होटल दिए, उसमें उँची शराबें और नंगे नाच दिए, रमणीय हॉलीडे रिसॉर्ट दिए, कुबेरी अस्पताल दिए और-तो-और इनके ही इशारों पर नाचनेवाली सरकारें दीं।

यह सारा ऐसा विकास जिसमें हमारी पहली दुनिया को प्रवेश नहीं। हमको ही लूटकर बने हुए विकास में।

हाँ, हमारे लिए थिएटर खुले हैं, जहाँ नंगी फिल्में थिरकती हैं; स्टेडियम जहाँ के खेलों पर झूमने की हमें पूरी छूट है; और ऐसे मंच भी, जहाँ हम इस दूसरी दुनिया के खिलाफ इसी के द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों में मुक्त होकर चिल्ला सकते हैं।

क्या हो गया है हमें? पहली दुनिया के लोगों को? उन लोगों को जो समाज के क्रीम हैं—लोकमान्य तिलक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भीमराव आम्बेडकर, चिन्तामणि देशमुख, विजयलक्ष्मी पण्डित हैं?

कैसी विडम्बना कि सोचनेवालों की सोच ही कुण्ठित हो गई है! अपनी सोच और बुद्धि को हमने बाजार में ले जाकर बैठा दिया है। बाजारू सोच और बुद्धि में ही हम अपने जीवन की परम उपलब्धि मान रहे हैं। हम नहीं देख पा रहे हैं कि हमारा बाजारूपन बूमेरंग बना हमारी ही सोच-बुद्धि को, संस्कार-संस्कृति को क्षत-विक्षत कर रहा है।

हम बाजारू बन गए हैं दूसरी दुनिया के हाथों, दूसरी दुनिया के सपनों में डूबे। हम दूसरी दुनिया के पोस्टर बना रहे हैं, विज्ञापन रच रहे हैं, समाचार गढ़ रहे हैं।

मैं यहाँ नौकरशाहों की बात नहीं करता, डॉक्टरों-वकीलों की बात नहीं करता। नौकरशाह तो सीधे-सीधे बिके हुए लोग हैं और डॉक्टर-वकील बाजारू सोच-बुद्धिवादी। मैं उन लोगों की बात करना चाहता हूँ, जिन्होंने 'आखर' में मन्त्र की शक्ति पाई है, तन्त्र या यन्त्र की ध्वनि नहीं।

दुःख होता है देखकर कि आखर के मन्त्र की शक्ति जब कुर्सी में विराजमान हो जाती है तो वह अपने ही आखर का शोषण करने लगती है। बाबू की छोटी कुर्सी में से भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिंसिपल दूसरी दुनिया का हस्तक बनकर अपने ही आखरों पर अन्याय करने लगता है।

सम्पादक दूसरी दुनिया के हाथों ढोल बन जाता है। लेखक पद-उपाधि-पुरस्कार के लिए दूसरी दुनिया की देहरी पर मस्तक टेकता है।

आज हम दिग्भ्रमित हैं। वे ही जिनके पास दिशा है, रोशनी है। हम दिग्भ्रमित न बनें, यदि दूसरी दुनिया के आकर्षण से दूर रहें। इसके लिए बहिष्कार करें उन अनावश्यक चीजों का, जो दूसरी दुनिया हम पर थोप रही है। मुझे तो तलाश है ऐसे आखरों की जो अभिमान से कहें, मेरे यहाँ टीवी नहीं है, फ्रीज नहीं, स्कूटर नहीं है, सोफासेट नहीं है।

सच कहूँ तो आज हमें अपने सही विकास के लिए दस्तक देती इक्कीसवीं शताब्दी में नहीं, गुजर गई सोलहवीं शताब्दी में जाना होगा। उस शताब्दी में जहाँ भौतिकता के बदले आत्मसम्मान की गूँज थी। आज आखर जिस प्रतिष्ठा की बात करता है, उसमें आत्मसम्मान की गन्ध मैं ढूँढ़ता रह जाता हूँ। उसका ऊँचा बँगला मुझे उसके आत्मसम्मान की कब्र लगता है।

हम बहिष्कार कर सकते हैं उनका, जो दहेज के मांसभक्षी गिद्ध हैं, उनका जो भ्रष्टाचार के घिनौने सूअर हैं, उनका जो दूसरी दुनिया के वफादार कुत्ते हैं।

अनावश्यक चीजों का बहिष्कार भी कोई छोटी-मोटी चीज नहीं होगी. यह दूसरी दुनिया की कमर तोड़कर रख देगी।

बहिष्कार हम उन ऊँचे गायकों, एक्टरों, खिलाड़ियों का भी करें, जो राष्ट्र के उत्थान में मूलतः हाशिए के लोग हैं, किन्तु जिन्हें हम ऐसा सिर पर बिठाए रहते हैं कि जैसे ये ही देश के रत्न हैं।

ये लोग देश के ऐसे कौड़ी-मोल रतन हैं, जो गरीबोन्मुखी कभी नहीं रहे। ये ऊँची महफिलों, ऊँचे भोजों, फैशन परेडों, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं, निरर्थक महोत्सवों में ही दिख पड़ते हैं। ये ऐसे विज्ञापनों से लाखों की रकम पाते हैं, जो देश को लूटकर करोड़ों की सम्पत्ति को विदेशों में ले जाते हैं।

हम सरकार की उन योजनाओं का बहिष्कार करें, जो अमीरी रेखा के ऊपर के लोगों के लिए होती हैं। फास्ट ट्रेनें, ए.सी. ट्रेने, लक्जरी बसें, इंडिका कारें क्या इस गरीब देश के थिगले में रेशमी झालर जैसी नहीं लगतीं? हमारी फास्ट ट्रेनें कहाँ जा रही हैं? पैसेंजर ट्रेनों को पीछे छोड़कर उनमें बैठे गरीबों के उद्धार के लिए? फास्ट और ए.सी. ट्रेनें हमारी प्रगति की ऐसी प्रतीक हैं, जो गरीब स्टेशनों पर रुकती ही नहीं। इन खरगोश और शाह गाड़ियों का ऊँचा ग्राफ सामान्य जनता के कछुआ और आम गाड़ियों का इतिहास रोता है।

बहिष्कार, असहयोग, उपेक्षा, निषेध उन सबका, जिनके केन्द्र में गरीब नहीं है, उन सबका जो दूसरी दुनिया के हाथों बिक गए हैं। हमें दूसरी दुनिया से जूझने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए इसी नीति पर चलकर दूसरी दुनिया बनानी होगी। कम-से-कम हम आखरों को। आखरों को अक्खड़ बनना होगा, कबीर-निराला की भाँति अक्खड़। अक्खड़ बन औरों में अक्खड़पन जगाना होगा, बिना दल के—समुदाय के—सम्प्रदाय या पन्थ के। कबीर ने कहाँ पन्थ बनाया था। दल-समुदाय-पन्थ बना नहीं कि वर्चस्व की राजनीति पनपने लगती है। आज यही हो रहा है और इसका लाभ दूसरी दुनिया उठा रही है।

हम आखर हैं शब्द से बने आखर। शब्द को हम ब्रह्म मानें-न-मानें, पर उसे माया तो न बनने दें। शब्द में जगत और जीव पनपने दें।...

पर मैं कौन होता हूँ जो बहिष्कार-निषेध की बात कर रहा हूँ; शब्द में जगत और जीव की बात कर रहा हूँ! क्या कबीर, क्या तुलसी या दादू? अब क्या बताऊँ मैं कौन हूँ। वास्तव में मैं तो शून्य भी नहीं हूँ, हमारे यहाँ शून्य में भी बड़ी शक्ति होती है, शून्य में आकाश है, ईश्वर है।

मैं तो बस एक व्रत हूँ, जिसे इसकी दुनिया के लोग भूखे की मजबूरी कहते हैं और तोड़ने के लिए पद-पुरस्कार-पदवी के टुकड़े फेंकते हैं और मेरी दुनिया के लोग भक्ति की मजदूरी। मुझे विश्वास है आप दूसरी दुनिया के नहीं हैं।

मेरा व्रत शब्द का व्रत है, जिसमें निष्ठा, सहिष्णुता और निग्रह है। निष्ठा मेरी ज़मीन के प्रति, सहिष्णुता मेरे बान्धवों की आस्थाओं के प्रति और निग्रह अपनी तृष्णाओं के प्रति।

अब आप कहेंगे मैं नई नहीं विचित्र बात कह रहा हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक साहित्य के आयाम और समय के प्रश्न

नन्दलाल मेहता वागीश*

साहित्य मूलतः सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का उपादान है और इस नाते वह कालाति... है। यहाँ तक की कालबद्ध अर्थात् सामयिक साहित्य में भी मूल्य-चेतना की दृष्टि... कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ अवश्य लक्षित होती हैं, जो अपने समय से परे की होती हैं। अभि... यह कि सर्जनात्मक साहित्य स्वभाव से काल के अतिक्रमण करने की शक्ति से... होता है। तत्त्वतः साहित्य धारा भी गंगा की धारा के समान त्रिपथगा होती है।... गंगा की धारा स्वर्ग, पृथ्वी और पातालगामिनी होती है, उसी प्रकार साहित्य भी अ... वर्तमान और भविष्य की धरा पर एकतानता में अपनी गति बनाए रखता है।

साहित्य के अन्तस्तात्त्विक स्वरूप को समझाने के लिए समीक्षा-क्षेत्र में... बोध-पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। इन्हें साहित्य की व्युत्पत्तिमूलक पद्ध... कहा जा सकता है। साहित्य शब्द 'सह' धातु से सम्बन्ध रखता है। 'सह' धा... व्यापक अर्थों में एक अर्थ साथ-साथ होना भी है। 'सह्' से सहित शब्द बनत... इसलिए अध्यापकीय बोध-दृष्टि से यह प्रायः कहा जाता है कि 'साहितस्य भावः... साहित्यम्।' इस प्रकार साहित्य, सहित शब्द की भाववाचक संज्ञा है। अभिप्राय य... जिस रचना में शब्द और अर्थ का, भाव और विचार का, तथ्य और कल्पना का, ... और समष्टि का, निकट और दूर का तथा अतीत, वर्तमान और भविष्य का सह... घटित होता है, ऐसी लिपिबद्ध रचना को ही साहित्य की संज्ञा दी जाती है। सा... के स्वरूप का यह बोध, शब्द की निर्वचन-दृष्टि के अन्तर्गत आता है।

साहित्य शब्द समस्तपद के रूप में भी विवेचनीय है। हित शब्द के पूर्व... उपसर्ग लगाने से सहित शब्द बनता है, इसलिए साहित्य शब्द का एक अर्थ य...

डॉ. नन्दलाल मेहता वागीश, पूर्व सीनियर फेलो, संस्कृति मंत्रालय, लेखक, समीक्षक एवं भाषावि... हैं। पताः शब्दालोक-1218 सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव (हरियाणा), दूरभाष : 40... सचलवाक : 09910431699

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जो हित से युक्त है, वह सहित है और इसी की भाववाचक संज्ञा है साहित्य। इसलिए पठन-पाठन की दृष्टि से यह कहा जाता है कि—'हितने सह वर्तते इति सहितम्, तस्य भावः इति साहित्यम्।' जिसके पठन-पाठन से पाठक को हित भाव की उपलब्धि होती है, वह साहित्य है। यहाँ हित-भाव स्थूल रूप की अपेक्षा लक्षणा में व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार की दृष्टि साहित्य की प्रयोजनमूलकता से सम्बद्ध है, हित-भाव एक प्रकार से रचनाकार का मनस्तोष भी है। इस मानसिक तुष्टि के अतिरिक्त साहित्य के और भी अनेक प्रयोजन हैं, जिन पर आचार्यों ने विचार किया है। साहित्य प्रयोजन के क्षेत्र में मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। जिसमें कहा गया है कि साहित्य (काव्य) से यश, अर्थ, व्यवहार-शिक्षण, अमंगल की निवृत्ति, शीघ्र मनस्तोष (आनन्द) की प्राप्ति और कान्तासम्मत हितकारी वचनों का श्रुतिफल प्राप्त होता है। व्युत्पन्न अर्थ की दृष्टि से साहित्य शब्द से सम्बद्ध एक और धातु है, जिससे साहित्य का वास्तविक अर्थ उद्दीप्त होता है। साहित्य शब्द की मूल रचना में 'धा' धातु है, जिसका अर्थ है धारण करना। संस्कृत भाषा की व्याकरणिक प्रक्रिया के अनुसार 'धा' धातु से हित शब्द बनता है। इसी में अव्ययमूलक 'स' लगाकर पहले सहित और तदुपरान्त साहित्य शब्द निष्पन्न होता है। यह 'धा' धातु जुहोत्यादि गण की उभयपदी धातु है। साहित्य की निष्पत्ति के अर्थ में 'धा' धातु के सन्दर्भ से यह समझा जा सकता है कि धार्यता साहित्य का स्वरूप गुण है।

साहित्य में यह धार्यता दो रीतियों से घटित होती है। पहली देशकालबद्ध धार्यता और दूसरी सांवेदनिक अर्थात् मूल्यबद्ध धार्यता। साहित्य के बोध-सन्दर्भ में यह कहा जा चुका है कि देशकालबद्ध साहित्य में भी मूल्य-चेतना के सूक्ष्म कण किसी न किसी रूप में सन्निविष्ट होते हैं और उसी रूप में वह अपने समय से परे प्रवहमान रहता है। साहित्य की धार्यता का दूसरा रूप है, मूल्यबद्ध धार्यता का। साहित्य का यह रूप अपने स्वरूप में कालातिक्रमी होता है। यही साहित्य की सांस्कृतिक अमरता है, क्योंकि साहित्य की ऐसी रचना अपनी दिक्बद्धता और समयबद्धता से मुक्त होती है। देशकाल में उत्तरपद 'काल' मूलतः तत्समय का बोधक है। ऐसे समय में सांवेदनिक धार्यतापरक साहित्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो जाता है। इसकी प्रेरणाएँ शाश्वत रूप में सृष्टि को प्रभावित करती हैं। इस साहित्य की उदात्तता सृष्टिमय होती है। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार का साहित्य अपने दिक् और काल के प्रश्नों से नितान्त अछूता रहता है। वैशिष्ट्य बस इतना है कि ऐसा साहित्य अपने समय के प्रश्नों को एक दार्शनिक नैरन्तर्य प्रदान करता है। तब वे प्रश्न उसकी पीड़ाएँ, उसकी व्याकुलता व्यष्टिबद्ध न होकर समष्टिबद्ध और उत्तरोत्तर सृष्टिबद्ध भी हो जाती हैं। ऐसे कालातिक्रमी साहित्य को ही कालजयी साहित्य कहा जाता है। ऐसे ही साहित्य के गौरववाचक शब्द, कहीं-कहीं 'विराट्' तो कहीं उदात्त चेतना के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अवधेय है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालजयी साहित्य ही विराट् और उढात्त चेतना का वाहक होता है। इस प्रकार साहि में निहित धार्यता सृष्टि को धारण करती है ओर फिर स्वयं को सृष्टि हेतु वितरित देती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मेघ सागर के खारे जल को पहले धारण क हैं और फिर अमृतसन्निभ वर्षा-जल रूप में सृष्टि को वितरित कर देता है। इस प्र साहित्यसिद्ध धार्यता स्वयं में उभयपदी है।

प्रसंगतः यह जान लेना आवश्यक है कि लेखन और सृजन में मौलिक अ क्या और कैसा है। यूँ लेखन भी एक प्रकार की लिपिबद्धता तो है ही, कि सर्जनात्मक साहित्य और लेखन में आधारभूत अन्तर है। साहित्य में निहित रचना लालित्य, लेखन से परे की कृति है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से साहित्य परोक्ष विधा साहित्य में सादृश्य-विधान सूक्ष्म रूप में व्याप्त होता है, इसलिए साहित्य में शब्द अ अर्थ के साथ व्यय नहीं होता है। साहित्य परोक्ष विधा इसलिए भी है कि उसमें क और उपदेशण नहीं, बल्कि संकेतन होता है। साहित्य में शब्द प्रधान है और शास्त्र अर्थ प्रधान। साहित्य की शब्द प्रधानता का उत्कर्ष उसके काव्य में देखने को मिल है। उसकी प्रस्तुति बिम्बात्मक रूपों पर खड़ी होती है। साहित्य और विशेषकर का में भाव-लालित्य और विचार-ओजस्विता, लयात्मक प्रस्तुति में नर्तन करती है। इ साहित्य में मूल्यों का रसात्मक भावन पाठकों को अपने लय-लोक से सम्मोहित क चलता है। साहित्य का यह दर्शन उसकी सर्जनात्मकता के स्वरूप को निर्मित क है। स्पष्ट है कि सर्जनात्मकता साहित्य का अंगभूत और प्रथम प्राथमिक गुण है।

संवेदनीयता साहित्य-सर्जना का दूसरा प्रमुख लक्षण है। साहित्य में संवेदनी व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है। विषय को संवेदना के स्तर पर अनु करना अर्थात् उसकी मार्मिकता तक पहुँचना, उस मार्मिकता के स्पन्दन को अनु करना है, अनुभव की उन तरंगों को समग्रता से भाव का विषय बनाना, उसका म करना अर्थात् मन का उसमें लीन होना, साथ ही विषय को बौद्धिक स्पर्श देकर अ चिन्तन का अंग बना लेना और इन सभी मनःक्रियाओं की अनुभूयता को बोधपू व्यवस्थित अभिव्यक्ति देना—ये सभी मनोव्यापार, संवेदनीयता के अंगभूत हैं। अनु के ऐसे परिपाक से गुजरकर ही कोई भाव, विचार या विषय साहित्य की अभिव्यंजना को धारण करता है। वस्तुतः साहित्य में विचार को भी भावसिद्ध होकर सर्जनात्म की भूमि पर अभिव्यक्त होना पड़ता है। कोरी वैचारिकता लेखन का विषय तो सकती है, किन्तु साहित्य-सर्जना का नहीं। विचार को भी भावस्पर्शित होकर साहि की धरा पर रागसिद्धता प्राप्त होती है। यह रागसिद्धता संवेदन का दूसरा रूप है

साहित्य सर्जना के गुणों का एक तीसरा आयाम है कि जब तक आयत्त अनु आपकी अपनी अनुभूति के सत्य में परिणत नहीं होते, तब तक वे साहित्य-अभिव्यं का विषय नहीं बनते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेचनीय यह है कि साहित्य के सन्दर्भ में समय के प्रश्नों का क्या स्वरूप है? समय के प्रश्न शाश्वत अर्थात् निरवधि भी हो सकते हैं और तात्कालिक अर्थात् सावधि रूप में भी हो सकते हैं। कुछ प्रश्नों की अभीप्साएँ निरवधिकालिक होती हैं, जैसे–मानवीय गरिमा, स्वाधीनता की आकांक्षा, जातीय स्वाभिमान, नारी-सम्मान, राष्ट्रीय अस्मिता, न्याय समानता विचार, नैतिक मूल्यों सहित सभी मानवीय गुण-समूह और अन्याय का प्रतिकार—ये सभी विषय समय के शाश्वत प्रश्नों के अन्तर्गत आते हैं। समय के तात्कालिक अर्थात् सावधिक प्रश्नों में राजनीतिक चिन्तन, निर्णय, बदलते सामाजिक मूल्य, आर्थिक परिवेश, शिक्षा का स्वरूप और त्रुटिपूर्ण निर्णयों से पनपी व्यवस्था के भ्रष्टाचार, हिंसाचार तथा समाजविखण्डन की अनेक विकृतियाँ समाहित हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य में समय के प्रश्नों की अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या और कैसा है? लक्षणीय बात यह कि समय के ये सभी प्रश्न समाज की सापेक्षता में ही उठते हैं और साथ ही ये प्रश्न अपने समय से रू-ब-रू होने और उससे सामना करने के लिए उद्यत होते हैं। इसलिए प्रश्नों के सन्दर्भ में समाज महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन प्रश्नों की उत्थान-भूमि और परिणाम-भूमि भी समाज ही है। समाज-सन्दर्भ के परे के प्रश्न तात्त्विक कालगणना, मात्र विवरण, निबन्धात्मक आलेख अथवा तटस्थ भाव से आँखों-देखे हाल सरीखे हो सकतें हैं, किन्तु वे सर्जनात्मक साहित्य के कारक नहीं हो सकते। यह साहित्य की सर्जनात्मक शक्ति ही है, जो समय के प्रश्नों को अपने समय से पार ले जाती है। भले ही ऐसे प्रश्न निरवधिकालिक न हों। साहित्य का विषय बने सावधिक प्रश्न भी जब तक भविष्योन्मुखी अनुगूँजों से ध्वनित नहीं होते, तब तक वे समुदायवद्ध और दलबद्ध अथवा अर्जित वैचारिकता की अनुकरणबद्धता के दोष से मुक्त नहीं माने जा सकते। ऐसे प्रश्न साहित्य के उदार प्रांगण में कोई स्थान नहीं पाते। भारत के मार्क्सवादी लेखकों ने ऐसे जितने भी प्रश्न उठाए हैं, वे लेखन के क्षेत्र में तो आते हैं, किन्तु साहित्य की सर्जनात्मक धरा पर उर्वरित नहीं हो सकते। बौद्धिकता के नाम पर ऐसे प्रश्न अपने समय में उत्पन्न होकर, समाधान-स्थिति के आते ही मृतक अवशेषों की तरह पड़े रह जाते हैं। नई कविता के युग में कभी इन मार्क्सवादी समीक्षकों ने कविता में 'बुद्धि रस' की स्थापना करने की अवधारणा को एक सर्जनात्मक रूप में महिमामण्डित करने की बड़ी कोशिश की थी। तब वे अपनी इन अकलात्मक कोशिशों को 'अक्ल-आत्मक' कहकर परम्परित कविता का उपहास करते थे। आज उनके ये सभी तर्क, समय के कूड़ेदान में गलित कुष्ठ होकर कराह रहे हैं।

विषय के सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त इस विषय का विनियोग-प्रमाणन भी आवश्यक है। समय के प्रश्न हर युग के अपने होते हैं। इसलिए अनेकानेक कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिए जा सकते हैं, जो अपने समय के प्रश्नों की अनुगूँजो से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरित होंगे, किन्तु विषय के विवेचन-औचित्य को ध्यान में रखते हुए प्रतीक प्रतिनिधित्व के रूप में कुछ कवियों के उद्धरण दिए जा रहे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये प्रश्न अपनी निहित पीड़ाओं के साथ संसरण करते हैं। कारण, ये सभी प्रश्न प्रत्यक्ष-परोक्ष रीति से लोक-हित से जुड़े होते हैं। कोई कितने ही आत्म-तत्त्व की बात करे, शरीर से निर्गत हो उस आत्मतत्त्व को कहा नहीं जा सकता। जिस प्रकार आत्मचैतन्य की सभी यात्राएँ शरीराधिष्ठान के बिना सम्पन्न हो नहीं सकतीं, ठीक उसी प्रकार अप्रतिम महाकवि भी अपने युग-शरीर से विच्छिन्न होकर अथवा ऐसा दर्शित करते हुए मात्र कल्पनाश्रयी भाव-विचार-धरा पर किसी कालातीत रचना की सृष्टि नहीं कर सकता। तुलसीदास तो युगचेता कवि थे। उन्होंने अपने युग की अभिशप्त पीड़ाओं को प्रायः प्रत्यक्ष-परोक्ष रीति से तो कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रीति से भी वाणी दी है। श्रीरामचरितमानस की पात्र-सर्जना भले ही ऊपर से कथाधृत योजना के अंग रूप में प्रतीत होती है, पर मात्र ऐसा नहीं है। हाँ, 'कवितावली' और 'दोहावली' में कवि तुलसीदास जिस प्रकार निस्संकोच रीति से अपने समय के प्रश्नों को धार देते उद्यतशील दृष्टिगत होते हैं, श्री रामचरितमानस में 'उत्तरकाण्ड' को छोड़कर अन्यत्र ऐसा नहीं है। तुलसीदास के समय में किसान, व्यापारी, नौकरीपेशा आदमी और सामान्य जन की जो स्थिति थी न्यूनाधिक रूप से कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी बनी हुई है। अपने युग की पीड़ा को कवि तुलसीदास ने 'कवितावली' में इस प्रकार से उठाया है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच-बस,
कहै एक एकन सो, कहाँ जाइ का करी ॥90॥

कवि तुलसी के युग में पराधीनतापाश में आबद्ध भारत राष्ट्रजन धर्मांतरण के कुटिल कौशल से जूझ रहा था। यूँ अपने समाज में अन्धविश्वास कम न थे, ऊपर से आक्रान्ता आधिपत्य राष्ट्र-मन को स्वधर्म से विपथगामी बनाने की कूट योजनाओं को प्रोत्साहित कर रहा था। उन दिनों बहराइच में बनी गाजी मियाँ की दरगाह के बारे में प्रयासपूर्वक यह विश्वास प्रचारित किया जा रहा था कि इस दरगाह पर आने वाले अन्धे-कोढ़ी तथा अन्य रोगग्रस्त रोगी भी ठीक हो जाते हैं, और यहाँ तक की बाँझ स्त्री को भी सन्तान लाभ होता है। गाजी मियाँ के नाम से यह मजार वस्तुतः एक बादशाह के सैनिक 'सैयद-सालार-जंग-मसऊद' की थी। अपने समय के प्रचलित इस अन्धप्रथा का खण्डन करते हुए 'दोहावली' में तुलसीदास जी ने लिखा है–

लही आँखिन कब आँधरे, बाँझ पूत कब लयाई।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ ॥दो. 96॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि तुलसीदास के युग में महायान शाखा की परम्परा से निकले 'अलखिया सम्प्रदाय' के जोगी शून्य के ध्यान करने का उपदेश दिया करते थे। अलख-अलख करने वाले ये साधु अलखिये कहलाते थे। अलख निरंजन कहे हुए वे सामान्य जन की श्रद्धा का लाभ उठाते और उन्हें भक्ति मार्ग से विरत करते फिरते थे। तुलसीदास जी ने सामाजिक जीवन-दर्शन से दूर ऐसे अलखिये साधुओं की फटकारते हुए कहा है—

132251

हम लखि लखहि हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहिं, राम नाम जपु बीच ॥दो. 9॥

आधुनिक युग के कवि महाप्राण निराला ने अपने समय के प्रश्नों की संवेदना और विचार के स्तर पर तो कहीं-कहीं व्यंग्य-विडम्बन पद्धति से स्वर प्रदान किया है। निराला वस्तुतः विराट् चेतना के कवि थे। उनकी एक उत्कृष्ट रचना का शीर्षक है 'तुलसीदास'। कथाधार के घटना-सन्दर्भ के साथ यह रचना एक लम्बी वैचारिक कविता है, जिसकी क्रोड में वैचारिक संघर्ष और भावात्मक उद्वेलन का विकट मिलन प्रवाहित हो रहा है। एक नवगठित छन्द में निराला ने तुलसीदास जी के जीवन की घटना के माध्यम से अपने समय के स्वाधीनता-संघर्ष को परोक्ष रूपेण प्रखर वाणी प्रदान की है। अंग्रेजों के उस युग के पराधीन भारत में भारतीय मूल्यमानों पर चारों ओर से कई रूपों में प्रहार हो रहे थे। निराला को लगा कि कवि तुलसीदास के युग में भी कभी ऐसी विकट स्थिति थी। बस अपनी जातीय अस्मिता पर हो रहे प्रहारों से आकृष्ट कवि निराला ने तुलसीदास के जीवन के विशिष्ट घटना-सन्दर्भ और उस युग की मर्मवेधी पीड़ाओं पर अपने युग का अध्याहार करते हुए तुलसीदास की मनःपीड़ा के माध्यम से कहा—

भारत के नभ का प्रभापूर्य, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य दिङ्मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण, शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल, निश्छलत्प्राण पर शतदल।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' एक उत्कृष्ट व्यंग्य रचना है। 'कुकुरमुत्ता' कविता की सम्पूर्णता को जाने बिना बहुत दिनों तक मार्क्सवादी समीक्षक, एक अंश के आधार पर 'कुकुरमुत्ता' कविता को प्रगतिवादी खेमे के हथियार के रूप में प्रयुक्त करते रहे और बहुत-सी छात्र-पीढ़ियों को दिग्भ्रमित करते रहे। उस समय कुछ ऐसे समीक्षक टी.एस. इलियट के काव्य-सम्बन्धी चिन्तन को मानक मानकर भारतीय काव्य-शास्त्र का उपहास उड़ा रहे थे। अर्धसत्य प्रेरित ये और इन जैसी प्रवृत्तियाँ हिन्दी पाठकों को भ्रमित कर रही थीं। यदि मार्क्सवादी समीक्षकों ने 'कुकुरमुत्ता' की मार्मिकता को समझा होता तो हिन्दी पाठक इस भ्रम से बच जाता। प्रतीत होता है कवि निराला को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे इन सब स्थितियों का अनुमान हो, इसलिए उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' के कथ्य के माध्यम से ही मानों हिन्दी साहित्य के इन भ्रान्ति-कारक प्रश्नों का उत्तर दे दिया हो–

कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर
टी.एस. इलियट ने जैसे दे मारा।
जैसे प्रोगेसिव का कलम लेते ही
रोके नहीं रुकता जोश का पारा ॥

महाकवि निराला ने सामयिक प्रश्नों के साथ-साथ युग के शाश्वत प्रश्नों को भी अपनी लेखनी का विषय बनाया। नारी-अस्मिता का प्रश्न एक शाश्वत प्रश्न है। मुक्ति की दिशाएँ एवं भंगिमाएँ भले ही बदलती रही हों, किन्तु नारी-चेतना की सम्पूर्ण सामाजिक अभिव्यक्ति के अनवरुद्ध होने की भावना को हर युग के कवि ने वाणी दी है। निराला ने दृढ़ता से निश्चयात्मक भाषा में कहा है कि–

तोड़ो-तोड़ो-तोड़ो कारा
पत्थर की, निकले फिर
गंगा-जलधारा।

वस्तुतः समय के प्रश्न और उनके समाधान की चिन्ता हर युग की नियति है। वर्तमान युग में राजनीतिक सरोकारों ने ऐसी हलचल मचा दी है कि सीधे-सीधे सामाजिक क्षेत्र के प्रश्न राजनीतिक सत्ता से आकर उलझ गए हैं। उधर हिन्दी गजलं में समय के इन प्रश्नों को प्रमुखता से उभारा गया है। हिन्दी गजल के एक सशक्त गजलकार राधेश्याम शुक्ल की रचना में कुछ ऐसे प्रश्नों को धारदार ढंग से उठाया गया है–

- *देश को मत देख आँख है, तो सरकारों को देख*
  सर नवा, कन्धे झुकाकर, चन्द परिवारों को देख।
- *झोपड़ी मत कर गिला, तू भी बड़ी हो जाएगी।*
  अपनी बाजू में खड़ी, इन चन्द मीनारों को देख।

उक्त विवेचन से ध्वनित होता है कि भाव-स्पन्दन से लेकर वर्णरूपता की परिणति तक साहित्यिक सर्जनात्मकता एक ऐसी वर्तुलगति संरचनात्मक प्रक्रिया है, जो साहित्यकार के मनस् पर अपने स्वरूप का स्वयं निर्धारण करती है। इस प्रक्रिया की अन्तरंगता अपनी बहिरंगता से नितान्त विच्छिन्न नहीं होती। यहाँ तक कि एकान्त अन्तरंग भावोच्छ्वास भी, अभिव्यक्ति के स्तर पर पूर्णतया निरिन्द्रिय नहीं होता। हाँ, यह अन्तरंग जितना प्रतीक-प्रस्थित होगा, उतना ही रचना का आन्तर और बाह्य पक्ष, सर्जनात्मक सौन्दर्य से अभिषिक्त होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास-दृष्टि और सृजनकर्म

कृष्ण चन्द्र गोस्वामी*

'इतिहास-दृष्टि' पर विचार करने के क्रम में अनायास ही मेरा ध्यान आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जी के इस कथन की ओर गया कि अभिव्यक्ति केवल रचना-कौशल नहीं है; अपितु अनुभूतिपूर्ण रचना-कौशल है। और फिर; प्रसाद जी का एक कथन जो उन्होंने काव्य और कला को परिभाषित करते हुए कहा था; मेरे अन्तःकरण में कौंधा; जहाँ वे कहते हैं - "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय-रचनात्मक धारा है।" आगे इस *संकल्पात्मक अनुभूति* को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं कि "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय-सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है; काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कहलाती है।" उनका मत है कि काव्य इसी संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

उल्लेखनीय है कि प्रसाद जी के उक्त वक्तव्य का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः कविता और अन्य कला-कर्मों के साथ है; किन्तु जैसे ही वे इन सन्दर्भों का अतिक्रमण कर काव्य शब्द का व्यवहार जीवन के व्यापक सन्दर्भों में करते हैं—वैसे ही, इसका अर्थ-विस्तार हो जाता है। हम जानते हैं कि भारतीय-पदावली में काव्य केवल पद्य का पर्याय नहीं है, कदाचित् इसीलिए प्रसाद जी ने यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक समझा; वे लिखते हैं—'काव्य केवल छन्दों में ही नहीं बसता; द्रष्ट किंवा अनुभूत श्रेय-सत्य के सार की अभिव्यक्ति अपने किसी भी रूप में काव्य-पद वाच्य ही है।'

ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद जी ने पूर्वोद्धृत वक्तव्य 'काव्य और कला' पर विचार करते हुए दिए हैं; जबकि 'काव्य केवल छन्दों में ही नहीं बसता..., से प्रारम्भ हुआ वक्तव्य उनके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक निबन्ध—*प्राचीन आर्यावर्त्त : प्रथम सम्राट इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध* से उद्धृत है; जहाँ वे 'कहीं से आए थे हम नहीं—हमारी जन्मभूमि थी यहीं' की प्रामाणिकता ऐतिहासिक सन्दर्भ में सिद्ध करने में जुटे थे।

* हिन्दी विभाग, महारानी श्री जया महाविद्यालय, भरतपुर, श्री निकुंज, बी. 90 जवाहर नगर, भरतपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यातव्य है कि यहाँ पर उन्होंने यह मानते हुए भी कि 'श्रेय अथवा सत्यज्ञा संकल्पत्मक अनुभूति के रूप में कवि में उपस्थित होता है'; 'मूल चारुत्व' की शर्त धीरे से हटा लिया है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी की दृष्टि में संकल्पात्मक अनुभू में जो श्रेय-सत्य अवस्थित रहता है; वह केवल पद्य अथवा अन्य कला-रूपों तक परिसीमित नहीं रहता, अपितु अभिव्यक्ति के तमाम अन्यान्य रूपों अर्थात् जागति जीवन के तमाम कार्य-व्यापारों से भी उसका उतना ही गहरा सम्बन्ध है। प्रसाद जानते हैं कि जागतिक जीवन के अनन्त कार्य-व्यापारों के मध्य इस 'श्रेय-सत्य' पहिचानने की क्षमता के अभाव में किसी के लिए भी अपनी राह निकाल पाना कठि ही नहीं; अपितु असम्भव भी है। ऐसी स्थिति में; स्वाभाविक ही है कि आत्मा द्वारा दृ किंवा अनुभूत श्रेय-सत्य के सार की किसी भी रूप में अभिव्यक्ति को वे काव्य और उसके द्रष्टा को कवि। वैदिक वाङ्मय में *कवयोः क्रान्त द्रष्टारः* का भी कदाचि यही मन्तव्य है।

यह ठीक है कि इतिहास का गहरा सम्बन्ध अतीत के साथ है, किन्तु जब कोई इतिहास के पास जाता है तो उसका उद्देश्य वर्तमान की; अपने समय किसी-न-किसी गुत्थी को सुलझाना ही होता है। अतः इस अर्थ में इतिहास का सम्बन्ध वर्तमान से जुड़ता है। ऐसे में; केवल अतीत की घटनाओं का कालक्रम से किया ग कोई भी संकुलन वर्तमान के लिए तब तक कुछ विशेष सहायक नहीं हो सकता, ज तक समसामयिक चुनौतियों के सन्दर्भ में अतीत-भेदी दृष्टि द्वारा उनका विश्लेषण मूल्यांकन न किया जाए। वस्तुतः जिस समाज के पास आत्मानुभूत श्रेय-सत्य साक्षात्कार करने की जितनी व्यापक; जितनी समृद्ध सामर्थ्य होगी, वह अतीत घटनाओं का भेदन उतनी ही अधिक गहराई के साथ कर समयोचित चुनौतियों समाधान खोजने में कृतकार्य होगा। इस तरह; 'इतिहास-दृष्टि' पदबन्ध में विद्यम 'दृष्टि' किसी भी समाज विशेष के लिए उपर्युक्त आत्म-दृष्ट किंवा अनुभूत श्रेय-स का साक्षात्कार करने की उसकी क्षमता का ही दूसरा नाम है।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है तो निरुक्तकार यास्क ने इस शब्द का स्पष्ट करते हुए लिखा है—*इतिह एवमासीत इति च उच्यते स इतिहासः*। (*निरुक्त* 2.3.1 पर दुर्गाचार्य की वृत्ति) ध्यान देने की बात यह है कि सामान्यतः पाश्च विद्वान भी इतिहास से यही अर्थ ग्रहण करते हैं। किन्तु अन्यत्र यास्क ने वैदिक में दो सम्प्रदाओं के अस्तित्व का संकेत किया है। वे लिखते हैं—*तत्को वृत्रः मेघ नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः*। (उद्धृत - *प्राचीन आर्यावर्त : प्रथम सम्राट और दाशराज्ञ युद्ध*, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद, पृ. 1 कालान्तर में, वेदों में इतिहास-पुराण और गाथाओं का उल्लेख एक ही कोटि में (*अथर्ववेद*, 15-6-12) तो *छान्दोग्य उपनिषद्* (4/1) में वेदों के साथ इतिहास पुराणों को पंचमवेद की प्रतिष्ठा मिलती दृष्टिगोचर होती है। ध्यान देने की बात है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यास्क देवापि और शन्तनु तथा विश्वामित्र के सुदास पैजवन का पुरोहित होने की घटना को जब निश्चित रूप से 'इतिहास' कहते हैं, तब वैदिक काल में ऐतिहासिकों का एक अलग सम्प्रदाय होने की पुष्टि स्वयमेव हो जाती है।

प्रसाद जी ने विभिन्न प्रमाणों का विवेचन कर उस प्रागैतिहासिक काल में भारत में आत्मवादी और ऐतिहासिक इन दो सम्प्रदायों का अस्तित्व सिद्ध किया है। उनके अनुसार एक का नेतृत्व आत्मवादी इन्द्र के पास था; तो दूसरे के नेता वरुणोपासक त्वष्टा थे जो - ईश्वरी महत्ता से पूर्ण धर्म के शासन को स्वीकार करनेवाले थे। (वही, पृ. 147) सारांश यह कि गाथा और पुराणों को इतिहास माननेवालों के समानान्तर घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में इतिहास मानने वालों का भी एक सम्प्रदाय हमारे यहाँ विद्यमान था। कल्हण की 'राजतरंगिणी' इसी कोटि का ग्रन्थ है। गुजरात में सोमेश्वर की *कीर्तिकौमुदी*, बिहार में विद्यापति की *कीर्तिलता* और तमिलनाडु में जयगोंडार कृत *चोलवंशचरितम्* आदि इसी परम्परा में परिगणनीय इतिहास-ग्रन्थ हैं।

पाणिनी ने 'पुराण' का अर्थ 'पुराभवम् इति' अर्थात् 'प्राचीनकाल में होने वाला' भले ही किया हो किन्तु कालान्तर में, पुराणों में घटित-सत्य के साथ भाव-सत्य का समावेश इस सीमा तक हो गया कि उसमें से 'घटना-सत्य' का उद्घाटन कर पाना दुरूह हो गया। वस्तुतः पुराणकारों ने घटनाओं में विद्यमान तात्कालिकता का अतिक्रमण कर कालातीत सत्य को उद्घाटित करने पर जोर दिया जिसके कारण तिथि-संवत् महत्त्वहीन हो गए। घटनाओं से काल के आयाम के शिथिल हो जाने के बाद इतिहास-कथन की दो शैलियाँ पुराणकारों ने विकसित कीं—एक का उदाहरण महाभारत के शान्तिपर्व में प्रयुक्त 'अथ ते संप्रवक्ष्यामः इतिहासं पुरातनम्' और दूसरी का 'एकदा देवयात्रायां गोपाला जात कौतुकाः' (भागवत, 10:34:1) के रूप में देखा जा सकता है।

'समय' इतिहास का अभिन्न अंग है; चाहे वह संवतों के रूप में उसमें शामिल हो; या पुरा, एकदा जैसे प्रच्छन्न रूपों में। हमारे यहाँ काल के दो प्रधान सादृश्य प्रयुक्त हुए हैं—पहला 'नदी' से और दूसरा 'चक्र' से। इनमें से प्रथम; काल की व्यावहारिक गति का द्योतक है और द्वितीय; प्रकृत गति का। एक में काल का ऋजुरेखीय गमन स्वीकृत है; और दूसरे में 'चक्रान्तर अनन्तचक्र गति' में काल का परिभ्रमण मान्य है। कालचक्र की परिधि में गतिमान चक्रों की अनन्तता वस्तुतः घटनाओं की अनन्तता है—और इन्हीं घटनाओं में से युगानुकूल अर्थों का सन्धारण करनेवाली घटनाओं के चयन और फिर इन चयनित घटनाओं में से युगानुकूल अर्थों के साक्षात्कार का साधन है—इतिहास-दृष्टि। किन्तु दृष्टि-भेद से परिणाम-भेद होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके मूल में है द्रष्टा की आत्मानुभूत श्रेय-सत्य को देखने की दिशा और सामर्थ्य। अतः इतिहास की समान घटनाओं के विश्लेषण से दो द्रष्टा; दो भिन्न प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। इस बात को दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। पहला उदाहरण वैदिक काल से सम्बन्धित है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद में हवन-कुण्ड के निर्माण में ईंटों के प्रयोग के उल्लेख पर मार्क्सवादी डी. डी. कौसाम्बी की प्रतिक्रिया थी कि 'यायावर वैदिक आर्य भला ईंट से कैसे परिचित रहे होंगे—जरूर ये ईंटें उन्हें मेसोपोटामिया से मिली होंगी।' इस पर एक अन्य अध्येता का प्रश्न था कि कौसाम्बी को इस बात का विचार करना चाहिए था कि ईंटों के आविष्कार की दृष्टि से मेसोपोटामिया प्राचीन है या हड़प्पा? उनकी टिप्पणी है कि 'आर्यों की यायावरी और बर्बरता की छवि जो पाश्चात्यों ने तैयार की; उसे बनाए रखने के लिए कौसाम्बी जैसे विद्वान किस सीमा तक जा सकते हैं। (हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, भगवान सिंह, पृ. 177-78)

दूसरा, उदाहरण और भी मजेदार है— जयशंकर प्रसाद के नाटक *स्कन्दगुप्त* की एक समीक्षा प्रेमचन्द ने लिखी, जो *माधुरी* के अक्टूबर, 1928 के अंक में प्रकाशित हुई। उसमें प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी से आग्रह किया कि "ईश्वर ने आपको जो शक्ति दी है, उसका प्रयोग वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के हल करने में लगाइए। (इतिहास के) इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से आज कोई फायदा नहीं है।' (*प्रेमचन्द रचना संचयन*, कमलकिशोर गोयनका, पृ. 876)

इतिहास के प्रति प्रेमचन्द जी की इस टिप्पणी पर शुक्ल जी ने भेदक प्रतिक्रिया की। उन्होंने अपने निबन्ध 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में लिखा 'अर्थ-परायण लाख कहा करें 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा', पर हृदय नहीं मानता, बार-बार अतीत की ओर जाया करता है।' (*चिन्तामणि*, भाग-1, पृ॰ 208)

यहाँ 'अर्थ-परायण' विशेषण में जो भेदक व्यंजना है, उसकी कसक को प्रेमचन्द ने लम्बे समय तक अनुभव किया। नवम्बर, 1930 के 'हंस' में प्रकाशित प्रसाद जी के उपन्यास 'कंकाल' की समीक्षा में उन्होंने लिखा - मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया।' (वही, पृ. 877)

शुक्ल जी ने यह भी लिखा— 'मानव जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखण्डता; परम्परा के साथ तादात्म्य की भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता, अखण्डता और व्यापकता का आभास देती है।' अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है; हृदय के लिए अतीत एक मुक्ति लोक है; वर्तमान हमें अन्धा बनाए रखता है; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। बीती बिसारने वाले 'आगे की सुध' रखने का लाख दावा किया करें, परिणाम अशान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं 'बीती बिसारने' का अभिप्राय है जीवन की अखण्डता और व्यापक अनुभूति का विसर्जन; - केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा। (वही, पृ. 208)

शुक्ल जी की इस प्रतिक्रिया से इस बात को अनुभव किया जा सकता है कि वे प्रेमचन्द के परामर्श से कितने आहत थे। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों था? आइए इसे देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतेन्दु से पूर्व के हिन्दी-साहित्य में राज-प्रशंसा में कितने ही कवियों ने कलम क्यों न चलाई हो; किन्तु उनमें से ऐसे केवल एक भूषण ही थे, जिनमें इतिहास-दृष्टि का प्रखर उन्मेष दिखाई पड़ता है। इसीलिए वे भारतीय जन की दुर्दशा, दुर्दशा के कारण और शौर्य एवं साहस से इस दृश्य के परिवर्तन की सम्भावना—इन तीनों पर दो टूक राय दे सके। बाकी लोग तो 'बीती ताहि बिसार दे' की नीति पर चल रहे थे, अतः उनके सामने न तो कोई समस्या विद्यमान थी और न वे उसके कारणों की खोज में अतीत की ओर गए।

भारतेन्दु का बचपन प्रथम स्वातंत्र्य-समर की छाया में बीता। अतः देश की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान विशेषतः गया, जिसे दूर करना उनकी दृष्टि में एक बड़ी चुनौती थी। जन-मन में उत्साह का पुनः संचार हो, इसके लिए उन्होंने राधाकृष्ण दास से कहा—'भारतवर्ष में अब ऐसे नाटकों की आवश्यकता है जो आर्य-सन्तानों को अपने पूर्व-पुरुषों का गौरव स्मरण कराएँ—ठुमरी सुनते-सुनते आर्यों में क्लीवपन अब चरम सीमा पर पहुँच गया है।'

डॉ॰ गोपाल राय ने लिखा है कि 'भारतेन्दु से प्रेरित हो किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में हिन्दू-गौरव की प्रतिष्ठा के लिए कार्य किया।' मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य के क्षेत्र में 'भारत-भारती' लिखकर इस काम को आगे बढ़ाया, किन्तु इसका चरमोत्कर्ष प्रसाद के नाटकों; वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों और शुक्ल जी के निबन्धों में मिला जहाँ 'देशबद्ध मनुष्यत्व' को उन्होंने ऊँचे सम्मान का अधिकारी माना। काव्य के क्षेत्र में प्रसाद और निराला ने संयुक्त मोर्चा बनाया। 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती। स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।।' और 'भारती जय-विजय करे' जैसी कविताएँ देखते-देखते जन-जन का कण्ठहार बन गईं।

ध्यान देने की बात यह है कि हमारा जीवन हमारी परिस्थितियों पर अवलम्बित रहता है। अतः प्रकारान्तर से वे हमारे भावों का भी आलम्बन बनती हैं। देश या समाज की दुरवस्था या उसके सामने आ खड़े हुए संकट के निराकरण के लिए कोई तभी उठकर खड़ा हो पाता है; जब वह उसे अपना समझता हो; उसे प्रेम करता हो। यह काम उनके बस का नहीं है जो कुछ भी करने से पहले लाभ-हानि का हिसाब लगाना शुरू कर देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र ही हो सकता है; हित-चिन्तन और हित-साधना की प्रवृत्ति इस कोरे ज्ञान से भिन्न वस्तु है। (रस-मीमांसा, पृ. 108) ऐसी स्थिति में, स्पष्ट है कि स्वदेशानुराग; अपने पूर्व-पुरुषों के महदर्थपूर्ण कार्यों के प्रति श्रद्धा और अपने समय की चुनौतियों के कारणों-प्रभावों, और उनके निराकरण के मार्ग निर्धारित करने की सामर्थ्य—किसी भी इतिहास-दृष्टि का अनिवार्य अंग होते हैं।

प्रसाद ने राष्ट्रीय-जीवन के विरुद्ध सबसे बड़ी चुनौती के रूप में पश्चिम के उन बौद्धिक प्रयासों को माना, जिनके द्वारा वे भारतीय जीवन-प्रवाह को निर्मूल करने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगे हुए थे। उन्होंने स्वयं लिखा—पाश्चात्य शोधकों की मनोवृत्ति या विचारधारा भारत को आरम्भ में अनार्य देश मानकर उस पर विदेशी आर्यों का आक्रमण करना युक्ति-युक्त समझती है, जिससे यह प्रमाणित हो जाए कि आर्य लोग यहाँ के अभिजन नहीं; प्रत्युत विदेशी हैं। (काव्य और कला निबन्ध, पृ. 161) अब यदि ध्यान से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रसाद जी के सारे नाटक ही नहीं; अपितु 'कामायनी' भी— पाश्चात्य प्राच्यविदों और उनके मानसिक दासों की ओर से भारत के विरुद्ध चलाए जा रहे इसी मिथ्या षड्यन्त्र के विरोध में प्रसाद जी द्वारा भारत की ओर से किए गए वैचारिक संघर्ष का ही अंग है। निबन्धों में तो उन्होंने सप्रमाण दिखाया है कि गंगा, सिन्धु और सरस्वती के तीनों सप्तकों की भूमि, वैदिक आर्यों की लीला-भूमि थी। (वही, 143) इसी निबन्ध में वे पुनः कहते हैं कि इस प्राचीन सप्तसिन्धु के अन्तर्गत मेरुप्रदेश में ही अग्रजन्मा (आर्य) उत्पन्न हुए। उन्हें शिकायत है कि पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे इस प्राचीन साहित्य को 'माइथालोजी' मान रखा है।

आर्य-आक्रमण की कल्पना को सिरे से खारिज करनेवाले डॉ. रामविलास शर्मा हों या भगवान सिंह—दोनों ने ही पाश्चात्य प्राच्यविदों की नीयत पर गहरा सन्देह प्रकट किया। आर्य-आक्रमण के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने जो परिश्रम किया, उसका लक्ष्य क्या था? इसकी ओर संकेत करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भाषा और समाज' की भूमिका में लिखा—"उन्नीसवीं और बीसवीं शती में विकसित होनेवाले ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि सभी भारतीय भाषा-परिवारों के स्रोत भारत से बाहर के हैं; भारत की अपनी कोई भी प्राचीन भाषा-सम्पदा नहीं है।" (पृ. 22)

वस्तुतः भारत-भूमि पर मौलिक रूप से भाषा-शून्यता को प्रमाणित करने के द्वारा वे जिस लक्ष्य को पाना चाहते थे वह है—इस भूमि पर 'मानव-समाज' की मौलिक उपस्थिति के विरुद्ध पृष्ठभूमि तैयार करना। इस सम्बन्ध में उनकी समझ यह थी कि अगर किसी तरह यह प्रमाणित कर दिया जाए कि भारत में लब्ध सभी भाषाओं के भाषा-परिवारों का स्रोत भारत से बाहर है, तो फिर यह मनवाने में कठिनाई न होगी कि भारत-भूमि पर मानव-मात्र ही बाहर से आए हैं; क्योंकि भाषाएँ मानव-समाज की सहचरी हैं। इस तरह; उनका लक्ष्य था भारतीय समाज का मूल भारत से बाहर सिद्ध करके उसकी भारत-भूमि के प्रति निष्ठा और आत्मीयता को विखण्डित करना।

ठीक इसी प्रकार भगवान सिंह ने भी लिखा है कि—"पाश्चात्य प्राच्यविद निश्चय ही एक दुर्धर्ष संग्राम में जुटे हुए थे और यह था भारत पर सांस्कृतिक विजय का संग्राम... भारत के स्वतन्त्र होते ही वैदिक अध्ययन में उनकी रुचि का एकाएक क्षीण होना अकारण ही नहीं माना जा सकता।" (हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, पृ. 18)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्ल जी ने लिखा—"देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र-सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतन्त्र-सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतन्त्र-सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने या अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। (रस-मीमांसा, 106) अन्यत्र उन्होंने फिर लिखा—"यह ठीक है कि विज्ञान की साधना द्वारा संसार के वर्तमान युग का बहुत-सा रूप-विधान यूरोप का खड़ा किया हुआ है। पर क्या इसका यह मतलब है कि युग का सारा रूप-विधान यूरोप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों में उसी के दिए हुए रूप को लेकर रूपवान बनते चलें?" अन्त में; वे व्यथित मन से पुनः प्रश्न करते हैं-"क्या अपने स्वतन्त्र स्वरूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिए मारी गई?" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 366)

बाबू वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास *झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई* के तो केन्द्र में ही स्वराज्य की स्थापना का संकल्प सक्रिय है। उनके उपन्यासों में अनेक पात्र ऐसे हैं; जो दमित और उत्पीड़ित हैं, किन्तु वे बुझते नहीं हैं। स्वत्व के लिए उनमें प्रतिशोध की ऐसी आग है, जो सम्पूर्ण उत्पीड़क जाति का सर्वनाश कर देती है। 'बीती ताहि बिसार दे' यह उनको स्वीकार नहीं है। 'अन्याय का प्रतिशोध' प्रसाद जी को भी व्यवहारतः स्वीकार्य है। उनका *चन्द्रगुप्त* हो या *ध्रुवस्वामिनी*; दोनों अन्याय का प्रतिकार करने के लिए तनकर खड़े हैं।

आजादी के बाद देश में जैसी हवा राजनीति के केन्द्रों से चली; उसमें 'हिसाब-किताब' प्रधान हो गया और 'देश का हित-चिन्तन' गौण। इसीलिए, आजादी के संघर्षकाल में जो जन राष्ट्रीय माने जाते थे, वे आजादी मिलने के बाद 'साम्प्रदायिक' कहकर गरियाए गए और जो तत्त्व साम्प्रदायिक और राष्ट्र-विरोधी थे, वे सब धर्मनिरपेक्षता के आवरण में समाकर सुरक्षित हो गए। यह सब अनुभूत श्रेय—सत्य की अनदेखी का परिणाम है।

अन्त में; उपन्यास विधा के सम्बन्ध में कुछ बात अवश्य करना चाहूँगा। पद्य विधाओं में जैसा विराट् फलक; जीवन को समग्रता के साथ व्यक्त करने के लिए महाकाव्य के पास था—आज के गद्य-युग में वही सामर्थ्य और अवसर उपन्यास में नब्य है। इस अर्थ में उपन्यास गद्य में निबद्ध महाकाव्य ही हैं; और कहानियाँ खण्डकाव्य। ऐसी स्थिति में; देश-दशा की जैसी गहरी पड़ताल; उसके सुख-दुःख, साहस-दैन्य; कर्तव्य-अकर्तव्य, हित-अहित एवं शक्ति और दुर्बलता आदि का जैसा सूक्ष्म और जैसा गहरा चिन्तन और चित्रण उपन्यासकार कर सकते हैं; किसी अन्य विधा के लेखक के लिए वह सम्भव नहीं। अतः उनकी सामाजिक जिम्मेदारी भी बड़ी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदाचित् इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में स्पष्टतः लि कि लोक या किसी जन-समाज में काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चि परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-क निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष कराना उपन्यासों का काम है। (इतिहास, पृ. ऐतिहासिक उपन्यास किस ढंग से लिखे जाएँ—इसके लिए उन्होंने बँगला में राखाल बन्द्योपाध्याय द्वारा लिखित उपन्यास *करुणा* और *शशांक* की मानक के रू अनुशंसा की है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों के मणिमुकुट बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय *आनन्दमठ* की सामाजिक जागरण में भूमिका जग जाहिर है। गुजराती में तो उपन्य विधा का श्रीगणेश ही श्रीनंदशंकर मेहता के ऐतिहासिक उपन्यास *करण घेलो* (18 के साथ हुआ। बाद में, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के *पाटनगी प्रभुता* (19 और *गुजरात नो नाथ* (1919) आदि उपन्यासों ने गुजराती समाज ही नहीं; अनू होकर अन्यान्य भाषा-क्षेत्र के निवासियों को भी उत्प्रेरित किया। असम में रजनीक बरदले कृत *दण्डोवाद्रोह*, उड़िया कथा-साहित्य के शिखर पुरुष फकीर मोहन सेना की कृति *लच्छमा*, मराठी में हरिनारायण आप्टे कृत *सूर्योदय* और *वज्राघात* के विष्णु सखाराम खाण्डेकर का *ययाति* और शिवाजी सावन्त का *छावा*, मलयालम में एम. पणिक्कर के *कल्याणमल* और *केरलसिंह*, तमिल के कल्कि कृष्णमूर्ति के *शिवका शपथम्*, कन्नड के मास्ति वेंकटेश अय्यंगार के *चिक्कवीर राजेन्द्र* और एस.एल. भै के *आवरण* आदि उपन्यासों ने न केवल भारतीय इतिहास के अनेक उल्लास अवसाद से भरे प्रसंगों को नई ऊर्जा से उभारा है; अपितु अपनी दुर्दशा के कारणों भी निर्ममता से कुरेदा है। इसी क्रम में, हिन्दी उपन्यासकारों में वृन्दावन लाल वर्मा अतिरिक्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी (*पुनर्नवा* और *चारुचन्द्रलेख*), आचार्य चतु (*वैशाली की नगरवधू* और *सोमनाथ*), शिवप्रसाद सिंह (*कुहरे में युद्ध*, *दिल्ली दू* और *नीला चाँद*) आदि के उपन्यासों ने इतिहास-दृष्टि के आलोक को दूर तक वि है।

उपन्यासों की यह सूची न तो पूर्ण है; और न ऐसी सूची यहाँ प्रस्तुत किए का कोई लाभ। मेरे विचार से इतिहास-दृष्टि के उन्मेष का राष्ट्रीय उन्नति के गहरा सम्बन्ध है। गत दिनों काश्मीर में जो कुछ हुआ और अब पूर्वांचल में बांग्ला नागरिक तथा झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और आन्ध्र प्रदेश में चीन के मित्रों की जो बढ़ी है, उसके पीछे भी क्या राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय लोगों की अनुभूत श्रेय को पहिचानने में रही दुर्बलता, कारण नहीं है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप

एस.पी. दुबे*

पूरे विश्व में दर्शन-शास्त्र प्रायः व्यावहारिक रहा है। यूनानी दर्शन में थेलीज़ को प्रथम दार्शनिक के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसने व्यावहारिक चिंतन को अधिक महत्त्व दिया। अरस्तू (384-322 ई.पू.) प्रायः सभी व्यावहारिक तथा भौतिक विधाओं की नींव रखते हैं। चीन में कन्फ्यूशियस (551-479 ई.पू.) का व्यावहारिक चिंतन सर्वविदित है। भारतीय चिंतन-परम्परा के भी प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदाय एवं विचारक व्यावहारिक रहे हैं। यह सही है कि व्यवहार के साथ परमार्थ का चिन्तन भी दार्शनिक सम्प्रदायों में अवश्य होता है। वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ एक ही जीवन-प्रवाह के दो तट हैं। ये दोनों नदी के दो कूल जैसे हैं। जिसे जो कूल अनुकूल प्रतीत होता है वह उसके अनुसार जीवन-यापन तथा चिंतन करता है। इसे कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति में मोक्ष को यदि हम शिखर मानें तो कर्म इसकी आधारशिला है। कहा गया है कि 'ज्ञानं भारं क्रिया विना'। निर्वाण यदि सरिता का एक तट है तो अर्थ और काम दूसरा तट और धर्म रूपी नौका से हम एक तट से दूसरे तट पर जाते-आते हैं।

वैदिक चिंतन की व्यावहारिक या अनुप्रयुक्त (applied) प्रवृत्ति हमें ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (1.140-64) से ही मिलती है। स्तुति भाग कम होने से इस सूक्त को "अल्प-स्तव" कहा गया है। इस सूक्त का लोकोपकारी पक्ष है—प्रायश्चित्त का विधान। मनुष्य द्वारा अज्ञानवश की गई त्रुटियों का परिमार्जन सदा संभव है। उदाहरणार्थ, यदि कोई ब्राह्मण चोरी करता है तो तीन रात उपवास करते हुए इस सूक्त का जप करने से वह पापमुक्त हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्म-हत्या का दोषी भी जप से पापमुक्त हो सकता है। पुरुषसूक्त (X.90) में जनसामान्य द्वारा बोधगम्य पुरुष से

*स्व. एस.पी. दुबे, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय एवं तत्कालीन अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद का आलेख उनके स्वर्गवास के कुछ ही पहले प्राप्त हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृष्टि का विकास दिखाया गया है। इस सूक्त को समझने से जातिगत संघर्ष कम होते हैं। पुरुष से ही जंगल में पशुपक्षी पैदा होते हैं। इसी के शरीर से वर्णचतुष्टय का आविर्भाव हुआ है। प्रजापति या हिरण्यगर्भ सूक्त में प्रेय मार्ग का निर्देश मिलता है- यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु। वाक् या देवी सूक्त का वाक् ही जगत् के व्यवहार से संभव बनाता है। अन्न को हमने ब्रह्म माना—अन्नं ब्रह्म।

यजुर्वेद यज्ञ के माध्य से इस लोक तथा परलोक के सुखों का प्रावधान करता है। अथर्ववेद तो प्रायः सभी व्यावहारिक विषयों की चर्चा करता है। सामवेद गायन के माध्यम से अभीष्ट-पूर्ति की बात करता है। कुल मिलाकर मंत्र, ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों से अभीष्ट-पूर्ति की बात करता है। कुल मिलाकर मंत्र, ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों में त्रिवर्ग (अर्थ, काम तथा धर्म) का प्राधान्य है। सभी मंत्रों के विनियोग (application) मिलते हैं।

उपनिषदों में चातुर्वर्गीय चिंतन मिलता है, जहाँ पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष को प्रधानता दी गई है। परन्तु मोक्ष-साधना अन्य पुरुषार्थों की कीमत पर नहीं होती। उपनिषदों के सर्वाधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक याज्ञवल्क्य शास्त्रार्थ के प्रसंग में स्वर्णमण्डित सींग वाली गायों को शिष्यों द्वारा अपने आश्रम भेज देते हैं। वे मैत्रेयी की पूर्वानुमति से ही संन्यास लेना चाहते हैं। मोक्ष-साधना किसी वर्ग-विशेष का स्वत्वाधिकार नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (IV.1) रैक्व-जानश्रुति आख्यान में हम इसे स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् मनुष्य को काममय बताता है। तैत्तिरीय उपनिषद् अन्तेवासी को धर्म का आचरण करने का आदेश तथा उपदेश देता है।

रामायण तथा महाभारत के विपुल साहित्य में त्रिवर्ग का प्राधान्य है। महाभारत में धर्म को प्रधानता देते हुए घोषणा की गई है—यतो धर्मः ततो जयः। युद्ध में भी धर्म ही निर्णायक भूमिका का निर्वहन करता है। स्वयं भगवान धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण लोकसंग्रह की चर्चा करते हैं और मनुष्य के लिए स्थितप्रज्ञ का आदर्श बताते हैं। यहाँ (VII.2) व्यावहारिक ज्ञान को विज्ञान कहा गया है।

दार्शनिक सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्राचीन सांख्य माना जाता है। यह स्पष्टतः द्वैतवादी है। दुःखत्रय के अभिघात को समाप्त कर व्यक्ति कैवल्य प्राप्त करता है। पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन सांख्य की ही व्यावहारिक पूर्ति करता है। यम नियमादि के माध्यम से समाज को स्वस्थ और विवेकशील बनाना यहाँ विहित है। न्यायदर्शन की दृष्टि बहुत्व-संवलित यथार्थवाद है। विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा तथा ईश्वर जैसे नित्य पदार्थ हैं। इस दर्शन को सारी व्यावहारिक विद्याओं का प्रदीप माना जाता है। वैशेषिक दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि की यथार्थवादी व्याख्या करता है। इसकी दृष्टि भौतिक विज्ञान की है जिसके सहारे यह सत्य की मीमांसा करता है। बाह्यजगत् की विस्तृत मीमांसा यहाँ विशेष रूप से मिलती है। मीमांसा दर्शन को जगत् की सत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान्य है। यहाँ समस्त वेद को क्रियापरक माना गया है जिससे धर्म की सिद्धि होती है।

वेदान्त दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय व्यवहारपरक हैं। ये भक्ति के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भक्तिधारा मध्ययुग में अधिक प्रखर हुई। चैतन्य तो भक्ति को पंचमपुरुषार्थ मानते हैं। वल्लभाचार्य की भाँति वे ईश्वर को विरुद्ध धर्मों या गुणों का समाहार मानते हैं। रामानुज से लेकर रामानन्द तक सभी आचार्य वर्णाश्रम व्यवस्था की सीमा को समझते हैं तथा आवश्यकतानुसार इसका अतिक्रमण करने में हिचकते नहीं हैं। स्वयं शंकराचार्य भी आत्मबोध के लिए चाण्डाल को अपना गुरु मानने में झिझकते नहीं हैं। 21वीं शताब्दी में डॉ. भद्रेश दास का ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ स्वामिनारायण भाष्य यथार्थपरक है।

जैन दर्शन का अनेकान्त श्रावकाचार (उपासक) को कम नहीं आँकता। बौद्ध धर्म-दर्शन में व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण होता है। बुद्ध स्वयं नैतिक धर्म के समर्थक थे तथा आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुकूल द्वादश-निदान को उद्घाटित कर मध्यम मार्ग अपनाए जिससे यह विश्वधर्म बनने के मार्ग पर चल पड़ा। बोधिसत्त्व की अवधारणा तथा सर्वमुक्ति का आश्वासन यहाँ स्पष्ट हैं। इसके शील तथा करुणा ने किसे आकर्षित नहीं किया? उल्लेखनीय है कि शील, पंचव्रत तथा पंचयम (योग) भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी के पंचरत्न हैं।

चार्वाक दर्शन की व्यावहारिकता विश्व-विश्रुत है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की लोकायती अवधारणा आज के विश्व-बाजार का मूल मंत्र है।

तंत्र एवं आगम चिंतन के साहित्य में व्यावहारिक पक्ष का प्राचुर्य है। दक्षिण भारत के प्रमुख तमिल संत तिरुवल्लुवर (द्वितीय शताब्दी ई.पू. से 8वीं शताब्दी?) तो मोक्ष की चर्चा ही नहीं करते तथा त्रिवर्ग को ही पुरुषार्थों की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। वीरशैव दर्शन (लिंगायत) ने प्रमुखतः कर्णाटक में समाज के सभी वर्गों को सम्मान की दृष्टि से देखा है। स्मृतिकारों ने आचार को प्रधानता दी है। याज्ञवल्क्य-स्मृति शूद्र तथा विधवा को औचित्यपूर्ण अधिकार प्रदान करती है। स्मृतियों में धर्म को आचारजन्य माना गया है—आचार प्रभवो धर्मः। यहाँ तक कहा गया है कि आचार-हीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं।

कभी-कभी दर्शन को सैद्धांतिक (theoria) तथा धर्म को व्यावहारिक (praxis) कहा गया है। परन्तु भारत में एक-दो अपवादों (माध्यमिक दर्शन, नव्यन्याय) के अतिरिक्त धर्म दर्शन तथा व्यवहार और सिद्धांत में अंतर नहीं है। जो लोग चिंतन और व्यवहार में अंतर करते हैं उन्हें दुरात्मा कहा गया है—मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनः।

आधुनिक युग में नव्यवेदान्त का प्राधान्य रहा है। इसमें विवेकानन्द से लेकर राधाकृष्णन् तक अधिकांश विचारक जगत् की सत्ता को अपेक्षित महत्त्व प्रदान करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इनमें से कुछ तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी भी रहे हैं। विवेकानन्द तथा रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व दिया तथा भारतीय समाज की वेदान्ती संरचना को समझा। अद्वैत दर्शन सभी में साम्य स्वीकार करता है। फिर जगत्-निषेध कहाँ और वर्ग-संघर्ष क्यों? वैज्ञानिक समाजवाद/साम्यवाद वर्ग-संघर्ष जैसे दोषों से युक्त है जबकि वेदान्ती समाजवाद समता, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह तथा वैराग्य जैसे धारणाओं पर आधारित हैं। इसमें व्यक्ति और समाज दो ध्रुव नहीं हैं। दोनों मूलतः एक ही हैं। यह सर्वकल्याणकारी, लोकहितकारी तथा शांतिप्रद है।

आधुनिक युग में अंग्रेजी माध्यम से प्रारंभ की गई शिक्षा-व्यवस्था में उच्च कक्षाओं में अध्यापन का कार्य करने वाले प्रोटेस्टेंट मिशनरियों ने भारतीय संस्कृति की आधारशिलाओं को हिलाना और उखाड़ना प्रारंभ किया। कर्म, पुरुषार्थ, वर्णाश्रम-व्यवस्था—सभी पर उनकी वक्र-दृष्टि पड़ी। इसकी पृष्ठभूमि में इस्लाम की वर्णविरोधी भावना भी विद्यमान थी। कुछ अधिक शिक्षित भारतीय विद्वानों ने भी विदेशियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए भारतीय चिंतन को जीवन तथा जगत् का निषेधक घोषित किया। श्रीअरविन्द ने भी तापसी-निषेध को त्रुटि पूर्ण माना। उपनिवेशीकरण इसका प्रधान कारण था। परन्तु सम्पूर्णानन्द, गाँधी और राधाकृष्णन जैसे मनीषियों ने भारत की मूलगामी संस्कृति के मूल्यवान प्रत्ययों को स्पष्टतया व्याख्यायित किया। गाँधी ने तो सत्याग्रह को स्वतंत्रता-संग्राम का मूल अस्त्र ही बना दिया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी भारत के अधिकांश शिक्षितवर्ग में भ्रम की स्थिति बनी रही। इस भ्रम को बनाए रखने में पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों वर्ग के लोग सहयोगी रहे। परिणामतः सद्यः-उपकृत कुछ नए विचारक ऐसे प्रसंगों में अपलाप/प्रलाप करने लगे।

उत्तर-आधुनिक तथा संरचनोत्तर चिंतन के विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत (देखिए, Post-Modernism- A Very Short Introducation, by Christopher Butler, Oxford University Press, New Delhi, 2006) के हिमायतियों ने भारतीय समाज को तोड़ने का प्रयास किया। उत्तर-आधुनिक चिंतन तथा संरचनोत्तर चिंतन के दो प्रमुख विचारक रिचर्ड रोर्टी एवं देरिदा जैसे लोगों ने तर्क, नैतिकता, ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, जैसे प्रत्ययों की धज्जी उड़ाया है। यद्यपि ऐसा विचार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के पूर्व में मिलता है। परन्तु अभी जिस उत्साह से वितण्डावादी आपनी बात कहते हैं, वह नहीं देखा गया। आज लिंगभेद को आधार मानकर समाज को तोड़ने का विचार इनके एजेण्डा में प्रमुख है। उत्तर-आधुनिक चिंतन के मूल में संदेहवाद (Skepticim) के कारण यह विश्वजनीय सत्य को असंभव मानता है। परिणामस्वरूप यह सापेक्षवाद का रूप लेता है। इसमें संस्कृति के गुणगान (meta-narratives) के प्रति दुर्भावना भी मिलती है जिससे आज की युवा पीढ़ी संस्कारहीन और अनैतिक होती जा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-आधुनिकता के विकेन्द्रीकरण के विरोधाभासी रूप में परिधीय या सीमान्त (Sub-altern) चिंतन केन्द्राभिमुखीय हो जाता है। यह एक प्रकार की प्रच्छन्न केन्द्रापिता है। केन्द्र (center), त्रिज्या (radius) तथा परिधि (periphery) पर कोई न कोई तो अवश्य रहेगा।

उपनिवेशोत्तरकाल में प्रचारित उपाश्रयी चिंतन पर उपनिवेशी प्रभाव भी पर्याप्त है। 'उपनिवेश' शब्द–'उपनिवेशोत्तर colonial (farm) से निःसृत है जिसमें निहितार्थ है कि रोम के लोग अन्य देशों में रहते हुए भी अपनी मूल नागरिता बनाये रखते थे। अन्य लोगों की भूमि और सम्पत्ति को नियंत्रण में रखने की विचारधारा हैं।

उपनिवेशोत्तर (post-colonial) शब्द का प्रयोग पहली बार लंदन के डेली टेलीग्राफ पत्र ने 1959 में किया था जिसका अभिप्राय था–यूरोपविरोधी। बहुसंख्यक विरोधी अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। इसमें एक प्रकार नव–उपनिवेशवाद (neo-colonialism) भी पनपा जिसमें आर्थिक तथा संस्कृतिक निर्भरता प्रमुख कारण रहे। कहीं-कहीं तो हमें आत्मोपनिवेशवाद (Self-colonialism) भी दिखता है। कुछ अर्थों में इसमें नव-पुरोहितवाद अथवा नव-ब्राह्मणवाद की भी झलक मिलती है। आरक्षण तथा कोटा इसमें प्रमुख कारण हैं।

सीमान्त-चिंतन में उपरोक्त सभी प्रभाव झलकते हैं। साम्यवाद तथा पूँजीवाद से अनायासतः प्रेरित तो यह है ही, कुछ अर्थों में प्रायोजित भी है। आभिजात्य या सामन्ती वर्ग के भद्र लोग अंग्रेजी या सभासदीय भाषा में जिन प्रत्ययों की व्याख्या करना अपना धर्म मानते हैं वह समाज-विभाजक एवं व्यक्तित्व-नाशक अधिक है, रचनात्मक कम।

अंग्रेजी के 'सब-अल्टर्न' शब्दा का प्रयोग अंग्रेजी फौज के अधीनस्थ अधिकारियों के लिए किया जाता है। बाद में इसका प्रयोग इतावली साम्यवादी एन्थोनी ग्राम्स्की (Antonio Gramsci, 1891-1937) के कारागारीय डायरी (कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा तीन खण्डों में प्रकाशित) में समाज के उपेक्षित या सीमांतक वर्ग के लिए हुआ। जो लोग विशिष्टेतर (non-elite), अधीनस्थ (subordinated) तथा पारिधिक (marginalised) होते हैं, पिछड़े हैं, वंचित हैं, बहुजन, अल्पसंख्यक हैं तथा जिन्हें हम अन्य (others) या इतरेजनाः मानते हैं, उनके लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है। ऐसे वर्ग को हम विकल्प के रूप में लेते हैं, अनिवार्यतः नहीं। 'सब-अल्टर्न, शब्दावली का प्रयोग भी तीन रीतियों (modes) में मिलता है–(1) सामान्य पारिधिक, (2) अधिक पारिधिक (more subaltern) तथा (3) अतिपारिधिक (most subaltern)। महानगरों का श्रेष्ठवर्ग (श्रेष्ठा- elite) पारिधिक पर जब चर्चा करते हैं तो वे परिध्यातीत (super altern) की श्रेणी में आ जाते हैं। वे शासनेतर संगठनों (NGO) के द्वारा अपनी बात जनसंचार के माध्यमों से प्रेषित करते हैं।

पारिधिक चिंतन में अवमानित (humiliated), अल्पसंख्यक (minorities), यौनवर्जित (sexulay excluded), विविक्त वृद्ध (secluded old people) तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महिलाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। इसमें दलित, वंचित तथा मूकजन के लि उनकी ओर से उनके अधिकार तथा हित की बात उच्च स्वर में उठाना, प्रस्तुत क तथा उनकी समस्याओं पर चर्चा करना और समाधान का प्रयास इत्यादि दिखाई प है।

भारत में उपनिवेशोत्तर सीमांत चिंतन का प्रारंभ 1982 में रंजित गुहा (त अन्य) द्वारा सम्पादित तथा 11 खण्डों में प्रकाशित पुस्तक Sub-altern Stu (आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, दिल्ली, 1982-92) में मिलता है। अन्य या मूक लिए अभिजात्य वर्ग द्वारा बोलना कितना प्रामाणिक है यह एक विचारणीय बिन्दु इसके लिए अपेक्षित उक्ति के हृदय में प्रवेश कर, उसकी भावना को समझकर अपनी भाषा में प्रभावी ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसे धर्म-दर्शन शब्दावली में श्रुत्यर्थ-पर्यालोचना (Hermeneutics) कहा जा सकता है। वर्तमान यह एक शोधपद्धति का रूप ले रहा है। (देखिए– Aschroft Bill and Oth Past-colonial Studies: The key Concepts, London, 2009)। गायत्री चक्र स्पीवाक (Spivak, The Post-Colonial Critic- A Critique of Post-Colo Reason, Harvad University Press, 1999), होमी भाभा तथा पार्थ चटर्जी लेखों में भी सीमान्तक लोगों के स्वर को बुलंद करने का प्रयास मिलता है।

उपनिवेशोत्तर साहित्य पर दृष्टिपात करते समय यह स्पष्ट होता है कि इ कुछ सम्प्रत्यय ऐसे हैं जिनका प्रयोग बार-बार होता है। उदाहरणार्थ—स्वांग (Mimic उभयमुखता (ambivalance), हड़पना (appropriation) अनुपयोग (catachais तथा दोहरापन (binarism)।

कबीर (1398-1448) का साहित्य इस प्रसंग में चर्चा के लिए देखा जा सक है। स्वयं कबीर उत्तर भारतीय समाज के आंतरिक आलोचक थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम दोनों ही परम्पराओं की रूढ़ियों की प्रखर शब्दावली में आलोचना की। और मुल्ला दोनों ही इनकी पदावली के लक्ष्य थे। इनकी भाषा पुरानी अवधी या जिस पर खड़ी बोली का प्रभाव था, आभिजात्य संस्कृति से पृथक् है। कबीर अनुयायियों में कुर्मी तथा अहीर प्रमुखतया पाए जाते हैं। वे दीक्षा के बाद जातिभे अपने को प्रायः मुक्त रखते हैं। परन्तु कबीर-पंथियों से अन्य लोगों की जाति उनकी निगाह अवश्य रहती है। अनेक देशी-विदेशी गवेषणा कार्यों में कबीरपंथियों दलित बताकर आभिजात्य वर्ग से उनका संघर्ष प्रदर्शित किया जाता है। वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। दोनों के बीच समन्वय के भाव मिलते हैं। यों तो सम और संघर्ष का द्वन्द्व ऐसे हर समुदाय में मिलता है। लोगों में अवज्ञा (defiance) प्रणति (submission) दोनों ही देखने को मिलती है। कबीरपंथियों के अनेक वैदिक पद्धति भी अपनाते हैं। उनके कुछ विद्वान संस्कृत में साहित्य रचना भी हैं तथा अपने को शास्त्री संबोधित करवाने में सम्मान की अनुभूति करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरा ने (1504-1546) अपने जीवन में सामाजिक कटुता के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करते हुए भी अपने मन की मधुरता बनाए रखी। उन्होंने लौकिक विवाह तथा सती प्रथा का विरोध किया। उनको प्रताड़ित करने में परिवार के नारीवर्ग के सदस्य भी पीछे नहीं रहे। अल्पायु में ही विधवा होने के कारण उनका राज परिवार और समाज में तिरस्कार हुआ। परन्तु वे गिरधर नागर को पति मान चुकी थीं अतः सती होने को तैयार नहीं हुई। विष का प्याला हँसते-हँसते पीना उन्होंने स्वीकार किया। उनका वृंदावनी-भाव परवर्ती साहित्य में, प्रमुख रूप से महादेवी वर्मा के गीतों में, मिलता है। कुल मिलाकर मीरा ने अपने रामरतन को और गिरधर गोपाल को महत्त्व देकर समाज की प्रताड़ना सहते हुए एक अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया।

आज आवश्यकता है कि हर व्यक्ति इस प्रकार का विचार और व्यवहार प्रस्तुत करे जो हमार समाज को तोड़ने की जगह जोड़ने का कार्य करे। आज हम विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में रह रहे हैं। अज-नाभि का स्मरण करते हुए हम अपने देश को भारत, इण्डिया और हिन्दुस्तान में बाँटने का प्रयास न करें, इसे तिरंगा मानकर इसके लिए जीवन न्योछावर करने का भाव विकसित करें। विज्ञान और तकनीक के विकास ने भौगोलिक रूप से हम आज एक विश्वबाजार में घूम रहे हैं, जिसको वसुधैवकुटुम्बकम् की ओर पहुँचने का एक कदम माना जा सकता है। परन्तु व्यक्ति, परिवार और समाज को तोड़ने वाले साहित्य तेजी से हमें एक दिशाहीन अंधी दौड़ में शामिल करना चाहते हैं जिसका कोई लक्ष्य नहीं दिखता है। भारतीय परिवेश में उधार लिए गए या बासी सिद्धांतों का विनियोग या अनुप्रयोग कितने हद तक सार्थक होगा, यह विचारणीय है। हमें गाँधी के उस प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए जो उन्होंने अंग्रेजों के साथ सत्याग्रह के माध्यम से किया। घृणा के स्थान पर प्रेम, हिंसा के स्थान पर शांति, संघर्ष के स्थान पर समन्वय की अवधारणा को उन्होंने महत्त्व दिया। गाँधी द्वारा दिखाए गए मार्ग के प्रकाश में यदि हम सीमांत चिंतन पर गहरी दृष्टि से विचार करेंगे तो हमें नए और मजबूत भारत के निर्माण में पाथेय मिलेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता, अन्तर्धर्म संघर्ष और बौद्धधर्म

अम्बिकादत्त शर्मा*

1

आधुनिकता अपने व्यापक अर्थों एवं अपने ऐतिहासिक विकास की सम्पूर्ण निष्पत्ति के साथ मानव निर्मित एवं उसी से नियंत्रित इतिहास की एक विशिष्ट गति और प्रक्रिया है जिसने आज एक बलीयसी 'विश्व सभ्यता' का रूप धारण कर लिया है। आताल से पाताल तक फैल रही इस विश्व सभ्यता में दुनिया की तमाम सभ्यता और संस्कृतियाँ तथा धार्मिक परम्परायें अपनी जीवन दृष्टि और जातीय अस्मिताओं को मिटाते हुए मानो इस तरह उसमें समाती जा रही हैं जैसे 'ब्लैक होल' में सब कुछ अपनी इयत्ता और पहचान को समाप्त कर विलीन हो जाया करते हैं। इसके उत्स को रेखांकित करते हुए कहा जा सकता है कि इसका बीजारोपण छठी-सातवीं ईसा पूर्व यूनान में हुआ था जिसे पश्चिम की आध्यात्मिक जन्मभूमि कही जाती है। वहीं एक नये प्रकार की मनोवृत्ति या दृष्टि-विधा की उत्पत्ति और विकास हुआ और उसे ही फलसफा (फिलोसोफिया) कहा गया। इसी में से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की विधाओं की उत्पत्ति हुई और एक ऐसे सांस्कृतिक ढाँचे और मनोभाव का निर्माण हुआ जो अपने अद्यतन विकासक्रम में सम्पूर्ण मानव जाति को अपने प्रभुत्व के दायरे में खींचता चला जा रहा है। सोचने के इस विशिष्ट ढंग को थियरिया कहा गया और जिसकी प्रविधि प्रत्ययात्मक थी। प्रत्ययात्मक अर्थात् कॉन्शेप्चुअल प्रविधि ही वह कुंजी है जिसके माध्यम से थियरिया सार्वभौमिकता का दावा करती है। कॉन्शेप्ट का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही होता है कि किसी चीज़ को चारों तरफ से पकड़ कर अपनी मुट्ठी में ले लेना। भारत के अग्रणी सभ्यता वैज्ञानिक प्रो. जे.एल. मेहता[1] इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "फलसफा एक असाधारण, नयी प्रकार की संस्कृति का नाम है, वह किसी देश और जाति से सीमित नहीं है। जहाँ भी यह चिन्तन और

---

*अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 4700

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनायी जाती है, एक अभूतपूर्व उथल-पुथल पैदा होती है। सारी मानव जाति को, पश्चिम के माध्यम से इस नया नेतृत्व मिले, यही इसका मिशन है।''

इमानुएल कांट[2] ने इसे ही यूरोप का नवजागरण कहा है और इस इनलाइटेंमेंट को मानव बुद्धि का अपने पैरों पर खड़े होना अर्थात् बुद्धि की सर्वतंत्र स्वतन्त्र स्वायत्तता की प्रक्रिया में परिभाषित किया है। हेगेल इसे बुद्धि के उत्तरोत्तर आत्मचेतन होने की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में समझने का प्रयास करते हैं और सार्वभौम बुद्धि का चूड़ान्त प्रत्ययायन करते हुए पहली बार यूरोकेन्द्रित विश्व इतिहास, सभ्यता और संस्कृतियों का एक एकीकृत ढाँचा प्रस्तुत करते हैं। बड़ी रोचक बात यह है कि हेगेल ने यह दिखाया था कि विश्व इतिहास की गति बुद्धि के आत्मचेतन होने की एक प्रक्रिया है और इसमें चेतना का दीप पहले पूरब अर्थात् एशिया में जलता है, परन्तु आत्मचेतना के सूर्य का उदय पश्चिम में होता है। हेगेल के इसी दार्शनिक स्थापना में यूरोप की शीर्षता और उसके नेतृत्व की सार्वभौमिकता निहित है। एडमण्ड हुस्सर्ल भी अपनी अन्तिम कृति 'यूरोपीय शास्त्रों का संकट' में आधुनिकता की इस प्रक्रिया को 'यूनीवर्सल रीज़न' पर आधारित एक ऐतिहासिक गति के रूप में व्याख्यायित करते हैं। मार्टिन हाइडेग्गर ने आधुनिकता के नाम से विकसित हो रही विश्व सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं में 'नास्तिकता' को एक माना है। यह नास्तिकता 'इदं सर्वं' में अपने को निःशेष करना, दृश्य जगत् के पदार्थों एवं वस्तुओं तक में ही लिप्त रहना, जो न केवल जीवन शैली अपितु विचार के धरातल पर भी मनुष्य को उसके होने के आध्यात्मिक अर्थ और गन्तव्य की आन्तरिक अभीप्सा से ही अलग-थलग कर देता है। हाइडेग्गर की दृष्टि में यही 'नास्तिकता' गहरे तौर पर पश्चिम के इतिहास का मूलभूत सूत्र और उसकी नियामिका शक्ति रही है जो अपने सम्पूर्ण परिणतियों के साथ 'सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड' अर्थात् विश्व के निर्बाध लौकिकीकरण की चौहद्दी बताने के लिए अपने दोनों पंखों, विज्ञान एवं तकनीक, को पृथ्वी के आताल-पाताल तक फैला दिया है। हाइडेग्गर ने आधुनिकता के इस वृहद् कार्य योजना की समालोचना करते हुए इसे जगत् का निर्दैवीकरण, दैवी दीप्ति का उड़ जाना, मानव का अपने ही घर से बेघर हो जाना कहा है।

अब यदि आधुनिक विश्वदृष्टि के विकास के इतिहास पर एक सिलसिलेवार दृष्टि डाली जाय तो यूरोकेन्द्रियता से अपेक्षाकृत मुक्त, विश्व इतिहास के प्रसिद्ध लेखक विलियम मैकनील[3] की यह टिप्पणी बहुत ही समीचीन प्रतीत होती है कि ''दो हजार वर्षों तक, 500 ईसा पूर्व और 1500 ईसा बाद के बीच दुनिया में सभ्य जीवन के किसी एक केन्द्र का निश्चित प्राधान्य नहीं था। प्राचीन दुनिया में जो चार विशिष्ट जीवन शैलियाँ ईसा पूर्व 500 तक विकसित हो चुकी थीं (मध्यपूर्व, भारत, यूनान और चीन) वे मोटे तौर पर एक-दूसरे के हमवजन थी। इनमें से हर एक ने 2000 वर्षों तक अपनी स्वायत्तता बनाये रखी।'' द्रष्टव्य है कि सम्प्रति आधुनिक विश्व परिदृश्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति-सभ्यतामूलक इस चतुष्कोणीय ध्रुवों का प्रभाव ही नहीं, अस्तित्व ही मृतप्राय हो गया है। पूरब की ओर और पश्चिम के छोर को बहुत गहराई से समझने वाले सभ्यताओं के समीक्षक प्रो0 जे.एल. मेहता[4] इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि "सन् 1500 के बाद यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि से बाकी तीनों अर्थात् मध्यपूर्व, भारत और चीन की जीवन शैलियाँ प्रभावित होने लगीं। सन् 1700 तक यह स्पष्ट हो गया था कि पश्चिम का पलड़ा इस दृष्टि से भारी पड़ रहा है, फिर भी तीनों की संस्कृति पर कोई गम्भीर चोट नहीं आई और न ही इस प्रकार के खतरे का किसी को अनुभव हुआ। सन् 1700 और 1850 की अवधि में यूरोपीय शक्ति का प्रभुत्व औरों के तन पर बढ़ता रहा पर उनके मन पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सका। सन् 1850 के बाद प्राचीन सभ्यताओं का यह चौहरा सांस्कृतिक सन्तुलन नष्ट हो गया। पश्चिमोत्तर लोगों की परम्परागत जीवन और विचार शैली विघटित होने लगी। पश्चिम में भी यद्यपि सांस्कृतिक संकट की अनुभूति इस काल में हुई परन्तु इससे उसके सर्वव्यापी बौद्धिक प्रभुत्व में कोई असर पड़ता नहीं दिखा। ऐसा लगने लगा कि एक नई ऐतिहासिक दृष्टि से अभूतपूर्व सार्वभौम चेतना का अभ्युदय हो रहा है, दुनिया की सभी संस्कृतियाँ एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट हो रही हैं, कि आज हम सभी एक अज्ञात लक्ष्य की ओर प्रारम्भिक कदम ले रहे हैं।"

आधुनिकता के इस प्रारूप को एक ओर जहाँ 'सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड' की एक वृहद् कार्य योजना के रूप में देखा जा सकता है तो दूसरी ओर इसे क्रिश्चियनिटी का विश्वविजय भी माना जाता है। यहूदी-क्रिश्चियन परम्परा की प्रमुख मान्यताओं में एक दुनिया को पूरे तौर से लौकिकीकरण की ओर ले जाना है। इसी में वे धार्मिक भावना का चरमोत्कर्ष देखते हैं। यहाँ एक बात जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि क्रिश्चियन एकेश्वरवाद को आधुनिक विज्ञान के उदय का आधार बताया जाता है और देखने लायक बात यह है कि आधुनिक विश्व सभ्यता के रचनात्मक तत्त्वों में क्रिश्चियनिटी का प्रच्छन्न योगदान व्यापक रूप से हुआ है। आधुनिक सभ्यता के नाम पर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, विधिक एवं चिकित्सीय व्यवस्थाओं में जिन प्रत्ययों को तटस्थ एवं सार्वभौम मानकर स्वीकार कर लिया जा रहा है, वे सभी मौलिक रूप से क्रिश्चियन विश्वदृष्टि से उत्पन्न और उसी के अन्तर्गत के प्रत्यय हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता अपने मूल आकृति में सार्वभौम और स्वायत्त बुद्धि की आधारशिला पर विज्ञान, तकनीक एवं क्रिश्चियन विश्वदृष्टि का एक ऐसा गठबन्धन है जिसने एक विश्व सभ्यता का रूप अख्तियार कर लिया है।

2

इस आधुनिक विश्व सभ्यता की कुछ अपनी उपलब्धियाँ भी हैं और साथ ही साथ इसके कुछ अवांछित परिणाम भी हैं। इसके अन्यान्य अवांछित परिणामों में अन्तर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष और समसामयिक धार्मिक आतंकवाद को विशेष रूप से परिगणित किया जा सकता है। आधुनिक विश्व में जो आज अन्तर्धर्म संघर्ष देखे जा रहे हैं और जिसके दुष्परिणामों को भुगतने के लिए पूरी मानवता अपने को विवश अनुभव कर रही है, वह भी आधुनिकता के उपर्युक्त प्रारूप के प्रचार-प्रसार एवं अप्रतिहत रूप से उसकी बढ़ती हुई शक्ति की एक आवश्यक परिणति है। वैश्वीय रूप से मान्यता प्राप्त धार्मिक परम्पराओं में जो एक विशेष प्रकार की कट्टरता उपजी है उसका पूर्वपक्ष भी यही आधुनिकता है। वस्तुतः आधुनिकता का जन्म और विकास ही धर्म के विरोध में इस बात को लेकर हुआ है कि मानव जीवन के नियंत्रण-व्यवस्थापन का दायित्व धर्म के हाथ में नहीं बल्कि बुद्धि के हाथों में सौंपा जाना चाहिए। इसने बुद्धि के अधिकार क्षेत्र और हस्तक्षेप की कोई सीमा निर्धारित करना भी उचित नहीं समझा गया बल्कि यह उचित समझा गया कि बुद्धि जिसे अपने क्षेत्र में और अपने तरीके से प्रमाणित नहीं कर सकती वह या तो निरर्थक है या फिर विचार योग्य ही नहीं। अतः धर्म का एकबारगी नकार और जीवन एवं जगत् की इहलोकवादी व्याख्या आधुनिकता के स्वरूप में ही निहित है। ऐसी स्थिति में आधुनिकता यदि अपने स्वरूप और शक्ति की आत्मगवेषणा सार्वभौम रूप में करती है और यह गवेषणा यदि धार्मिक परम्पराओं के जीवन और जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोणों के निराकरण में प्रतिफलित होती है तो तत्तद धार्मिक परम्पराओं का अपने स्वरूप एवं अस्मिता के प्रति आत्मचेतन होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः आधुनिकता के सर्वग्रासी पूर्वपक्ष में धार्मिक परम्पराओं का अपने स्वरूप और अस्मिता के प्रति अतिरेक रूप से आत्मचेतन होना ही उन्हें एक विशेष रूप में क्रूर बनाता है। यही क्रूरता जब प्रसारवादी धर्मों के द्वारा चरितार्थ की जाती है तो अन्तर्धर्म संघर्ष और आधुनिकता विरोधी धार्मिक आतंकवाद की स्थिति बनती है। स्वामी विवेकानन्द[5] ने इस भवितव्यता को भाँपते हुए एक प्रागोक्ति के रूप में बहुत पहले ही कहा था कि "विश्वविजय के लिए बौद्धों, ईसाईयों एवं मुसलमानों में संघर्ष होगा। 1993 में हटिंगटन अपने प्रसिद्ध लेख 'दी क्लैश ऑफ सिविलायजेशन्स' में इसी तथ्य को समसामयिक परिप्रेक्ष्य में अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक विश्व में अन्तर्धर्म संघर्ष के सांप्रतिक स्वरूप पर विचार करें तो इस व्यूह रचना में एक ओर हिन्दू, यहूदी और आवेस्तिक प्रकार के जातीय धर्म आते हैं जो अपने जाति समूहों तक रक्त शुद्धता की दृष्टि से संरक्षणवादी वने हुए हैं। आधुनिकता के पूर्वपक्ष में इन धर्मों का भी अपने स्वरूप और अस्मिता के प्रति आत्मचेतन होना स्वाभाविक है लेकिन इस आत्मचेतना के फलस्वरूप इनमें शुद्धता की भावना ही जोर पकड़ती है और ऐसे धर्म फैलने के बदले इस कारण सिकुड़ सकते हैं। विश्वस्तरीय धार्मिक जननांकिकी के आँकड़े इन धर्मों के सिकुड़ने को प्रमाणित भी करते हैं। ऐसे धर्म अपने स्वरूप का विस्तार उच्च प्रजनन दर के आधार पर ही कर सकते हैं। धर्मान्तरण के द्वारा अपने को प्रसारित करना इनकी धार्मिक चेतना के ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीतीय प्रकृति के संरक्षणवादी धर्म अन्तर्धर्म संघर्ष में सक्रिय भाग नहीं लेते। अन्तर्धर्म संघर्ष की व्यूह रचना में सक्रिय भाग लेने वाले वस्तुतः प्रसारवादी धर्म हैं। प्रसारवादी धर्मों में मुख्य रूप से ईसाई, इस्लाम और बौद्धों को परिगणित किया जा सकता है। आधुनिक विश्व परिदृश्य में अन्तर्धर्म संघर्ष वस्तुतः ईसाई और इस्लाम के बीच और उनके द्वारा ही प्रतिफलित हो रही है। इन दोनों धर्मों में प्रसारण की प्रवृत्ति उनके धर्म के स्वरूप में ही निहित है। इसलिए सम्पूर्ण विश्व को अपने धर्म में रूपान्तरित कर लेना वे अपना परम धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं। ईसाई धर्म सम्पूर्ण मानव जाति को क्रिश्चियन और एनोनिमस क्रिश्चियन नामक दो भागों में बाँटता है। उनकी यह धारणा है कि ईसामसीह का क्रूसेड सम्पूर्ण मानव जाति के उद्धार के लिए है। अतः वे लोग जो ईसु के प्रति कृतज्ञ हैं और उनके बताये मार्ग पर चलना स्वीकार कर लिया है वे तो घोषित ईसाई हैं लेकिन जिन लोगों ने ईसु के प्रति अपनी कृतज्ञता की घोषणा नहीं की है, वे भी अघोषित ईसाई हैं क्योंकि मनुष्य होने के नाते उन्हें भी ईसु के बलिदान से पाप-मुक्ति तो प्राप्त हुई ही है। अतः एक दिन उन्हें भी अपनी कृतघ्नता पर पछतावा होगा और वे ईसु के बलिदान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए स्वयं के ईसाई होने की घोषणा करेंगे। सम्पूर्ण मानव जाति को क्रिश्चियन हो जाना चाहिए, इसके लिए ईसाईयों का यही तर्क है। बौद्ध धर्म भी इस प्रकार का तर्क दे सकता है कि बुद्ध प्रतिष्ठित निर्वाण के द्वार पर खड़ा होकर यह संकल्प लेते हैं कि मैं प्रतिष्ठित निर्वाण में तब तक प्रवेश नहीं लूँगा जब तक प्राणिमात्र को दुःख से मुक्ति न मिल जाय। अतः बोधिसत्व का महाकरुणा रूप उपायकौशल प्राणिमात्र की दुःख-मुक्ति के लिए उनके पीछे सक्रिय है। तथागत का यह संकल्प बौद्ध और अबौद्ध का भेद नहीं करता है। यहाँ प्राणि-मात्र को तथागत गर्भ के रूप में अवधारित किया गया है और धम्म रूपी उपायकौशल से सभी को बुद्धत्व प्राप्त होगा। वस्तुतः 'बुद्धत्व' का प्रकटीकरण बौद्ध धर्म-दर्शन के इतिहास-दर्शन का 'टेलोस' है। ऐतिहासिक प्रक्रिया में इस 'टेलोस' की अभिव्यक्ति का तात्पर्य प्राणिमात्र का अपने-अपने गोत्र के अनुरूप न्यूनाधिक रूप से 'बुद्धत्व' के आदर्श की ओर उन्मुख होना है। बुद्धोपदिष्ट 'धम्म' की भूमिका उपायकौशल रूप में है जो इस 'टेलोस' को अतिरिक्त त्वरण प्रदान करता है। इस्लाम धर्म के पास मेरी जानकारी की अनुमत सीमा में इस प्रकार की कोई दलील नहीं कि वह पूरी मानवता के इस्लामीकरण का प्रस्ताव रख सके। फिर भी वह सम्पूर्ण पृथ्वी को दारुल हरब और दारुल ऊलुम में विभाजित करता है। दारुल ऊलुम धरती का वह भाग है जहाँ इस्लाम का धर्मराज्य स्थापित हो चुका है और दारुल हरब वह भाग है जहाँ इस्लाम का धर्मराज्य स्थापित होना है। इस तरह प्रसारवादी धर्म अन्तर्धर्म संघर्ष में दो प्रकार से सक्रिय भाग लेते हैं। इसमें पहले प्रकार की सक्रिय भागीदारी धर्मोतर या अधार्मिक समूह को 'अभिशप्त पर' समझ कर अपने धर्म में धर्मान्तरित करने की होती है। इ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे अनुलंघ्य ईश्वरीय आदेश रूप एक पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं। इस प्रसारवादी प्रवृत्ति को चरितार्थ करते हुए ईसाई और इस्लाम धर्म ने विश्व इतिहास में क्या किया है और वह कितना जघन्य और क्रूर रहा है, उसका लेखा-जोखा दुनिया के पास उपलब्ध है। अन्तर्धर्म संघर्ष में प्रसारवादी धर्मों की दूसरे प्रकार की सक्रिय भागीदारी 'धार्मिक आतंक' के रूप में चरितार्थ होती है और इसका पूर्वपक्ष आधुनिकता ही बनती है। वस्तुतः आज का जो धार्मिक आतंकवाद है, वह अपने विशिष्ट स्वरूप में आधुनिकता के प्रति विरोध प्रदर्शन में ही प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। अब चूंकि आधुनिकता एक साभ्यतिक अवधारणा है, इसीलिए इसके पूर्वपक्ष में फलित अन्तर्धर्म संघर्ष को हटिंगटन सभ्यताओं के संघर्ष के रूप में देखते हैं।

अब हम पुनः स्वामी विवेकानन्द की उस प्रागोक्ति की ओर लौटते हैं कि "विश्वविजय के लिए बौद्ध, ईसाई और इस्लाम के बीच संघर्ष होगा।" स्वामीजी की इस प्रागोक्ति के दो धड़ों अर्थात् ईसाई और इस्लाम के बीच का सद्यः और संरचनात्मक संघर्ष सर्वविदित है। परन्तु धार्मिक संघर्ष और आधुनिकता के विरोध के इस अखाड़े से बौद्ध धर्म अभी भी बाहर ही खड़ा है जबकि इस अखाड़े का मजबूत प्रतियोगी बनने की सभी सम्भावनायें उसके साथ भी मौजूद हैं। वस्तुतः यही वह प्रश्न है जिसका समुचित उत्तर आधुनिक विश्व परिदृश्य में बौद्ध धर्म के अतिविशिष्ट औचित्य को उद्घाटित कर सकता है। द्रष्टव्य है कि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म दुनिया का पहला प्रसारवादी धर्म है जो अपने संस्थागत स्वरूप में पहले-पहल धर्मान्तरण को स्वीकृति देता है। अपनी जन्मभूमि और उससे बाहर अन्तर्देशीय सन्दर्भों में इसकी प्रसरणशीलता अन्य प्रसारवादी धर्मों की तुलना में कहीं से कम नहीं आँकी जा सकती। परन्तु देखने लायक बात यह है कि जहाँ ईसाई और इस्लाम धर्म ने प्रसार के नाम पर हिंसा का इतिहास रचा है वहीं बौद्ध धर्म का प्रसारवादी अभियान आद्यन्त रूप से अहिंसक रहा है। इसके अहिंसक प्रसार के पीछे कोई एक कारण नहीं रहा बल्कि कई एक कारण मिलकर उसके प्रसारवादी अभियान को आनृशंसात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें पहला यह कि बौद्ध धर्म की जातीय मनोवृत्ति हिंसक और क्रूरता की नहीं रही है। अपनी जातीय मनोवृत्ति में हिन्दू और बौद्ध समान रूप से सहिष्णु रहे हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश धर्मों में एक विशिष्ट प्रकार की समाज-व्यवस्था दिखाई देती है जो धर्मकेन्द्रित संस्कृति का निर्माण करती है। बौद्ध धर्म अपने मौलिक स्वरूप में एक ऐसा नीति प्रधान धर्म है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रति कठोर आग्रह नहीं रहा है।[6] बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए निर्वाणोन्मुखी विनयपिटक तो दिया लेकिन उन्होंने किसी धर्मशास्त्र को प्रस्तुत नहीं किया। स्वयं बुद्ध का कथन है कि "लोको मया सार्धम् विवदति नाहम् लोकेन सार्धम् विवदामी।"[7] अतः श्रामण्य और निर्वाण का लोक व्यवस्था से कोई सीधा-सीधा सम्बन्ध नहीं बनता है। यद्यपि दीघनिकाय के सिंगालवादसुत्त में बुद्ध ने छः दिशाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नमस्कार करने की जो विधि बताई है उससे उपासकों के सामाजिक जीवन सम्बन्धी कतिपय आचारों का संकेत अवश्य मिलता है। इस सुत्त में छः कर्त्तव्य अर्थात् पिता का पुत्र के प्रति और पत्नी के प्रति कर्त्तव्य, शिष्य का गुरू के प्रति और गुरू का शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, पति का पत्नी के प्रति और पत्नी का पति के प्रति कर्त्तव्य, मित्रों का परस्पर एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य, स्वामी का सेवकों के प्रति और सेवकों का स्वामी के प्रति कर्त्तव्य और उपासकों का भिक्षुओं के प्रति तथा भिक्षुओं का उपासकों के प्रति कर्त्तव्य निर्देशित किए गए हैं। परन्तु इस प्रकार के अपवादभूत लोकाचार सम्बन्धी उपदेशों से यह समझना कि बुद्ध का एक विशेष प्रकार की लोक-व्यवस्था को निर्मित करने के प्रति दृढ़ आग्रह था, उचित नहीं होगा। बौद्ध धर्म में गृहस्थ जीवन की अपेक्षा भिक्षु जीवन की श्रेष्ठता का भूरि-भूरि प्रतिपादन किया गया है। अतः बौद्ध धर्म में भिक्षु बनने की प्रक्रिया एक तरह से समाज निरपेक्षकरण की प्रक्रिया कही जा सकती है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म किसी भी भूसांस्कृतिक समूह में बिना किसी व्यवधान और उसे विस्थापित किए बिना ही अपना स्थान बना लेता है। बहुलतावादी धार्मिक परिप्रेक्ष्य में यदि अन्तर्धार्मिक संघर्षों के कारणों को विवेचित किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि धार्मिक संघर्ष का जीवन्त कारण धर्मों के बीच का तात्त्विक भेद न हो कर उनके आचार संहिताबद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष ही होते हैं।[8] वस्तुतः आस्था-प्रणाली के रूप में 'धर्म' और औचित्य प्रणाली के रूप में 'संस्कृति' का जब किसी धर्म में एकीकरण हो जाता है तो वैसा धर्म अपने प्रसारवादी अभियान में किसी दूसरे समूह के धर्म और संस्कृति दोनों को विस्थापित कर अपने को प्रतिष्ठित करता है। सामी धर्मों के प्रसारवादी अभियान में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। परन्तु बौद्ध धर्म में स्वतन्त्र संस्कृति निर्माण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती है। इसका जन्म ही वैदिक हिन्दू परम्परा के अ परिवेश में हुआ जहाँ आस्था प्रणाली और औचित्य प्रणाली में उस तरह का एकीकरण नहीं रहा है जैसा कि सामी परम्परा की धार्मिक संस्कृति में देखा जाता है। भारत में बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति के अंगभूत बन कर विकसित हुआ और भारत से बाहर जहाँ भी गया वहाँ-वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को विस्थापित किये बिना तत्तद संस्कृतियों के साथ रच-बस गया। बौद्ध धर्म चीन में कन्फ्यूसियस एवं ताओ के रंग में रंगा तो जापान में शिन्तोबौद्ध कहलाया और तिब्बत में लामायी परम्परा के साथ समीकृत हुआ। ऐसे ही दक्षिणी एशियाई देशों में भी इसने अलग-अलग सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ अपने को समन्वित किया है। अपनी जन्मभूमि में भी बौद्ध धर्म ने कभी सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा नहीं किया। यदि बौद्ध परम्परा में यत्र-तत्र सांस्कृतिक विरोध के कुछ बिन्दु दिखाई भी पड़ते हैं तो उसे पूर्वतन रूप से स्थापित संस्कृति में परिष्कार समझना चाहिए न कि स्वतन्त्र सांस्कृतिक स्वायत्तता की उपस्थापना। अतः बौद्ध धर्म में स्वतंत्र और स्वायत्त संस्कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित करने की प्रवृत्ति ही नहीं रही है। यह बात बौद्ध धर्म के अन्तर्धार्मिक संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेने का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूपगत कारण प्रतीत होता है।

3

अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थापित होता है कि बौद्ध धर्म के स्वरूप में वह कौन-सा तत्त्व निहित है जिससे उसकी उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अनुप्राणित होती हैं और उसके अहिंसक प्रसार का मार्ग प्रशस्त करती हैं। अवधेय है कि भगवान् बुद्ध के समक्ष यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य को नैतिक कैसे बनाया जाये और इसके लिए कौन-सी सामाजिक-सांस्कृतिक आचारसंहिता सर्वाधिक उचित होगी। उनके समक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि आखिर मनुष्य नैतिक क्यों नहीं है? पुनः यदि मनुष्य को एक बनी बनाई आदर्श आचारसंहिता दे भी दी जाये तो क्या इतने मात्र से वह नैतिक हो जायेगा? ऐसे आचारसंहिताओं की कमी तब भी नहीं थी और आज तो विलकुल भी नहीं है। भगवान् बुद्ध अपनी धार्मिक कार्य योजना को 'पटिसोतगामी' कहकर वस्तुतः इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं। संक्षेप में इसका वास्तविक अभिप्राय मानवीय चेतना के प्राकृतिक प्रवाह, पाशविक अभिवृत्ति और अभिमुखता का आत्यान्तिक निरोध है। मनुष्य की चेतना जब प्राकृतिकता और जैव वुभुक्षाओं से ऊपर उठती है तभी वह अपने होने के अर्थ और गन्तव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है, अन्यथा वह राग-दोष और मोह में उलझे होने को ही अपने होने का सत्य समझ रही होती है। इसके अभाव में मानवीय परिस्थिति के नैतिकीकरण की कोई भी योजना अत्तदीपा न होकर किसी परायत्त स्रोत से आदेशात्मक रूप में उस पर बाहर से थोपी ही जा सकती है। अतएव पटिसोतगामिता ही मानवीय चेतना के नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि का निहितार्थ है। इस अर्थ में पटिसोतगामिता न केवल आधारभूत है बल्कि नैतिकीकरण की पूर्व भूमि भी है जिसे चेतना, कर्म और संसार के नैतिकीकरण के रूप में समझा जा सकता है।

बौद्ध धर्म में यह बात देखने लायक है कि किस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध व्यवस्था मानवीय चेतना की प्राकृतिकता के प्रतिपक्ष में ही खड़ी की गई है जो मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कोई सामाजिक आचारसंहिता प्रदान नहीं कर मूलभूत रूप से पहले-पहल मनुष्य को नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है। यह पटिसोतगामी बौद्ध दृष्टि मनुष्य को जिस रूप में नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है उससे वह किसी भी आचारसंहिताबद्ध नैतिक व्यवस्था को उसके आदर्श स्वरूप में आत्मसात् कर सकता है। बौद्ध दृष्टि इसी अर्थ में आर्य दृष्टि है और उसके आर्यत्व की यही पहचान है। द्रष्टव्य है कि अप्पदीपोभवः और सत्कायदृष्टि (सत्कायदृष्टि प्रभवः सर्वे क्लेशः) के निरोध की अन्विति भी इसी पटिसोतगामिता से बनती है। हीनयान और महायान की मूल्य दृष्टि एवं साधना पद्धतियाँ सब के सब पटिसोतगामी भूमि पर ही मनुष्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृतिक चित्त के विशोधन के लिए बनाई गई हैं। बौद्ध परम्परा में योनिशः और अयोनिशः मनसिकार पूर्वक धर्म प्रविचय तथा चित्त चैत्सिकों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण का जो अत्युच्च विभज्यवादी प्रयास किया गया है उसका निहितार्थ भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह और उसकी अवस्थाओं (जिसमें राग-द्वेष और मोह आदि के बहुविध रूप उत्पन्न होते हैं) को पुंखानुपुंख समझकर उनसे निवृत्ति पाने के सूत्र खोजने में निहित है। माध्यमिकों का सर्वदृष्टिप्रहाण (सर्वदृष्टिप्रहाणाय शून्यतामृतदेशना) भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह में बनने वाली यावत दृष्टियों को विखण्डित कर पटिसोतगामी चित्त भूमि पर ही खड़ा होता है। ऐसे ही शील, समाधि और प्रज्ञा तथा ब्रह्मविहार एवं पारमिताएँ इत्यदि सब के सब चेतना के प्राकृतिक प्रवाह की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतिपक्ष रूप चित्तभूमि के रूप में ही परिभाषित किए गए हैं। अतः बौद्ध धर्म दर्शन की मूलभूत पटिसोतगामी दृष्टि वास्तव में एक निदान है जो चेतना के प्राकृतिक आग्रहों से घिरे हुए मनुष्य का उपचार करता है और उसे नैतिक होने के लिए, बिना किसी अतिमानवीय लंगर के, आत्मचेतन रूप से तैयार करता है। दूसरे शब्दों में बौद्ध धर्म की सम्पूर्ण कार्य योजना मानवीय चेतना के संक्लेषों का व्यवदानीकरण है (चित्तमेव संक्लिष्यते चित्तमेव व्यवदायते) और इसी व्यवदानीकरण में कर्म और संसार का नैतिकीकरण विवक्षित है। अतः पटिसोतगामी चित्तभूमि पर मानवीय चेतना का व्यवदानीकरण ही बौद्ध धर्म के स्वरूप में निहित वह विशिष्टता है जिसके चलते बौद्ध धर्म अपने इतिहास में प्रसारवादी होते हुए भी अहिंसक बना रहा और इस तरह उसका प्रसारवादी अभियान कभी सामी परम्परा के धर्मों की तरह प्रतिघाती नहीं बना।

अब यदि बौद्ध धर्म के इस स्वरूपगत प्रवृत्ति को 'अस्मिता और हिंसा' के समसामयिक बौद्धिक विमर्श के सन्दर्भ में देखें तो कहा जा सकता है कि पटिसोतगामिता उसके लिए मूलगामी है। दार्शनिक धरातल पर इसके द्वारा वह 'सत्कायदृष्टि' - जिसमें आत्ममोह, आत्मप्रेम और आत्मरक्षा तथा तज्जन्य अकुशल मानव प्रवृत्तियों का धारण-पोषण होता है - को उसके सारे घटकों के साथ विखण्डित करता है। सत्कायदृष्टि ही वास्तव में वह मूल है जिसके आधार पर मुनष्य विभिन्न प्रकार की 'अस्मिताओं' को ऐतिहासिक प्रक्रिया में पालता-पोषता रहता है। यही अस्मितायें व्यावहारिक जीवन में सभी प्रकार के छोटे-बड़े संघर्ष और अन्तर्विरोधों के कारण बनती हैं। बौद्ध धर्म इस 'अस्मिता बीज' को ही विखण्डित कर उसे निर्बीज करते हुए मनुष्य में निहित 'मौलिक बुद्धत्व' के प्रकटीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है। इस तरह बौद्ध धर्म में मनुष्य की मौलिक अस्मिता उसका 'बुद्ध' होना है। यह एक ऐसी अस्मिता है जो उन सभी अस्मिताओं का अन्ततः निषेध है, जिनसे जीवन के विविध प्रकार के पारस्परिक अन्तर्विरोधों का जन्म होता है। मनुष्य की मौलिक अस्मिता रूप इस बुद्धत्व का जन्म महामाया के गर्भ से नहीं बल्कि प्रज्ञा के गर्भ से होता है। महामाया के गर्भ से तो गौतम जन्म लेते हैं लेकिन प्रज्ञा-गर्भ से उत्पन्न 'बुद्ध' का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणीमात्र की दुःखमुक्ति हेतु महाकरुणा के सम्पादन में अहर्निश निरत रहना स्वरूपलक्षण होता है।

इस तरह बौद्ध धर्म ने अपने स्वरूपगत कारणों से न केवल स्वयं को आधुनिक विश्व में अन्तर्धर्म संघर्ष से बाहर रखा है बल्कि आधुनिकता विरोधी समसामयिक धार्मिक आतंकवाद का भी वह समर्थक नहीं है। आज प्रसारवादी धर्मों की आधुनिकता या पश्चिम विरोधी कट्टरवाद अथवा आतंकवाद पूरी दुनिया के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य बन गया है। अमर्त्य सेन[9] एक चौंका देने वाली सूचना देते हुए कहते हैं कि "डार्विन तथा विकासवादी विज्ञान को अमेरिका के शिक्षित समाज द्वारा संगठित रूप से जितना विरोध झेलना पड़ा है, उतना दुनिया के किसी देश में नहीं।" यह आधुनिकता विरोधी ईसाई फण्डामेंटलिज़्म का एक आधुनिक उदाहरण है। इसी प्रकार इस्लामी कट्टरता के निशाने पर भी पश्चिम के वैज्ञानिक प्रगतिशील मूल्य और प्राथमिकताएँ ही रहती हैं। एक समय जब पृथ्वी के कुछ महत्त्वपूर्ण भागों में मुस्लिम शासकों (सातवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक) का प्रभुत्व था, तब उन्हें अपने को प्रतिक्रियात्मक रूप से आत्मपरिभाषित करने की जरूरत नहीं पड़ी थी। परन्तु आज पश्चिमी आधुनिकता के समक्ष वे स्वयं को एक 'विरोधी अन्य' के रूप में महसूस करते हैं और पश्चिमी आधुनिकता को 'शैतान' जैसा या कुछ अन्य घोषित कर उसे नेस्तनाबूद करने का इरादा रखते हैं। परन्तु ईसाई और इस्लाम धर्म एकान्तिक रूप से ईश्वरवादी होने के कारण जिस तरह आधुनिकता और पश्चिमी विज्ञान के धुर विरोधी हैं, उसी तरह बौद्ध धर्म आधुनिकता का विरोधी हो ही नहीं सकता।

बौद्ध धर्म कोई ईश्वरीय अथवा अपौरूषेय आदेश नहीं बल्कि मानवीय चेतना की भावनामयी प्रज्ञा से उपजा हुआ विशुद्ध ज्ञान है। यह एक रोचक तथ्य है कि बौद्ध धर्म-दर्शन का जन्म भी कुछ-कुछ वैसी ही प्रवृत्तियों के साथ और लगभग उसी काल में हुआ है जिस काल और जिन प्रवृत्तियों को लेकर आधुनिकता का जन्म हुआ था। बुद्धि की स्वायत्तता और व्यक्ति का स्वाभिमान दोनों ही मूलभूत प्रवृत्तियाँ रही हैं। बुद्ध द्वारा 'अप्पदीपोभव' की घोषणा व्यक्ति को सभी प्रकार की अतिमानवीय अधीनस्थता से मुक्त करता है और साथ ही साथ शब्द प्रमाण का विरोध मानव बुद्धि की स्वतन्त्रता की गवेषणा है। भारतीय परम्परा में चार्वाक को भी शब्द प्रमाण का विरोधी माना जाता है लेकिन लोकायत परम्परा में शब्द प्रमाण का विरोध उतना मूलगामी नहीं जितना कि बौद्ध परम्परा का है। चार्वाक अतीन्द्रिय सत्ता के प्रत्यायक शब्द प्रमाण का विरोध करता है जबकि बौद्ध परम्परा में शब्द को सर्वांशतः प्रमाण होने की पात्रता से ही वंचित रखा गया है। शब्द के प्रमाण होने की न्यूनतम आवश्यकता इतनी है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध होना चाहिए ताकि भाषा के द्वारा यथार्थता का प्रतिनिधित्व किया जा सके। बौद्ध परम्परा शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करते हुए समस्त भाषीय संकेतों को विकल्प तक सीमित कर देता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। भाषा और विकल्प में जन्य-जनक भाव बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है जो अपनी समस्त निष्पत्तियों के साथ भाषा को सेक्रेट के बदले सेक्युलर धरातल पर ला कर खड़ा कर देता है। धार्मिक भाषा के क्षेत्र में सेक्रेट और प्रोफेन का भेद धार्मिक कट्टरता को किस हद तक बढ़ाने वाली अवधारणा है, यह सर्वविदित ही है। बुद्ध का यह कहना कि "हे भिक्षुओं मेरे वचन को मेरे प्रति श्रद्धा के कारण स्वीकार न कर उस तरह ग्रहण करो जैसे स्वर्णकार सोने को तपा कर, काट कर और निकष पर घिस कर उसे परखता है"—वस्तुतः गुह्य और गोपित भाषा के सर्वविध निषेध का अधिवक्ता है।[11] इसी तरह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त जिसे बुद्ध स्वयं ही धम्म का समानार्थ स्वीकार करते हैं वह भी सम्पूर्ण जगत् को कारण-कार्य की ऐसी श्रृंखला में अवधारित करता है जिसमें कुछ भी अकारण तो नहीं लेकिन कुछ भी आदिकारण अथवा स्वयंभू *(कौजा सुइ)* जैसा भी नहीं है। अतः बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी एक ऐसा सिद्धान्त है जो संसार की व्याख्या संसार के अन्दर ही सम्यक् रूप से करता है। इस संसार का कोई आद्य नियामक अथवा मूल संसार से बाहर है, प्रतीत्यसमुत्पादवाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध दर्शन की यह दृष्टि आधुनिकता के "सेक्यूलराईजेशन ऑफ वर्ल्ड" की कार्य योजना के सर्वथा अनुरूप है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म-दर्शन के ऐसे बहुत से बिन्दुओं को संकेतित किया जा सकता है जो आधुनिकता की मूलभूत प्रवृत्तियों से साम्य रखते हैं। परन्तु दोनों के बीच के कुछ निर्णायक अन्तरों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। आधुनिकता और बौद्ध धर्म दोनों ही बुद्धिवादी हैं परन्तु आधुनिकता में बुद्धि का आदर्श 'सार्वभौम बुद्धि' है जबकि बौद्ध बुद्धि का आदर्श 'सार्वभौम प्रज्ञा' है। सार्वभौम प्रज्ञा बुद्धि के लिए विजातीय नहीं बल्कि उसी का विशुद्धिकृत रूप है। सार्वभौम प्रज्ञा के आलोक में जीवन और जगत् का जो अर्थ उद्घाटित होता है, वैसी अर्थवत्ता सार्वभौम बुद्धि को जीवन और जगत् में दिख ही नहीं सकती है। सार्वभौम बुद्धि कभी भी भेददृष्टि का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वह अधिक से अधिक स्तरीकरण और मानकीकरण में ही प्रतिफलित होती है। इसके विपरीत सार्वभौम प्रज्ञा प्राणिमात्र में समता का दर्शन करती है और इसलिए उसका पर्यवसान महाकरुणा में होता है। इस कारण आधुनिकतामूलक मानववाद 'एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक' ही बना रहता है जबकि बौद्ध मानवतावाद 'बायोसेंट्रिसिज़्म' में रूपान्तरित हो जाता है।

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी:

1. *कविकर्म और चिन्तन*, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, पृ. 30.
2. यूरोप के नवजागरण के अर्थ में आधुनिकता को परिभाषित करते हुए काण्ट ने कहा है - "Aufklaerung ist der Ausgang des Menschen aus Seiner Selbst Verschuldeten unmuendigkest" – Berlinischer Monatsschrift, 1783.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. *कविकर्म और चिन्तन*, पृ. 27.
4. वही, पृ. 27.
5. *विवेकानन्द साहित्य*, नवम् खण्ड, अद्वैताश्रम, षष्ट संस्करण, 2000, पृ. 273.
6. अपनी जन्मभूमि में बौद्ध किसी सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा नहीं करते। इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है - न हि प्रमाणीकृत वौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण निरपेक्षागममात्रोण पवर्तन्ते। अपितु तेश्षपि सांवृतमेतदिति ब्रुवाण लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति (न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका - 2-1-68) ऐसे ही जयन्त भट्ट का कथन है - वौद्धादयोश्षपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्य नियमिता एव चाण्डालादिस्पर्श परिहरन्ति (न्यायमंजरी)। भारतीय परम्परा के दो धुरन्धर नैयायिकों की ऐसी टिप्पणियों के स्वर यद्यपि आलोचनात्मक है तथापि इन्हें एक महत्त्वपूर्ण संकेत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्ध धर्म भारत में धार्मिक रूप से तो स्वायत्त रहा है लेकिन सांस्कृतिक स्वायत्तता की अभिप्रेरणा उसमें नहीं रही।
7. *सुत्तनिपात*, अगञ्जेय सुत्त।
8. जॉसेफ रुन्जो ने इस धार्मिक तथ्यात्मकता को उद्घाटित करते हुए बहुत ही समीचीन टिप्पणी किया है कि - "Thus religion is a human construct (or institution) which fundamentally involves beliefs of two levels : (1) It involves the Meta-belief that the religion in question does indeed refer to a transcendental reality which gives meaning to life, and (2) it involves specific beliefs – including vital core beliefs – about the nature of that reality and the way in which it gives meaning to life. The first short of belief is shared by world religions; the second short of belief is the point of conflict among world religions. - *God commitment and the faiths: pluralism Vs relativism – Philosophy of religion: An Anthology*, Edited by Louis P. Pojman – Words worth publication, 1998, p. 548-49.
9. हिंसा और अस्मिता का संकट, पृ. 10, राजपाल एण्ड सन्स, 2011.
10. विकल्प योनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः, दिङ्नाग, *प्रमाण समुच्चय*।
11. तापाच्छेदात् निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक समीक्षा

बीजगणित की विकास-यात्रा*

कृपाशंकर सिंह**

'विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ' बीजगणित की विकास-यात्रा से सम्बन्धित ए विश्लेषणात्मक पुस्तक है। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सैकड़ों वर्षों का भारत चिन्तन-मनन है, उनमें गणित और ज्योतिष जैसे विषयों में महारत हासिल करने व महान विचारकों के अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों को आम लोगों तक पहुँचाने का क अपेक्षाकृत कम हुआ है, जबकि हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे विचारक हुए हैं, जिनकी खो और स्थापनाएँ चमत्कार के रूप में हमारे सम्मुख हैं। परन्तु अधिकतर भारतीयों क उनके बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं है। यद्यपि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारत की उपलब्धियाँ हैं, उनमें अनेक ऐसे विषय हैं जिन्हें विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने क काम अनेक विदेशी विभूतियों ने भी किया है। उदाहरण के लिए, बीजगणित को यदि लें तो प्रो. मोनियर विलियम्स ने बहुत पहले यह लिखा था कि "बीजगणित ज्यामिति तथा ज्योतिष में उनके उपयोग की खोज का श्रेय हिन्दुओं को है।"

कोलब्रुक ने लिखा है कि "अरबवासियों के जानने के पूर्व ही भारत बीजगणित अपनी श्रेष्ठतम पूर्णता की स्थिति में था।"

इस बात की बड़ी जरूरत है कि विभिन्न विषयों में कार्य करनेवाले विद्वान अनुसन्धानकर्ता भारत तथा विश्व की महान विभूतियों को लोगों के सम्मुख लाएँ। महेश दुबे की यह पुस्तक 'विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ' उसी दिशा में एक सराह कार्य है। प्रो. दुबे ने भारत के साथ विश्व के अन्य प्रसिद्ध बीजगणितज्ञों का सरल भाषा में सुस्पष्ट रूप से वर्णन किया है, वह प्रशंसा योग्य है। गणित सामान्यतया दुरूह विषय समझा जाता है। ऐसे दुरूह विषय को सहज-ग्राह्य बना दे निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य कहा जाएगा।

---

*विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ (बीजगणित विकास यात्रा) लेखक—प्रो. महेश दुबे, प्रकाशक—नेश बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नेहरूभवन, 5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज—II, वसन्तकुंज, नई दिल्ली-11

** कृपाशंकर सिंह, डी-6, स्ट्रावेरी हिल, शिमला—171002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में गणितज्ञों की गणित सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का वर्णन और विश्व को उनकी देन को तो प्रस्तुत किया ही गया है, साथ में गणित से इतर विषयों में उनकी रुचि और योगदान को भी रेखांकित किया गया है। उदाहरण के लिए आयलर का संगीत के क्षेत्र में योगदान, उनके संगीत के सुरों की गणितीय व्याख्या। इसी तरह लाग्रांज की रुचि बीजगणित के साथ-साथ तत्त्वमीमांसा, धर्म, दर्शन, इतिहास, चिकित्साशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा रसायनशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन में भी थी। उनके लिए रसायनशास्त्र और बीजगणित दोनों ही समान रूप से सरल विषय थे। उन्हें संगीत से गणित के लिए एकाग्रता मिलती थी। इस तरह की अन्य अनेक जानकारियाँ इस पुस्तक में दी गई है, जो उसे अधिक रोचक और पठनीय बनाती हैं।

इस पुस्तक का आरम्भ यूक्लिड से किया गया है, जिसने ज्यामितिकार के रूप में महानता प्राप्त की थी। यूक्लिड की पुस्तक 'एलिमेण्ट्स' एक कालजयी रचना कही जाती है। "ज्यामिति के मूलभूत सिद्धान्तों और प्रमेयों को आज भी यूक्लिड की प्रविधियों के आधार पर पढ़ाया जाता है।" 1719 ई. में जगन्नाथ पण्डित ने संस्कृत में 'एलिमेण्ट्स' का अनुवाद किया गया था, जिसके बाद हिन्दी में इसे ग्रहण किया गया। इस पुस्तक में यूक्लिड के बीजगणित सम्बन्धी कार्यों की ही चर्चा की गई है।

छठी शताब्दी ई. पूर्व के पाइथागोरस प्रसिद्ध गणितज्ञ के साथ 'अलौकिक और जादुई शक्ति सम्पन्न रहस्यानुष्ठानों के गाथापुरुष' के रूप में प्रसिद्ध थे। यह भी समझा जाता है कि ''पाइथागोरस ने अपना अधिकांश गणित और रहस्यवाद का ज्ञान इजिप्ट और भारत की अपनी वृहत्तर यात्राओं से अर्जित किया था। "पाइथागोरस का प्रमेय कि, "एक आयत का विकर्ण उतना ही क्षेत्र इकट्ठा बनाता है, जितने कि उसकी लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग बनाती है।" प्रो. दुबे का मानना है कि इस प्रमेय को 'बौधायन पाइथागोरस प्रमेय' कहा जाना चाहिए, क्योंकि बौधायन के 'शुल्वसूत्र' में इस प्रमेय को पाइथागोरस से बहुत पहले ही पस्तुत किया जा चुका था।

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्णिम काल के रूप में याद किया जाता है। इस काल में कला-साहित्य से लेकर धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्रों में अनेक उच्चकोटि की रचनाएँ प्रकाश में आईं। आर्यभट्ट का जन्म इसी गुप्त साम्राज्य के सम्राट बुधगुप्त के राज्यकाल में 476 ई. में हुआ था। उन्हें क्रान्तिकारी गणितज्ञ और ज्योतिषविद् कहा गया है। आर्यभट्ट के तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है—आर्यभट्टीय, आर्यभट्ट सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त प्रकाश। परन्तु आज आर्यभट्टीय कृति ही उपलब्ध है।

आर्यभटीय को प्रथम ज्योतिष ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसमें चार अध्याय हैं—गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलपाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतिकापाद में परिभाषाओं के अलावा ज्योतिषीय प्राचलों और ज्या सारणियों तथा काल की इकाइयों और ग्रहों की स्थितियों की विवेचना है। गणितपाद में अंकगणित और बीजगणित के निष्कर्ष हैं। कालक्रियापाद में समय की ईकाइयाँ और ग्रहों की स्थितियाँ दी गई हैं तथा गोलपाद में सूर्य, चन्द्रमा के साथ दूसरे ग्रहों की विवेचना की गई है।

आर्यभट्ट के अवदान के कुछ बिन्दुओं को प्रो. दुबे ने इस तरह व्यक्त किया है-

1. आर्यभट्ट ने सत, त्रेता, द्वापर और कलियुग की अवधि को 4:3:2:1 के स्थान पर समान वर्षों की कालावधि में विभाजित किया है।
2. उन्होंने स्वरों और व्यंजनों की सहायता से बड़ी-बड़ी संख्याओं के लिखने की सांकेतिक पद्धति आविष्कृत की।
3. उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गणितज्ञों की तुलना में (पाई) का सटीक और अधिक सही मान ज्ञात किया। वे प्रथम ऐसे गणितज्ञ हैं, जिन्होंने यह मान दशमलव के बाद चार अंकों तक शुद्ध ज्ञात किया।
4. उन्होंने $3^0 45'$, के अन्तर पर ज्या सरणियाँ विकसित कीं।
5. उन्होंने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर पूर्व से पश्चिम की ओर घूमती है।
6. उन्होंने सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण की सही गणितीय व्याख्या प्रस्तुत की। आर्यभट्ट का कथन है–'छादयति शशी सूर्यं शशिनं महती च भूच्छाया,' अर्थात् सूर्यग्रहण के समय सूर्य को चन्द्रमा ढक लेता है और चन्द्रग्रहण के समय पृथ्वी की बड़ी छाया चन्द्रमा को ढक लेती है।

आर्यभटीय ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ मिलती हैं, पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका भास्कर प्रथम की महाभास्करीय है, जिसका समय 629 ई. है।

जहाँ तक बीजगणित का प्रश्न है, आर्यभट्ट को पहला ऐसा गणितज्ञ माना जाता है, जो बीजगणित के जनक के रूप में मान्य हैं। उन्होंने बीजगणित को गणित की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकसित किया।

महेश दुबे ने लिखा है कि आर्यभट्ट अनिर्धारित समीकरणों को हल करने की प्रविधि, जिसे कुट्टकार की प्रक्रिया कहा जाता है, के विश्व के अग्रणी गणितज्ञ हैं। यह गणित का लोकप्रचलित और लोकरंजक रूप है। पुस्तक में इसके दो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें से एक यह है कि–

एक मन लोहा सौ हथियार : पउवा छुरी सेर कटार। पँच पँच सेर बने तलवार।

एक मन लोहे से सौ हथियार बनते हैं। चाकू एक पाव का, कटार एक सेर और तलवार पाँच सेर की बनती है प्रत्येक की संख्या ज्ञात करो?

उत्तर–चाकू = 96, कटार =1 और तलवार = 3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीधराचार्य के विषय में लिखते हुए यह कहा गया है कि "गणितीय प्रश्नों की संख्यात्मक प्रस्तुति उनकी (श्रीधर की) विशेषता है"

पुस्तक में त्रिशतिका का एक उदाहरण दिया गया है, जिसका अर्थ है- 'श्रेष्ठ भ्रमरों के समूह में से 1/6 पाटली वृक्ष में, 1/3 कदम्ब वृक्ष में, 1/4 आम्रवृक्ष में, 1/5 विकसित पुष्पों वाले चम्पक वृक्ष में, 1/30 सूर्य किरणों द्वारा पूर्ण विकसित कमलवृन्द में आनन्द ले रहे थे और एक मत्त भृंग आकाश में भ्रमण कर रहा था। बतलाओ उस समूह में भ्रमरों की संख्या कितनी थी?

548 ई. में गुजरात में जन्मे ब्रह्मगुप्त की रचना "ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के 24 अध्याय और 1022 श्लोकों में ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष और गणित सम्बन्धी जानकारी दी है। इस ग्रन्थ के बारहवें (गणिताध्याय) और 18वें (कुट्टकाध्याय) अध्याय गणित से सम्बन्धित हैं।

गणिताध्याय में गणितीय परिकर्म एवं प्रक्रियाओं के साथ श्रेणी व्यवहार, क्षेत्र-व्यवहार (त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के क्षेत्रफल) छाया-व्यवहार, राशि-व्यवहार (अन्न के परिमाण जानने की विधियाँ) आदि की विवेचना है। कुट्टकाध्याय में कुट्टक विधि से प्रश्नों को हल करने की विधियाँ दी गई हैं। 103 श्लोकों का यह अध्याय मुख्यतः बीजगणित पर केन्द्रित है।

महेश दुबे ने इस बात का जिक्र किया है कि किस तरह ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का बगदाद में अरबी में अनुवाद हुआ था। खलीफा अल-मंसूर, जिन्होंने 762 ई. में बगदाद बसाया था, के समय में ब्रह्मगुप्त के दो ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया गया था, 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' का अरबी में अनुवाद 'अलसिन्द हिन्द' नामसे और 'खण्ड खाद्यक' का अनुवाद 'अलअरकन्द' शीर्षक से हुआ था। इनके अरबी अनुवादक क्रमशः इब्राहिम अल फजारी और याकूब इब्न-तारीक हैं।

ब्रह्मगुप्त के अवदान को बताते हुए महेश दुबे ने कहा है कि—"अरबवासी बीजगणित के आविष्कर्ता नहीं, अपितु प्राप्तकर्ता थे। बीजगणितीय प्रविधियों को अरब में पहुँचाने का श्रेय निश्चय ही ब्रह्मगुप्त को है।"

'ब्रह्मगुप्त ने चतुर्भुज के क्षेत्रफल और विकर्णों को ज्ञात करने सम्बन्धी सूत्र दिए।'

उनकी श्रेष्ठतम उपलब्धियों में समीकरण $X^2—NY^3 = +1$ पर उनके योगदान की गणना होती है।

महेश दुबे ने जार्ज जासेफ के हवाले से कहा है कि "परिमेय पूर्णांकों में इन समीकरणों के हल ज्ञात करनेवाले ब्रह्मगुप्त पहले गणितज्ञ थे। उनकी प्रविधियाँ विलक्षण और व्यापक हैं।"

9वीं शताब्दी के महावीराचार्य 'एक अप्रतिम गणितज्ञ थे,' साथ में उनमें एक कवि की कल्पनाशीलता और एक कलाकार के सृजनात्मक उन्मेष का व्यापक रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(भी) देखने को मिलता है। उनकी पुस्तक 'गणित सार संग्रह' नौ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है, जिसमें 'गणितीय परिकर्म, ज्यामितीय प्रश्नों एवं बीजगणितीय प्रविधियों सम्बन्धी विश्लेषण हैं। साथ में नौवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य का भी दर्शन होता है।

गणित के क्षेत्र में महावीराचार्य के योगदान का आकलन वैसे तो एक विस्तृत विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, पर यदि दो-चार बिन्दुओं को देना चाहें तो प्रो. दुबे के अनुसार वे ये होंगे।

1. 'धनात्मक तथा ऋणात्मक राशियों का वर्ग धनात्मक होता है और उस राशि के वर्गमूल क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं। चूँकि वस्तुओं की प्रकृति में ऋणात्मक राशि वर्ग-राशि नहीं होती, इसलिए उसका कोई वर्गमूल नहीं होता।
2. लघुतम समावर्त्य की अवधारणा को प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को है।
3. भारतीय गणितज्ञों में एक मात्र महावीर ने दीर्घवृत्त (ellipse) की चर्चा की है। उन्होंने इसकी परिधि और क्षेत्रफल निकालने का नियम भी दिया है।'

महावीराचार्य के योगदान का वर्णन करते हुए महेश दुबे ने उनके कई एक रोचक बीजगणितीय उदाहरण दिए हैं। इसी तरह का एक साहित्यिक उदाहरण उनके 'गणित सार संग्रह' से इस प्रकार दिया गया है—

"महावीर ने वसन्त ऋतु की एक मादक रात्रि का चित्रण करते हुए, मनोरम उधान में स्थित भवन में प्रणय चर्चा में मस्त एक युगल का वर्णन किया है। प्रणय कलह में पत्नी के गले से टूटी मुक्ता माला के मोती गिरकर बिखर गए। टूटकर गिरे हुए मोतियों की संख्या भिन्न में दर्शाते हुए महावीर कहते हैं—उस मुक्ताहार के 1/3 मोती दासी के पास पहुँचे, 1/6 शय्या पर रह गए, शेष के 1/2 और पुनः अग्रिम शेष के 1/2 और फिर अग्रिम शेष के 1/2। इस प्रकार कुल 6 बार में प्राप्त मुक्ताओं सर्वत्र गिरी। माला में 1161 मोती बिना गिरे रह गए। यदि तुम प्रकीर्णक भिन्नों का मान निकालना जानते हो तो हार में कुल मोतियों की संख्या ज्ञात करो?"

(इसे पुस्तक में बीजगणितीय रूप में हल करके मोतियों की कुल संख्या 34[illegible] दी गई है।)

प्रो. दुबे का कहना है कि भारत में गणित के विकास में उनके (महावीराचार्य) योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। भारत के गणितज्ञों में उनका स्थान अप्रतिम और अद्वितीय है।

मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ और ज्योतिषविद् उमर खय्याम (1040-112[illegible]) केवल बीजगणित के उद्‌भट विद्वान थे, वरन् एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि के [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी उनकी ख्याति थी। बल्कि यह कहना अन्यथा न होगा कि अपने युग के बहुत प्रतिभावान गणितज्ञ होते हुए भी गणित सम्बन्धी उनके योगदान की ओर विद्वानों का उतना ध्यान नहीं गया, जितना जाना चाहिए था। ऊपर से "उनके परवर्ती गणितज्ञों ने खय्याम के कार्यों में दिलचस्पी लेने की बजाय उनकी उपेक्षा की। सम्भवतया खय्याम अपने युग से कहीं आगे थे।"

यह हो सकता है कि खय्याम ने स्वयं भी अपने कवि रूप को प्रधानता दी हो। उन्होंने स्वयं कहा है–

"और दी ख्याति प्रतिष्ठा बेच, उन्होंने लेकर बस यह गान।"

अगर यह कहा जाए तो गलत नहीं होगा कि खय्याम की वास्तविक प्रसिद्धि उनकी रूबाईयात को लेकर है। रूबाई फारसी (और उर्दू) का एक विशेष छन्द है, जिसके पहले, दूसरे और चौथे पद में काफिया होता है। पुस्तक में खय्याम की रूबाई का एक उदाहरण दिया गया है–

घनी सिर पर तरुवर की डाल। हरी, पाँवों के नीचे घास
बगल में मधुमदिरा का पात्र। सामने रोटी के दो ग्रास
सरस कविता की पुस्तक हाथ। और, सबके ऊपर तुम प्राण
गा रहीं छेड़ सुरीली तान। मुझे अब मरू नंदन - उद्यान।

भारतीय गणितज्ञों में भास्कराचार्य का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। जार्ज सार्टन ने माना है कि "हम भास्कर को भारतीयों का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ कह सकते हैं।"

भास्कर का जन्म 1114 ई. में महाराष्ट्र के विज्जडविडे में हुआ था। वे शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मण थे। उन्होंने छत्तीस वर्ष की आयु में 'सिद्धान्त शिरोमणि' की रचना की थी, जो गणित और ज्योतिष की रचना है। इसके चार भाग हैं–लीलावती, बीजगणित, गोलाध्याय और ग्रहगणित। इनमें 'लीलावती' अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। उस पर लिखी गई दस टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त उस पर लिखी गई अनेक हिन्दी टीकाएँ हैं।

भास्कराचार्य एक कवि भी थे। उन्होंने गणितीय प्रश्नों को भी कविता में व्यक्त किया है। कविता में व्यक्त उनके एक प्रश्न का अनुवाद इस प्रकार है–"संग्राम में क्रुद्ध अर्जुन ने कर्ण के वध के लिए जितने बाण लिए, उनके आधे से कर्ण के बाणों का निवारण किया। बाणों की कुल संख्या के वर्गमूल के चार गुने बाणों से घोड़ों को मारा। 6 बाणों से शल्य को , 3 बाणों से छत्र, ध्वज और धनुष को काटा तथा एक बाण से कर्ण का सिर काट डाला। तो बताओ अर्जुन ने कितने बाण धारण किए थे।"

इसे बीजगणित में रूपान्तरित करने पर बाणों की कुल संख्या 100 निकलती है।

'लीलावती' से बीजगणित का एक और उदाहरण–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रमर समूह के आधे के वर्गमूल के तुल्य भ्रमर मालती पुष्प पर चले गए। सम्पूर्ण भ्रमरों का 8/9 भाग भी वहीं चला गया। कमल के पराग में अनुरक्त एक भ्रमर रात्रि में कमल कोश में बन्द हो गया। उसकी प्रतीक्षा में एक भ्रमरी कमल पर गूँज रही। हे कांते : भ्रमरों की कुल संख्या बताओ।

(इससे समीकरण प्राप्त करने पर भ्रमरों की कुल संख्या 72 होगी।)

एक और उदाहरण—

किसी हंस कुल के वर्गमूल के आधे के सात गुणित हंसों को विलासपूर्वक जलाशय के तट पर जाते हुए मैंने देखा। शेष दो हंस जल में कलह क्रीड़ा कर रहे थे। हे बाले! हंसों की कुल संख्या बतलाओ।

(हंसों की कुल संख्या X^2 मानने पर इससे जो समीकरण प्राप्त होता है, उसके आधार पर हंसों की कुल संख्या =16 होगी)

फ्रांस में बीजगणित का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ, जिसके अग्रणी गणितज्ञों में फ्रैंकॉइस वाइटा (1540-1603) का नाम लिया जाता है। हालाँकि वाइटा पेशे से कानूनविद् और राजनीतिक प्रशासक थे। गणित और खासतौर पर बीजगणित उनके फुसरत का विषय था। पर आज वह बीजगणित के कारण ही जाने जाते हैं। वाइटा को 'आधुनिक बीजगणित का जनक' कहा जाता है। 'आपेरा मेथिमेटिका' शीर्षक से वाइटा के कार्यों का एक संकलन 1646 ई. में प्रकाशित हुआ था।

महेश दुबे ने वाइटा के योगदान के बारे में बताते हुए यह कहा है कि वाइटा ने ही बीजगणित में '+' और '—' चिह्नों के प्रयोग की शुरुआत की और ज्ञात तथा अज्ञात राशियों के लिए क्रमशः व्यंजनों (BCD...) और स्वरों को अपनाया।

वाइटा ने बीजगणित और ज्यामिति के अन्तःसम्बन्धों की त्रिकोणमिति की सहायता से व्याख्या की।

उन्होंने खगोल विज्ञान में अपने निष्कर्षों के आधार पर यह कहा कि ज्यामिति की दृष्टि से कोपरनिकस का सिद्धान्त सही नहीं है।

फ्रांस के अन्य बीजगणितज्ञों में पियरे द फर्मा (जन्म 1601) के बारे में बताते हुए उन्हें एक मौलिक और रचनात्मक गणितज्ञ कहा गया है। वे प्रायिकता के सिद्धान्त के संस्थापक भी माने जाते हैं।

फ्रांस के ही रेने दकार्ता ने गणित की शाखाओं—ज्यामिति, बीजगणित, गणितीय विश्लेषण—के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने 'वैश्लेषिक ज्यामिति' की शुरुआत की। बर्टेण्ड रसेल के विचार से "दकार्ता एक दार्शनिक, गणित और विज्ञान पुरुष थे। दर्शनशास्त्र और गणित में उनका योगदान श्रेष्ठतम महत्त्व का है।"

बीजगणित के आधुनिक युग की पृष्ठभूमि तैयार करने में जिन गणितज्ञों की प्रमुख भूमिका रही, उनमें आयलर, लाग्रांज, गाउस, कोशी और आवेल हैं। पर इनमें भी आयलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18वीं शताब्दी को गणित के क्षेत्र में लियोनार्ड आयलर (1707-1783) युग कहा जाता है। गणित के साथ आयलर ने अनेक अन्य क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। बीजगणित, अंकगणित, ज्यामिति के अलावा उन्होंने यांत्रिकी, भौतिकी, खगोलशास्त्र से लेकर संगीत तक में उल्लेखनीय कार्य किए। आयलर ने "स्वर संगीत के नियमों की गणितीय विवेचना के साथ संयोजन और स्वर व्यवस्था का विश्लेषण तथा संगीत के स्वर-संयोजनों का ठोस गणितीय प्रारूप प्रस्तुत किया।"

लेकिन गणित और संगीत दो विपरीत ध्रुवों पर स्थिति के कारण आयलर के विचारों को न तो गणितज्ञों ने स्वीकृति दी और न ही संगीतज्ञों ने । महेश दुबे की इस पर टिप्पणी है कि "गणितज्ञों के लिए वे संगीतात्मक प्रचुरता के कारण बोझिल थे, तो संगीतज्ञों के लिए अपनी गणितीयता के कारण जटिल।"

आधुनिक काल के बीजगणितज्ञों में सोफस ली (1842-1899) तथा एम्मी नोएवेर (1882-1935) भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम हैं। ली के कार्यों से बीजगणित के फलक का विस्तार हुआ। एम्मी नोएवेर को आइन्स्टाइन ने 'बीसवीं शताब्दी का एक श्रेष्ठ गणितज्ञ माना था।

लाग्रांज एक ऐसे गणितज्ञ थे, जो यह मानते थे कि गणित के ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। उनका कहना था कि "यदि एक गणितज्ञ आम आदमी को अपनी बात नहीं समझा सकता तो इसका अर्थ है कि उसने अपने ही विषय को ठीक से नहीं समझा है।"

आधुनिक युग के आन्द्रेवायल (1906-1998) ने बीजगणित, ज्यामिति, गणितीय विश्लेषण और गणित के इतिहास जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करते हुए छान्दोग्य उपनिषद्, महाभारत और मेघदूत का भी अध्ययन किया। उनकी गहरी रुचि का ग्रन्थ भगवत्गीता था। जब वे फिनलैण्ड के बन्दी के तौर पर स्वीडन, इंग्लैण्ड, फ्रांस के जेलों में कैदी थे तो गीता ने उन्हें मानसिक बल दिया और आत्मविश्लेषण की शक्ति दी। महात्मा गाँधी के नमक सत्याग्रह और दाण्डी मार्च के समय वे भारत में ही थे। वे महात्मा गाँधी से बहुत अधिक प्रभावित थे। महात्मा से वे मिले भी थे।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए मुझे लगातार यह लगता रहा कि बीजगणित जैसे विषय में भी इतनी रोचकता पैदा की जा सकती है कि उसे आप एक साहित्यिक कृति की तरह पढ़ सकें। बीजगणित में महारत हासिल करनेवालों के कार्यों और उनके अवदान को इतने सहज और आसान तरीके से प्रो. महेश दुबे इसलिए प्रस्तुत कर सके हैं, क्योंकि वे स्वयं गणित के एक सुलझे हुए और वरिष्ठ प्राध्यापक होने के साथ कवि-हृदय भी हैं। मेरा विश्वास है कि बीजगणित में रुचि रखनेवालों के लिए यह पुस्तक अपनी अनिवार्यता सिद्ध करने में सफल होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती शीतांशु की कविताएँ*

सरजू प्रसाद मिश्र**

समीक्षकों के दो वर्ग किए जा सकते हैं—एक, वे जो काव्य-साधना करते हैं या साहि की विविध विधाओं में सृजनरत रहते हैं और क्रमशः समीक्षा की ओर बढ़ जाते है दूसरे वे जो मात्र सहृदय पाठक होते हैं और समीक्षा के माध्यम से साहित्य संबं अपनी समझ-बूझ व्यक्त करने लगते हैं। प्रथम वर्ग के समीक्षक समीक्षा में अप गहरी छाप छोड़ जाते हैं। डॉ. शीतांशु शशिभूषण इस प्रथम वर्ग में ही परिगणित कि जाएँगे। उन्हें भावक आलोचक कहना अधिक उपयुक्त होगा। अपने कवि औ समीक्षक दोनों रूपों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है :

"मैं छंदोबद्ध और छंद-मुक्त—दोनों प्रकार की कविताएँ करता रहा हूँ। कवि आलोचक के रूप में मेरा रूपांतरण तब हुआ जब मेरे सामने एक दूसरा संसार आ खड़ा हुआ। वह संसार साहित्य का संसार था। इसमें मेरे लिए एक ओर जीवन ज का अनुभावन था और दूसरी ओर साहित्य का भावनी।" सृजन-कर्म से गहन जुड़ के कारण ही उनका समीक्षक साहित्य के अलक्षित अर्थ-सौंदर्य का उद्‌घाटन कर सक है। डॉ. शीतांशु ने अपनी 'मनोवैज्ञानिक मिथकीय आलोचना' वाली पुस्तक भूमिका में लिखा है कि 'जिस तरह दृष्टिहीन आँखों को ऐनक या बाहरी प्रकाश रोशनी नहीं मिल सकती, क्योंकि वह दृष्टिहीन है, उसी तरह केवल सिद्धांतों अन्तर्गर्भी साभिप्रायता का उद्‌घाटन संभव नहीं है। वह साहित्य-विवेक से भावकत्व से ही संभव हो पाता है।' काव्य-साधना उनके भावकत्व को ऊर्जा प्र करती रही है।

---

*स्थगित हैं यात्राएँ, शीतांशु शशिभूषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, दिल्ली; प्रथम सं : 2012; मूल्य : 250.

**पताः— 46, पठान ले आउट, रिंग रोड नागपुर—440022; मो.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्थगित हैं यात्राएँ' उनके कवि-रूप से हमारा साक्षात्कार कराता है। इस संग्रह के प्रारम्भ और अन्त में दो लंबी कविताएँ हैं, जिनका संबंध क्रमशः पंजाब और अमृतसर से है और जो कवि की संवेदनशीलता एवं वैचारिकता दोनों को अभिव्यक्त करती हैं। संग्रह की शेष कविताओं में आधुनिकता के प्रसार के नाम पर मूल्यहीन अनैतिक राजनीति द्वारा निर्मित भ्रष्टाचार की उस गगनचुंबी मीनार का दृश्यांकन है, जिसका विरोध करनेवाले भुनगे बनकर रह गए हैं। यहाँ हम कवि से पूर्णतः सहमत हैं कि इस संकलन की अधिकांश कविताएँ अपनी व्यंजना में स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती हैं।' जिस गाँव से चलकर डॉ. शीतांशु अमृतसर जैसे महान नगर में पहुँचे हैं, उसके कायाकल्प पर भी उन्होंने हार्दिक वेदना व्यक्त की है। यह भावना साधारणीकृत होकर पाठकों के हृदय को छू लेती है। स्वार्थी नेताओं का कुर्सी-प्रेम प्रजातंत्र की जड़ों को खोखला कर रहा है। शीतांशु जी का कवि इस घृणित प्रवृत्ति पर व्यंग्य का तीखा प्रहार करता है—

'ये 'ह्यूमन जेनेटिक्स' का
ऐसा 'प्लांट' लगाएँगे—
जहाँ 'रिसर्च' पूरा कर 'सायंटिस्ट'
माँ के गर्भ से ही बच्चे को
कुर्सी के साथ लाएँगे!'

काव्य-संग्रह का शीर्षक जिस पर आधारित है, उस लंबी कविता में आतंकवाद और उग्रवादी गतिविधियों के हिंसक डरावने अंधकार में डूबे पंजाब के अपने-आप में सिमटे जन-जीवन का चित्रण है। यात्राओं का स्थगन सभी मानवी संबंधो एवं प्रगति कार्य चेतना के स्थगन का पर्याय है। कवि संतों की उदार मानवतावादी वाणी में निहित उपदेशों का स्मरण कराते हुए ठस हुई संवेदनाओं को जगाते हुए कहता है—

'अब भी/देख सके तो देख'/पिछले
कई महीनों से/कई वर्षों से/फूल नहीं
खिले पंजाब में!/खुशबुएँ नहीं उड़ीं!/
तितलियों ने/अपने पंख नहीं खोले!/
नथुनों से गुजरकर/फेफड़ों में/शीतलता
का संचार करनेवाली/हवा नहीं सरसराई/
रंगों में/मस्ती के ज्वार को/अँगड़ा देनेवाली/
बैसाखी भी/इस बार नहीं आई!'

कवि राजनीति के सौदागरों से अपील करता है कि पंजाब की नई पीढ़ी के मन-मस्तिष्क में घृणा और विद्वेष के विष को फैलने से रोका जाए। कविता का अन्त आशामय मंगलकामना से होता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उनकी बाहरी/और भीतरी यात्राएँ/कभी
स्थगित न हों/बन्द न हों/और उनकी
आत्मा को/प्रकाशित करनेवाले/दीप की
रोशनी/कभी मंद न हो।'

'आईना' शीर्षक कविताएँ आत्मसाक्षात्कार, आत्मनिरीक्षण, आत्ममंथन, आत्मसुधार की महत्ता से संबंधित हैं। दूसरों के दोषों को रेखांकित करने के बदले हमें अपनी समीक्षा करनी चाहिए। आईना काल-चेतना के रूप में दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है। उससे कुछ छिपा नहीं रहता। वह तटस्थ होकर निर्णय देता है। 'सनातन लोकपाल' कविता लुधियाना के सिक्ख नवजवान अर्जुन सिंह को आदरांजलि अर्पित करती है, जिसने आतंकवादियों से एक हिन्दू को बचाने के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर 'मनुक्खी धर्म' की रक्षा की। हिंसा और आतंक से भयभीत लोग सत्य की पक्षधरता से कतराते हैं, लेकिन अर्जुन सिंह ने—'महाभारत' के विकर्ण की तरह सत्य के मुख से आवरण हटाने का साहस दिखाया था। कौरव कुल द्वारा द्रौपदी को अपमानित किए जाते देख विकर्ण मौन न रह सका। अपने बंधुओं के अनैतिक आचरण का प्रतिरोध कर वह नारी स्वातन्त्र्य आंदोलन का शलाका पुरुष बन गया। कवि ने दोनों निर्भीक वीरों को 'सनातन लोकपाल' की उपाधि प्रदान की है।

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने 'सत्य' को 'मेधा के क्रीड़ा पिंजर का पाला हुआ सुआ' कहा है। सत्य का साक्षात्कार करना आसान नहीं है। असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाए जाते हैं। वर्तमान में सत्य की स्थिति की विडंबना को 'महाभारत' के माध्यम से व्यक्त किया गया है—

'सत्य तो/युधिष्ठिर के/इंद्रप्रस्थीय
राजभवन का/पारदर्शी फर्श है!/और
हम सब/धृतराष्ट्रीय अंधे स्वार्थ की संताने!
तभी सत्य के निष्कलुष समतल को/
हमारी दुर्योधनी आँखें/ठीक-ठीक/
नहीं देख पातीं।'

—संग्रह की 'सत्य' शीर्षक कवि[ता]

कविताएँ सत्य के ताप की असहनीयता बयान करती हैं। इस तेज से हमारी आँखें चौंधियाने लगती हैं। उससे बचने के लिए हम असत्य का काला चश्मा लगाते हैं। सत्य रूपी पतझड़ से होकर आत्मिक वसंत को अनुभूत किया जा सकता है।

'वृद्धता का सत्य' कविता में वृद्ध सिंह और वृद्ध मेष को आमने-सामने रखा गया है। सिंहासन पर विराजमान सिंहों के पास प्रभुता और छद्म का सत्य है। वृद्ध मेषों के पास विवशता का सत्य है। यह शासक और शासित के बीच का अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थलिप्त राजनीतिकों एवं उन्हें सहन करते मतदाताओं का व्यंग्यात्मक चित्रण बहुत प्रभावशाली है।

'पिता' शीर्षक काव्य-शृंखला में आधुनिकता की आँधी में पिता-पुत्र के टूटकर गिरते रिश्तों एवं पारिवारिक मूल्यों के विघटन का चित्रण है। 'रिटायर्ड' पिता को अवकाश नहीं। वह घर की नौकरी कर रहा है। शाम को सब्जियाँ लाने के लिए स्कूटर निकालना चाहता है तो उसे पैदल 'वाक' करने की 'बहुमूल्य' सलाह दी जाती है। वह बेटे बहू के सामने निरुत्तर है। पिता और माँ संबंधी कविताओं में कवि अपने बचपन की स्मृतियों में डुबकी लगाकर, उनसे प्राप्त स्नेह दुलार की प्रगाढ़ता को पुनः अनुभूत करता है। कहीं-कहीं वह अपने बच्चों के आचरण के बारे में प्रश्न कर उठता है—

'पर क्या नौक्सविल में/रहनेवाले मेरे डॉक्टर पुत्र को भी/अपनी माँ के बारे में/कभी ऐसा अहसास होता है?'

पीढ़ियों के बीच का अन्तराल यहाँ स्पष्ट है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण 'माँ (3) में है—

"भाई के बेटे से यह सुनते ही/कि 'दादी माँ,
तुम यहाँ कब तक रहोगी?
यह तो मेरी माँ का घर है?
तुम पापा के साथ अपने घर कब जाओगी?"—
"वह फूलों लदी माँ झड़ गई?"

अपने छोटे बेटे के यहाँ माँ दोयम दर्जे की पारिवारिक सदस्य है। इसे आधुनिकतावादी आर्थिक प्रश्नों के दबाव के रूप में व्याख्यायित करेंगे।

'बावरी मस्जिद' और 'कारगिल' से संबंधित कविताएँ समकालीन घटनाओं और प्रश्नों पर कवि की मौलिक चिन्तन की परिचायक हैं। शीतांशु जी ने मुसलमानों के बावरी संप्रदाय की रामभक्त कवयित्री का इस मस्जिद से संबंध जोड़ा है। रामभक्त तुलसीदास ने भिक्षाटन और मस्जिद में सोने की बात कही है। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो संपूर्ण दृश्य बदल जाता है—

'सत्य यह है कि/वह श्रीराम का स्पंदित
हृदय है/और उसमें जीवन्त है/भक्तिगान
गानेवाली वह बावरी : श्रीराम की मीरा।'

कवि की कलम के जादू से मस्जिद खुद बोल उठती है—

'मैं तुम्हारी सामासिक संस्कृति की/मध्यकालीन प्रतीक हूँ!/ मैं भारत की बावरी मस्जिद हूँ/मुझे कुस्तुनतुनिया की मस्जिद मत बनाओ!'

कारगिल संबंधी कविताओं में कवि ने उस ऐतिहासिक सत्य का स्मरण कराया है कि अपनी आंतरिक फूट से ही हम विदेशियों से पादाक्रान्त हुए हैं। बाहरी कारगिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हमने जीत लिया है, लेकिन मानस में स्थित दूसरे कारगिल से हम पराजित हो जाते हैं। यह कारगिल धर्म, जाति, पद-मद प्रभुता एवं मुद्रा लोभ आदि से निर्मित है। इस कारगिल पर विजय-प्राप्ति से ही राष्ट्र-सुरक्षा संभव हो सकती है।

हर पुराना प्रख्यात शहर अपना इतिहास, संस्कृति तथा तीज-त्यौहार लिए रहता है। स्वर्ण मंदिर और जलियाँवाला बाग के लिए प्रख्यात अमृतसर डॉ. शीतांशु को जनम-जनम का सखा और बंधु लगता है तो जरूर उसमें कोई करिश्माई चीज होगी। संग्रह की अंतिम कविता में कवि ने इस शहर के प्रति अपना प्रेम, श्रद्धा एवं गहरा आंतरिक लगाव व्यक्त किया है—

'तुम्हारी माटी के साथ/निश्चय ही/मेरी
आत्मा का संबंध है/किसी पूर्वजन्म का/
रागात्मक अनुबंध है/इसीलिए/कोई स्नेह-छंद
गूँजता है,/ जो तुम्हें छोड़कर/मुझे कहीं
बाहर/ नहीं जाने देता है।'

अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से देखें तो ये कविताएँ कहीं भी कमतर नहीं हैं। आवश्यक होने पर तुकों का प्रयोग किया गया है किंतु उनके अभाव में भी कविताएँ प्रभावान्विति में पीछे नहीं हैं। कहीं संस्कृत श्लोक की कोई पंक्ति है तो कहीं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, लेकिन भाव एवं विचारयुक्त काव्यधारा में कोई अवरोध नहीं आने पाता। 'केवल सूरज/अपना स्टेनगन' सँभाले/चल रहा है' अद्भुत प्रयोग है। 'दुर्योधनी आँखें' जैसे विशेषण सहज और सार्थक होते हुए भी गहन प्रतिभा के प्रयोग हैं।' आँखें/ मेरी आँखों—आगे/आयने के मंच की कुर्सी/आ जाती है।' जैसी पंक्तियों उनकी गहन अध्ययनशीलता का प्रमाण देती हैं। अज्ञेय की पुस्तकों के नाम कई बार उनकी कविताओं में आए हैं। इन कविताओं की एक अन्य विशेषता है 'कहन' शैली में लिखा जाना, जिससे पाठक इनसे सहज रूप से जुड़ जाता है।

'स्थगित हैं यात्राएँ' संग्रह अपने समय की थाह लेता हुआ जहाँ एक ओर भ्रष्ट राजनीति पर तीखा प्रहार करता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता के आवरण में पारिवारिक स्नेहपूर्ण रिश्तों के संकुचन पर गहरी चिन्ता व्यक्त करता है। यह संग्रह अपने समय का लोकपाल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानियों में प्रेमचंद*

श्रीभगवान सिंह**

हिन्दी के कथा-सम्राट् के रूप में मान्य प्रेमचंद का रचना-संसार उनके द्वारा लिखित तीन सौ एक कहानियों (प्रेमचंद विशेषज्ञ डॉ. कमल किशोर गोयनका के अनुसार) एवं सत्रह उपन्यासों के साथ-साथ विविध विषयों पर लिखे अनेक निबंधों तक फैला हुआ है। किन्तु हिन्दी आलोचना की तंगनजरी यह रही कि उसने उनकी मात्र पाँच-छः कहानियों एवं एकाध उपन्यासों को उनके मूल्यांकन का आधार बना लिया। प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने का दम भरनेवाली प्रगतिवादी आलोचना ने उन्हें यथार्थवादी सिद्ध करने के लिए 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूँ', 'सद्‌गति', ठाकुर का कुआँ', 'कफन' जैसी पाँच-छः कहानियों पर, तो उन्हें मार्क्सवादी सिद्ध करने के लिए केवल अंतिम उपन्यास 'गोदान' पर सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया। अब दलित-विमर्श के नाम पर उभरी आलोचना उनके अन्य उपन्यास 'रंगभूमि' और 'कफन' कहानी को केन्द्र में रखकर उन्हें दलित विरोधी सिद्ध करने की मुहिम में पिल पड़ी है। स्पष्टतः प्रगतिवाद और दलितवाद दोनों की कोख से उत्पन्न आलोचना ने प्रेमचंद की यथार्थवादी, मार्क्सवादी या फिर दलित विरोधी छवि गढ़ने का जो सिलसिला चला रखा है, उसे एक रचनाकार के समस्त कृतित्व में रूपायित सत्य को छिपाने, विकृत करने वाला दुष्कर्म ही कहा जा सकता है।

वस्तुतः किसी भी रचनाकार को सही-सही समझने के लिए उसके समग्र रचना-संसार से गुजरना आवश्यक होता है। एक-दो रचनाओं या कुछेक पंक्तियों के आधार पर किया गया मूल्यांकन उस कहानी को चरितार्थ करता है जिसमें छः अंधे

*प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन : लेखक - डॉ कमल किशोर गोयनका, प्र. - नटराज प्रकाशन, ए 98 अशोक बिहार, फेज प्रथम, दिल्ली 110052; मूल्य - : 230; संस्करण - 2012

**श्रीभगवान सिंह : 102, अम्बुज टॉवर, हनुमान पथ, तिलकामांझी कालोनी, भागलपुर, बिहार-812001; मो - 09801055395

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति हाथी के अलग-अलग अंगों का स्पर्श कर उसे रस्सी, सर्प, खम्भा जैसा होने की संज्ञा देते हैं। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए विख्यात रहे फ्रांसीसी विचारक लूसिए गोल्डमान ने इसलिए साहित्यिक कृति के सम्यक मूल्यांकन के लिए 'समग्रता' (Totality) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। 'समग्रता' की अवहेलना करने वाला आलोचक कृति के संबंध में वैसा ही मंतव्य देता है जैसा अंधे व्यक्तियों ने हाथी के एक-एक अंग के आधार पर मंतव्य दिया। हिन्दी में कवि तुलसीदास और कथाकार प्रेमचंद के साथ आलोचकों का ऐसा ही वर्ताव होता रहा है। सौभाग्य से प्रेमचंद को डॉ कमल किशोर गोयनका के रूप में एक ऐसे समर्थ आलोचक मिल गये हैं जो विगत कई वर्षों से प्रेमचंद के समग्र साहित्य का मंथन करते हुए उनके विराट रचना-संसार में रूपायित विविध सत्यों एवं तथ्यों को सामने लाने के अनवरत प्रयास में लगे हुए हैं। आलोचना के लिए आधी शताब्दी अर्पित करने वाले डॉ. गोयनका अबतक 'प्रेमचंद' के उपन्यासों का शिल्प-विधान', प्रेमचंद विश्वकोश' (खंड 1), 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड 2)', प्रेमचंद : चित्रात्मक जीवनी', 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली (खंड 6)', प्रेमचंद : अनछुए प्रसंग', प्रेमचंद : वाद, प्रतिवाद और संवाद' जैसी पुस्तकें लिख एवं संपादित कर 'प्रेमचंद-विशेषज्ञ होने की पात्रता प्राप्त कर चुके हैं।

प्रेमचंद संबंधी लेखन की एक शानदार लड़ी के रूप में आई है डॉ गोयनका की सद्यः प्रकाशित कृति *प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन*। नटराज प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक का कलेवर 760 पृष्ठों का है जो अपने आप में विशद गहन अध्ययन-विश्लेषण का प्रमाण है। श्री गोयनका ने प्रेमचंद द्वारा लिखी 301 कहानियों की सूची दी है और विषय-वस्तु के धरातल पर हरेक कहानी का विवेचन किया है। निस्संदेह यह अत्यन्त श्रम साध्य कार्य रहा होगा जिसका परिणाम है कि समस्त कहानियों से परिचित होने के बाद प्रेमचंद के संबंध में स्थापित कई भ्रांत धारणाओं से पाठक को छुटकारा मिलता है। इस तरह के कठिन श्रम साध्य कार्य के लिए श्री गोयनका को हिन्दी आलोचना के जिस परिदृश्य ने विवश किया वह उन्हीं के शब्दों में देखने लायक है - "प्रेमचंद की कहानियों के किसी भी प्रकार के अध्ययन और विवेचन का आधार उनकी संपूर्ण हिन्दी-उर्दू कहानियों को कालक्रमानुसार रख कर ही हो सकता है। हम इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त से प्रेमचंद की कहानियों के प्रकाशन-काल के क्रम के बिना किये गये अध्ययन और उससे उत्पन्न अवैज्ञानिक निष्कर्षों से पूर्ण आलोचना की परम्परा को रोक सकते हैं। इस अवैज्ञानिक आलोचनात्मक प्रवृति ने प्रेमचंद की कहानियों की तीन-तेरह वाली आलोचना को जन्म दिया, जिसके अन्तर्गत उनकी चर्चित, बहुचर्चित एवं चुनी हुई कहानियों को ही आलोचना-कर्म का आधार बनाया गया। इस आलोचना-पद्धति को हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू किया और अपने राजनीतिक दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए उसका खुलकर दुरुपयोग किया। मार्क्सवादियों की इस तीन-तेरह वाली आलोचना ने प्रेमचंद को मार्क्सवादी बनाने में मदद तो की, परन्तु वे उनके कहानीकार की पूरी तस्वीर प्रस्तुत नहीं कर सके। इस तीन-तेरह वाली आलोचना-पद्धति ने एक बड़ी हानि यह भी की कि उनकी बहुसंख्यक कहानियों में मनुष्य के उत्कर्ष एवं उदात्तीकरण की जो संजीवनी शक्ति थी, उससे भी पाठकों को वंचित कर दिया गया। प्रेमचंद की कहानियों की इस दमनकारी आलोचना ने बहुत ही सीमित रूप में उनकी कहानियों के संसार को रखा और सुधी पाठकों को इसके लिए विवश किया कि प्रेमचंद के बारे में उतना ही जानें, जितना वे ठीक समझते हैं।'' (पृ 46-47)

उपरोक्त वक्तव्य से साफ है कि प्रेमचंद के विस्तृत कहानी-संसार को चंद कहानियों तक सीमित करने वाली चयनवादी आलोचना से कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में उत्पन्न संकीर्णता एवं इकहरापन को दुरूस्त करने के ध्येय से डॉ गोयनका ने उनकी समस्त कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन आवश्यक समझा जो इस पुस्तक के रूप में हमारे सामने है। यह पुस्तक कुल आठ अध्यायों में विन्यस्त है। अध्याय एक है 'प्रेमचंद : कहानीकार का इतिहास' जिसके अन्तर्गत प्रेमचंद पूर्व की कहानी की स्थिति का विवेचन है। अध्याय दो में उनकी तीन सौ एक कहानियों की कालक्रमानुसार सूची है, तो अध्याय तीन में प्रेमचंद के कहानी दर्शन का विशद विवेचन है। अध्याय चार, पॉच, छह तथा सात में प्रेमचंद की 1908 से लेकर 1936 तक लिखी कहानियों का विषय-वस्तु-भाव, विचार, संवेदना आदि का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय-परिपेक्ष्य में विस्तार से विवेचन किया गया है।

कहानियों का विवेचन करने के पूर्व डॉ. गोयनका पूर्व पीठिका के रूप में अध्याय तीन में प्रेमचंद के कहानी-दर्शन, जिसके अन्तर्गत उनका समग्र जीवन-दर्शन समाहित है, का बहुत विस्तार एवं सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हुए उनके संबंध में स्थापित कई भ्रामक, सतही, धारणाओं को निर्मूल करते हैं। मसलन प्रेमचंद के संबंध में यथार्थवाद की खूब चर्चा की जाती है, लेकिन यह नहीं बताया जाता कि यथार्थवाद से प्रेमचंद का आशय क्या था? केवल विद्रुपता, भूख, शोषण, विषमता आदि को यथार्थपरक जीवन-दृष्टि मानकर प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि को इसी के आस-पास सीमित कर दिया गया है। लेकिन गोयनका प्रेचंद के लेखों से उनके मंतव्यों का हवाला देते प्रेमचंद के यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट कर देते हैं। वे इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या 209 पर बताते हैं - ''प्रेमचंद ने यथार्थवाद की सीमाएँ खींच कर उसे नग्नता एवं वीभत्सता से दूर रखते हुए भारत की पुरातन आदर्शवादी चेतना से मंडित किया। उन्होंने न तो नग्न यथार्थवाद का समर्थन किया और न एकमात्र यथार्थ को ही कहानी, उपन्यास का आधारभूत तत्व माना। उन्होंने वैसे यह स्वीकार किया कि नवयुवक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक बुराइयों का नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं और सुधार के जोश में विध्वंस भी करने लगते हैं, लेकिन ऐसा यथार्थवाद उन्हें प्रिय नहीं है क्योंकि उनका मत है कि कहानी (साहित्य) विध्वंस नहीं निर्माण करती है और वैसे भी विध्वंस से निर्माण संभव नहीं है। साहित्य (कहानी) वही है जो मर्यादाओं का पालन और मानव-चरित्र की उज्ज्वलताएँ दिखाए। प्रेमचंद यथार्थवाद को जीवन के अंधकार तक सीमित नहीं करते। अतः वे कहानी और उपन्यास के लिए अंधकार रूपी यथार्थ से प्रकाश रूपी आदर्शवाद की ओर चलने का आह्वान करते हैं।''

प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के संबंध में यह प्रवाद भी प्रचलित कर रखा गया है कि आरम्भिक लेखन में तो वे स्नेह, सहानुभूति, दया, सच्चाई, सौजन्य जैसे आदर्शवादी मूल्यों के प्रति आस्थावान रहे, लेकिन बाद के लेखन में उनका इन मूल्यों से मोहभंग होता गया। इसके सत्यापन में ये लोग प्रेमचंद द्वारा लिखे 'महाजनी सभ्यता' वाले लेख की बहुत चर्चा करते हैं। लेकिन इसी लेख के आधार पर श्री गोयनका प्रेमचंद की यह तस्वीर प्रस्तुत करते हैं - ''महाजनी सभ्यता लेख में वे विस्तार से पश्चिम की महाजनी सभ्यता की बुराइयों की चर्चा करते हैं, लेकिन इसमें भी वे 'मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति, मानवीय-आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते', 'मनुष्यता-आध्यात्मिकता-उच्चता-सौंदर्य-बोध' तथा दया और स्नेह, सच्चाई और सौजन्य' जैसे उच्च मानवीय गुणों की चिंता करते हैं और मानते हैं कि महाजनी सभ्यता इन्हें नष्ट कर रही है, जबकि वे इनकी रक्षा करना चाहते हैं।'' (पृ 200) इसी क्रम में डॉ. गोयनका यह भी साफ कर देते हैं कि प्रेमचंद द्वारा रूस की शासन-व्यवस्था का समर्थन करने का मतलब यह हर्गिज नहीं कि उन्होंने कम्युनिज्म को स्वीकार कर लिया था क्योंकि ''वे कम्युनिस्टों के हिंसावाद, राज्य-सत्ता, व्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन और वर्ग-संघर्ष इत्यादि को साहित्य एवं साहित्कार के प्रयोजनों में शामिल नहीं करते और न कोई कहानी या उपन्यास तथा किसी एक पात्र को वे इन कम्युनिस्ट नीतियों का अनुयायी बनाते तथा उनके लिए संघर्षशील नहीं दिखाते।'' (उप.) ऐसे ही तथ्यों के आलोक में गोयनका प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि में भारतीय मनुष्य और भारतीय समाज को भारत के परंपरागत मानवीय मूल्यों से सम्पन्न करनेवाले प्रयत्नों की प्रधानता रेखांकित करते हैं।

प्रेमचंद की जीवन दृष्टि के संबंध में ऐसे ही अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो को उजागर करने के बाद डा. गोयनका बाद के अध्यायों में उनकी हिन्दी-उर्दू में लिखित तमाम 301 कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। यह विश्लेषण इतना विस्तार और गहराई लिये हुए है कि उसकी समस्त खूबियों को इस छोटे से लेख में टाँक पाना मुमकिन नही, फिर भी संक्षेप में इस कालक्रमानुसार अध्ययन की कुछ खास उपलब्धियो को रेखांकित करना मार्क्सवादी साँचे में प्रेमचंद की छवि गढ़नेवाले आलोचको के ज्ञानवर्धन के लिए आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. गोयनका ने पुस्तक के चार, पाँच, छह और सात यानि चार अध्यायो में प्रेमचंद के कहानी संग्रह ''सोजेवतन'' (1908) के प्रकाशन से लेकर 1936 में 'कफन' कहानी के प्रकाशन तक की समग्र कहानियों का अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिससे कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में मार्क्सवादी आलोचना द्वारा स्थापित कई भ्रांत धारणाओं का खंडन होता है। मसलन, आलोचना की वर्चस्ववादी धारा (प्रगतिवाद) ने यह धारणा प्रचलित कर रखी है कि प्रेमचंद ने पहले 'सोजे वतन' (1908) की कहानियों में देशप्रेम, राष्ट्रीय भावना को प्रमुखता दी, किन्तु बाद में वे सामाजिक यथार्थ की ओर ऐसे मुड़े कि राष्ट्रवादी चेतना उनकी परवर्ती कहानियों में गौण हो गई। लेकिन डॉ गोयनका 1920 से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में शुरू हुए स्वाधीनता आंदोलन से सम्बद्ध कई कहानियों का विश्लेषण करते हुए साबित करते हैं कि भारत की स्वाधीनता, स्वराज्य की चिंता प्रेमचंद में हमेशा बनी रही जो उनकी उस दौर में लिखीं कई कहानियों में प्रकट है। इस संदर्भ में वे प्रेमचंद द्वारा लिखित सत्याग्रह (1923) 'मैकू' (1930), 'आहुति' (1930) 'आखिरी तोहफा' (1931), 'होली का उपहार (1931) 'तावान' (1931) जैसी कहानियों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि कैसे प्रेमचंद उन दिनों गाँधी द्वारा राष्ट्रीय चेतना के प्रसार एवं मजबूती हेतु चलाये जा रहे असहयोग, विदेशी सामानों का बहिष्कार, शराबबंदी जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों को इन कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे थे। इन कहानियों में स्पष्टतः प्रेमचंद के राष्ट्र प्रेम के साथ-साथ भारत की स्वाधीनता के लिए व्याकुलता तथा गाँधी जी के नेतृत्व में गहरा विश्वास परिलक्षित होता है। मतलब कि प्रेमचंद का देश प्रेम 1908 में प्रकाशित सोजे वतन की कहानियों तक ही सीमित नहीं रह गया, बल्कि गाँधी जी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन के समानान्तर वह उनकी कहानियों में परवान चढ़ता गया। लेकिन प्रगतिवादी आलोचना ने इन कहानियों की नोटिस तक लेना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि इससे प्रेमचंद की गाँधी से वैचारिक समीपता सिद्ध होती। इस बेईमानी का खुलासा करते हुए डॉ. गोयनका दो टूक शब्दों में लिखते हैं-''वामपंथी आलोचना ने सदैव यही चाहा है कि प्रेमचंद की वे कहानियाँ पाठ्यक्रम-आलोचना तथा लोक स्मृति से हटा दी जाय, जो भारत के परम्परागत पारिवारिक जीवन और उसके मूल्यों की स्थापना करती हों, जो देशप्रेम एवं सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक सुधार की प्रवृति को जागृत करने वाली हों, जो पाठक का उत्कर्ष करती हों और जो हमारी भारतीय आत्मा की रक्षा के लिए लिखीं गई हों। महात्मा गाँधी के स्वाधीनता आंदोलन और उनके नैतिक मूल्यों पर लिखीं गई कहानियों का तो ये नाम भी नहीं लेना चाहते, क्योंकि लेनिन-स्टालिन के कम्यूनिस्ट रूस ने गाँधी की सदैव भर्त्सना की।'' (पृ. 47)

इधर कुछेक वर्षों से वामपंथी आलोचना की एक उग्र धारा ने यह अंधेर मचा रखा है कि प्रेमचंद की गाँधी के बजाय भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी से अधिक वैचारिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकटता थी और वे भगत सिंह के लगभग अनुयायी जैसे बन गये थे। अब इन्हें कौन बतावे कि जिस वर्ष 1907 में प्रेमचंद ने देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले देशभक्त के लहू को अनमोल मानते हुए 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' नाम से कहानी लिखी उस वर्ष भगत सिंह का जन्म ही हुआ। फिर युवा भगत सिंह का संबंध जिस 'हिन्दुस्तान सोसलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' से रहा, उस संगठन से प्रेमचंद का कोई रिश्ता नहीं रहा। डॉ. गोयनका द्वारा इस पुस्तक में प्रस्तुत उनकी समस्त कहानियों को देखने से साफ पता चलता है कि उनकी लिखी 301 कहानियों में एक कहानी भी ऐसी नहीं जिसमें भगत सिंह की विचारधारा का कोई प्रतिनिधि पात्र हो जिसे प्रेमचंद ने महिमामंडित किया हो। निस्संदेह गोयनका का यह तथ्यगत विश्लेषण कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में वामपंथी आलोचकों द्वारा निरंतर फैलायी जा रही कई मनगढ़न्त बातों को निर्मूल करता है।

कहानीकार प्रेमचंद के साथ वामपंथी आलोचना ने एक और बड़ा घपला यह किया कि 1920 के पूर्व उनके द्वारा लिखी गई 'बड़े घर की बेटी' (1910), 'नमक का दारोगा' (1914), 'पंच-परमेश्वर' (1916) जैसी कहानियों को हृदय-परिवर्तन के आदर्शवादी खाते में खतिया कर उनकी परवर्ती कहानियों को हृदय परिवर्तन का निषेध करने वाली यथार्थवादी श्रेणी में रखने का एक सपाट, सरलीकृत फार्मूला चला दिया। लेकिन डॉ गोयनका अपने विस्मृत अध्ययन से यह तथ्य उजागर करते है कि 1920 के बाद भी प्रेमचंद ने ऐसी कई कहानियों की रचना की है जिनमें हृदय-परिवर्तन की घटनाएँ विद्यमान हैं।' 'मंत्र' (1928) 'मुक्तिमार्ग' (1924) 'अलग्योझा' (1924) 'घर जमाई' (1929) 'घासवाली' (1929) ऐसी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं जिसमें पात्रों का अन्ततः हृदय-परिवर्तन होता है। 'मंत्र' कहानी में डॉ चड्ढा बूढ़े भगत के बेटे का इलाज करने से इन्कार कर देता है क्योंकि वह समय उसके टेनिस खेलने का है। नतीजतन भगत का बेटा इलाज के अभाव में मर जाता है और वह डॉ चडढ़ा के प्रति घृणा, क्रोध का भाव लेकर घर लौट आता है। लेकिन जब कुछ दिनों बाद चड्ढा के बेटे को सर्प डस लेता है, तो उसकी खबर सुनकर विष उतारने का इल्म जानने वाले भगत में द्वन्द्वों का तूफ़ान उठ खड़ा होता है। कभी प्रतिशोध के वशीभूत हो वह चड्ढा के बेटे को मर जाते हुए देखना चाहता है, लेकिन अन्ततः उसके अन्दर मनुष्यता की अमृत धारा वेगवती हो उठती है और वह रात में चुपके से घर से निकल कर चड्ढा के यहाँ जाता है और मंत्र से उसके बेटे के शरीर को विष मुक्त कर नया जीवन प्रदान करता है। इसी तरह 'अलग्योझा' में रघु, उसकी विमाता पन्ना और उसकी पत्नी मूलिया में अच्छे, बुरे, स्वार्थ-परमार्थ का खूब द्वन्द्व चलता है, लेकिन अन्ततः पन्ना ए की विधवा-बहू मूलिया से अपने बेटे केदार का विवाह कर एक नया घर बसाने में कामयाब होती है। 'मुक्तिमार्ग' में भी झींगुर और बुद्ध दोनों एक दूसरे का अहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के बाद अन्ततः एक दूसरे के सुख-दुख के साथी बन जाते हैं। 'घरवाली' में निम्न वर्ण की मूलिया ठाकुर चेन सिंह की रूप-लम्पटता को अपनी चारित्रिक दृढ़ता से सदाचार में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार डॉ. गोयनका ऐसी कहानियों के हवाले बखूबी यह सिद्ध कर जाते है कि मानव-हृदय में अच्छे-बुरे के द्वन्द्व के प्रति सजगता और उसमें अच्छे की विजय के प्रति गहरा विश्वास प्रेमचंद में कभी खत्म नहीं हुआ। लेकिन अब नाली-सफाई कर्मी की तरह आलोचक गण केवल बुरे को ही अपनी टोकरी में बटोरने लगे, तो इसमें बेचारे प्रेमचंद का क्या दोष? गोयनका की दृष्टि कचड़े में मिले हीरे-मोती की तलाश करती है और यही एक मर्मी आलोचक का काम होना भी चाहिए।

प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि सामाजिक यथार्थ के कहानीकार के रूप में भी प्रेमचंद की इकहरी, एकांगी छवि बना दी गयी है। 'सवा सेर गेहूँ' (1924), 'पूस की रात' (1930), 'सद्‌गति' (1931), 'ठाकुर का कुआँ' (1932), 'दूध का दाम' (1934), 'कफन' (1936), जैसी चंद कहानियों का चयन कर उनके आधार पर प्रेमचंद की यह छवि बना दी गई कि उन्होंने समाज में व्याप्त सूदखोरी, शोषण, छुआछूत, जाति-पाँति आधारित घृणा आदि को ही सामाजिक यथार्थ के रूप में अभिव्यक्ति दी। लेकिन सच्चाई उनकी अन्य कहानियों के अध्ययन से, जैसा कि डॉ गोयनका दिखाते हैं, यह उभरती है कि प्रेमचंद ने भारत के गाँवों, किसानों के बीच सदियों से पलते आ रहे परस्पर प्रेम, सहयोग, सौहार्द, आदि का सामाजिक, पारिवारिक संरचना को बनाये रखने में जो भूमिका रही, उसके महत्त्व को भी कम उजागर नहीं किया है। पूर्वोक्त कहानियों में सामाजिक-पारिवारिक जीवन की ऐसी ही सच्चाइयों की मनोरम झाँकी मिलती है। यही नहीं, प्रेमचंद ने 'दो कब्रें' (1930) जैसी भी कहानी लिखी जिसमें वे जुहरा नाम की वेश्या से कुलीन वर्गीय रनवीर सिंह का प्रेम एवं परिणय दोनों ही दिखाते हैं जो स्पष्टतः उस समय गाँधी जी द्वारा 'पतिताओं' के उद्धार के लिए चलायी जा रही मुहिम का प्रभाव दर्शाती है।

यों तो इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन-विश्लेषण की और भी बहुत सारी विशिष्टताएँ हैं उन सब का उल्लेख इस लघुकाय आलेख में संभव नहीं, फिर भी हमने जिन बातों की तरफ यहाँ संकेत किया उनसे साफ है कि कहानीकार के रूप में प्रेमचंद को एक खास किस्म के वैचारिक साँचे या एक रंग के सामाजिक यथार्थ के दायरे में सीमित करके नहीं रखा जा सकता। डॉ. गोयनका द्वारा प्रस्तुत विवेचन पर दृष्टिपात करने पर प्रेमचंद की जो मुकम्मल तस्वीर उभर कर सामने आती है, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"वे विराट भारतीय जीवन के महागाथाकार हैं तथा उनकी कथा-सृष्टि में महाकाव्यीय चेतना है। वे भारत राष्ट्र एवं स्वराज्य, भारतीय विवेक एवं अस्मिता, भारतीय चेतना तथा भारतीयता के कथाकार हैं। प्रेमचंद कथाकार के रूप में वाल्मीकि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यास, तुलसीदास, कबीर, भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की परम्परा में आते हैं। ये देश के ऐसे राष्ट्रीय साहित्यकार हैं जिन्होंने उच्च कोटि के मानवीय जीवन-मूल्यों, आत्म-बोध, स्वत्व तथा अस्मिता की प्रतिष्ठा और रक्षा करके भारतीयता को स्वरूप प्रदान करके उसे भारत की आत्मा के रूप में सदैव के लिए प्रतिष्ठित कर दिया। प्रेमचंद का कहानीकार इसी भारतीयता का अन्वेषक, उद्‌घोषक तथा प्रस्थापक है। प्रेमचंद की कहानी यात्रा में प्रमुखतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण, गाँधीवाद, कभी-कभी मार्क्स का साम्यवाद, भारत का अद्वैत दर्शन इत्यादि उनकी इस यात्रा को अपनी-अपनी दर्शन-दृष्टि के अनुसार आलोकित करते हैं; परन्तु प्रेमचंद सभी को अपने भारतीय भाव एवं विवेक से देखते और ग्रहण करते हैं और देश-संस्कृति-मानवता के अनुकूल तत्वों को ग्रहण करके अपनी भारतीयता में संग्रथित-संश्लिष्ट करके पराधीन भारत को मुक्ति का एक संदेश तथा एक स्वप्न देते हैं।'' (इस पुस्तक की भूमिका से)

निस्संदेह डॉ. गोयनका की यह पुस्तक कहानीकार प्रेमचंद की इकहरी, सपाट, सतही तस्वीर को विस्थापित करते हुए उनके विविध राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आयामों से निर्मित रचनाकार-व्यक्तित्व का अभिज्ञान कराती है जिससे उन्हें मार्क्सवादी या फिर दलित विरोधी सिद्ध करने की लत से हमारे आलोचक-प्रवर उबर सकेंगे। बावजूद इसके वे अपने हठाग्रह पर टिके रहें, तो उनके सम्मान में तुलसीदास का यही कथन पेश किया जा सकता है–

''फूलई फरइ न बेंत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरूख हृदयँ न चेत जौं गुरू मिलहिं बिरंचि सम।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत एवं समाज*

ब्रज बिहारी कुमार**

'संत रविदास की रामकहानी' विद्वान कवि मनीषी डॉ. देवेन्द्र दीपक की औपन्यासिक कृति है, जिसमें लेखक ने संत कवि के स्वमुख से उनकी आत्मकथा, जीवन दर्शन, अध्यात्म-चिन्तन, आदि का उद्‌घाटन कराया है। संत रविदास हमारे देश के महान संत एवं संत-कवि रहे हैं। उन पर उपन्यास लिखकर देवेन्द्र दीपक जी ने हमारे देश एवं हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यास में संत की आध्यात्मिक ऊँचाई से की गयी बातें हैं, जो विमर्श को ऊँचाई, उदात्तता एवं गहनता प्रदान करती हैं; हमें अपनी गौरवमयी परम्पराओं से जोड़ती हैं। ''प्रभुजी तुम चंदन हम पानी'' तथा "तुम दीपक हम बाती'' महज संत कवि की कविता मात्र नहीं है, ऐसी अभिव्यक्ति साधना एवं अध्यात्म के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर पायी जानेवाली अनुभूति से ही संभव है। पुस्तक में सामाजिक विमर्श उच्चकोटि के तथा विशृंखल दोनों ही हैं।

हमारे संतों ने जन्म से अधिक कर्म को महत्त्व दिया; शील और प्रज्ञा को महत्त्व दिया। ऐसा ही हमारे गहन अतीत से होता आ रहा है। भगवान बुद्ध एवं शोणदण्ड ब्राह्मण की वार्ता प्रसिद्ध है। बुद्ध के पूछने पर शोणदण्ड ने कहा कि ब्राह्मण वह है जो सुजन्मा है, सुवर्ण है, मंत्रधर है, प्रज्ञ एवं शीलवान है। बुद्ध ने एक एक कर उन कारकों को छोड़ने के लिए कहा। शोणदण्ड ने कुल, वर्ण एवं मंत्र के बिना भी ब्राह्मण होने की बात स्वीकार किया और कहा कि प्रज्ञा-प्रक्षालित शील एवं शील प्रक्षालित प्रज्ञा के बिना कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकता। पाणिनी ने जाति-ब्राह्मण याने

*संत रविदास की रामकहानी, लेखकः देवेन्द्र दीपक, प्रकाशकः आर्य प्रकाशन मंडल, प/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर, दिल्ली-110031; प्रथम संस्करणः 2011; पृष्ठः 168; मूल्यः 250 रुपये।

**ब्रज बिहारी कुमार, संपादक, 'डायलाग' एवं 'चिन्तन-सृजन', दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्म मात्र से ब्राह्मण शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में नहीं किया है। महर्षि व्यास ने भी महाभारत में ''ब्राह्मणजन्मा शूद्र'' एवं ''शूद्र जन्मा ब्राहमण'' की बात कर कर्म की महत्ता ही प्रतिपादित किया है। गीता की, ''गुण-कर्म विभागसः'' की बात भी इसी संदर्भ में ली जानी चाहिए। संत रविदास की ब्राह्मण विषयक निम्न-लिखित साखी उन्हीं बातों की याद दिलाती हैः

रविदास ब्राह्मण मति पूजिये, जऊ होवै गुनहीन।
पूजहिं चरन चंडाल के, जऊ होवै गुन परवीन।।
ऊँचे कुल के कारणै, ब्राह्मन कोय न होय।
जऊ जानहि ब्रह्म आतमा, रविदास कहि ब्राह्मन सोय।।
काम, क्रोध मद, लोभ तजि, जऊ करइ धरम कर कार।
सोई ब्राह्मण जानिए, कहि रविदास विचार।।
धरम करम जाने नहीं, मन महं जाति अभिमान।
ऐसे ब्राह्मण सों भलों, रविदास स्रमक हूँ जान।।

स्पष्टतः जो बातें संत रविदास ने अपने साखी में कही है, वही तथागत एवं व्यास की भी है।

हमारे महाकाव्य महाभारत एवं पुराणों में वशिष्ठ, वाल्मिकी, पाराशर के हीन जन्म के बावजूद महान बनने की बात आयी है। संत रविदास भी अपनी साखी में उसी की याद दिलाते हैं :

वेश्या के वशिष्ठ होय, पढ़ देखो पुरान।
रविदास कहै हरि भजन से पदवी पाई महान।।
वाल्मीकि अधम कुल में जनम लिया है आन।
रविदास कहै हरि भक्ति कर होय रिषी महान।।
तनया चंडाल की कोख से पारासर रिषी जो होय।
रविदास कहै प्रभु सुमरि कर, ऊँच कहाय सोय।।

संत अपनी साखी में क्षत्रिय एवं वैश्य को उसके शास्त्र-सम्मत कर्म की याद दिलाते हैं। क्षत्रिय के विषय में उनकी साखी है।

दीन दुखी के हेतु जऊ, बारै अपने प्रान।
रविदास उस नर सूर को, साँचा छत्री जान।।
अंग अंग कटवाइहि, जऊ दीनन के हेत।
रविदास छत्री सोइ जानिये, जो छाँड़ै नाहि खेत।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर वैश्य के विषय में संत रविदास लिखते हैं—

रविदास बैस सोई जानिये, जोई सत कार कमाय।
पुण्य कमाई सदा लहै, लौरे सर्वत सुखाय।।

* * *

साँची हाटी बैठि करि, सौदा साँचा देई।
तकड़ी तौले साँच की, रविदास बैस है सोई।।

अन्ततः शूद्रत्व का भी कर्म से जुड़ाव है। संत की साखी है:

रविदास जऊ अति अपवित्र, सोई सूदर जान।
जउ कुकरमी असुधजन, सोई सूदर जान।।

* * *

हरिजनन करि सेवा लागै, मन अहंकार न राखै।
रविदास सूद सोई धन है, जऊ असत बचन न भाखै।।

संत रविदास ने, कबीर की ही तरह, आजीवन श्रम के महत्त्व को स्वीकारा और वे अपने पेशे में लगे रहे। उनकी निम्नलिखित साखी में भी श्रम की महत्ता प्रतिपादित हुई है:

स्रम को ईसर, जानिके जऊ पूजहिं दिन रैन।
रविदास तिन्हहि संसार में, सदा मिलिहिं सुख चैन।।
जिह्वा से ओंकार जप, हत्थन सौं कर कार।
राम मिलिहिं घर आइके, कहि रविदास विचार।।

महाभारत कर्म की महत्ता का पाठ पढ़ने के लिए कौशिक ब्राह्मण को किसी ब्राह्मण के पास नहीं, बल्कि स्त्री, व्याधा एवं वैश्य के पास भेजता है। तपस्या-रत मुनि के शरीर पर बकुली बिट कर देती है; मुनि के क्रोधपूर्वक ऊपर देखने पर वह जलकर नीचे गिरती है, जिससे मुनि को अंहकार हो जाता है। फिर अपने काम से थके-माँदे पति की देख-रेख के कारण विलम्ब से भिक्षा देनेवाली गृहिणी पर वह क्रोध जताता है। गृहिणी कहती है: महाराज! मैं वकुली नहीं जो आपके क्रोध से जल जाऊँगी।" उसे आश्चर्य होता है; गृहिणी से क्षमा-माँगता है और उसके आग्रह करने पर गृहिणी उसे हर व्यक्ति द्वारा अपने लिए निर्धारित कर्म करने की महत्ता का उपदेश देती है। ज्ञान के लिए विशेष आग्रह करने पर वह कौशिक ब्राह्मण को धर्म-व्याध के पास भेजती है। व्याधा ब्राह्मण को धर्म, अहिंसा कर्मवाद, कर्म-विद्या का उपदेश देता है। कौशिक ब्राह्मण के उपस्थित होने पर व्याधा माँस काटने का अपना काम चालू रखकर उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने घर भिजवाता है; फिर काम खत्म कर ही घर आकर वह ब्राह्मण को उपदेश देता है। वह कौशिक ब्राह्मण को हर व्यक्ति द्वारा अपने निर्धारित कर्म करने के महत्त्व ही समझाता है और आगे के उपदेश के लिए उसे तुलाधर वैश्य के पास भेजता है, किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय के पास नहीं और वह भी उसे कर्म की महत्ता ही समझाता है। संत अपने कर्म एवं साखियों में सदगुण एवं शील का महत्त्व ही बार-बार बताते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि वैदिक-धर्म में कर्म की प्रधानता है; जन्म की नहीं। और फिर जाति के रोग, जिसमें सब लोग उलझे हुए हैं, मनुष्यता को बाधित कर रहा है। साखी है:

जात पाँत के फेरी महि, उरझि रहइ सभ लोग।
मानुषता कूँ खात है, रविदास जात का रोग।।
जनम जात कूँ छाँडि करी, करनी जात परधान।
रहयो वेद को धरम है, करै रविदास बखान।।

अल विरूनी महमूद के साथ लगभग हजार साल पहले भारत आया था। उसने चार हिन्दू जातियों के एक स्थान पर भोजन करने की बात का व्योरा दिया है। स्पष्टतः इतनी जातियाँ, जो समान पेशेवालों के अन्तर्विवाही बनने से बनी, तथा छुआछूत हिन्दू समाज में तुर्क आक्रमण के बाद की बातें हैं। फिर जैसा कि धर्मपाल ने अपनी किताब "ब्युटीफुल ट्री" में लिखा है, भारत में दलित सहित सभी जातियों के शिक्षक हुआ करते थे; परम्परागत शिक्षा सबके लिए उपलब्ध थी। वैसे हिन्दू समाज में आयी व्यावहारिक विचलन को नकारा नहीं जा सकता और ऐसे आचार्य भी थे जो वर्ण के नाम पर शिक्षा के रास्ते में बाधक बनते थे (पृष्ठ 52-53); लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर सर्व-शिक्षा का अस्वीकार अंग्रेजों द्वारा निर्मित मिथक ही कहा जायेगा।

देवेन्द्र दीपक जी ने इस पुस्तक में संत रविदास के जीवन एवं कृति से जुड़े सभी पक्षों की गहनता से चर्चा किया है; अध्यात्म, दर्शन, समाज-चिन्तन ही नहीं, लोक विश्वास, मिथक, चमत्कार आदि को समेटे यह पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। यह औपन्यासिक कृति, है, लम्बे समाज विमर्श एवं धर्म-दर्शन को आत्म-कथात्मक शैली में समेटे हुए, जो एक तरफ तो चरित्र-विकास एवं कथानक विस्तार को बहु-आयामी बनाते हैं, दूसरे तरफ सामान्य पाठक के लिए कृति को बोझिल बनाकर उसके पढ़ने में बाधक बनाते हैं।

संत रविदास के संतत्व एवं कवित्व को इस देश में सभी वर्गों एवं वर्णों की मान्यता एवं श्रद्धा मिली। दीपक जी ने अपने मनोगत में भक्तमाल में नामादास के निम्नलिखित पद को ठीक ही उद्धृत किया है:

वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहि जासु की।
संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, बानि विमल रविदास की।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर विधर्मियों से समाज को बचाने में स्वामी रामानन्द एवं संत रविदास के योगदान संबंधी कर्मदास की उक्ति भी, जिसे दीपक जी ने टाँका है, बहुत सटीक है:

हम कहिबे हैं निडर होय करि, साँची बात यह तब अरु अब की।
रामानंद रविदास बिनु करते, तुगलक लोदी सुनत सबकी।।

भारतीय समाज में उदार एवं अनुदार वैचारिक धाराएँ रही हैं। विद्वता एवं शील को सर्वमान्यता प्राप्त रही है, चाहे व्यक्ति देशी हो या विदेशी। जब सम्राट हर्ष कामरूप के ब्राह्मण राजा भाष्कर बर्मन से, जो बौद्ध नहीं है, हुएन सांग को वापस भेजने का संदेश भेजते हैं तो भाष्कर बर्मन चीनी यात्री को न भेजकर बदले में अपना सिर देने की बात करता है। संत रविदास को ब्राह्मण स्वामी रामानन्द शिष्य बनाते हैं तो क्षत्रिय रानी गुरु; समस्त हिन्दू समाज आदर एवं श्रद्धा देता है। फिर हमारे विमर्श में ब्राह्मण रामानन्द के ऊपर काशी के ब्राह्मणों की वरियता समझ में नहीं आती। स्पष्टतः जाति, वर्ण एवं कुल संबंधी विमर्श को बड़े धरातल पर ले जाने की जरुरत है। हिन्दुओं के चारों वर्णों में शूद्र भी आते हैं तथा छुआछूत के दायरे में एक समय प्रायः सभी जातियाँ आ गयी थीं, मात्रा में अंतर के साथ। फिर लेखक का यह मंतव्य ठीक नहीं लगता कि 'रविदास जी ने अंततः अपनी साधना से सवर्णता प्राप्त कर ही ली।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

कान्हा बजावै बाँसुरिया* : एक अनिवार तान

देवेन्द्रनाथ शुक्ल**

'सोनालय पारिजात' की पुष्पलताओं से घिरा निरभ्र आकाश की ओर निहार ही रहा था कि 'जनम-जनम की पहचानी यह तान कहाँ से आई। किसने बाँसुरी बजाई। कृष्ण की बाँसुरी मृत्युंजय के होंठो पर! घोर आश्चर्य! किन्तु यह मोहक सत्य था। और मैं इसकी टेर में रमता चला गया। सुर-ताल के अन्तर्संवादों में कई प्रत्यय उभरने लगे। इस रंगशाला में जैसे कोई पटाक्षेप नहीं था। कब सत्रह 'संकायों' से बाहर आया, पता ही नहीं चला। यह नवीन 'वृन्दावन' की मादक रागिनी थी! 'कान्हा बजावै बाँसुरिया'। तब मैंने समझा यह किसी माहेश्वर सूत्र—'नृत्यावसाने नटराजवीर ननाद ढक्कां नव पंच वार'—का जटाजाल नहीं जिसके लिए पाणिनी की आवश्यकता हो। यह तो सहृदयों का रिक्य है।

सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न चैतस भूमि पर ही ललित निबंधों का अवतरण संभव हो पाता है। वर्षों तक मथने वाली संवेदनाएँ घनीभूत हो बरसने लगती हैं। वहाँ यांत्रिकता के लिए कोई जगह नहीं। 'कुछ पंक्तियाँ वर्षों से मेरे मन-प्रांतर में बजती रहतीं थीं। अपनी नाना अर्थछवियों, अर्थछटाओं, ध्वन्यात्मकता और अपने निहितार्थ के साथ। वे बार-बार मुझे कहतीं थीं—मुझे बाहर निकालो, विस्तार दो, खुला आकाश दो, नवीन संदर्भ दो। उनकी पुकार पर मैं कितना बेचैन हो जाता था, नहीं कह सकता हूँ। पर यहाँ आकर वे सभी मेरी ओर उन्मुख हो गईं। उन्हें मैं एक-एक कर आकार देता चला गया। मुक्त करता गया। और इस प्रकार 'कान्हा बजावै बाँसुरिया' रूपायिता हो उठी।

---

*कान्हा बजावै बाँसुरिया : लेखक-प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, पृष्ठ-128; मूल्य-250रु., सूर्यप्रभा प्रकाशन, 2/9, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-110002

** देवेन्द्रनाथ शुक्ल, 'सोनालय पारिजात', 144/2 सचित्र पाल सरणी, हैदरपाड़ा, पो. सेवक रोड, सिलीगुड़ी-734001, पश्चिम बंगाल; मो. 098320-97075

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर रचनाकार की अपनी एक प्रतिपत्ति होती है। उसे वह जीता है और उसके का विस्तार भी करता है। उसी प्रतिपत्ति का रूपांतरण होता है उसका प्रतिपाद्य। के प्रतिपाद्य के विषय में यही कह सकता हूँ कि शीर्षक में केंद्रीय भाव अवश्य है, में मन की बहक और कल्पना की उड़ान में कहीं परंपरा, कहीं तुलना और कहीं कता में बहता रहा हूँ। पर प्रवाह और सातत्य की उपस्थिति सर्वत्र है।' हर लेखक से सहमति हो यह आवश्यक नहीं और यह अभीष्ट भी नहीं। 'इंगिति' लेखक का विचार देखें। 'उसकी स्वकीय संवेदना में सर्जना व लालित्य की लहरें ती हैं और पाठक से एक कमनीय ललित आत्मीयता स्थापित करना चाहती हैं। भावों की अवदान भूमा है यह ललित कृति।' डॉ. आनन्द मोहन की टिप्पणी भी ललित प्रकृति और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के साथ 'नावक के तीर' सी बन है। इससे रचनाकार की सिसृक्षा और अधिक उद्दीप्त ही होगी ऐसा मुझे लगता है। कथ्य' और 'इंगिति' पुस्तक के रसास्वादन को और अधिक गहराई तक पहुँचाने सक्षम हैं और अपने-अपने निहितार्थ को भी प्राप्त कर लेते हैं।

लेखक अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए लिखता है—'भारतीय संस्कृति और मनीषा में अवगाहन मेरा अभीष्ट रहा है।' यह अवगाहन उसके निजत्व को खास अपने ढंग से परोसता है। इसमें 'क्षणे-क्षणे यत् नवताम् उपैति तदेव रूपम् रमणीयताया' का अनुभव पाठक की अपनी कसौटी है। पांडित्य और लालित्य का साहचर्य दुष्कर और दुर्लभ है, किन्तु प्रो. उपाध्याय ने इसे संभव करने का प्रयास किया है। इसमें मती चावल के साथ किसी को सिकता कण मिल जाए तो उसका दुर्भाग्य।

पहला निबंध—'साधू भूखा भाव का' एक वैयाकरण की भंगिमा के साथ शुरू ता है। भाव और साधु की व्याख्या के साथ उनके अंतर्संबंधों का विश्लेषण रोचक से प्रस्तुत किया जाता है। लौकिक और शास्त्रीय मतों से प्रतिपाद्य का विवेचन व लिखने का आग्रह पैदा करता है; संयोजन की कला से परिचय कराता है। उद्धरणों की अतिशयता एक ओर पांडित्य को विवर्द्धित करती है तो दूसरी ओर लालित्य को विमन्दित भी। और, ऐसा प्रायः प्रत्येक निबंध में दृष्ट है। परंतु, फूलों से रस कर मधु निर्मित करना उसका स्वभाव है, उसे वह कैसे छोड़! 'ऋषयः मंत्र ष्टारः'।

'रामहि केवल प्रेम पियारा'। राम को केवल प्रेम से ही पाया जा सकता है। के लिए कोई अन्य साधन हो ही नहीं उनके लिए राम को पाने का सबसे सहज का है प्रेम। 'है प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं है।' प्रेम के विभिन्न रूपों और सोपानों के मद्दे नजर हम कह सकते हैं कि प्रेमत्व ही रामत्व है। द्वैत में अद्वैत की उपलब्धि। 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।' वामन में विराट का साक्षात्कार! विद् ब्रह्मैव भवति।' किन्तु राम के रहते हुए भी प्रेम के लिए तरसना कितना कष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर है। मानव जाति का एकमात्र रक्षक प्रेम! साधन और साध्य दोनों ही! कुछ ऐसे ही भाव प्रसंग में 'प्रज्ञामेघ' की ये पंक्तियाँ—'अक्षर-अक्षर से स्पन्दित मूल तत्त्व में अरे सलोने राम जहाँ तेरा निवास है। भावहीन क्या जा सकता भूतल का प्राणी।'

भारतीय मधु चेतना को नवोन्मेषित करने की एक चेष्टा दिखलाई पड़ती है। इसके लिए भाव-जगत में आलोड़न-विलोड़न चलता रहता है। कभी तमस की चाह भी जाती है क्योंकि 'मेरे प्रियतम को भाता है। तम के परदे में आना।' यह आना भी इतना आसान कहाँ रहा—'अंखिया तो झाई पड़ी पंथ निहार-निहार। जीहड़िया छाला पड़ा नाम पुकार-पुकार।' लेकिन जब मधु बयार आती है तो उसके स्पन्दन से सारा जगत मादित हो उठता है—'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।' मधु चेतना आनन्दमयी भूमा की देन है और यह स्वयं ऋजु परिवेश की। इसे पुनर्प्रतिष्ठित करने का कोई संकल्प दीख पड़ता है। लीला पुरुषोत्तम की लीलाभूमि का विस्तार उसी चेतना की विवृति है।

आग के प्रतीक द्वारा जीवन की तेजस्वीता, कुछ नया करने की आकांक्षा व क्रांतिकारी कदम उठाने को वाणी दी गई है। जहाँ जीर्णता और शीर्णता के लिए कोई जगह नहीं—'जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन। क्या करूँगा तन जीवनहीन।' शक्तिहीन जीवन किस काम का? इसलिए वह मुखर हो उठता है—'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पात।' जो परिवर्तन नहीं ला सकते उनका नहीं रहना ही वाजिब है।

सहितस्य और स-हितस्य के दोनों पाटों से गुजरता हुआ साहित्यकार ऋत की साधना करता है जिसमें द्रष्टा और स्रष्टा का समन्वय सम्भव हो पाता है।

प्रेमचंद की रचनाओं के आलोक में इस सत्य का प्रतिपादन लेखक अपने ढंग से करता है। जीवन की व्याख्या संकीर्ण सीमांतों में नहीं हो सकती। कोई भी रचनाकार अपनी सृजन-बेला में विराट में लीन रहता है। उस सायुज्य काल में संवेदनाओं की घनीभूतता इतनी प्रबल रहती है कि अपनी निसृति का मार्ग स्वयं ढूंढ लेती है। यहाँ अंतर्वृत्तियों का प्रभाव अत्यंत गहरा हो उठता है। कदाचित् इसीलिए 'कृति की अंतर्वृत्तियों की छानबीन की ओर ध्यान जाने लगा' है। किन्तु यही शेष नहीं है। इनके साथ ही जुड़ी है रचनाकार की अपनी वृत्तियां—'वृत्तयः पंचतस्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा-स्मृतयः (राग द्वेषादि क्लेषों की हेतुकी वृत्तियाँ तथा इनकी नाश करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ। ये वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।)

साहित्य ज्ञानात्मक संवेदना तथा संवेदनात्मक ज्ञान से जुड़ा हुआ है। यहाँ किसी पूर्वाग्रह और दुराग्रह के लिए कोई अवकाश नहीं। लेखक बड़ी सावधानी से उद्धृतियों के द्वारा बल्कि उसे ही अपना कथ्य बनाकर प्रस्तुत करता है। विषयवस्तु तीव्रता से स्पष्ट होती चली जाती है और वह कई एक जद्दोजहद से बच भी जाता है। लेखन की इस कला को उसने उपलब्ध किया है। पर, कहीं-कहीं वैचारिक सघनता ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकांक्षा की रक्षा नहीं कर पाती। वृंदावन की कुंज गलियों में जैसे मुरली की मादक ...ने खो गई हो।

भाग्य और कर्म के द्वंद्व की न्याय-मीमांसा करने के लिए 'करम गति टारै ना ...' की रचना नहीं हुई है बल्कि इसके माध्यम से 'रसोह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' की प्राप्ति ही लेखक की हेतुकीय इच्छा रही होगी। इसमें मौजूपन के साथ पाठक भी अपना हिस्सा लेने से नहीं चुकता।

'टंग और टांग' प्रायः समुच्चरित शब्दों के द्वारा कुछ वैसे ही मौजूँपन का अहसास कराता है लेखक। दोनों के फिसलने से जो दुर्गति होती है उसका विवेचन रोचक है। नीतिवचनों से दोनों के महिमामण्डन का विस्तार है। अर्थ-अनर्थ के विन्यास की इतिश्री है। इसमें संस्कृति के कई आयामों से गुजरना भी सुखद है। लेकिन कहीं-कहीं प्रबोधन बाधक बन जाता है।

'चंदन-टीका लगा आए?' एक छोटा वाक्य! लेकिन अपनी व्यंजना शक्ति द्वारा कितना घातक प्रहार करता है। चैन से जीना तो दूर शांति से मरने भी नहीं देता। हजारों हजार बिच्छुओं का डंक एक साथ। चंदन तो षोडषोपचार का मात्र एक उपचार है किंतु यहाँ कितना मारक बन गया है। बदलते दृश्यों की एक छविमाला! अभिधा और लक्षणा गौण पड़ जाती हैं। रह-रहकर वंदना की उपस्थिति सारे मनकों को पिरोती चलती है। जैसे 'उसने कहा था।' निबंध में। यह एक ताजगी लाने वाला प्रयोग है।

मन की चंचलता तो उसकी स्वाभाविक स्थिति है। 'मन को रँगाना हो जिस रंग में रंग जाता है।' वह हर वैविध्य का भोक्ता होना चाहता है—'मन फूला-फूला फिरै।' मन पर नियंत्रण स्वाभाविकता पर, सहजता पर एक प्रतिबंध है। एक सर्जक की दृष्टि शायद इसे स्वीकार न करे। वह तो अनेकता का द्रष्टा है। 'हर एक पत्थर में आत्मा छुपी होती है।' वह जीवन की स्वाभाविक गति का मर्मज्ञ है। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' कहकर अपने सृजन का उपहास नहीं कर सकता।

श्रेयस और प्रेयस की आंतरिकता में जीवन की पहचान निहित हैं। 'कान्हा बजावे बाँसुरिया' उसकी एक झाँकी है। इसमें 'कालो न या तो वयमेव याता' की कोई अनुगूंज सुनाई पड़ जाए तो आश्चर्य नहीं। जाते-जाते अपने चिह्नों को छोड़ते चलने की कोई समवाय प्रचेष्टा! कई-कई द्वीपों को गतिप्रज्ञ सदानीरा का वरदान! किसी शाश्वत सौन्दर्य की आत्माभिव्यक्ति से मंडित रचनाओं में एक अनिवार पुकार सुनाई पड़ती है जिसकी अवहेलना नहीं हो सकती। कभी रुष्ट, कभी तुष्ट, कभी खिन्न, कभी प्रमुदित और कभी आत्म चैतन्य हो अपने में लीन कराने के लिए ये रचनाएँ बार-बार बुलाती हैं। आग्रह इतना प्रबल कि जाने के लिए कदम अनायास ही बढ़ जाएँ। यदि प्रूफ की गलतियाँ विस्तीर्ण नहीं होती तो दर्शन कितना भव्य होता।

बहरहाल तो पुस्तक लीजिए और एक अनिवार तान में डूब जाइए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिदो कान्हू और उनका आबुआराज

युगल झा*

वीर सिदो कान्हू का आबुआराज झारखंड के अतीत की प्रशस्त पृष्ठभूमि है। भारतभूमि के विशाल वितान पर पुराणों में वर्णित इस खंड को 'नारी भूमि' की संज्ञा दी गई है। प्रकृति की देवी ने अपने आरण्यक संतानों को सीमांचलों से आवाज दी। इतिहास की तारीख से पी.सी. राय चौधरी ने इस जनजाति के आगमन को इस क्षेत्र में 1790 से 1810 के बीच रेखांकित किया है। डॉ. पी.सी. विश्वास[1] के अनुसार, 'मुगल शासकों ने जंगल काटने और हिंसक पशुओं से सुरक्षित करने हेतु संतालों को इस क्षेत्र में बसने के लिए प्रेरित किया'। संतालों की उत्पत्ति और आदि निवास के सम्बन्ध में डॉ. डोमन साहू 'समीर' के दृष्टिकोण को अद्यतन माना जा सकता है। इनके अनुसार 'संताल' शब्द जिससे संताली शब्द व्युत्पन्न है, वर्तमान पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिला स्थित सामन्तभूम या सामन्तभूई के नाम पर बना हुआ है। उक्त सामन्तभूमि वर्तमान सित... परगना के रूप में पहचाना गया है। संताल लोगों के पूर्वज, जैसा कि इन लोगों की परम्परागत लोकगाथाओं और इतिहास के बिखरे पन्नों से ज्ञात होता है, पंचनद प्रदेश या फिर उत्तर-पश्चिम से प्रव्रजित होकर झारखंड की सीमाओं में आये। सर ई.टी. मान[2] ने भी संतालों के निवास को संताल परगना में स्वीकार किया है। इनके अनुसार संताल अपने आध्यात्मिक गुरु मरांगबुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि संतालों के जीवन-शैली में ईश्वरीय विश्वास को बड़ा ही महत्त्व मिला है। पाश्चात्य विद्वानों के इतिहास-बोध के आधार पर भी निश्चित करना कठिन है कि ये पंचनद में कब थे और गंगा के मैदानी क्षेत्रों में कब आए।

लेकिन डी.एन. मजुमदार[3] ने संताल जनजातियों की जीवन-शैली में कृषि व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनके अनुसार मुंडा-उराँव और संतालों की एक जैसी जीवन-शैली है, जिसमें प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति पूर्ण समर्पण है।

---

*डॉ. युगल झा, एसोसिएट प्रोफेसर, के.के.एम. कॉलेज, पाकुड़, सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका। ईमेल – yugaljha@rediffmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संताल समाज की सामुदायिक स्व-शासन व्यवस्था

संताल समाज मूलतः कृषक समाज की अन्यतम सीमाओं में प्रतिबद्ध था। ...र्ण समाज की जीवन-शैली सामुदायिक सहभागिता के आधार पर स्थापित थी। ...की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन-शैली स्वशासी व्यवस्था ...के अन्तर्गत कार्य करती थी। उत्पादन का संबंध एवं जमीन के रिश्ते सहभागी ...रागत विधियों से जुड़े थे, जिसकी प्रथम और प्रधान इकाई गाँव की पंचायत थी। ...की परम्परागत स्वशासी व्यवस्था के खिलाफ न तो कोई व्यक्ति जा सकता था, ...न ही समाज संचालन के प्रमुख माँझी परगना या फिर दिशोम परगना। गाँव ...ने की प्रक्रिया और पद्धति तथा उसके लिए जुटाई जाने वाली सारी-सामग्री का ...य गाँव की स्वशासी निकाय सहभागिता के आधार पर ही करती थी। 'आबुआ ...गे, आबुआ राज' की जीवन-पद्धति थी जिसका संबंध जमीन और जंगल से था। ...डब्लू. डब्लू. हांटर[4] ने 1868 में अपनी पुस्तक 'संताल विलेज गर्वमेंट' में इस विषय ...विस्तार से लिखा है।

आबुआराज की अवधारणा का विकास

संताल आदिवासी समाज के लिए जल-जंगल-जमीन और पर्यावरण अपने ...र्वजों की धरोहर हैं। जंगल-जमीन, नदी, पहाड़, झरना और धरती माता आदिवासी ...समाज के लिए सिर्फ संसाधन नहीं हैं, बल्कि चार खंभोंवाली वह मजबूत मीनार हैं ...जिस पर आबुआराज की पूरी परिकल्पना परिभाषित है। इसकी काया में बहने वाली ...नदियाँ जिसे हम दामोदर, हरमू, बासलोई, ब्राह्मणी एवं कोयल के रूप में जानते हैं ...जातीय समाज की जीवन संजीवनी हैं। इनके झरझर निनाद पूरे झारखंड की ...स संस्कृति की पाँव पखारती है एवं इसकी सुरभि को झारखंड के पर्यावरण में ...पीड़ित करती रहती है। यह देश-काल की वह सच्चाई है, जिस पर किसी राष्ट्र का ...भिमान पलता है, संस्कृति सरमाया होती है और सभ्यता तीर्थ रूप लेती है। ...खंड का आदिवासी समाज संताल परगना की संरचनाओं को विकसित करने में ...ही प्रामाणिक ऐतिहासिक सच्चाइयों को अपने दामन में समेटे हुए हैं, जिसकी ...आवश्यक है।

आबुआराज की प्रबंध व्यवस्था पर ब्रिटिश राज की छाया

सन् 1757 के पलासी युद्ध में मुगलों की हार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल ...बिहार की शासन-व्यवस्था की परमिट सौंप दी, और इस तरह से पूरा देश गुलामी ...पीड़ा से आहत होता रहा। लेकिन इसके विपरीत 1765 से लेकर 1857 तक कोई ...ऐसा साल नहीं रहा जब देश के किसी कोने में क्रांति की ज्वाला नहीं भड़की। फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जंगलतरी से लेकर कोल्हान तक आदिवासी इलाके के इस भूभाग ने अपनी जमीन और जंगल पर विदेशी हस्तेक्षप को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया। जब भी अनुकूल हवा मिली, इन इलाकों में अपनी स्वायत्त शासन-व्यवस्था बचाने हेतु लोगों ने क्रांति का बिगुल फूँका।

1793 में लार्ड कार्नवालिस ने मालगुजारी वसूली का स्थायी बन्दोबस्ती कानून लागू कर दिया। एक ही झटके में सामुदायिक स्वशासी व्यवस्था व्यक्तिगत संपत्ति में बदल गई, जब जमीन को किसी वस्तु की तरह बेचा-खरीदा जा सकता था। आदिवासी समुदाय अपनी धरती माता के लिए ऐसी बात सोच भी नहीं सकता था। मालगुजारी वसूलने के लिए इलाकेवार जमींदार नियुक्त कर दिए गए। गरीब गाँववाले, जिन्होंने कभी रुपया-पैसा देखा नहीं था, वे भारी-भरकम टैक्स कहाँ से दे पाते। 1770 के दशक से शुरू हुई जमींदारी-साहूकारी परम्परा झारखंड में आज तक कायम है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजी शासनकाल और उसके भी पहले इस क्षेत्र में आदिवासी सामुदायिक, लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम थी। इस शासन व्यवस्था को कमजोर किए बिना ईस्ट इंडिया कंपनी कभी भी अपना वर्चस्व स्थापित नहीं कर सकती थी। इसीलिए लार्ड कार्नवालिस ने संपूर्ण जमीन की बन्दोबस्ती का कानून बनाया, जो 1772 में स्थायी बन्दोबस्ती कानून के रूप में सामने आया। इसके माध्यम से ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यक्ति के नाम से जमीन की बन्दोबस्ती शुरू कर दी। यहीं से सामुदायिकता को तोड़कर व्यक्तिवादी व्यवस्था की शुरुआत आदिवासी इलाके में हुई।

प्रथमतः इसी बन्दोबस्ती कानून ने जमींदारी और घटवाली व्यवस्था इस इलाके में फैलाया। प्रधानी व्यवस्था भी इसी का अंग था। अब तक जो गाँव स्वशासन के प्रमुख 'माँझी हड़ाम' या 'परगना' थे, अंग्रेजों ने उन्हें प्रधान और लगान वसूलने वाला घटवाल बना दिया। ब्रिटिश शासन और प्रशासन को अपनी व्यवस्था चलाने के साथ-साथ ब्रिटेन को अधिक-से-अधिक साधन एवं राजस्व यहाँ से भेजना था। इसी लिए इन लोगों ने जमीन पर लगान लगाने की प्रक्रिया की शुरुआत की। 1793 के स्थायी बन्दोबस्ती कानून बनने के बाद पूरा दक्षिण बिहार दहक उठा। सन् 1781- के बीच तिलका-माँझी (झवरू पहाड़िया) के नेतृत्व में हुआ जनविद्रोह इसी लगान के खिलाफ राजमहल की तराइयों से निकलने वाला शंखनाद था। यह जनक्रांति की सामूहिक अभिव्यक्ति थी। तब तिलका माँझी ने कहा, "यह जमीन मरांगबुरू की देन है"। यह धरती माता है। इसीलिए हम सब किसी को भी इस पर लगान नहीं देंगे चाहे वह घटवाल हो या अंग्रेज बहादुर। सामुदायिक जमीन की सुरक्षा-बचाने का यह पहला विद्रोह था। तिलका माँझी शहीद हो गए। अंग्रेजों के द्वारा इस क्रांति को कुचल दिया गया। उन्हें फाँसी दे दी गई। आज भी उनकी प्रतिमा भागलपुर के बरारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…गी हुई है और इतिहास की तारीख में यह तिलका माँझी चौक के नाम से अंकित है।

इतिहास गवाह है कि जब भी इस वनांचल प्रदेश की जनजातीय सामुदायिक जीवन-पद्धति पर हमला हुआ, संपूर्ण आदिवासी समाज में इन आक्रांताओं के प्रति असंतोष की ज्वाला फूट पड़ी है। सन् 1776 से सन् 1856 के बीच संपूर्ण झारखंड के क्षेत्र में 40 से ज्यादा विद्रोह हुए। लेकिन इन सबों का चरित्र स्थानीय और सीमित रहा, पर इनके प्रभाव से संपूर्ण क्षेत्र ब्रितानी व्यवस्था के प्रति आक्रोश एवं प्रतिरोध की ज्वाला से भड़क उठा।

फिर एक बार राजमहल की तराइयों में तिलका माँझी की क्षार हुई अस्थियाँ लाल-लाल लपटों में बदल गई। सन् 1855-56 में वीर नायक सिदो-कान्हू जनजातीय संस्कृति की देशज जीवन-मूल्यों के प्रति शंखनाद कर उठे। इतिहास के पन्नों पर यह जनक्रांति 'संताल हूल' के रूप में ख्यातिलब्ध हुई, जिसकी अनुगूँज इतनी भयावह थी कि ब्रिटेन की तख्त पर बैठी महारानी विक्टोरिया की नींद हराम हो गई। क्रांति का प्रभाव क्षेत्र भी व्यापक था। तत्कालीन दक्षिण बिहार, उत्तर बिहार एवं पशिचम बंगाल के कोने-कोने में इसकी लहर दौड़ रही थी। सन् 1854 में वीरसिंह माँझी के नेतृत्व में महाजनों के खिलाफ आंदोलन हुआ। क्योंकि यह महाजन ही अंग्रेजी हुकूमत के एजेंट थे। इनकी ही मिलीभगत से संताल समाज अपनी जमीन से बेदखल हो रहा था। 'स्थायी बंदोबस्ती कानून' के बाद आदिवासी समाज के लिए अपनी सामुदायिक कृषक जीवन-शैली की स्वच्छंदता पर प्रतिबंध एक कागज के टुकड़े के सहारे कर दिया गया। अब संपूर्ण जन-जातीय समाज के मासूम चेहरे पर जंगल तरी से लेकर कोल्हान तक एक ही सवाल छाया रहा। खेतों में हल चलाकर खेती हम करते हैं, खेत हमारे, मेहनत हमारी, फसल भी हमारी, तो फिर ये जमींदार कौन होते हैं? क्यों दें हम इनको टैक्स?

'30 जून, 1855 की चाँदनी रात में करीब 10 हजार संताल भोगनाडीह में एकत्र हुए। नेतृत्व की पृष्ठभूमि पूर्व से तैयार थी। मध्यरात्रि में शाल वृक्ष के नीचे …ने ठाकुर के आदेश और आध्यात्मिक चेतना से प्राप्त 'टहनियों' से क्रांतिवीर सिदो-कान्हू ने ब्रितानी सत्ता के आदेश को अस्वीकार किया और अपने को वहाँ का राजा घोषित किया। 1855 का यह 'संताल हूल' एशिया महादेश की जनक्रांतियों में …नित हुआ क्योंकि इसका चरित्र बहुआयामी एवं बहुजातीय था। भाई चाँद-भैरव के साथ-साथ महिलाओं के प्रतिनिधित्व के रूप में फूलों एवं झानों भी इस क्रांति की सहभागिनी थीं। यह विद्रोह भी जमीन हड़पने एवं लगान वसूलने के खिलाफ ही था, लेकिन अन्य बाध्यकारी शक्तियों ने भी इस आंदोलन की व्यापकता की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इतिहास गवाह है कि लगभग 15000 विद्रोही इस जनांदोलन में शहीद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10 नवंबर, 1855 को ब्रिटिश हुकूमत ने झारखंड और बंगाल के संताल इलाकों में मार्शल लॉ घोषित कर दिया और इसे सेना के हाथ सौंप दिया। इसके बाद ब्रिटिश सेना का नंगा नाच शुरू हुआ। हजारों संताल जवान, बूढ़े, औरत तथा बच्चे मारे गए। संतालों की बस्तियाँ उजाड़ दी गईं। फरवरी 1856 में सिदू अंग्रेज सेना के हाथ पड़ गए। उन्हें उसी वक्त गोली मार दी गई। इस तरह संताल क्रांति के सबसे बड़े नेता का अन्त हो गया। चाँद और भैरव भागलपुर के पास भयंकर युद्ध में मारे गए। फरवरी के तीसरे सप्ताह में कान्हू बीरभूम जिले में पुलिस के हाथ पड़ गए। उन्हें भी उसी वक्त गोली मार दी गई।

इस प्रकार संताल हूल ने ब्रिटिश हुकूमत को यह बतला दिया था कि उनके दिन हिन्दुस्तान में लद चुके हैं। हिन्दुस्तान के राजा-महाराजाओं ने भले ही उनकी गुलामी स्वीकार कर ली हो किंतु हिन्दुस्तान का आम आदमी, किसान, मजदूर, आदिवासी एवं मूल वासी ने कभी भी चैन से उनकी गुलामी स्वीकार नहीं की। अतः इस भोगनाडीह की माटी को हम जितनी बार प्रणाम करें, वह कम होगा। इस माटी ने ऐसे शहीद क्रांतिकारी को जन्म दिया, जिन्होंने स्वशासन के स्वप्न को झारखंडियों के आँखों में बो दिया। कार्ल मार्क्स ने अपने 'दास कैपिटल' में इस विद्रोह को 'एग्रेरियन रिवोल्ट' कहा है। इस जनांदोलन के परिणामस्वरूप संताल परगना का कास्तकारी कानून सामने आया। जब अंग्रेजों को लगा कि इस इलाके में शासन-व्यवस्था तब तक कायम नहीं हो सकती, जब तक यहाँ की परम्परागत व्यवस्था से समझौता नहीं किया जाता। इसीलिए अंग्रेजों ने यहाँ की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था के साथ समझौता की पहल शुरू की। क्रांति-नायकों की शहादत के बाद संताल परगना की ग्राम पंचायतों में परम्परागत माँझी परगना और देश माँझी से संपर्क स्थापित किया गया। संवाद की प्रक्रिया बहाल की गई। छोटे राय देश माँझी ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। परिणामस्वरूप 1856 में 'संताल परगना' नामक एक अलग क्षेत्र का सृजन किया गया। 1856 में, 'न्यू पुलिस रूल' के तहत स्थानीय स्वशासी व्यवस्था को मान्यता मिली। इसमें 'उपायुक्त' नामक पद का सृजन हुआ, जिन्हें राजस्व और दंड दोनों का अधिकार सौंप दिया गया। अब उपायुक्त से सीधे माँझी परगना और दिशोम परगना संवाद कर सकता था। इसमें मध्यस्थ यानी बिचौलियेपन की प्रक्रिया पर रोक लगा दी गई। परम्परागत संस्थाओं और गाँव की संरचनाओं में लिपटी न्याय-व्यवस्था को अधिमान दिया गया। यानी यह व्यवस्था दो सत्ता के बीच आपस की संधि-पत्र थी और यह हूल की ज्वाला से उपजी संधि थी। इसी संधि का परिणाम है कि आज भी संताल परगना के आम लोगों और यहाँ के जनजातीय लोगों के पास जीवन-यापन लायक जमीन है। निस्संदेह संताल परगना का कास्तकारी कानून यहाँ के आदिवासी और मूल वासियों के लिए संरक्षण की पट्टिका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झारखंड के जनजातीय समाज की प्रकृति से पूर्वजों-सा लगाव तथा उसके प्रति अपनत्व का भाव ही उसके सामुदायिक जीवन की शाश्वत अन्तर्दृष्टि है, खासकर इनकी ऐतिहासिक दृष्टि इस संदर्भ में अत्यंत गहरी है। अंग्रेजी हुकूमत आदिवासियों की अन्तर्दृष्टि से पूर्ण रूप से परिचित हो चुकी थी, इस बात को गंभीरता से समझने की जरूरत है। 1832 में विलकिंशन रूल्स के तहत कोल्हान इलाके में शासन की अर्द्ध-स्वायत्तता या फिर 1831-32 में संताल परगना में दामिन क्षेत्र की घोषणा एवं निर्माण, 1908 में छोटानागपुर का कास्तकारी अधिनियम, सन् 1912 में संताल परगना कास्तकारी अधिनियम बना। अंग्रेज पूर्ण रूप से वाकिफ थे कि यहाँ की शासन-व्यवस्था सिर्फ बन्दूक के बल पर नहीं चला सकते। अतः इन तमाम अधिनियमों में उन्हें आदिवासी अस्मिता और स्वायत्तता का पूरा-पूरा ख्याल रखना पड़ा।

अतः इन कानूनों के तहत स्थानीय आदिवासियों समेत कई अन्य कास्तकारी जातियों की जमीन को परम्परागत एवं कानूनी सुरक्षा दी गई। आदिवासियों की जमीन को खरीद-फरोक्त से अलग रखा गया है, और जिला के उपायुक्त को प्रशासनिक सत्ता सौंप दी गई है। संपूर्ण क्षेत्र के विधान की चर्चा संविधान की पाँचवीं अनुसूची में किया गया है।

आज इस संधि (कानून) को बड़ी तेजी से बदलने की साजिश हो रही है, जिसे यहाँ की माँझी परगना व्यवस्था और स्वशासन की परम्परागत व्यवस्था कामयाब नहीं होने दे रही है। 5वीं अनुसूची की व्यवस्था और पेसा (PESA) कानून के तहत मिले अधिकार ने इस कानून को मजबूती प्रदान की है। बाद के दिनों में वनाधिकार कानून में भी सामुदायिक अधिकार को बल मिला है।

निष्कर्षतः 1793 से 1868 एवं 1871 के बीच जो बन्दोबस्ती कानून अस्तित्व में आए सबों पर Sprit of Law का ज्यादा प्रभाव था। Macpharson ने तो अपने Settlement Report में इसे जनजातीय समाज का Megnacarta[5] कहा है। यही कारण है कि, ग्लोबल इकोनमी के पुरोधाओं तथा भू-खोरों को यहाँ जमीन खरीदने में काफी कठिनाई हो रही है। लेकिन झारखंड विकास के नाम पर बन्दोबस्ती कानून से लेकर कास्तकारी अधिनियम में संशोधन या फिर इसमें बदलाव की कोशिश पूरे झारखंड क्षेत्र में एक गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोध का बीजारोपण कर रही है। प्रखर पत्रकार फैसल अनुराग[6] के अनुसार "भारतीय संविधान में जनजातियों के लिए 5वीं अनुसूची में किए गए प्रावधान एवं पेसा कानून की संपुष्टि से झारखंड की जनता में एक नई राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक समरसता की त्रिवेणी का उदय हुआ था। लेकिन नए पूँजीपतियों एवं बाजारवाद की आकांक्षा लिए भू-माफियों की नई चाल इस से जनजातीय क्षेत्र की अस्मिता को खरीदफरोक्त का क्षेत्र बना रही है।" वस्तुतः जमीन की खरीद-ब्रिकी के लिए इनकी साजिश ने इस क्षेत्र की आर्थिक नाकेबन्दी कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है। सरकार को अपने राज्य की जनता के हितों की कोई चिन्ता नहीं है। सरकार के औद्योगिक नीति से स्पष्ट है कि राज्य सरकार की तमाम प्राकृतिक संपदा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले कर दिया गया है।

पत्रकार एवं महिला आयोग की बासवीं करों[7] के अनुसार 'वीर सिदो कान्हू' से लेकर बिरसा मुंडा तक महाजनी के खिलाफ, साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद के खिलाफ लड़े और लड़ते हुए कुर्बान हो गए। अपने उबलते हुए खून से इन्होंने शोषण से मुक्त 'आबुआराज' एवं 'उलगुलान' की शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। आज उनकी जमीन धूल की तरह उड़ती चली जा रही है। बिरसा का यह स्वर आज भी पहाड़ों, जंगलों, नदी, नालों, एवं झरनों में गुंजायमान है।' वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता नलिनिकांत कहते हैं, 'टूटते पहाड़ और कटते जंगल एवं क्रसरों की चीखती आवाज संताल परगना के पर्यावरण के लिए खतरे की घंटी है।'[8] जनजातीय समाज की पीड़ाओं से जुड़ती हुई 'मानवी' की सचिव सुश्री अन्नु[9] कहती हैं 'माँ, माटी और मानुष की चिन्ताओं में जाने कितने वर्षों से फूलों एवं झानों की शहीद आत्मा झारखंड के नवनिर्माण पर अपने आँसू बहा रही हैं, लेकिन जब राज्य के आकाओं की चेतना एवं इच्छा-शक्ति ही मूर्च्छित हो तो कौन झारखंड के आबुआराज के स्वप्न को साकार करेगा।'

शायद, बिरसा की तरह ही उनके पूर्वज सिदो कान्हू ने भी अपनी शहादत इसी जीवन-मूल्यों के लिए दिया था। उनके आबुआराज की लड़ाई अतीत के उन अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर और अनुद्घाटित रहस्यों के उद्‌भेदन का एक भगीरथ प्रयास था। आदिवासी अस्तित्व के लिए संघर्षरत सामाजिक नेत्री दयामनी बारला कहती हैं,[10] '1800 से 1947 एवं आजाद भारत के अद्यतन सामुदायिक वन प्रबंधन पर दर्जनों वन कानून बनाए गए, कभी रिजर्व वन के नाम पर जंगल पर आदिवासी के अधिकार को समाप्त किया गया, तो कभी पब्लिक फॉरेस्ट के नाम पर। यही नहीं वन आश्रयणी कानून के तहत भी लाखों आदिवासी गाँवों को जंगलों से हटा दिया गया। आदिवासी समुदायों के हाथ से इसकी साझी विरासत को लूटने के लिए सैकड़ों कानूनी हथकंडे अपनाए गए। आज विश्व के पूँजीपति हमारे पानी, जंगल, गाँव, झरना, खेत-खलिहान, नदियों से मुनाफा कमाने के लिए अपनी आँखें गड़ाए हुए हैं। सैकड़ों कंपनियाँ अपनी पूँजी को हमारे धरोहर के दोहन के लिए निवेश करने की होड़ में खड़ी हैं।'

सच तो यह है कि आबुआराज की प्रशस्त पृष्ठभूमि के मुताबिक जंगल सिर्फ पेड़-पौधे ही नहीं हैं, बल्कि जंगल आदिवासी समाज का इतिहास, परम्परा, भाषा-संस्कृति पहचान के साथ आजीविका एवं स्वस्थ जीवन का मूल आधार भी है। जंगल के जानवर आदिवासी समाज के मित्र हैं, और जंगल देश के पर्यावरण का प्रमुख आधार है, क्योंकि जंगल जहाँ है आदिवासी समाज भी वहीं है। प्रभात खबर के मुख्य संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. हरिवंश[11] कहते हैं, 'औद्योगिकिकरण झारखंड की जरूरत है, लेकिन वर्तमान विकास मॉडल ने नगरीकरण के जिस स्वरूप को निर्धारित किया है, वह राष्ट्र और समाज की आरण्यक संस्कृति के लिए घातक है। इस मॉडल ने जिस तेजी से आदिवासी समाज को उजाड़ा है, उसी रफ्तार से, देश के पर्यावरण को भी प्रदूषित किया है। जंगल के उजड़ने से पर्यावरण पर काफी बुरा असर पड़ा है। झारखंड की कृषक संस्कृति नष्ट हुई है। वनोपज विलुप्त हो रहे हैं। जंगलों में जीवित रहने वाले प्राणी स्वतः समाप्त हो रहे हैं। जंगल में मौजूद हजारों जैविक विविधता की धरोहर जड़ी-बूटियाँ नष्ट हो रही हैं। इसका प्रतिकूल प्रभाव पूरी अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है।

सन्दर्भ

1. *प्रिमिटिव रिलिन एंड सोशल ऑर्गेनाईजेशन*, 1935 भो. 4, पृ. 15।
2. *संतालीज एंड संताल्स*, जियो एंड को. कलकत्ता 1857, पृ. 29।
3. *रेसज एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया*, एशिया पब्लिशिंग हाउस बॉम्बे 1944, पृ. 16।
4. *द इंपिरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, संथाल परगना*, भो. 22, कलाडर्न प्रेस, पृ. 85।
5. *फाइनल रिपोर्ट ऑन द संताल परगना सेटेलमेंट*, गॉव्हमेंट ऑफ बंगाल कलकत्ता 1909, पृ. 18।
6. *संभावनाओं की इंडस्ट्रीज*, दैनिक जागरण, 07 फरवरी, 2012, पृ. 09।
7. *आबुआराज की सच्चाइयाँ*, दैनिक जागरण, 18 मार्च, 2012, पृ. 28।
8. *संताल परगना का पर्यावरण*, सहोदरा, दिल्ली, 1991, पृ. 18।
9. *आधी दुनिया, महिला संवाद*, दिसंबर 18 मार्च, 2001, पृ. 28।
10. *कटते जंगल उजरते लोग*, दैनिक जागरण, 31 दिसंबर, 2011, पृ. 09।
11. *झारखंड की चुनौतियाँ*, प्रभात खबर 12 जनवरी, 2012, पृ. 08।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय एवं सहृदय

योगेश शर्मा*

प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र दोनों से ही है। यह काव्यानुभूति एवं उसके अनुभावक की व्याख्या दर्शनशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में करता है। इस व्याख्या के तन्त्र, उपकरण एवं प्रविधि इन्हीं दो शास्त्रों (दर्शन एवं सौन्दर्य) से भारतीय ज्ञान परम्परा में 'रस-सूत्र' की व्याख्याकाल से लिए जाते हैं। जिसके सबसे बड़े प्रामाणिक आचार्य स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। काव्यानुभूति के प्रमाता सहृदय का सम्बन्ध हृदय तत्व से है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आनन्द, चिति, प्रतिभा, शिवा, परा, स्वातन्त्र्य एवं विमर्श आदि अभिधानों से भी अभिहित किया गया है। काव्य का अधिकारी सहृदय है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अधिकारी की अवधारणा परिवर्तनशील रही है। इस परम्परा में इसे कात्यायन ने नागरक[1], भरत मुनि ने प्रेक्षक[2], दण्डी ने विदग्ध[3], लोल्लट एवं शंकुक ने सामाजिक[4], भट्टनायक ने सामाजिक एवं सिद्धिमान्नर[5], आनन्दवर्द्धन ने सहृदय[6], अभिनवगुप्त ने अधिकारी[7] एवं सहृदय, राजशेखर ने भावक[8], मम्मट ने प्रतिभाजुष[9] तथा विश्वनाथ ने प्रमाता[10] आदि भिन्न-भिन्न अभिधानों से अभिहित किया है। ये सभी नाम काव्य-ग्राहक के रूप में युक्त हुए हैं, किन्तु इनमें से सहृदय पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

1. काव्य चिन्तन के क्षेत्र में सहृदय शब्द का प्रयोग दो स्थितियों में हुआ है–1. सर्जक के रूप में तथा 2. ग्राहक के रूप में। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध ग्राहक पक्षीय सहृदय से है। सहृदय शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में तो मिलता ही है, किन्तु इसका सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमि वः'[11] इस पंक्ति में सहृदय का अर्थ समान हृदय है। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक कवि तथा श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले या सहृदय कहे जाते हैं। नाट्यशास्त्र में इसके लिए सुमनस् प्रेक्षक का प्रयोग है। भरत, भामह, दण्डी, वामन

---

*शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उद्भट आदि ने सहृदय शब्द के समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु सहृदय का प्रचुर मात्रा में प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक[12] में किया है। इस सहृदय शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लोचन में विस्तार से की है। अभिनवगुप्त शैव हैं, उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के साथ-साथ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे। अतः साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी शैव दार्शनिक दृष्टि भी देखने को मिलती है। उन्होंने कई साहित्यशास्त्रीय विषयों को प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आलोक में विख्यात किया है। सहृदय की अवधारणा भी उनकी शैवी दृष्टि की देन है। वस्तुतः सहृदय शब्द का साक्षात् सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है।

हृदय तत्त्व शैव दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे चिति शक्ति (आनन्द शक्ति), विमर्श, प्रतिभा, शिवा, स्वातन्त्र्य का प्रतिपादक भी माना गया है। इसमें आनन्द का प्राधान्य है। यह उपचारतः परमशिव का हृदय है।[13]

हृदय तत्त्व का तन्त्रालोक एवं अन्य शैव दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लेख आया है, जिसका भिन्न-भिन्न आयामों में प्रयोग हुआ है। हृदय तत्त्व तदुभययामल-स्फुरित भाव विसर्गमय है।[14] तदुभय शब्द जननी और जनक रूप शिव-शक्ति की उभयात्मकता की ओर संकेत करता है। इन दोनों का यामल भाव हृदय है। इसी से सम्पूर्ण जगत् आभासित होता है और इसी में विलय हो जाता है। इसीलिए इसे स्फुतिभाव विसर्गमय कहा गया है।

हृदय को शक्ति-सूत्र भी कहा गया है[15] क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि काल आदि सम्पूर्ण शक्ति चक्र का आसूत्रण करनेवाला है। यह नित्य प्रस्फुरणशील है। चूँकि सम्पूर्ण सृष्टि आदि सबका लय इसी में होता है। परिणामतः आगे कुछ भी नहीं बचता। इसलिए यह अनुत्तर तत्त्व भी कहलाता है। इसीलिए इसे अमृत भी कहते हैं।[16]

'हृदय' को बोध का पर्याय[17] भी कहा गया है। उसमें अर्थात् स्वबोध में स्वात्म का विमर्श (द्रवित) बाहर फैले समग्र संसार को स्वात्मसात् कर लेता है। संसार की उत्पत्ति की आदिम से लेकर संहार तक यह शाश्वत उच्छलित है। किसी विशेष के अभाव के और शान्ति के कारण इसे सामान्य भी कहा गया है। स्पन्दशास्त्र में हृदय को स्पन्द कहा जाता है। स्पन्दन का तात्पर्य है किंचित् चलन अर्थात् उसमें कुछ-न-कुछ उच्छलन स्वाभाविक है। इसे ही विमर्श भी कहा गया है। यही विमर्श चेतन और अचेतन समस्त चराचर जगत का प्राण है, यही सबका सार रहस्य है।[18]

विषय की प्रतिष्ठा संविन्निष्ठ होती है।[19] इस शक्ति के अनुसार सारा जड़ जगत उसी संवित् का सार है अन्यथा यह संवेद्य नहीं कहा जा सकता, संविद् ही सब में प्रतिष्ठित है। वही हृदय है उसी के अधीन इसकी प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार हृदय शैव दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है, जिसकी स्थिति सम्पूर्ण चराचर जगत् में है। उन्मेष और निमेष की स्थिति का आधार भी यही है। अर्थात् सृजनात्मकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं ग्राहकता दोनों का कारण यही है। सृजनात्मकता के कारण इसी को प्रतिभा भी कहा जाता है।[20] हृदय ही शिव की आनन्द-शक्ति है। सम्पूर्ण जगत् आनन्दशक्ति का ही स्फार विस्तार है।[21] सम्पूर्ण विश्व आनन्दशक्ति से ही सृजित होता है, परन्तु जीव मायाजनित कला, विद्या, राग, काल, नियति नामक पाँच कंचुकों से आवृत किए जाने पर सीमित शक्तिमान होता है। जीव अर्थात् पुरुष को सम्पूर्ण जगत जो शिव की कला होने से आनन्दमय है दुःखरूप प्रतीत होता है। अभेद में भेद बुद्धि का उदय हो जाता है परन्तु जगत के परमानन्दमय परमशिव के ही रूप का ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फुरता विमर्श, आनन्द भिन्न नामों से अभिहित होता है। यह देश, काल की सीमा से ऊपर है, यह विश्रान्ति रूप होता है। विश्रान्ति परमशिव की विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर दशा होती है। यह स्वात्मतत्त्व मय परमधाम है। तन्त्रालोक में इसे ही हृदय आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है। यही साधक की साधना का विषय है।

'हृदय' शब्द शैव दर्शन में विभिन्न आयामपूर्वक प्रयुक्त हुआ है, हृदय तत्त्व के कई पक्ष इस दर्शन में परिलक्षित होते हैं। वाक्यपदीयकार की एक कारिका इस कथन को पुष्ट करती है कि–'एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अनेक शक्तियाँ हो सकती हैं' जैसे कि अग्नि में प्रकाश, दाहकता दोनों नियोजित हैं।'[22]

'हृदय' शब्द की भी यही स्थिति है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में इसके विभिन्न पर्यायों पर दृष्टिपात् किया गया है। चिति, प्रत्यवमर्श, स्फुरता, विमर्श, स्वरसोदिता, स्पन्द, ऐश्वर्य, आनन्द, स्वातन्त्र्य, हृदय आदि को परस्पर एक-दूसरे के पर्यायों के रूप में माना जाता है।[23]

चिति

'चेतयति' इस क्रिया में जो चिति (जानने अर्थ में क्रिया) है उसका परामर्श स्मरण रूप से करना यही इसका अपना चमत्कार रूप है, क्योंकि घट अपने आपको प्रकाशित नहीं करता अर्थातू अपरिच्छिन्न रूप में नहीं भासता है। इसी कारण घट स्वयं जानता है–ऐसे कोई नहीं बोलते हैं। चैत्र तो अपने में सर्वदा ज्ञानमय होने के कारण चमत्कृत ही रहता है, एवं अपने में प्रकाशित रहता है और सारे विश्व को अपने में किए रहता है। नील-पीत, सुख-दुःखादि से युक्त रहना एवं कभी न रहता, ये बातें उसमें होती रहती हैं, इसलिए चैत्र जानता है, ऐसा कहा जाता है।[24]

इस प्रकार चिति बोधात्मक है, उसी के द्वारा संसार के सभी प्राणियों को विमर्श होता है। वस्तुतः चितिः परमशिव का शक्ति रूप है। जिसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है। वही विश्व सिद्धि का हेतु है।[25] यही संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा भी गया है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार संसार परमशिव का शरीर है, वैसे वही संकुचित चिति-शक्ति रूप चेतात्मा भी संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करनेवाला है।[26] परमशिवगत चिति सृष्टि स्थिति आभासन का हेतु है। यही संकुचित रूप जीवात्मा रूप होकर भोग-मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है। इसी चिति के कारण सुखदुःखात्मक रूप बोध होता है। तन्त्रालोक में कहा गया है—विश्व के सारे प्रमाता और सांसारिक प्रमेयों का समूचा संसार चिति में ही समाए हुए है। इस प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति रूप जगत में एक मात्र चिति का ही चमत्कार चल रहा है। इस प्रकार साधकों को उसी चिति के मनन, एवं अनुसन्धान की आवश्यकता है।[27] यही आनन्दमय स्थिति है। इसीलिए यह हृदय के पर्याय रूप में जानी जाती है।

विमर्श

विमर्श तो सब कुछ सहनेवाला होता है, इदन्ता को भी अपना बना लेता है और अपने-आपको भी देहादि रूप इदन्ता कर लेता है तथा दोनों को सदाशिव भूमि में एक सी कर लेता है एवं किए हुए को दो भागों में विभक्त कर देता है। एक को जाग्रत अवस्था में बढ़ा देता है एवं दूसरे को शून्य अवस्था में दबा देता है। ऐसा स्वभाव वाला है। अवभास का स्वभाव ही विमर्श है। स्वरूप परामर्श करनेवाले ही इसको जानते हैं और तत्ववेत्ता लोग विमर्श को अहम् असांकेतिक, स्वातन्त्र्य रूप, आत्मविश्रान्ति रूप ज्ञाता कहते हैं।[28]

प्रत्यवमर्श

प्रत्यवमर्श—जो भीतर-ही-भीतर जानना और उसमें किसी का संकेत भी नहीं रहता, मैं स्वयं इन नीलादिरूप का भोक्ता हूँ, यही चमत्कार रहता है, बिना बोले हुए स्वीकार कर लेने के बराबर अकारादि सांकेतिक शब्दों का जीवन है, यह नील है, मैं चैत्र हूँ।

परावाक्—परावक्ति विश्वम् अलपति प्रत्यवमर्शेन इति वाक्।

स्वरसोदिता

परावाणी अपने-आपमें स्वात्मविश्रान्ति रूप चिद्रूप से निरन्तर उदित होती रहती है, 'अहं' इस परामर्श रूप में सदैव स्फुरित रहती है। यही परमात्मा का भुज्य स्वातत्र्य ऐश्वर्य एवं स्वामीपन है, जिसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती। यह रस-स्वरूप आनन्द से उदित है तथा परावाक् स्वरूप है।

आनन्द, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य चैतन्य—

किसी की उपेक्षा न रखना यही परमार्थतः आनन्द, ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्फुरत्ता–

वस्तुतः स्फुरता स्वात्मप्रकाशन शक्ति है। उसमें स्व के प्रकाशन हेतु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

स्पन्द–

स्पन्दन का अर्थ है कि कुछ चलनात्मक प्रवृत्ति का होना, एवं यही किञ्चित् झलकना है जो स्वयं अचल रहता हुआ भी द्रष्टा के यहाँ स्फुरित होता है, क्योंकि प्रकाश रूप द्रष्टा से वह थोड़ा-सा भी अधिक नहीं होता है, स्वतः अपने-आप अधिक होने के समान, वह अचल रहता हुआ ही आभास भेद से मिला हुआ ही झलकता है। इसी कारण कहा है–

सभी भावों में विज्ञान रूप शरीरवाला आत्मा ही अपनी इच्छा की वृद्धि को न रोककर दृष्टि क्रिया को फैलाता हुआ विश्व रूप ही रहता है।

अतिक्रोधी अथवा प्रहृष्ट-प्रसन्न रहनेवाला या किंकर्तव्यविमूढ़ रहनेवाला या दौड़ता हुआ जिस अवस्था में स्थित रहता, वही प्रतिष्ठित स्पन्द कहलाता है।[29]

इस प्रकार हृदय तत्त्व के उपर्युक्त पर्याय किसी-न-किसी रूप में हृदय को ही विभिन्न स्तरों पर परिभाषित करते हैं। इन पर्यायों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध परमशिव की दोनों स्थितियों उन्मेष एवं निमेष से है। सृष्टि का आभासन परमशिव की ईश्वरता है। अतः हृदय ऐश्वर्य है। वह (परमशिव) अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से इसका सम्पादन करते हैं। स्फुरता, चिति, स्पन्द आदि इसी पक्ष को उद्घाटित करते से प्रतीत होते हैं। विमर्श प्रत्यवमर्श, स्वरसोदिता, आनन्द आदि साधकगत प्रतीत होते हैं। ध्यातव्य है कि हृदय की स्थिति समष्टिगत एवं व्यष्टिगत दोनों स्तरों पर होती है। समष्टिगत का उल्लेख किया जा चुका है। व्यष्टिगत मायादि छह कंचुकों से आवृत होती है। उसमें सीमित कर्तृत्व होता है। जीवात्मा जब समस्त मलों एवं कंचुकों से अनावृत हो जाता है उस समय सीमित हृदय का विस्तार हो जाता है। वह परमशिवमय हो जाता है। विमर्श आदि रूप हृदय के इसी रूप को व्यक्त करते हैं। जैसा कि विमर्श के लक्षण में कहा जा चुका है कि सभी सहने की क्षमता है जिसमें जो, सभी को एकीकृत करता है। यह आत्मविश्रान्ति रूप ज्ञाता की अवस्था है। जहाँ अहमस्मि का बोध होता है। वही यहाँ अभीष्ट है। यह अवस्था सृष्टि के व्युत्क्रम को दर्शाती है, जो निमेष है।

आनन्द का तात्पर्य है हृदय का विस्तार। जब साधक आणवोपायादि से अपने चित्त को शुद्ध कर सम्पूर्ण जगत आदि को अपने में ही प्रतिबिम्बित समझने लगता है। यह अवस्था अहमस्मि के बोध की अवस्था है। यही परमशिवमयता है। यही हृदय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार है। इसी को शैवदर्शन में आनन्द कहा गया है।[30] इसी अवस्था को अभिनवगुप्त आचार्य ने अभिनव भारती में समापत्ति, विश्रान्ति, लय, चमत्कार, भोग इत्यादि शब्दों से अभिहित किया है। यही काव्यशास्त्र में रसना, आस्वाद एवं आह्लाद है।[31]

चमत्कार एक निर्विघ्न रूप आत्मानन्द के उपभोग की अवस्था है। चमत्कार शब्द में 'चमु अदने' धातु से चमत् शब्द की निष्पत्ति होती है। काव्य अथवा गीतादि के रस एवं आत्मानन्द के निर्विघ्न रूप उपभोग (आस्वादन) द्वारा जनित संरम्भ-उत्साह या शिरश्चालनादि संकेत प्रदर्शन को चमत्कार कहते हैं। आत्मानन्द की अनुभूति के पक्ष में यह अन्य से निरपेक्ष स्वात्मा में विश्रान्ति मात्र है और काव्यरस की अनुभूति के पक्ष में 'वृत्यन्तर' के उदयरूप विघ्न से रहित एकमात्र प्रासंगिक रस की चर्वणा या रसनात्मक आस्वाद चमत्कार है।[32]

योग शब्द का इसी अर्थ (आस्वाद) में प्रयोग किया जाता है। हृदय को विश्रान्ति का दशा माना गया है। अर्थात् जहाँ संविद् स्थैर्य है, अतः यह चित्त के स्थिर होने की दशा है। यह आत्मानान्द स्वरूप अवस्था है। भोग ऐसी ही अवस्था को सूचित करता है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने सुख-दुःख की सामान्य स्थिति को भोग कहा है।[33] जिसे देह नहीं महास्फुरता ही अनुभव करती है। अर्थात् यह देशकाल विशेष सम्बन्ध रहित स्थिति है। यही परमेष्ठी[34] जिसके विकास से चिदानन्द लाभ होता है।[35] इसका अनुभव साधक जीवन्मुक्ति की दशा में करता है, जिसे अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में समापत्ति, समावेश एवं एक रस कहा है। साधक यहाँ पर परमशिवमय हो जाता है।

काव्यशास्त्र में सहृदय की अवधारणा इसी हृदय तत्त्व के सन्निधान में विकसित हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य प्रयोजन में मुख्यतः प्रीति या परनिर्वृत्ति की बात कही है, जो तत्त्वतः संविद् विश्रान्ति या पूर्णता परामर्श है। यह काव्य में साधारणीकृत भावभूमि है, जो परा संवित् की विश्रान्ति है। यही स्वरूप प्रत्यभिज्ञा अर्थात् मोक्ष है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि में सहृदय का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। अभिनवगुप्त ने सहृदय की व्याख्या में जिस दर्शन भूमि का आधार लिया है, वह प्रत्यभिज्ञा के हृदय तत्त्व के आस-पास ही परिलक्षित होती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि शैवाद्वैत में सृष्टि के दो क्रम हैं। प्रथम उन्मेष क्रम, जिसमें सृष्टि का आभासन सूक्ष्म से स्थूल अर्थात् आरोही क्रम में है। जबकि द्वितीय क्रम में (जिसे निमेष, लय इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है) स्थूल से सूक्ष्म क्रम अर्थात् अवरोही क्रम है। यह सब कुछ हृदय तत्त्व के परिणामस्वरूप ही सम्भव है, उसकी स्थिति दोनों स्तरों पर प्रधान है। जहाँ प्रथम क्रम का उल्लेख आता है तो वह स्वातन्त्र्य, स्पन्द एवं शिवा, प्रतिभा आदि से अभिहित होता है। द्वितीय क्रम में लय, विश्रान्ति, समापत्ति, चमत्कार आदि का प्रयोग होता है। सहृदय का सम्बन्ध इसीं द्वितीय क्रम से है, जिसमें सहृदय साधकवत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परनिर्वृत्ति परमशिव रूप कवि हृदय में तन्मय होकर काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति प्राप्त करता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय शब्द की परिभाषा प्रत्यभिज्ञा सम्मत ही दी है। सहृदय वह होता है, जो कल्पनाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध रसानुभव का आनंद लेने का अधिकारी है।[36]

सहृदय वे हैं, जो काव्य एवं शास्त्र के अध्ययन द्वारा अपने हृदय के साथ संवाद की शुद्ध सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार जिनमें प्रस्तुत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का गुण हो।[37]

इन परिभाषाओं में प्रमुखतः इन गुणों का उल्लेख है—

1. सहृदय का हृदय ऐसा निर्मल होना चाहिए कि जो मंच पर प्रदर्शित नाट्य दर्पण जैसी निर्मलता से प्रतिबिम्बित कर सके।
2. नाट्यवस्तु के साथ एकाकार की क्षमता हो।
3. उसे कवि के मन से उस भाव का अनुभव करना चाहिए, जो नाटक अथवा काव्य के माध्यम से सम्प्रेषित किया जा रहा है। इन सभी गुणों को तन्त्रालोक में विशदता से स्पष्ट किया गया है।

निर्मलत्व के लिए वे कहते हैं—

नैर्मल्यं चातिनिबिडसजातीयैकसंगतिः
स्वस्मिन्नभेदात् भिन्नस्य दर्शक्षमतैव या।
अव्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद् गुरुदितान्॥[38]

अर्थात् निर्मलता किसी पदार्थ के सजातीय तत्त्वों में घनिष्ठ सामीप्य है। जैसे दर्पण रूप परमाणुओं से मिलकर बना है। ये परमाणु एक-दूसरे के अत्यन्त सामीप्य में हैं, किन्तु जब दर्पणतल धूलिकणों से ढँक जाता है, तो यह चेहरे को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता, क्योंकि रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य उनके बीच आनेवाले धूलिकणों द्वारा बाधित होता है, अतः दर्पण निर्मल नहीं है। जब हम धूलि हटा देते हैं, तो रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य फिर से लौट आता है और कहा जा सकता है कि दर्पण निर्मल है। हमारे हृदय के विषय में भी यही स्थिति है। जब दर्शक (सहृदय) अभिनीत नाटक को देखते हैं अथवा काव्य को पढ़ते हैं तो उनके मन प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय-वस्तु से सम्बद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से उनका मन व्याकुल नहीं होना चाहिए।

दूसरा गुण तन्मय हो जाने की सामर्थ्य है। यह तभी सम्भव है, जब हृदय की आवश्यक निर्मलता सहृदय हो इसलिए दर्शक के हृदय की शुद्धता के अनुसार ही प्रदर्शित स्थिति उसके हृदय में प्रतिबिम्बित होती है। (आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(तादात्म्यतः) प्रदर्शित वस्तु के दो अंश होते हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन अंश को दर्शक उसी प्रकार ग्रहण करता है, जैसे अनेक सूक्ष्मताओंवाले किसी चित्र के एकत्व को ग्रहण किया जाता है। किन्तु चेतन अंश का ग्रहण दर्शक द्वारा अभिनीत भाव से तादात्म्य किए बिना नहीं होता।[39] इसे ही तन्मयीभवन कहते हैं, जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं—

हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस पटल पर उपस्थित होता है। मनः पटल व्याप्ति चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्मकारा परिणति ही तन्मयीभवन है। तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं तन्मयाविष्टमद्रूपतामपन्न एव, चिन्मयत्वात्।[40] भास्करकण्ठ अभिनवगुप्त के इस मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"बाह्य पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलतः शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं है तथापि माया द्वारा पृथक् रूप से भाषित होता है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही तन्मयीभाव[41] है।" इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव का अर्थ है 'प्रमेय की आत्मकारा परिणति।' भाव के साथ इस तादात्म्य के परिणामस्वरूप हृदय संवाद होता है। संवाद का अर्थ है 'दो सदृश वस्तुओं में सामरस्य। काव्य में इस स्थिति के माध्यम से कवि के भाव और पाठक या दर्शक के बीच की स्थिति से सामरस्य की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें चमत्कार या आनन्द मिलता है। इसे आत्म परामर्श या पूर्णता परामर्श कहते हैं।'

एक अन्य गुण जो सहृदय में होता है, वह प्रतिभानशालिहृदय अर्थात् सहृदय के साथ कलात्मकता कल्पना के साक्षात्कार करने हेतु प्रतिभा भी आवश्यक है।

प्रतिभा के द्वारा प्रमाता सहृदय अर्थ का सृजन करता है अर्थात् वर्णनीय को समझता हुआ उससे तादात्म्य स्थापित कर रसानुभूतिमय विश्रान्ति को प्राप्त करता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शैवाद्वैत दर्शन में प्रमाता पहले अर्थ का सृजन करता है। उसमें अनुरत होता हुआ विश्रान्ति रूप स्थिति प्राप्त करता है। फिर यह विषय मुझे ज्ञात हो गया, इस सन्तोष का विमर्श करता हुआ उसका उपसंहार कर चिदग्नि प्रकाश को आत्मसात् करता है।[42] प्रतिभा सहृदय प्रमाता की आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके आश्रय से सहृदय व्यक्ति सर्वोच्च प्रकाश में स्थित हो जाता है। तन्त्रालोक में कहा भी गया है कि—

प्रतिभा व्यक्ति को वैयक्तिकता के धरातल से उठकर सद्विद्या की दशा तक पहुँचा देती है। इस दशा में वह शक्ति तत्त्व के रूप में जाना जाता है; यदि मनुष्य सद्विद्या के धरातल से नीचे नहीं उतरता तो वह परमशिव हो जाता है।[43]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रतिभा के कारण सहृदय में सहृदयता का भाव जागृत होता है। *परात्रिंशिका* में अभिनवगुप्त ने रूढ़ि शक्ति से 'सहृदयता' का अर्थ किया है—'शुक्रक्षोभात्मा हि सहृदयता'[44] अर्थात् शुक्र-क्षोभ अर्थात् काम अर्थात् आनन्द या सौन्दर्य। यह क्षोभ शुक्र की सक्रिय स्थिति है, जिसको अभिनव 'सस्पन्द' कहते हैं। यह सक्रिय होती हुई भी संयत होती है। शुक्र की यह 'संयत सक्रियता' वस्तुतः रचनात्मक स्थिति है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* के अनुसार सहृदयता अभिनव—आनन्दमय चित् का परामर्श है। यह परामर्श (विमर्श हृदय) चित्तवृत्ति की भूमि पर होता है, उस समय वेद्य विश्रान्त (फलतः व्यवस्थित) प्रकाश भाग गौण होता है।[45] अतः सहृदयता पूर्ण स्वात्मविश्रान्ति रूप हृदय की बोधात्मक अवस्था है। उपर्युक्त विश्लेषण से सहृदय की सारतः निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

1. एक विशेष काव्यग्राही क्षमता/प्रतिभा से काव्योपम भावों का भण्डार
2. शुद्ध भाव-भूमि में आत्म-परामर्श की सामर्थ्य
3. प्रतिभा की विमलता, जिससे वह विभावादि का मानस साक्षात्कार कर लेता है।
4. काव्य के निरंतर अनुशीलन का अत्यन्त अभ्यास
5. साधारणीकृत विभावादि (वर्णनीय) में तन्मयीभाव की योग्यता
6. कवि हृदय से तादात्म्य-स्थापना की शक्ति।

इस प्रकार रसास्वादन का अधिकारी लौकिक साधारण पुरुषों से विलक्षण होता है। काव्य के निरन्तर परिशीलन से जिनमें कवि वर्णित भावों में तन्मयीभवन की योग्यता आ चुकी है, वे ही सहृदय कहलाते हैं और वे भी रसास्वादन के अधिकारी हैं। तन्मयीभाव हृदय का धर्म है न कि बुद्धि का। इसलिए बुद्धि की प्रधानता वाले ब्रह्मज्ञान को रसास्वादन से भिन्न ही बतलाया है। हृदय प्राधान्य के कारण ही रसास्वादन के अधिकारी सामाजिक को अन्य पुरुषों से विलक्षण 'सहृदय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

रसानुभव की परिणति मनुष्य के आत्मानुसन्धान अर्थात् मुक्ति में है। अर्थात् रसानुभूति साधना-पद्धति के समान अज्ञानावरण से मुक्त अहमात्मक बोध है, जिसमें सम्पूर्ण विघ्नों का नाश एवं आनन्दानुभूति ही होती है। रसानुभूति संविद्विश्रान्ति की अवस्था है, जो श्रम, कर्म, देश, काल व्यतिरिक्त है। जो शिव और शक्ति की सामरस्यावस्था है। यह रस प्रतीति निर्विकल्पक है। यहाँ सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाता है, जहाँ काल, देश, रूप, आकार आदि का ज्ञान नहीं होता।

भरत सूत्रस्थ संयोग पद का व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद का अभिव्यक्ति अर्थ है। आस्वादन द्वारा रसरूपता को प्राप्त होनेवाला रतित्वरूप साधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ते उपस्थापित सकल हृदय संवाद सिद्ध रत्यादि व्यंग्य हैं और साधारणीकृत ...एव देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध रहित विभावादि व्यंजक हैं।

उपर्युक्त व्याख्या पूर्णतः प्रत्यभिज्ञमतानुसारिणी परिलक्षित होती है, अर्थात् जिस ...कार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा (जीव) यद्यपि आनन्दरूप है, इसलिए महेश्वर ...अभिन्न है तथापि उसका वह स्वरूप माया के कारण अज्ञान से तिरोहित रहता है ...र विद्या के द्वारा उसके उस महेश्वर स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। *ईश्वर ...त्यभिज्ञाविमर्शिनी* में कहा गया भी गया है कि–

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥
मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदकः ॥[46]

अभिनवगुप्त पादाचार्य के रस सिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनके मत में ...हृदयों के हृदय में संस्कार रूप में स्थायिभाव विद्यमान है, किन्तु वे अनुद्बुद्ध एवं ...व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित हैं। देशकाल व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित अतएव ...साधारणीकृत विभावों की चर्वणा सहृदयों के द्वारा होती है, न कि देशकाल व्यक्तिविशेष ...सम्बन्ध युक्तों की। अतः साधारणीकृत विभावादि से जब अभिव्यक्ति होती है, तब ...उसने वास्तविक स्वरूप अर्थात् देशकाल व्यक्ति-विशेष सम्बन्ध रहित साधारणीकृत ...रूप में ही होती है। इसी अभिप्राय से इसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में जो भूमिका आणवोपायादि की है, वही अभिनव ...सम्मत रसानुभूति में विभावादि उपायों की है। आणवोपायादि से व्यक्ति प्रमाता समस्त ...कंचुकों से अकंचुकित होकर अज्ञानावरण को हटाता है। उसका संकुचित हृदय विस्तृत ...हो जाता है। वह व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होकर सामान्य हो जाता है। उसका ...हृदय व्यापक हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि उपायों से भी नियुक्त कंचुक विगलित ...हो जाते हैं और सहृदय प्रमाता देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। ...सभी का साधारणीकरण हो जाता है। स्वत्व विस्मृति स्वत्व विस्तार है यही साधारणीकरण ...है। साधारणीकरण की अवस्था में सभी सहृदयों को वस्तु की एक जैसी प्रतीति होती ...है। अर्थात् वस्तु की प्रतीति साधारणीकृत रूप में होती है। अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त ...को *तन्त्रालोक* में और स्पष्ट करते हैं–

तथाह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागस्वेन मन्यते ॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम ॥[47]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् नाटकों और रूपकों के दर्शक अभिनेयता के चरम उत्कर्ष के समय ऐसी एकाग्रता की अनुभूति से भर जाते हैं कि उन्हें स्व-पर भेदवादिता की विस्मृति हो जाती है। उनके चिति के आवरण भग्न हो जाते हैं। अभिनेताओं से जैसे सामाजिकों का तादात्म्य-सा हो जाता है। परिणामतः सारा सामाजिक वर्ग उस समय सम्पन्न हो रहे नृत्त और गीतों के स्वास्थ्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि रस सुधा के सारभूत द्रव से सराबोर सागर सानन्द लहराने लगता है।[48]

प्रेक्षागृह रस समुद्र बन जाता है। सामाजिक वर्ग रसिकता के चरमोत्कर्ष में खो-सा जाता है। वहाँ सम्पन्न अभिनय नृत्त और गीत जो बहुवेद्य थे, उनमें एक अतिशय्य का उद्रेक हो जाता है। उस आनन्द बोध को दर्शक स्वात्मानुभवैकगोचर चरम-चमत्कार-सार रूप से परामर्श करने लगता है। एक-एक प्रेक्षक से संवेद्य नृत्त, गीत और अभिनयादि में एक सर्वसंचेत्य चमत्कारातिशय का ही उल्लास हो जाता है। रसानुभुव के उन क्षणों में प्रमातृभेद नहीं रहता वरन् प्रमात्रैक्य घटित हो जाता है।[49] इस प्रकार एक सभी सहृदयों को एक जैसी प्रतीति होती है। सभी एकीभाव हो जाते हैं, यह सर्व प्रमातृतादात्म्यदशा है।[50]

जब सब लोगों को एक साथ एक ही रूप में नाट्य आदि में देखे गए विभावादि का बोध होता है तब वे किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं रह जाते। उनका बोध एक रूप होता है, क्योंकि उनके देखने से एक ही सर्वात्मक चैतन्य सबके भीतर प्रतिम्बिब होता है। इस प्रकार उस सर्वात्मक चैतन्य में जो तन्मयीभाव है, वह सबका होता है और उससे होनेवाला आनन्द भी किसी एक का न होकर सबका होता है। परिणामतः वह आनन्दनिर्भर चैतन्य प्रत्येक प्रमाता के भीतर एक को प्राप्त होकर नृत्त आदि के विषय में पूर्णानन्द के रूप में प्रकट होता है।[51]

इस प्रकार साधारणीकरण देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध का परिहार है। अभिनवभारती में भी यही स्पष्ट किया गया है। ये विभावादि मेरे ही हैं, शत्रु के ही हैं, तटस्थ व्यक्ति के ही हैं, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार नियम तथा ये मेरे ही नहीं हैं, ये शत्रु के नही हैं, ये तटस्थ के नहीं है, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के परिहार के नियम की निवृत्ति ही साधारणीकरण है।[52]

उपर्युक्त साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता अपितु स्थायी भाव का भी होता है, ये स्थायीभाव सहृदय चित्त में वासना रूप में स्थित उसका अपना भाव होता है। यह साधारणीकरण एक सामूहिक व्यापार है, जिसका आधार आत्म चैतन्य की अद्वैतता है। इसकी सार्थकता यही है कि उसके माध्यम से सामाजिक के परिमित प्रमातृ भाव का विगलन हो जाता है और तब रसरूप शिव तत्त्व से वह अपनी अभेदप्रायता का अनुभव कर सकता है। यही शिव शक्ति का मिलन है। इसे ही स्वात्मबोध या आत्मप्रत्यभिज्ञा कहते है, जिसमें सहृदय का परिमित प्रमातृभाव से मुक्त अपनी मूलभूत विराटता का बोध होता है। अभिनवगुप्त रसानुभूति की दशा में इतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसविघ्न-विनिर्मुक्ति कहते हैं। इसीलिए *अभिनव भारती* में रसविघ्न एवं उनके निराकरण की चर्चा करते हैं। ये (रसविघ्न) सहृदय को लौकिक भाव भूमि की चेतना में बाँधे रखते हैं तथा कला माध्यम तथा कलावस्तु को स्वपर तटस्थ सम्बन्धों से कुंठित रखते हैं। इनकी संख्या सात है।[53]

1. सम्भावना विरह

जिस विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को सन्निविष्ट नहीं कर सकता, वहाँ विश्रान्ति की सम्भावना नहीं हो सकती इसलिए सम्भावना-विरह रसानुभूतिमय विश्रान्ति में प्रथम विघ्न हैं।

इसके निराकरण हेतु वस्तु की लोकसाधारणता आवश्यकता है, जिससे उसमें आस्वादयिता का हृदय संवाद हो सके। समुद्रलंघन आदि अलौकिक व्यापारों का सम्बन्ध ऐसे इतिहास प्रसिद्ध लोकोत्तर सामर्थ्ययुक्त पुरुषों से माना जाता है, जिनमें ऐसे कार्य करने की प्रसिद्धि और सामर्थ्य की भावना हमारे हृदय में चिरकालिक संस्कार के रूप में विद्यमान है। इसीलिए नाटकादि में इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु एवं प्रख्यात नायक को आधार बनाया जाता है।[54] यह सम्भावना विरह दोष का परिहार है।

2. स्वगतपरगत्वनियमेन देशकालविशेषावेश

सामाजिक के निजी सुख-दुःख के आस्वादन करने पर चित्त की विश्रान्ति असम्भव है क्योंकि आत्मगत सुखानुभव में वह सुख के नाश के भय से उसकी रक्षा की व्यग्रता से तथा तत्समान सुखार्जन की इच्छा से तो दुःख की स्थिति में वह उसे छोड़ने, उसको प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से चित्त को विश्रान्त नहीं कर पाता।[55] अतः सामाजिक हृदय में उत्पन्न विभिन्न भावात्मक दशाएँ रसानुभति में विघ्न पैदा करती हैं।

इसी प्रकार परगत सुख-दुःख के आस्वादन में भी स्वभावतः सुख-दुःख आदि अन्य ज्ञानों के उदय से चित्त की विश्रान्ति नहीं होगी।[56]

इन दोषों के परिहार हेतु अभिनवगुप्त पादाचार्य ने विभावादि के साधारणीकरण की व्यवस्था रखी है। इसके द्वारा सामाजिक देशकालविशेष सम्बन्ध एवं व्यक्तिविशेष सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है।[57]

3. निजसुखादिविवशीभाव

अपने सुखादि में निमग्नता भी रसप्रतीति में विघ्न है। निजसुखादि में डूबा हुआ सहृदय काव्यार्थ रत्यादि में तन्मय नहीं हो सकता, जो कि रसास्वादन के लिए आवश्यक है।

इसके निराकरण हेतु नाट्य में नृत्य, गीत, वाद्य, मण्डपसज्जा, विदग्ध गणिकाओं के नृत्य तथा विभिन्न प्रकार के अभिनय की व्यवस्था की गई है। इसके द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है और उनमें सकलजन योग्यता आ जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसास्वादन के लिए हृदय संवाद रूप सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इन नृत्यादि के विधान से अहृदय मनुष्य का भी चित्त निर्मल हो जाता है और उसमें सहृदयता आ जाती है।[58]

4. प्रतीत्युपाय विकलता

प्रतीति अर्थात् रसप्रतीति के उपाय की विकलता भी रसानुभूति में विघ्न है, क्योंकि यदि प्रतीति के साधन विभावादि उपाय नहीं होंगे तो प्रतीति कैसे होगी।[59]

5. स्फुत्वाभाव

अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द एक अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। अर्थात् विभावादि से अतिरिक्त शब्द तथा अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा रत्यादि प्रतीति मानी भी जाए तो वह अस्फुट होगी। यह प्रत्यक्ष के समान स्फुट प्रतीति नहीं होगी। अतः रसास्वादन के लिए रत्यादि की प्रत्यक्ष रूप स्फुट प्रतीति अपेक्षित है। साक्षात् प्रतीति होने पर उसमें अनुमानादि के द्वारा अन्यथाभावज्ञान की सम्भावना नहीं होती।

उपर्युक्त विघ्नों के अपसरण हेतु नाट्य में लोकधर्मी वृत्ति तथा प्रवृत्तियों युक्त अभिनयों का विधान किया गया है, क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष व्यापार है।[60]

6. अप्रधानता

आस्वाद्यमान वस्तु की अप्रधानता भी रसविघ्न है। उसके अप्रधान होने से चित्त की विश्रान्ति असम्भव है। इसी कारण रसानुभूति में अप्रधानता भी विघ्न है। रसानुभूति में यह अप्रधानता अचेतन विभाव, अनुमान एवं व्यभिचारि भावों के कारण होती है। इसलिए रसानुभूति में स्थायीभाव की प्रधानता ही आवश्यक होती है। अतः जिन वस्तुओं में अप्रधानता है, उनकी चर्वणा रस नहीं कहलाती है, अतः विभावादि की अपेक्षा प्रधान स्थायिभाव का ही प्रधान रूप से वर्णन आवश्यक है। विभावादि का नहीं।[61]

7. संशययोग

स्थायिभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का पृथक्-पृथक् रहने पर प्रयोग का कोई नियम नहीं है, क्योंकि करुण रस के अनुभव अश्रुपात आदि हैं, किन्तु अश्रु अक्षिरोग के कारण भी निकलते हैं। इसी कारण व्याघ्र आदि रौद्र रस के स्थायीभाव क्रोध भयानक के भय के भी हेतु देखे जाते हैं। यहाँ व्याघ्रादि से रौद्र एवं भयानक रस की उत्पत्ति में संशय हो सकता है। श्रम चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव उत्साह तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि स्थायिभावों के साथ भी देखे जाते हैं। जिससे रसोत्पत्ति में संशय की पूरी ...वना रहती है।

इसलिए संशय नामक विघ्न के निराकण के लिए भरतमुनि द्वारा संयोग शब्द ...योग किया गया है, क्योंकि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव आदि पृथक्-पृथक् ...कारक हो सकते हैं, किन्तु उनका एक साथ संयोजन सन्देहात्मक नहीं हो ...ता। उदाहरणस्वरूप बन्धु विनाश की स्थिति में विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा ...दैन्य आदि के व्यभिचारी भाव रूप में रहने पर निश्चिततः इनके परस्पर संयोग ...क ही होगा, क्रोध या भय नहीं।[62]

उपर्युक्त सात विघ्न जो सहृदय की चेतना को बाँधे रखते हैं, उसको देशकाल ...दि में परिसीमित रखते हैं, अभिनवगुप्त के साधारणीकरण के अन्तर्गत समाप्त हो ...ते हैं। सहृदय पूर्णतः शुद्ध हो जाता है, अर्थात् उसकी 'संवित' (चेतना) विश्रान्त हो ...ती है। सभी विषय सामग्री चमत्कार एवं निर्विशेषता से परिपूर्ण हो जाती है और ...स्थायी की ही चर्व्यमणता रहती है। सहृदय की चेतना देश, काल एवं व्यक्ति की ...ता से मुक्त हो जाती है। इन सभी कारणों से रसानुभूति को 'वीतविघ्न' प्रतीति ...कहा जाता है। यहाँ सहृदय-हृदय का भी भेद समाप्त हो जाता है।

अभिनवभारती में वीतविघ्नप्रतीति में होनेवाली विश्रान्ति को चमत्कारपूर्ण बताया ...है। *त्रिक दर्शन* के अनुसार सहृदय के हृदय में जो संस्कार रूप में अनादिवासना ...है, वही वासना रूप स्थायीभाव संविद्विश्रान्ति दशा में रस रूप में अभिव्यक्त हो ...ता है। यह संविद्विश्रान्ति 'आनन्द' का मूल है।

जिस प्रकार शिव एवं शक्ति की अद्वैतावस्था चित् एवं आनन्द रूप है, शुद्ध ...है तथा देश काल की बाधा से 'स्वतन्त्र' है, उसी प्रकार रसानुभव में सहृदय की ...द्विश्रान्ति की दशा होती है, जहाँ देशकालविमुक्त स्वतन्त्रता का चमत्कार है।

अभिनवगुप्त के अनुसार परमशिवतत्त्व का विश्वात्मक रूप प्रकाश विमर्शमय है। ...रूप शिवशक्तिमय है; चिन्मयावस्था है, सामरस्य है। प्रकाश चित् तथा विमर्श ...आनन्द है। जिस प्रकार शक्ति शिव का पक्ष है, उसी प्रकार आनन्द भी चित् का एक ...है। प्रकाश रूप चित् शक्ति का विमर्श स्वतन्त्र है। अतः विमर्श आनन्द शक्ति है। ...र्श रूप शिवतत्त्व में विश्रान्ति ही आनन्द है। यह पूर्ण है। रसानुभव की प्रतीति को ...लिए आनन्द रूप तथा पूर्ण माना गया है, क्योंकि परमशिव का चित्शक्तिमय जीव ...हृदय भी यही है। इसके भी परमशिव की तरह दो रूप विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक ...हैं, जिसमें कवि का स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है। उसमें हृदय की स्थिति काव्य सृष्टि की ...ना करती है, जबकि दूसरी ओर सहृदय में हृदय की स्थिति उसी कवि हृदय से ...त्म्य स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहती है। हृदय तत्त्व की स्थिति दोनों में ...न है। अन्तर केवल इतना है कि सहृदय में हृदय की स्थिति संकुचित होती है, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभावादि उपायों के माध्यम से विस्तृत होकर कवि हृदय रूप परमानन्द का स्वरूप धारण कर लेती है।

सन्दर्भ

1. कामसूत्र, 1.4.1।
2. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय।
3. काव्यादर्श, 1.89।
4. अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 232।
5. अभिनवभारती, पृ. 467।
6. ध्वन्यालोक, 1.1।
7. अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय।
8. काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय।
9. काव्यप्रकाश, 3.21-22।
10. साहित्यदर्पण, 3.10।
11. अथर्ववेद, 3.3.1।
12. तैन ब्रूमः सहृदय मनः प्रीतयेतत्स्वरूपं। ध्वन्यालोक, 1.1।
13. सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
    सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ ई.प्र.वि.।
14. विमलकलाश्रयाभिवसृष्टि महाजननी
    भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः
    तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
    हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम सस्फुरतात् ॥ तन्त्रालोक 1.1।
15. हृदयं शक्तिशूत्रं - तन्त्रालोक, प्रथम आह्निक॥
16. अनुत्तरामृतकुल - तन्त्रालोक, 4, आह्निक, पृ. 152।
17. हृदयं बोधपर्याय - तन्त्रालोक, 4 आह्निक, पृ. 152।
18. सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारे जडं जगत्।
    तदधीनप्रतिष्ठात्वात्परं हृदयं महत् ॥ तन्त्रालोक 4, पृ. 154।
19. संविन्निष्ठाहि विषय व्यवस्थितियः ॥ वही, पृ. 154।
20. यदुन्मीलनशक्तयैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
    स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभा पराम् ॥ ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत।
21. या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः सानुत्तरमयी स्थितिः।
    इत्येतद्हृदयाधेकस्वभावेऽपि स्वधामनि ॥ तन्त्रालोक, भाग 1, 5.52 पृ. 252।
22. अनेका शक्तिरेकस्य युगपच्छ्रूयते क्वचित्।
    अग्निः प्रकाशदाहाभ्यामेकत्रापि नियुज्यते ॥ वाक्यपदीय (वाक्यकाण्ड), 2.477।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

23. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ (ई.प्र.वि.)।

24. ई.प्र.वि. - 1.5.13 पृ. 101।

25. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु। - प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 2।

26. चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमयः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

27. यत्र सर्वे लयं दह्यन्ते तत्त्वसञ्चयाः।
तो चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम्॥ तन्त्रालोक 19.182, भाग 7, पृ. 96।

28. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजड़ोपमः। 7 ई. प्र. वि. 1.5.11।

29. सन्दकारिका 22।

30. चैतन्य आत्मा आनन्दमय : 1 शिवसूत्र।

31. एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलय विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। - अभिनवभारती, अध्याय षष्ठ, पृ. 257।

32. क. चमतः भुञ्जानस्य यत्करणं संरम्भयः संकेतप्रदर्शनं स चमत्कारः। ई. प्र. वि.
ख. स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानतारूपं चमत्वं, तदेव करोति संरम्भे विमृशनि न अन्यत्र अनुधावति। चर्मादति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमय-शब्दानाव्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्यन्तरोदय - नियमात्मकविघ्नरहित एव आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र। ई.प्र.वि. वि. 2, क्रियाधिकार, वि.4।

33. भोगस्य सुखदुःखाद्याभाससाधारण्यमनुश्वाना। तन्त्रालोक आह्निक तृतीय, पृ. 478।

34. सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नता विना च कस्यचिदपि स्वस्वरूपानुपत्तेः संविदेव भगवती मध्यम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 17 की टीका।

35. शैवाद्वैत दर्शन में आनन्द को छह आनन्द भूमियो में व्याख्यात किया गया है-
1. निजानन्द 2. निरानन्द 3. परानन्द 4. ब्रह्मानन्द 5. महानन्द 6. चिदानन्द।

1. निजानन्द - निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरास्थितिः। (तन्त्रालोक 5.44) भाग 2, पृ.247 निजानन्द में अनुभूति प्रमात्रंश मात्र में ही स्थित रहती है। अर्थात् स्वात्म प्रमाता ही साक्षात् उल्लसित रहता है।

2. निरानन्द - शून्यतामतत्रविन्तेर्निरानन्द विभावयेत् (वही) - प्रमातृगत निजानन्द से निष्कान्त होने के कारण निरानन्द की अनुभूति होती है। यह अनुभूति बाहर की ओर प्राण की उन्मुखता में ही होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. परानन्द - परानन्दगततिष्ठेदपानशशिशोभिः। (वही 5.45)
परानन्द विष्ठ अवस्था में साधक सूक्ष्म प्रमेयों के उदय की अवस्था में अवस्थित हो जाता है। प्रमाण की अपेक्षा प्रमेय अनन्त होते हैं, उनके भोग रूप ग्रहण के उपरान्त उनके प्रति आकांक्षा समाप्त हो जाती है।
4. ब्रह्मानन्द - चौथा आनन्द ब्रह्मानन्द है। इस स्थिति में अनन्त-अनन्त प्रतिभा समान प्रमेयों का आपसी मिलाप स्वाभाविक रूप से होने लगता है। यह समग्र मेय की स्वीकृति समान भूमि है। वहाँ आनन्द का उपवृंहण होता है। इसीलिए इसे ब्रह्मानन्द कहते हैं।
ततोऽनन्तस्फरन्मेयसं घट्टैकान्तनिर्वतः।
समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ॥ (वही 5.46, 47)।
5. महानन्द - ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावएत। (वही, 5.47-48)
अर्थात् यह उदान वायु के स्तर का आनन्द है। यह पूर्णतः प्रमातृ सम्मत आनन्द है। योगी महानाद में विश्रान्ति हो जाने पर उदान अग्नि की शाश्वत शिखा में एकास रूप में दीप्तिमन्त हो जाता है। (तत्र विश्रान्तिमम्एत्य शाख्यत्यस्मिन्महार्चिषि) वही 5. 48।
6. चिदानन्द - निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता।
तदखलु चिदानन्दो यो जडानुपवृंहितः ॥ वही 5.49
चिदानन्द सर्वोत्कृष्ट आनन्द होता है। यह ध्यान रूपी उच्चार भूमि का आनन्द है। महानन्द में विश्रान्ति के बाद एक अनिवर्चनीय शान्ति उल्लसित होती है। वह निरुपाधि होती है। कला से क्षिति पर्यन्त इसकी महाव्याप्ति होती है। व्यापकता के कारण इसे व्यान दशा भी कहा जाता है। यह चिद्रूप आनन्दस्वरूप है। इसलिए इसे चिदानन्द भी कहते हैं। इसमें अचित् जड़ों के लिए कोई जगह नहीं होती है, इसमें प्रमाता परमशिवमय हो जाता है।

36. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। अभिनवभारती, पृ. 470।
37. एषाम् काव्यानुशीलनाख्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 40।
38. तन्त्रालोक (विवेक टीका) 1.7.8।।
39. जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः।
चैतन्एन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥ अभिनवगुप्त, पृ. 71।
40. प्रेम स्वरूप, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 201-202।
41. ग्रहणसमये भावस्थ मायया भावत्वेन भासितं निज सहज शुद्धप्रकाशाम्यं स्वरूपमेव प्रभातारं प्रति स्फुटी भवति यतः, तदा प्रमाता, तद्वस्तु प्रति दिदृक्षा समये व्यापकी भवति ...व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयोभावासादनं च वस्तुनः शुद्धप्रकाशस्वरूपत्वासादानमेव प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्ररूपत्वात्। वही पृ. 230।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

42. प्रमाता हि प्रथममवभास्यमानतया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरम्यन् परिस्थापयति, पश्चात् ज्ञाताऽयं मयार्थं इति सन्तोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्नुपसंहरति अनन्तरं चिदग्निसद्भावमादयति। तन्त्रालोक, 5.28 की वृत्ति भाग 2, पृ. 240।
43. स एव प्रतिभायुक्तः शक्तितत्वं निगद्यते।
तत्पातावेशतो मुक्तः शिव एव भवार्णवात् ॥ तन्त्रालोक 13.118।
44. उद्धृत, साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त, पृ. 262।
45. हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तास्यानादरणात् सहृदयत उच्यते। ई.प्र.वि.वि. भाग 2, पृ. 177-179।
46. ई.प्र.वि. 3.2.2, 3।।
47. तन्त्रालोक, चतुर्थ भाग 10.85, 86।
48. तन्त्रालोक, 10.85 की विवेक टीका।
49. वही, भाग- 4, पृ. 75।
50. वही, 10.86 की वृत्ति भाग-4, पृ. - 76।
51. तन्त्रालोक 27.373।
52. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।
53. विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तौ अयोग्यता सम्भावना विरहो नाम, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश, निजसुखदिविवशीभव प्रतीत्युपायवैकल्यम्, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता संशययोगश्च। अभिनवभारती, पृ. 280।
54. तथा हि संवेद्यसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्ति इति प्रथमोविघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तु विषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेषु अखण्डितप्रसिद्धिजनित गाढ़ारूढ़ प्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातारामदिनाममधेयपरिग्रह। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश व्युत्पत्ति प्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु विषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते। वही पृ. 280।
55. स्वैकतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भव तदपगमभीरूतया वा तत्परिरक्षाव्याग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया व प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमोविघ्नः। वही, पृ. 259।
56. परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोरद्गमन सम्भवादवष्यंभावीघ्निः। वही, पृ.259।
57. तदपाकरणे कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्रपूर्वरङ्गविधिं प्रति इत्यादिना पूर्वरङ्गानिगूहेन नटी विदूषको वाऽपि इति लक्षिततप्रस्तवनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः अलौकिकभावादि भेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्ड लगतकक्ष्यादिपरग्रिहनाट्यधर्मिसहितः ...स एष सर्वो मुनिना साधरणीभषसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रितः। ततः स एष परिनियतताविघ्नाप सरणप्रकारो व्याख्यातः वही, पृ. 259-260।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

58. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथनं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामएदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दविषयमयैरातोद्यगान विचित्रमण्डपदविदग्धगणिकादिभिरूपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्य प्राप्त्या सहृदयीक्रियते। अभिनवभारती, पृ. 28।
59. किञ्च प्रतीत्युपायनाभावे कथं प्रतीतिभावः। अभिनवभारती, पृ. 28।
60. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीति विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूप प्रत्यक्षोचित प्रत्ययसाकांक्षात्वात्। यथाहुः सर्वाचेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरां (न्यायसूत्र भाष्य 1-3) इति। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरपि अनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलात् चक्रोदै साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधीरणात् इति लौकिकस्तारबरयं क्रमः तस्मात्। तदुभयविघ्नविघाते अभिनया लोकधर्मी वृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समाभिषिच्यन्ते। अभियनयनं हि शब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापार कल्पमिति निश्चेष्यामः॥ अभिनवभारती, पृ. 281।
61. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरे प्रत्युधावतः स्वात्मन्त्रविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधान्त्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचए च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्मुखसेप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिस्क्तः स्थाय्येन तथा चर्वणापात्रम्। अभिनवभारती, पृ. 262।
62. तत्रानुभवानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् स्थायिनि नियमो भान्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात, व्याघ्रदेश्च क्रोधभयादि हेतुत्वात् श्रमचिन्तादेरुस्त्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एव संशयोदये शङ्कात्मकविज्ञशमनाय संयोग उपान्तः। सामग्री तु न व्यभिचारिणी तथा हि - बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेवताश्रुपदिस्त्वनुभवः चिन्तादैन्यादि व्याभिचारी सोऽवश्यं शाक एवेति। अभिनवभारती, पृ. 265।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकीय प्रतिक्रिया

पाठकीय मन्तव्य पत्रिका का प्राण है। चिन्तन-सृजन का जुलाई सितम्बर अंक का पाठकीय इसका प्रमाण है। यहाँ संपादक महोदय ने आज के लेखन के गुण-दोष का विवेचन किया है, क्योंकि प्रस्तुत अंक हिन्दी आलोचना से संबद्ध है। संपादक महोदय ने आज की अधिकांश कृतियों की निम्न-स्तरीयता पर आन्तरिक क्षोभ व्यक्तत किया है जिसके कारण साहित्य के नाम पर कूड़ा-करकट प्रकाशित हो रहा है। इससे छपास की लालसा तो पूर्ण होती है अवश्य, पर साहित्य अखाद्य वस्तुओं से भर जाता है। प्रकाशक रचना की स्तरीयता के आधार पर प्रकाशन नहीं करता, बल्कि रचनाकार से पैसे लेकर खाद-गोबर प्रकाशित कर प्रकाशक की पंक्ति में परिगणित होने की अपनी लालसा पूर्ण करता है।

प्रभाकर श्रोत्रीय का निबन्ध ''महाभारतः रचनाओं का स्रोत'' कथ्य के अनुरूप संपादित है अवश्य किन्तु असम के श्रीमंत शंकरदेव, महापुरुष माधव देव तथा किसी असमिया साहित्यकार का उल्लेख न करना निबन्ध की पूर्णता में बाधक है।

प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीताशुं' द्वारा विवेचित ''हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष'' संज्ञक निबन्ध प्रतिपादन-क्षमता के कारण पूर्णतः सशक्त तथा महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भावात्मक-अभावात्मक, धनात्मक-ॠणात्मक विन्दुओं पर सप्रमाण विचार किया गया है और पाठकों को साहित्य-विवेचन के साथ पूर्णतः ईमानदार बनने की आवश्यकता पर सकारात्मक रूप से बल दिया गया है। प्रस्तुत आलेख सच्चे गुरु-धर्म को मानकर, इसे ध्यान में रखकर अध्यापकीय तथा आचार्य शैली में लिखा गया है, जिससे तथ्य साफ-साफ झलक जाता है। भाषा की सरलता, सुबोधता तथा कथन भंगिमा और विवेचन की सारगर्भिता इसकी अन्यतम विशेषता है। सच तो यह है कि रचनाकार की रचना तथा आलोचक में स्तरीयता का अभाव, तलस्पर्शिता का अभाव, पल्लवग्राहिकता का बाहुल्य, हरण प्रवृत्ति की आधिकता, पाठक में धैर्य का अभाव तथा मण्डूकप्लुत न्याय से अध्ययन ने आलोचना-कर्म का अपकार किया है।

जिस प्रकार श्रव्य-भाषा से काव्य की सम्यक व्याख्या होती है, उसी प्रकार आलोच्य भाषा से आलोचना अध्यापकीय होती है। आलोचक को परम्परा तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोगधर्मिता की भाषा का परित्याग कर शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कभी किसी विद्वान ने criticals जेनकल का गलत अनुवाद किया - एक अध्ययन। इसी वजन पर बाद के लेखकों ने अंधाधुंध एक विश्लेषण, एक व्याख्या, एक विवेचन, एक प्रतिपादन, इत्यादि जैसे वाक्य खण्डों का प्रयोग करना आरंभ का दिया। अंग्रेजी की वाक्य रचना के लिए ।ए ।छए जीम आर्टिकिल्स का प्रयोग अनिवार्य है, पर हिन्दी की वाक्य-रचना में 'एक' विशेषण का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि एकत्व/बहुत्व विवक्षा के लिए हिन्दी में वचन तथा क्रिया हैं। अतः आलोचकों को अनावश्यक रूप से 'एक' शब्द के प्रयोग से बचना चाहिए। इसी तथ्य को उजागार करने के लिए डॉ. सरयू प्रसाद मिश्र, रमेश दवे, नरेन्द्र कोहली ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। डॉ. मिश्र ने आलोचना के दुर्वल पक्ष को आरेखित करने के स्थान पर आलोचक की कमियों को उकेरा है। यों, सबके आलेख पठनीय एवं मननीय हैं।

डॉ. कमल किशोर गोयनका प्रेमचन्द के बहुपठित तथा अधिकारी विद्वान हैं। उनकी समस्त स्थापनाएँ सबल एवं प्रमाण सम्मत हैं। उनके द्वारा विवेचित "प्रेमचन्द-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ" नामक आलेख अपने कथ्य-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द मूलतः आस्था से पुष्ट आदर्शवाद के कथाकार हैं, जिसकी नींव तो है यथार्थ, पर दृष्टि है-आदर्श। भारतीय चिन्तन आदर्शवाद, आनन्दवाद और आशावाद पर टिका हुआ है। प्रेमचन्द ही नहीं, भारत का हर चिन्तक/साहित्यकार इसी परिधि में आता है। प्रेमचन्द भी उक्त तीनों सीमाओं में आबद्ध थे। वे भारतीय संस्कृति के तथा राष्ट्रीयता के अमर गायक हैं। उनके समस्त चरित्र भारतीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सेवा सदन से लेकर गोदान तक और 'बड़े घर की बेटी' से लेकर कफन तक के कथानक भारतीय संस्कृति की गाथा को उजागर करते हैं। मजदूर वर्ग, दलित वर्ग, सर्वहारा वर्ग को अपने कथ्य का विषय बनाना या प्रगतिशील लेखक संघ की सभा की अध्यक्षता करना - प्रगतिशील, प्रगतिवादी या मार्क्सवादी होना नहीं है। यह मान्यता सतही सोच का अभिलक्षण है, क्योंकि विशिष्ट तथा सम्मानित व्यक्ति को प्रायः ही लोग किसी समारोह की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित करते हैं, इससे वह व्यक्ति उसके सिद्धान्तों को मानने वाला नहीं हो जाता। सच तो यह है कि प्रेमचन्द केवल राष्ट्रवादी भारतीय थे। उन्हें किसी वाद और खेमें से जोड़ना उनके प्रति तथा उनकी विचारधारा के प्रति अन्याय करना होगा। आज का सतही पल्लवग्राही पाठक-आलोचकभीड़ में हो-हल्ला मचानेवाला है। जव भीड़ के हल्ला बोल व्यक्ति से उनके तथ्य के सम्बन्ध में पूछा जाता है, तव वह निरुत्तर हो जाता है, क्योंकि वह उस विषय से बहुत दूर रहता है। कुछ लोग वोल रहे हैं, इसलिए वह भी बोल रहा है। वह प्रवृत्ति किसी विषयवस्तु को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ने में अत्यन्त गुमराह करती है और हम मूल तथ्य से दूर हो जाते हैं। मार्क्सवादी ...लोचकों को इसका प्रमाण माना जाएगा, जिन्होंने मूलचेतना से हमें दूर किया है।

डॉ. शंकर शरण द्वारा विवेचित "निराला का वास्तविक पाठ" संज्ञक निबन्ध ...राला के साहित्य की मूल चेतना को पूरी तरह से आरेखित करता है और वामपथियों ...ा दुष्प्रचारित मतवाद का खण्डन करता है। वामपंथियों ने निराला को वामपंथी बेड़ी ...जकड़ दिया है। उस बेड़ी से उनकी मुक्ति का सार्थक प्रयास प्रस्तुत निबन्ध करता ...तुलसीदास में निराला ने भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा का जबरदस्त गुणगान किया ...ऐसे भारतीय संस्कृति के अमर गायक को वामपंथी कुदृष्टि से देखना निराला की ...ना के प्रति घोर असह्य अपराध है। इसके साथ ही रमेश दवे, रमेशचन्द्र शाह, ...लाशचन्द्र पंत, अरुण होता के निबंध पठनीय तथा चिन्तनीय हैं।

- डॉ. धर्म देव तिवारी शास्त्री,पूर्व आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी; गुवाहाटी विश्वविद्यालय; संप्रति - ग्राम चकिया, डाकघर-पुर, जिला-बलिया।

पत्रिका अपने नाम के अनुरूप ही दिखती रही है। इस बार कैलाशचन्द्र पन्त, ...शिवनारायण, विजय कुमार तथादिनेश चौबे के आलेख देख कर प्रसन्नता हुई। ...आपका सम्पादकीय विचारपरक रहता है। इस बार भी था। इस बार लोक साहित्य पर ...भी महत्त्वपूर्ण आलेख हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में भी अच्छी सामग्री आपने दी है खासतौर पर कृष्णबिहारी ...मिश्र की पुस्तक पर रामचन्द्र प्रधान का विचार। यहाँ एक पाठक के रूप में मुझे यह ...बात कहनी उचित लग रही है कि लेखक अपने प्रयास में सफल है तथा पुस्तक की ...उपादेयता को असंदिग्ध बताते हुए भी समीक्षक के रूप में जो टिप्पणी प्रधान जी ने ...की हैं वह उस आलेख को कमजोर बना रहा है। अच्छी बात तो यह होती कि वह ...स्वतंत्र ढंग से इन तीनों विषयों पर विचारकरते। हिंदू संस्कृति पर टिप्पणी करने से पूर्व ...रामदास गौड़ हों या भगवान दास इन दोनों चिन्तकों के विचार धैर्य के साथ देखने की ...जरूरत है। यह मेरी विनम्र सोच है। मध्य युग में कबीर, विद्यापति, गोरखनाथ, तुलसी, ...सूर, आदि बेशक, बड़े आचार्य नहीं थे पर ये बाहर से नहीं आए थे उन्नीसवीं सदी के ...हिन्दी में विचारों का अकाल रहा है ऐसा ज्ञात नहीं था। इस पर विचार करने की ...जरूरत है।

पुस्तक के शब्द चयन को लेकर प्रधान जी की चिन्ता जायज नहीं लगती। कल ...ही हिंदी के चर्चित कवि ज्ञानेन्द्रपति से फोन पर बातचीत हो रही थी। देशज और ...संस्कृत के शब्दों के लिए कवि का समान आग्रह देखकर मुझे अच्छा लगा। कवि ने ...कहा कि 'तिरुपति में बन्द' के लिए वह 'तिरुपति दिक्बंधन' जैसे शब्द का प्रयोग कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं। हम हाय तौबा करने लगते हैं। निराला से लेकर अज्ञेय तक ने इस बात पर विचार किया है। शब्द संस्कृति से पाठक को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किसका है। किस साधारण जन को सामने रख कर लिखा जाय। भाषा के लिए पूजा तक का भाव रख जाय, यह ठीक है, पर लेखक को अपनी स्वायत्तता और जिम्मेदारी भी महसूस करनी चाहिए।

- शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, हिंदी विभाग, विश्वभारती, शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल-731235।

... चिन्तन-सृजन का जुलाई-सितम्बर अंक मिला। अभी डॉ. शंकर शरण और डॉ. अरुण होता की रचनाएँ पढ़ी है, जोकि अच्छी बन पड़ी हैं। ...

- डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, 26, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

ले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें:

स्कार, **संस्कृति और समाज,** कैलाश चन्द्र पंत; प्रकाशकः पहले पहल प्रकाशन, राणा प्रताप नगर, जोन-II, प्रेसकाम्प्लेक्स, भोपाल-462011; प्रथम संस्करणः 13; पृष्ठः 124; मूल्यः 50 रुपये।

डॉ. मधुकर गंगाधर की साहित्य-साधना, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशकः कुल प्रकाशन, रघुवंशी निकेतन, सानिध्य कात्यायनी शक्तिपीठ मंदिर, छतरपुर, नई दिल्ली-110074; प्रथम संस्करणः 2013; पृष्ठः 136; मूल्यः 200 रुपये।

पाठांतर, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशकः विजया बुक्स 1/10753 सुभाष र्ग, गली न. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करणः 2013; पृष्ठः 112; मूल्यः 225 रुपये।

पत्रिकाएँ :

JOURNAL OF REGIONAL STUDIES, Vol. 23, No. 46, December 2012; Chief Editor: Prof. Vijay Kumar; Published by Prof. Vijay Kumar, Director-Centre for Regional Studies, T.M. Bhagalpur University; Page 238.

The **GUJARAT,** an English Quarterly Magazine, Vol-3, Issue-4, October, 2013; Editor: Bhagyesh Jha, Published from 7/2 Dr. Jeevraj Mehta Bhawan, Gandhinagar (Gujarat); Page 48.

यथावत, 1-15 सितंबर 2013, संपादकः रामबहादुर राय; स्वामी, मुद्रक एवं प्रकाशकः रवीन्द्र किशोर सिन्हा द्वारा ई-1, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-110065; पृष्ठः 64; मूल्यः 20 रुपये।

चौराहा, प्रवेशांक; जुलाई-दिसम्बर, 2013; संपादकः अंजना वर्मा, कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-842003; पृष्ठः 80; मूल्यः 30 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदानीरा, साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी; विवेकानंद दर्शन और साहित्य विशेषांक, प्रवेशांकः वर्षः1 अंकः1, जुलाई-सितम्बर, 2013; संपादक तथा प्रकाशकः डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद द्वारा बी-3, त्रिभुवन विनायक रेसीडेंसी, (श्रीराम अपार्टमेंट के सामने), बुद्धा कॉलोनी, जी.पी.ओ., पटना-800001; पृष्ठः 160; मूल्यः 20 रुपये।

वैचारिकी, भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिकी, मार्च-अप्रैल 2013, भाग 29 - अंक 2; संपादकः डॉ. बाबूलाल शर्मा; प्रकाशकः भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, रतनबिहारीजी का मंदिर, रतनबिहारी पार्क, बीकानेर (राजस्थान); पृष्ठः 104; मूल्यः 50 रुपये।

अभिनव इमरोज़, मासिक पत्रिका, वर्ष-2, अंक-14, अक्टूबर 2013; संपादकः देवेन्द्र कुमार बहल; प्रकाशन-स्थलः बी-3, 3223 वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070; पृष्ठः 176; मूल्यः 20 रुपये।

अन्तरा, साहित्य और संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका; अंक-8, सितम्बर-नवम्बर 2013; संपादकः नरेन्द्र दीपक; प्रकाशक, मुद्रक, स्वत्वाधिकारीः नरेन्द्र दीपक, पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस काम्पलेक्स, भोपाल से छपवाकर, 4 पारिका फेस-2,चूना भूट्टी कोलार रोड, भोपाल-462016 से प्रकाशित; पृष्ठः 72; मूल्यः 75 रुपये।

वे अहेड, मासिक, दिसंबर 2013; संपादकः अंकित सिंह बिश्नोई; मालिक, मुद्रक व प्रकाशकः आरती बिश्नोई, एस. के. ऑफसेट प्रा. लि., स्पोर्टस काम्प्लैक्स, दिल्ली रोड़, मेरठ; कार्यालय 213 वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ कैन्ट, मेरठ; पृष्ठः 48; मूल्यः 25 रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Dialogue

Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi since July 1999

Special Numbers:

Vol. 3:3: Illegal Migration from Bangladesh
Vol. 3:4: Central Asia
Vol. 4:1: Fiscal Mis-management in North East India
Vol. 4:2 Maoist Insurgency in Nepal and India
Vol. 4:3 India: Security Dimensions
Vol. 4:4 Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
Vol. 5:1 South-East Asia
Vol. 5:2 Secularism: India in Labyrinth
Vol. 5:3 India's Neighbourhood
Vol. 5:4 Governance in the North-East
Vol. 6:1 Policing in India
Vol. 6:2 India and Central Asia
Vol. 6:3 Population Issues
Vol. 6:4 Naxalism
Vol. 7:1 Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Vol. 7:2 Media in India
Vol. 7:3 India's North East
Vol. 7:4 India: Political Culture, Governance & Growth
Vol. 8:1 Understanding India
Vol. 8:2 India's Internal Security
Vol. 8:3 India's Interface with East Asia
Vol. 8:4 Education in India
Vol. 9:1 India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Vol. 9:2 Caste, Community and Social Justice
Vol. 9:3 India's Encounter with the West
Vol. 9:4 India: Security Scene
Vol. 10:1 Kashmir
Vol. 10:2 Bangladesh
Vol. 10:3 India's North-East
Vol. 10:4 Himalayan Region
Vol. 11:1 India's Neighbourhood
Vol. 11:2 Terrorism/Insurgencies in India: Perception & Reality
Vol. 11:3 India: Women Related Issues
Vol. 11:4 China
Vol. 12:1 Media in India
Vol. 12:2 Gandhi & Hind Swaraj
Vol. 12:3 North-East India
Vol. 12:4 Education in India
Vol. 13:1 India and Asia: Cultural Continuum
Vol. 13:2 Bureaucracy and Governance in India
Vol. 13:3 Afghanistan
Vol. 13:4 Indian Scholarship in Humanities and Social Sciences: Its Achievements, Status and Linkage
Vol. 14:1 Positives and Negatives of Indian Politics
Vol. 14:2 Tibet
Vol. 14:3 The Energy Security Scenario
Vol. 14:4 India: Human Rights Issues
Vol. 15:1 India's Chronological Antiquity

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Astha Bharati Governing Body Members

President
Dr. Jayanta Madhab
Development Economist and
Former Chairman, NEDFi
Former Director, ADB

Acting Secretary
Shri Rajesh Bhargava
Engineer-Business.

Treasurer
Shri J.N. Roy, IPS (Retd.)
Former Commissioner,
Civil Aviation Security, New Delhi.
(Ph.: 011-22712303)

Members
Dr. B.B. Kumar
Founder Secretary, Astha Bharati
Former Principal,
Kohima Science College,
Kohima, Nagaland.
and Editor, Dialogue &
Chintan-Srijan;
Editor, Quest, VKIC, Guwahati.
Former Member, EC, AC and
University Court, NEHU.

Dr. V. Suryanarayan
Ex Senior Prof. & Director,
Centre for South &
South-East Asian Studies,
University of Madras,
Chennai.

Shri Prakash Singh, IPS (Retd.)
Ex-Director General,
Border Security Force,
Ex-DGP, UP/Assam.

Dr. Suresh Sharma
Former Director, CSDS,
New Delhi.

Dr. Shankar Sharan
N.C.E.R.T., New Delhi.

Shri Bimal Pramanik
Director, Centre for Research
In Indo-Bangladesh Relations,
Kolkata.

Smt. Lata Singh IAS (Retd.)
Former Secretary Govt. of India;
Noida (U.P.)

Shri P.C. Haldar IPS (Retd.)
Former DIB,
Interlocutor for Assam Peace Talks
New Delhi

Shri D.N. Bezboruah,
Former Editor The Sentinel
Guwahati (Assam)

Smt. Patricia Mukhim,
Editor, Shillong Times,
Shillong (Meghalaya)

Dr. Achyutanand Mishra
(Former Vice-Chancellor
Makhanlal Chaturvedi National
University of Journalism-Bhopal)

Prof. Ramesh Chandra Shah
Padmasri, Academician,
writer & critic
Bhopal (M.P.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 3 जनवरी-मार्च 2014

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

सलाहकार सम्पादक

कमलेश

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म्पादकीय परिप्रेक्ष्य

ाजारवाद एवं आधुनिकता का संकट

ं बातें हमारी समस्याओं की जड़ में रही हैं, सामाजिक जीवन में मूल्यों का ह्रास तथा ातार बढ़ती उपभोक्तावादी प्रवृत्ति। इन दोनों के बीच सम्बन्ध भी प्रगाढ़ रहा है। ारे परम्परा-प्रदत्त मूल्य उपभोग की स्वीकृति तो देते थे, असीमित उपभोग की नहीं। ालिए हमारे रहन-सहन का ढंग सादा था। वस्तु-संग्रह या धन-संग्रह की प्रवृत्ति के भाव के चलते समाज के हर व्यक्ति को आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती थीं। ावश्यकता कम होने से भ्रष्टाचार भी कम था। सामाजिक लगाव की अधिकता के ाते व्यक्ति दूसरे के सुख दुख के प्रति असंवेदनशील नहीं हो पाता था।

आज स्थिति अलग है। मूल्यों के ह्रास के कारण न सामाजिक नियन्त्रण है और व्यक्ति में आत्म नियन्त्रण। ऊपर से टेलीविजन चैनलों पर लगातार आ रहे विज्ञापनों ं बाजार का दबाव। ऐसे में लोग भ्रष्ट बन रहे हैं। जन-संसाधनों की लूट चलती ही है। फिर पहले जहाँ कुछ लाखों या करोड़ों की लूट होती थी, आज वह बढ़ कर ाख-करोड़ों का आँकड़ा छू रही है। मूल्यों के ह्रास के साथ ही न कानून का भय रह या है और न सामाजिक प्रतिष्ठा का। पहले मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को ियन्त्रित किये रहता था, समाज में अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखना चाहता था, आज ऐसा हीं है। आज ऊँचे पदों पर बैठे लोग अधिक भ्रष्ट हैं। प्रकटतः ऊँचे पदों पर गलत ोग अधिक संख्या में पहुँच रहे हैं। स्थिति दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है। सरकारी ्तर पर भ्रष्टाचार-निरोधक कानून बनते हैं, नये विभाग खुलते हैं, अफसर नियुक्त किये जाते हैं, लेकिन भ्रष्टाचार रुक नहीं पाता।

यही हाल दूसरे अपराधों का भी है। कुछ समय पहले चलती बस से एक लड़की का शील-हरण कर फिर उसे बुरी तरह से घायल कर, मृत समझ, चलती बस से फेंक दिया गया था। घटना के विरुद्ध रैलियाँ हुईं, संसद तक में रोष व्यक्त किया गया, लेकिन लगता नहीं कि स्थिति में बहुत बदलाव आया है। न कानून-व्यवस्था की मशीन ठीक से चल पाती है और न न्याय शीघ्रता से मिल पाता है। स्पष्टतः स्थिति बदलाव खोजती है।

सवाल उठता है कि हम करें क्या? आज की समस्याओं पर नजर डालने पर दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं कि केवल कानून बना कर समस्याओं से छुटकारा पाना सम्भव नहीं। फिर नये कानूनों, विभागों एवं सरकारी तन्त्र की बढ़ोतरी से व्यवस्था की जकड़न दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, जो नागरिक समाज के हित में नहीं है। अभी अभी अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार के विरूद्ध आन्दोलन चला था। उनकी माँग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार लोकपाल विधेयक पारित किया जा चुका है। यह सही है कि लोकपाल की नियुक्ति से भ्रष्टाचार में अपेक्षाकृत कमी आयेगी, लेकिन अन्य सभी प्रकार के अपराधों में तो ऐसा नहीं ही होगा। इसके लिए हमारी सोच में परिवर्तन आवश्यक है, जो समाज में मूल्यों की पुनर्स्थापना के बिना सम्भव नहीं। फिर मूल्यों की पुनर्स्थापन शिक्षा में अपेक्षित बदलाव द्वारा ही सम्भव है।

जैसा यहाँ ऊपर कहा गया है, लोगों पर बाजार का दबाव बढ़ा है। अधिकाधिक उपभोग की प्रवृत्ति न केवल मूल्यों के अभाव के चलते बल्कि बाजार के दबाव के चलते भी बढ़ी है। अधिक उपभोग समाज में प्रतिष्ठा का मानक बन गया है। देश के स्तर पर भारत को अमेरिका बनाने की होड़ लगी है। फिर गलत शिक्षा-नीति के चलते हमारे बीच न केवल दृष्टि-दोष आया है, खण्डित इतिहासबोध एवं खण्डित समाजबोध पैदा हुआ है, बल्कि आत्म-अस्वीकार की प्रवृत्ति भी लगातार बढ़ती गयी है।

आयातितं विचारों से प्रेरणा लेना बुरा नहीं जब तक हमारे अपने विचारों के श्रोत सूख ही न गये हों। किन्तु उन पर पूरी तरह निर्भर होना तो घातक है। हमारे साथ ऐसा ही हुआ है। विडम्बनात्मक स्थिति तो ऐसी है कि न केवल समाज-विज्ञान के क्षेत्र में, बल्कि सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में भी आयातित विचारधाराओं का वर्चस्व कायम हुआ है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ से ही हमने अपने परम्परागत ज्ञान को रूढ़ि या फिर अज्ञान की श्रेणी में रखना शुरु किया था। उपनिवेशी शिक्षा के प्रसार के साथ यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गयी। वस्तुतः परम्परा-प्रदत्त ज्ञान प्राप्त व्यक्ति भी शिक्षित ही होता है भले ही उसे विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त न हो। किन्तु उल्लिखित प्रवृत्ति के चलते हमने अपने परम्परा-प्रदत्त ज्ञान को खोया है। फिर भी जो भी बचा है, उसे समेटने का शीघ्र प्रयास होना चाहिए।

भारत तथा तीसरी दुनिया के अन्य देशों में पश्चिमी जीवन शैली अपनाने की होड़, विशेषतः सम्पूर्ण देश को अमेरिका बनाने की होड़ का दुष्प्रभाव न केवल समाज पर, बल्कि प्रकृति पर भी पड़ा है। यह भोंड़ी नकल आधुनिक बनने के नाम पर चलती रही है, जिसने न केवल हमारी परम्परागत समाज व्यवस्था को बुरी तरह क्षतिग्रस्त किया है, हमसे हमारे सांस्कृतिक एवं बौद्धिक दाय को छीना है, और प्रदूषण की अधिकता भी पैदा किया है। स्पष्टतः ऐसा लम्बे समय तक चल नहीं सकता। आवश्यक है कि हम अपनी सोच बदलें, जीवनशैली बदलें, अपनी खोयी हुई निजता को फिर से प्राप्त करें। इसके लिए शिक्षा में बदलाव आवश्यक है। हमें इसके लिए सम्मिलित प्रयास करना चाहिए।

—ब्रज बिहारी कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ते श्रोता-वक्ता समशीला' स्वामी विवेकानंद के भारतीय व्यख्यान

रमेशचंद्र शाह*

स्वामी विवेकानंद के बारे में कुछ भी बोलने या लिखने का उपक्रम करने के चलते ही मन में आप पात्रता को लेकर भारी संदेह उपज आया है। भला क्यों? बचपन से ही उनके बारे में सुनता आया था—ऐसे वृयोवृद्ध लोगों के मुख से, जिन्होंने खुद अपने बचपन में उन्हें प्रत्यक्ष देखा-सुना था। अल्मोड़ा में, मेरे घर के बगल में ही वह घर है, जहाँ स्वामीजी अपने प्रवास के दौरान ठहरे थे—अपने परम भक्त और शिष्य स्व. बद्री शाह के आतिथ्य में जाने कब से कितने श्रद्धालुओं को उस कोठरी का दर्शन करते, वहाँ मत्था टेकते देखा होगा मैंने। यों स्वामीजी मेरी स्मृति में एक जीवंत पुराण से कम नहीं।

अलावा इसके, एक और संयोग भी तो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वयस्कता की देहरी पर ही—कहना चाहिए, अपने साहित्यिक—जीवन का शुभारंभ ही—मैंने 'प्रबुद्ध भारत' में लेख लिखने से किया था सन् 1931 से 1934 के बीच; और जब 1914 में भारत के इस सर्वाधिक प्राचीन अंग्रेजी त्रैमासिक की जन्मशती मनाई जानेवाली थी तो उसके तत्कालीन प्रधान संपादक, जो अनिवार्यतः बेलूर मठ के वरिष्ठतम स्वामीजी होते हैं—ने मुझे प्रबुद्ध भारत के साथ अपने पुराने संबध का हवाला देते हुए अपने शताब्दी विशेषांक में लेख लिखने को आमंत्रित किया। 'ऐसो कोउ उदार जग माँही?' उसी विशेषांक से मुझे यह बेहद दिलचस्प जानकारी मिली, कि मायावती का अद्वैत आश्रम तो बाद में 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन-कार्यालय बना; प्रारंभ तो उसका अल्मोड़ा से ही हुआ था : तब, जव मोटर-सड़क भी नहीं बनी थी। कितनी मुश्किलों से ढोकर लाई गई होगी छापे की मशीन उस पहाड़ी नगर तक!

*एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल रोड, भोपाल-432003, फोन : 07442774314
ई-मेल : aakhar@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविस्मरणीय है वह संयोग भी, जब इसी निमित्त से मुझे पहली बार अद्वैत आश्रम, मायावती जाने और वहाँ के आरण्यक परिवेश में एक सप्ताह रहने का दुर्लभ अवसर मिला था। यह आश्रम स्वामी विवेकानंद के अंतर्जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न था, जो उनके परमप्रिय शिष्य 'सेवियर दंपति' के सहयोग से साकार हुआ था। उस प्रवास के मूल्यवान अनुभवों को मैं अन्यत्र सँजा चुका हूँ—उन्हें यहाँ दुहराऊँगा नहीं। किंतु 'विवेकानंद ग्रंथावली' समूची पढ़ने की प्रेरणा और सौभाग्य मुझे नहीं उपलब्ध हुआ था : 'स्वामी अनन्यानंद और स्वामी भजनानंद के अमूल्य सत्संग लाभ के साथ-साथ।

इस पृष्ठभूमि के साथ अपनी अपात्रता की तीसरी अनुभूति का यह विषम योग, जिसे एक तरह का 'विषाद-योग' कहना अधिक सटीक होगा—मुझ पर अचानक क्यों हावी हो गई है?

पिछले एक सप्ताह से मैं स्वामी विवेकानन्द के 'भारतीय व्याख्यान' (निराला के हिंदी अनुवाद में) पढ़ने में डूबा रहा हूँ। विश्वास ही नहीं होता कि ये व्याख्यान मैं बहुत पहले पढ़ चुका हूँ। क्या चालीस वर्ष का अंतराल इतना बड़ा होता है कि आदमी का खुद अपना जिया-भोग भी उसकी पहुँच से बाहर जा जाए? ये व्याख्यान तो अपने आप में हमारी जातीय स्मृति को जगाने के, भारतीय मनुष्य की आत्मविस्मृति के अमोघ इलाज के भी अप्रतिम साधन और उदाहरण हैं। इन्हें कैसे कोई भूल सकता है? नवीं कक्षा में पढ़ता था 1951 में, तब कोर्स की अंग्रेजी की किताब में सिस्टर निवेदिता (स्वामी विवेकानंद की आयरिश शिष्या) द्वारा पुनर्लिखित एक पौराणिक कथा पढ़ी थी—जिसकी छाप अभी तक मन पर अमिट है। आज के छात्रों में अधिकांश ने उनका नाम तक नहीं सुना है। यह कैसा व्यंग्य विपर्यय है! परंतु मेरी पीढ़ी तो कुछ बेहतर ढंग से शिक्षित हुई थी, उसने क्या किया?

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है/इच्छा क्यों पूरी हो मन की? एक दूसरे से न मिल सके/यह विडंबना है जीवन की।' आखिर क्यों नहीं ये व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालयों के तथाकथित 'फाउंडेशन कोर्स' में कहीं भी जगह पा सके? प्राचीन भारत की तो बात ही छोड़िए, अर्वाचीन और ठेठ बीसवीं सदी की भारतीय प्रतिभाओं को भी स्वातंत्र्योत्तर भारत की शिक्षा, संस्थाओं में कितना कैसा स्थान मिला है? यह कैसी आत्महीनता और परोपजीवी मानसिकता स्वातंत्र्योत्तर (कहना चाहिए, दास्योत्तर) भारत में घर कर गई? इसे प्रज्ञापराध नहीं, तो और क्या कहेंगे!

मैंने ऊपर जिस भारी संदेह की—विषाद-योग की—बात की, उसका कारण यही है। यह लीजिए मद्रास में दिया गया भाषण स्वामी विवेकानंद का—'मेरी क्रांतिकारी योजना'; शीर्षक; क्या कह रहे हैं स्वामीजी इस उद्बोधन में? तनिक सुनिए—

"...आखिर अंग्रेज़ों और तुममें किसलिए इतना अंतर है? अंतर यही है कि अंग्रेज अपने ऊपर विश्वास करता है और तुम नहीं। अंग्रेज इस विश्वास के बल पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता है, वही करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत, लोग तुझसे कहते आए तुम्हें सिखाते आए हैं कि तुम कुछ भी नहीं हो, तुम कुछ भी नहीं कर सकते, और स्वरूप तुम आज इस प्रकार अकर्मण्य हो गए हो। अतएव, हमारी आज की सबसे जरूरत है—आत्म-बल, अपने में अटूट विश्वास। ...अब अपने पैरों पर खड़े हो जो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसी संपन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।"

ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी रहस्यवाद में नहीं उलझते, उलटे उससे बचन करते हैं—उपनिषद् को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए भी। कहते हैं—"ऐ मेरे भावी सुधारको! मेरे भावी देशभक्तों! क्या तुम अपनी बुद्धि से ज्यादा अपने हृदय में अनुभव करते हो, कि देव और ऋषियों की संतानें आज पशुतुल्य हो गई हैं? क्या देश की दुर्दशा की चिंता ही तुम्हारे ध्यान का एक मात्र विषय बन बैठी है? यदि हाँ, तो तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। केवल पहली सीढ़ी पर ही।" स्वामीजी अपनी अमेरिका-यात्रा की उस विजयोपलब्धि को लेकर भी—जिसने पूरे देश-विदेश में उनके नाम की धूम मचा दी है—व्यर्थ की भावुकता छाँटने का कोई कारण नहीं देखते। वे उस घटना को सही संदर्भ में रखते हुए एक बड़ी चौंकानेवाली बात कहते हैं। चौंकानेवाली, यानी हमें बहुत भीतर तक झिंझोड़कर रख देनेवाली बात। जो आज एक शताब्दी से भी अधिक अंतराल के बाद भी हमारे सिर पर चढ़कर बोलती है। क्या कोई और ऐसा कह सकता था? क्या इस स्वीकारोक्ति के मर्म को, उसमें निहित 'दर्द' को हम आज भी यथातथ्य अनुभव करते हैं— समझ सकते हैं सचमुच? स्वामीजी कहते हैं—

"...मैं अमेरिका विश्व-धर्म महासभा के लिए नहीं गया, वरन् इस भावना (देश-दुदर्शा की) का दैत्य, मुझमें, मेरी आत्मा में था। मैं पूरे बारह वर्ष सारे देश में घूमता रहा, पर अपने देशवासियों के लिए कार्य करने का मुझे कोई रास्ता ही नहीं मिला! यही कारण था कि मैं अमेरिका गया। इस धर्म—महासभा की किसे परवाह थी? यहाँ मेरे देशवासी, मेरे ही रक्त-मांसमय देहस्वरूप मेरे देशवासी दिनोदिन डूबते जा रहे थे। उनकी कौन खबर ले!"

स्वामीजी विचार-शक्ति से भी अधिक महत्त्व इस 'हृदय की अनुभव-शक्ति' को देते हैं, किंतु उसी पर नहीं रुकते। वे सच्चे कर्मयोगी हैं—तुरंत कर्म पर आ जाते हैं। इच्छाशक्ति को क्रियाशक्ति में परिणत करने पर। उस वक्त प्रचलित सुधारवाद उन्हें नाकाफी ही नहीं, उलटे अनर्थकारी भी लगता था। शायद ही भारत के किसी अन्य मनीषी ने सुधारवाद की सीमाओं का इतना स्पष्ट पारदर्शन किया होगा, जितना स्वामी विवेकानंद ने। रामनाद में दिया गया उनका भाषण पढ़िए। आपकी आँखें खुल जाएँगी। इतने उत्कट आदर्शवादी के साथ इतनी जबर्दस्त यथार्थवादिता आपको और कहाँ मिलेगी! इन व्याख्यानों की वेधक-शक्ति इसी दुलर्भ मेल और संतुलन में है, जिसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की तारीख में एक बार फिर से रेखांकित किया जाना अनिवार्य लग उठता है। वे यह घोषित करते हैं—"किंतु कुछ भोग भोगे बिना इस आदर्श तक मनुष्य नहीं पहुँच सकता। प्रत्येक समाज में अज्ञानी लोग हैं। संसार की असारता समझने के लिए उन्हें भोग भोगना पड़ेगा। तभी वे वैराग्य धारण करने में समर्थ होंगे। हमारे शास्त्रों में इन सबके लिए यथेष्ठ व्यवस्था है। दुःख का विषय है कि परवर्ती काल में समाज के प्रत्येक मनुष्य को सन्यासी के नियमों से बाँधने की चेष्टा की गई, यह एक बड़ी भारी भूल हमसे हुई। भारत में जो दुःख और दरिद्रता दिखाई देती है, उनमें से अधिकांश का कारण यही भूल है। *गरीब जनता के जीवन को इतने कड़े धार्मिक और नैतिक बंधनों में जकड़ दिया गया है, जिनसे उनका कोई लाभ नहीं है। उनके जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप मत कीजिए। उन्हें भी संसार का थोड़ा आनंद लेने दीजिए। तब आप देखेंगे कि वे क्रमशः उन्नत होते जाते हैं। और बिना किसी विशेष प्रयत्न के उनके हृदय में आप ही आप त्याग का उद्रेक होगा।"*

स्वामीजी उस तरह के वैदिक आतंकवाद के तार्किक प्रवक्ता नहीं हैं, जिस तरह जयशंकर प्रसाद। न ही वे श्रीअरविंद की भाँति शंकर मायावाद के प्रत्याख्यान को उसकी तार्किक परिणति तक ले जाकर अपनी सुदीर्घ योगलभ्य साधना के साथ वैदिक—अंतर्दृष्टियों का अपूर्व सामंजस्य बिठाते हुए आधुनिक विज्ञान-युग की चुनौतियाँ स्वीकार करते हुए परमात्म—विज्ञान का एक नया भविष्य-दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उनका भावादिष्ट स्वर हमें बंकिम के 'आनंदमठ' में वर्णित संन्यासी-विद्रोह की विफलता से उत्पन्न उद्वेग और तज्जनित आत्म-रवीकरण की एक नई चुनौती स्वीकारनेवाली संकल्पशीलता का स्मरण करा देता है। वे पशचिम की प्राण-शक्ति को सराहते और उससे जरूरी प्रेरणा प्राप्त करके आगे बढ़ने के लिए अपने देशवासियों का आह्वान करते हैं। पर यहाँ भी उनका अचूक मात्रा-ज्ञान और विवेकमत्ता हमें चेतावनी देती है। यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य है कि हमने उनकी इस चेतावनी को अनदेखा किया, जिसका कुफल हम अभी तक भोग रहे हैं। स्वामीजी के ही स्वर में सुनें उस चेतावनी को, जो आज भी उतनी ही प्रखर प्रासंगिक है—

"सज्जनो! पाश्चात्य जातियों से हम थोड़ा—बहुत यह जीवनी—शक्ति का पाठ सीख सकते हैं। किंतु सीखते हुए हमें बहुत सावधान रहना होगा।"

स्वामीजी हमें चौंकाते हुए संस्कृत और संस्कृति का अभेद स्थापित कर देते हैं, यह कहते हुए कि "जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, वह बहुत कुछ जान जाएगी, परंतु साथ ही कुछ और भी जरूरी है, उसका संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।" यहाँ संस्कृति में संस्कृत अंतर्निहित है, दोनों एक हैं।

इस समय भारत में हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं—एक ओर हमारा प्राचीन हिंदू समाज और दूसरी ओर अर्वाचीन यूरोपीय सभ्यता। इन दोनों में किसी एक को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनना पड़े तो मैं प्राचीन हिंदू समाज को ही पसंद करूँगा। क्योंकि अज्ञानी—अपक्व होने पर भी कट्टर हिंदुओं के हृदय में एक विश्वास का बल है, जिससे वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किंतु विलायती रंग में रँगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदंड-विहीन होता है, वह इधर-उधर के स्रोतों से एकत्र किए हुए कच्चे विशृंखल, बेमेल भावों की असंतुलित ढेरी भर है। वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता, उसका सिर हमेशा चक्कर खाता रहता है। अंग्रेज़ों से थोड़ी शाबासी पा लेना ही उसके सब कार्यों का मूल प्रेरक है। वह जो समाज सुधार के लिए अग्रसर होता है, हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध तीव्र आक्रमण करता है, इसका मुख्य कारण यह है कि इसके लिए उन्हें साहबों से वाहवाही मिलती है। हमारी प्रथाएँ इसीलिए दोषपूर्ण हैं कि साहब लोग उन्हें दोषपूर्ण कहते हैं। मुझे ऐसे लोग पंसद नहीं हैं। अपने बल पर खड़े रहिए—चाहे जिएँ, चाहे मरें। यदि जगत् में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता।"

कहना आवश्यक है कि आज भी हमारा—हमारे तथाकथित बुद्धिजीवियों का—यही हाल है। साहब भले ही वे नहीं रहे, बदल गए, तो इससे क्या फर्क पड़ा, साहबी तो बरक़रार है। गुलाम, औपनिवेशिक जेहनियत से ग्रस्त लोगों को अपने आपको औपनिवेशिक बनाकर उसमें रहने से कौन रोक सकता है? विचार-स्वातंत्र्य की पराकाष्ठा को जीनेवाले इस देश में किसी एक विचारधारा की गुलामी ढोना भी गुलामी ही कहलाएगा, यह कौन किसे समझाए? और इस अतुलनीय विचार-स्वातंत्र्यक को, मनुष्य की इस आंतरिक स्वाधीनता को संभव बनाने का श्रेय आखिर किसे जाता है? निश्चय ही इसी देश द्वारा तपस्यापूर्वक अर्जित और साक्षात्कृत 'धर्म' को ही न, जो किसी भी मतवाद की चहारदीवारी में नहीं बाँधा जा सकता है, किंतु इसी व्यापकता के कारण किसी भी ग्रंथ का बहिष्कार-तिरस्कार या दमन भी नहीं कर सकता। तभी स्वामीजी की वह बारंबार टेक की तरह इन व्याख्यानों में दोहराई गई बात हमारे सिर पर चढ़कर बोलती है कि "धर्म ही भारतीय जीवन का मूल्यांकन है।" और यह भी कि "भारत के लिए कार्य करने का एकमात्र संभाव्य उपाय भी यही है।" 'भारत का भविष्य' शीर्षक व्याख्यान इस दृष्टि से यहाँ पर विशेष उद्धरणीय और मनवीय है। सुनें तो सही, स्वामीजी इसमें क्या कहते हैं—

"...हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, और यही नहीं, हमारे राष्ट्रीय जीवन का भी मूल आधार है।...तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ पुरुषार्थ किया था, उस पर सबकुछ निछावर किया था। विदेशी विजेताओं द्वार मंदिर के बाद मंदिर तोड़े गए, परंतु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मंदिर के कलश फिर खड़े हो गए। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मंदिर और गुजरात के सोमनाथ जैसे मंदिर तुम्हें विपुल ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अंतर्दृष्टि देंगे, जो ढेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती है।...मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि राजनीतिक या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक उन्नति अनावश्यक है; किंतु ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अतः धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। पर यह किया कैसे जाए?"

आगे इसी व्याख्यान में स्वामीजी 'इसे किया कैसे जाए' का खुलासा करते हैं–ऐसा खुलासा जैसे उनसे पहले (और शायद उनके बाद भी) अन्य किसी ने नहीं किया। उन्हीं के शब्दों में–

"मेरा विचार है, पहले हमारे शास्त्र–ग्रंथों में भरे पड़े आध्यात्मिकता के रत्नों को, जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, बाहर नहीं हुए हैं, बाहर लाना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हैं, केवल उन्हीं से इस ज्ञान का उद्धार करना पर्याप्त न होगा, वरन् उससे भी दुर्भेद्य पेटिका, अर्थात् जिस भाषा में सुरक्षित हैं, उस संस्कृत भाषा के अभेद्य शब्दजाल से उन्हें निकालना होगा। *मैं इन तत्त्वों को निकालकर भारत के प्रत्येक मनुष्य की सामान्य संपत्ति बनाना चाहता हूँ। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई हमारी गौरवशाली संस्कृत भाषा ही है, और यह कठिनाई तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक हमारे राष्ट्र के सभी मनुष्य संस्कृत के अच्छे विद्वान न हो जाएँ।"*

स्वामीजी अनुभव करते हैं कि सामान्य बोलचाल की भाषा में उन महान् विचारों की शिक्षा देनी होगी। किंतु साथ ही वे यह कहना भी नहीं भूलते की *"संस्कृत की शिक्षा भी साथ ही चलनी चाहिए।"* इसलिए कि "संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव और शक्ति प्राप्त हो जाती है।" यह बात इस तरह किसी ने नहीं कहीं है; किंतु यह कितनी सच्ची और धर्म की बात है, इसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव से जाननेवाले ही जान सकते हैं। स्वामीजी इसी में एक और बड़ी जोरदार बात जोड़ देते हैं : यह कि महान् धर्माचार्य रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें उन्हें अपने ही जीवनकाल में अद्भुत सफलता मिली थी। किंतु उनके तिरोभाव के एक शताब्दी के भीतर ही वह उन्नति क्यों रुक गई? इसलिए रुक गई कि "उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगाई। यहाँ तक भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत भाषा का अध्ययन ही बंद कर दिया। ज्ञान का विस्तार हुआ तो सही, पर उनके साथ-साथ प्रतिष्ठा नहीं बनी, संस्कार नहीं बना।" स्वामीजी हमें चौंकाते हुए संस्कृत और संस्कृति का अभेद स्थापित कर देते हैं, यह कहते हुए कि "जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, वह बहुत कुछ जान जाएगी, परंतु साथ ही कुछ और भी जरूरी है, उसको संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती है।" यहाँ संस्कृति में संस्कृत अंतर्निहित है, दोनों एक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेशक आज के हमारे बुद्धिजीवियों को, हर तरह की सत्ता के शीर्ष पर बैठे हुए ों को स्वामीजी की यह बात आसानी से पचेगी नहीं। उन्हें इसमें तर्क नहीं, कता या 'पुनरुत्थानवाद' ही दिखेगा या फिर 'प्रतिक्रियावाद'। इसलिए कि उन्होंने भाषा सीखी है, इन्हीं टकसाली शब्दों के बूते उनका बुद्धि-व्यापार ही नहीं, दना, का व्यापार भी चलता है और फलता भी रहा है। ऐसे छायाजीवी विवेकानंद समय भी रहे ही होंगे। पर उन्हें उनकी रत्ती भर भी परवाह नहीं है। वे साफ शब्दों अपने हृदय की बात कहते हैं। सुनिए जरा—

"ऐ पिछड़ी जाति के लोगों, मैं तुम्हे बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी नी दशा को उन्नत करने का एक मात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है। और यह ना-झगड़ना, उच्च वर्गों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इससे लड़ाई-झगड़े और गे, और यह जाति दुर्भाग्यवश पहले ही जिसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके हैं, और भी ड़ों में बँटती रहेगी। जातियों में ममता लाने के लिए एकमात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि तुम कर को जो कुछ तुम चाहते हो, वह सब तुम्हें मिल जाएगा।"

पिछड़े वर्गों की समस्या के साथ ही स्वामीजी इस भाषण में उत्तर-दक्षिण और आर्य-द्रविड़ का भेदभाव फैलानेवालों की चेष्टाओं की भी खूब खबर लेते हैं..."ऐसा वाहियात बातों पर विश्वास मत करो," वे कहते हैं—"वे सब आर्य ही हैं और उत्तर से आए। सारे भारत के मनुष्य आर्यों के सिवा और कोई नहीं।"

आर्यों के बाहरी आक्रांता होने का भी उन्होंने जबरदस्त खंडन किया है। आज की तारीख में इस 'थ्योरी' के दावेदार अनर्गल-अप्रासंगिक हो गई हैं। किंतु विवेकानंद ने सवा सौ साल पहले इसका मिथ्यात्व उघाड़ कर रख दिया था। वे कहते हैं, "हमारे शास्त्रों में एक भी शब्द नहीं है जो प्रमाण दे सके कि आर्य भारत के बाहर किसी देश से आए। हाँ, प्राचीन भारत में अफगानिस्तान भी शामिल था, बस इतना ही।" आगे महाभारत का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि "सत्-युग के आरंभ में एक ही जाति ब्राह्मण थी और फिर पेशे के भेद वह भिन्न-भिन्न जातियों में बँटती गई। बस यही एकमात्र व्याख्या, सच्ची और युक्तियुक्त है। भविष्य में जो सतयुग आ रहा है, उसमें ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ फिर ब्राह्मण रूप में परिणत होंगी।"

यह ब्राह्मणत्व विवेकानंद की दृष्टि में 'मनुष्य का चरम आदर्श' है। वे बड़े आदर्शवादी स्वर में उनके दोषों की आलोचना भी करते हैं, परंतु उनका प्राप्य श्रेय भी उन्हें देने से नहीं हिचकते। वे दरअसल ब्राह्मणों के एकाधिकार के दावे के विरुद्ध हैं और अंग्रेजों का ही नहीं, मुसलमानों का भी इस मानी में उपकार मानते हैं कि उन्होंने इस एकाधिकार को तोड़ा। यहा तक कहते हैं कि "मुसलमानों की भारत-विजय मानो पददलितों और वंचितों का उद्धार करने के लिए हुई थी।" यह भी, कि "अगर तुम सचेत न होगे तो तुम्हारे मद्रास के भी पंचमांश क्या, अर्द्धांश लोग ईसाई हो जाएँगे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परंतु वे फिर से दोहराते हैं अपनी बात, कि "उच्च वर्णों को नीचे उतारकर इस समस्या की मीमांसा न होगी। नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा। ब्राह्मणों से मेरा निवेदन यही है कि वे जो कुछ जानते हैं, उसकी शिक्षा देकर और सदियों से जिस ज्ञान और संस्कृति का संचय उन्होंने किया है, उसका व्यापक प्रचार-प्रसार करके भारत की जनता को उन्नत करने के प्रयत्न में अपने को खपा दें।"

इसी तरह मूर्तिपूजा को लेकर भी स्वामीजी विवेकानंद ने देश और विदेश के सारे अहंकारी-विमूढ़ात्मक लोगों के दंभ और दुष्टप्रचार का कड़ा प्रतिकार किया था। वे हमें बताते हैं कि अपने कच्चे दिनों में भी औरों की देखा-देखी मूर्तिपूजा का विरोध करते थे। मानो उसके दंडस्वरूप ही उन्हें रामकृष्ण परमहंस के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी थी, जिन्होंने सबकुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था। वे कहते हैं, "यदि मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे महापुरुष उत्पन्न हो सकते हैं, तब तुम क्या पसंद करोगे—सुधारकों का धर्म या मूर्तिपूजा? आखिर, मूर्तिपूजा निंदनीय क्यों हो गई? कोई नहीं जानता" "शायद इसलिए," स्वामीजी कहते हैं *"हजारों बरस पहले किसी यहूदी ने इसकी निंदा की थी। अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सबकी मूर्तियों की निंदा" की थी। क्या निष्कर्ष निकलता है इससे? यही न कि "परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण से देखना और विचार करना कितना कठिन है! और यही मनुष्य-समाज की उन्नति की राह में सबसे बड़ा रोड़ा है। यही है ईर्ष्या, घृणा और लड़ाई की जड़।"*

कहना न होगा कि स्वामी विवेकानंद की यह आलोचना कई जगह आत्मालोचन के रूप में भी उनके व्याख्यानों में प्रकट हुई है और उसी आत्मालोचना के सुर पर इस लेख का भी समापन करना उचित होगा। श्रीलंका में वेदांत पर दिए गए भाषण का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

"यदि इस समय भारत में कोई महापाप है तो वह यही ईर्ष्या की दास्ता है। हर व्यक्ति हुकूमत चाहता है, पर आज्ञापालन के लिए कोई भी तैयार नहीं है। ईर्ष्या-द्वेष छोड़ो, तभी तुम उस महान कार्यों को कर सकोगे, जो अभी तक बाकी पड़े हैं। हमारे पूर्वजों ने अद्भुत कर्म किए हैं, जिन पर हमें गर्व है। परंतु अब समय खुद हमारे कर्म करने का है, जिसे देखकर हमारी भावी संतान भी इस पर गर्व कर सके।"

इत्यलम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास की वर्तमानता

भगवान सिंह*

He who controls the past controls the future. He who controls the present controls the past." *George Orwell,* 1984

हम इस लेख में इतिहास विषयक कतिपय अवधारणाओं को समझने का प्रयत्न करेंगे जिनकी भ्रामक समझ से हमारा इतिहासबोध भी प्रभावित होता है और वर्तमान में भी हम दिग्भ्रम के शिकार हो जाते है।

परिभाषा का संकट

इतिहास का अर्थ है जो कभी था, 'इति-ह-आस'। इसमें 'ह' के रूप में एक निश्चयात्मकता भी जुड़ी है। ऐसा था नहीं, ऐसा ही था। इसमें यह भी ध्वनित है कि अब वह नहीं है। अंग्रेजी के 'पास्ट' या हिन्दी के भूत, अतीत, व्यतीत या गुजरा हुआ, जैसा। परन्तु हमारा वर्तमान अंग्रेजी का 'प्रेजेंट' नहीं है जिसे आपके सामने उपस्थित कर दिया गया हो। यह घूम रहा है, हो कर भी अग्राह्य है, जब तक पकड़ने चलें तब तक बीत चुका होता है। हमारा भविष्य भी 'फ्यूचर' या आगे जो होगा नहीं है, वह भाव्य है, जिसके होने की संभावना है। यह हमारे कल्पित रूप से भिन्न भी हो सकता है, परन्तु आकाश पतित नहीं, हमारे ज्ञान, कर्म और योजना के साथ हमारे नियन्त्रण से बाहर की परिस्थितियों के दबाव में, अनुमान। यदि हम पश्चिमी अवधारणाओं से अपने भूत, वर्तमान और भविष्य को नहीं समझ सकते, जब कि इनके मामले में हमारी अपनी अवधारणाएँ अधिक सटीक हैं, तो हम पश्चिम के इतिहास या हिस्ट्री की अवधारणा से अपने अतीत को कैसे समझ सकते हैं?

प्राचीन काल में इतिहास सृष्टि के आरम्भ और विकास के लिए प्रचलित था, पुराण आजकल प्रचलित इतिहास के लिए और गाथा व्यक्तिपरक या विषय परक

*भगवान सिंह, ए-6 सिटी अपार्टमेन्ट, वसुन्धरा एनकलेव, दिल्ली-110096; मो. 09868083965

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृतान्तों के लिए। वेद में मुख्यतः विश्वप्रपंच की कथा है और उस में मानव चरित्रों के अपने कारनामें भी हैं इसलिए यह सुझाव दिया जाता रहा है कि वेद की व्याख्या इतिहास और पुराण के ज्ञान से ही सम्भव है— *'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं सं उप बृंहयेत्'*। ऋग्वेद में दो परिपाटियों (श्रुतियों) या परम्पराओं के श्रुतिलब्ध ज्ञान की बात की गई है। एक सृष्टि या आलोकित पिण्डों, देवों से संबन्धित और दूसरी प्राणि जगत से संबन्धित, जिसके भीतर ही मानव पितरों के कारनामे भी आते हैं। इन्हीं के भीतर समस्त विश्व-व्यापार समाहित और संचरित है—*द्वे श्रुती अशृण्वम् पितृणां अहं, देवानां उत मर्त्यानाम। ताभ्यां इदं विश्वमेजति समेति, तदन्तरा पितरा मातरा च*। इनमें पहला इतिहास है, जो देवशास्त्र या माइथालोजी में आता है और दूसरा आधुनिक अर्थ में इतिहास या हमारी परिचित भाषा में पुराण।

आगे चल कर धर्म, काम, मोक्ष के उपदेश से युक्त कथावृत्तों को भी इतिहास माना जाने लगा—*धर्मार्थकाममोक्षाणां उपदेश समन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तं इतिहासं प्रचक्षते*। देवकथा के साथ ऐसा तो होना ही था। जाहिर है इतिहास की हमारी पुरानी अवधारणा हिस्ट्री से भिन्न रही है। हिस्ट्री के निकट पुराण रहा हैं जिसे पाश्चात्य अध्येताओं ने परंपरा या ट्रैडिशन की संज्ञा दी क्योंकि उनकी भाषा में पुराण के समग्र भाव को अभिहित करने वाला कोई शब्द न था, ठीक उसी तरह जैसे हमारी भाषा में पश्चिम की हिस्ट्री के लिए कोई उपयुक्त शब्द न था। अनुवाद के समय सटीक शब्दों के अभाव का यह संकट दो समाजों और संस्कृतियों की अपनी स्वविशिष्टता से जुड़ा प्रश्न है। यह ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, संवेदन और अनुभव क्षेत्र की भिन्नता और स्वविशिष्टता से भी जुड़ा प्रश्न है। इसलिए यदि दो सभ्यताओं की अपनी संस्थाएँ और कार्यशैली अलग होती है तो इनमें किसी एक को उचित या सही और दूसरी को अनुचित ठहराने की चेष्टा यान्त्रिक समझ से प्रेरित होती है। जिन समाजों का सांस्कृतिक इतिहास लेखन के चलन से दसियों हजार साल पहले आरम्भ हो गया था उनमें अपने अतीत की स्मृति को सँजोने की विधि ठीक वहीं नहीं हो सकती जो उन समाजों में देखने में आती है जिनका सांस्कृतिक मूलाधार लिपि के चलन के बाद आरंभ हुआ और जिनके पास उससे पहले की नगण्य पूँजी ही बची रह गई है। मूल प्रश्न स्मरणीय घटनाओं और चरित्रों को विस्मृति में चले जाने से बचाने की युक्ति के विकास की है। हेरोडोटस ने जिन्हें हिस्ट्री का जनक कहा जाता है इसकी व्याख्या इसी रूप में की थी।[1]

असावधानी, चूक, उलझन आदि विविध कारणों से शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। अतः आज अंग्रेजी के हिस्ट्री के आशय में इतिहास शब्द के प्रयोग पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। आपत्ति इस बात पर हो सकती है कि आज तक काल की, और इसलिए इतिहास की, प्रकृति दिक् के मानकों और सादृष्यों के सहारे समझी जाती रही है, इसलिए हमारे पुराने विचारक रहे हों या आज के इतिहासदार्शनिक, इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृति को और हमारे लिए इसकी भूमिका को समझने में असमर्थ रहे हैं। ऊर्जा के एक प्रभेद, जैसे श्रवणशक्ति, से दूसरे, जैसे घ्राणशक्ति, की व्याख्या नहीं हो सकती, इसकी विविध भौतिक अभिव्यक्तियों की तो बात ही दूर है। हमारी भाषा तो दिक् और ऊर्जा की व्याख्या करने में काफी दूर तक समर्थ है क्योंकि ये इन्द्रियगम्य हैं। इसके बाद भीं हम विश्वप्रपंच को अधूरे रूप में ही समझ पाते हैं और इसके उन पहलुओं का आभास तक पाने में समर्थ नहीं हो पाते जो किसी अतिरिक्त इन्द्रिय या अतीन्द्रिय बोध से ग्रहण हो सकता है या ऐसे जीवों को ग्रहण होता है जिनमें कोई अतिरिक्त इन्द्रियबोध है। बया, तितली, मकड़ी, शहद की मक्खी, चमगादड़, चींटी आदि की निसर्गजात क्षमताओं के विषय में हम उसी मूढ़ भाव से अटकलें लगाते हैं जैसे एक अन्धा दृश्य जगत के विषय में, फिर भी हम अपनी सकल अग्रता के बल पर यह मान बैठे हैं कि हम सब कुछ जान चुके हैं या जान सकते हैं।

काल के चरित्र को न समझ पाने के कारण दिक् के मानकों को भी हम ऊल-जलूल रूप में ही काल पर लागू करते हैं। हमारे सादृश्यों या उपमाओं से समझ नहीं पैदा होती, भ्रान्ति पैदा होती है, चाहे वह काल को प्रवाह के रूप में देखना हो, या तीर के रूप में या चक्र के रूप में। इतिहास इसी तीसरे अपरिभाषित और भाषातीत आयाम से जुड़ा है, इसलिए यह पूरी तरह हमारी पकड़ में नहीं आता। इतिहासबोध को अतीत की लादी मान कर या उसकी चेतना को गड़े मुर्दे उखाड़ने का पर्याय बताना, उससे मुक्ति पाने या नदी पार करने के बाद नौका को सिर पर लाद कर चलने जैसे सादृश्य इसी नासमझी की उपज हैं। जब हम इतिहास को समाजशास्त्र की प्रयोगशाला कहते हैं तब भी हम न तो इतिहास की भूमिका को रेखांकित कर पाते हैं, न ही इतिहास से सही सीख ग्रहण कर पाते हैं। यदि इतिहास आवर्ती होता, सामाजिक परिस्थितियाँ नियन्त्रित होतीं तो पिछले जातीय अनुभवों का कोई लाभ होता। आल्डस हक्सले का विरोधाभासी कथन 'इतिहास से जो सबसे महत्वपूर्ण सीख मिलती है वह यह है कि लोग इतिहास से बहुत अधिक सीख नहीं लेते'[2] इसी विडंबना को प्रकट करता है। इसका ही दूसरा पक्ष मार्क्स का वह कथन है कि इतिहास पहली बार अपने को त्रासदी के रूप में दुहराता है और दूसरी बार भड़ैती बन कर। मार्क्स के इस कथन को मार्क्सवादी सबसे अधिक दुहराते रहे और वे दूर देश के विचार और इतिहास को अपने देश और समाज में दुहराने की सदिच्छा से कातर क्रान्ति को लफ्फाजी और भड़ैती के रूप में ही पेश करते रहे और कई त्रासदियों से गुजरने के बाद भी क्रान्ति की अपनी सैद्धान्तिकी तक विकसित न कर सके। सच तो यह है कि इतिहास को दुहराया जा ही नहीं सकता। काल केवल बीतता नहीं है, सब कुछ को बदलता चलता है अतः दुहराने की कोशिशों से अनर्थ होगा या व्यर्थ का परिहास होगा। इतिहास हमें पीछे लौटने की छूट नहीं देता, आगे बढ़ने का दबाव अवश्य पैदा करता है।

काल की अनन्त गतियाँ हैं, अनन्त दिशाएँ और अनन्त रूप जिन्हें हम अपनी सीमा की दिक्-ऊर्जा-सीमिता के कारण पूरी तरह समझ नहीं पाते। इतिहास या अतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्मृति और अस्मिता के बोध के अनन्त रूप हैं, और उसी रूप में इतिहास हमारी चेतना से अभिन्न रूप में, और अनन्त रूपों में जीवित रहता है। अतः इसका चरित्र जटिल भी है बहुविध भी, अस्थिर भी, और अग्राह्य भी।

दिक् में हम एक स्थान से आगे बढ़ते हैं तो वह हमसे छूट जाता है, हम उसको साथ ले कर नहीं चल सकते। हम उस स्थान पर वापस लौट सकते हैं, वहाँ दुबारा-तिबारा रह सकते हैं, उसकी कमियों को दूर कर सकते हैं या अपने राग और सामर्थ्य के अनुसार बदल सकते है। इतिहास को स्थान की तरह छोड़ कर आगे नहीं बढ़ सकते। वह हमारे साथ चलता है। वह हमारे भीतर होता है। अप्रिय घटनाओं को हम भूलना चाहते हैं, भूल नहीं पाते या उतनी जल्दी भूल नहीं पाते जितनी जल्दी भूलना चाहते है। इतिहास के विशिष्ट चरित्र को इसी से समझा जा सकता है कि परिघटना के रूप में बीत कर भी यह स्मृति के रूप में हमारे साथ ही नहीं होता, समाज में प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अलग रूपों में होता है और हम सभी के संकल्पों और निर्णयों को, हमारे वर्तमान और भविष्य को प्रभावित भी करता है। इसलिए एक ही परिघटना असंख्य लोगों की चेतना में असंख्य रूपों में वर्तमान रहती है और इसका अनपेक्षित स्वतः छीजता जाता है, जीवन्त हमारी पूँजी बना रहता है क्योंकि हमारे पास ज्ञान, उपादान और युक्ति के रूप में जो कुछ भी है वह अतीत से ही आया है। अतीत के विस्मरण की अवस्था में मनुष्य लुगदी बन कर रह जाता है।

इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन अन्यथा भी एक चुनौती भरा काम है, क्योंकि अपने स्वार्थ के लिए इतिहास को विकृत करने वाली शक्तियाँ इतनी प्रबल रही हैं और आज भी हैं कि वे बड़े से बड़े इतिहासकार को अपने लश्कर में भरती कर लेती हैं। वे उसी में थोड़ी बहुत लय बदल कर कुलाँचें भरते रहते हैं, परन्तु बाड़ को तोड़ कर निकलने का साहस नहीं जुटा पाते। विषमता और अन्याय पर टिकी व्यवस्थाएँ जिस तरह समकालीन यथार्थ के साक्षात्कार और व्याख्या से डरती हैं उसी तरह वे इतिहास की सही समझ और व्याख्या से भी डरती हैं। सत्ता अपने हित में वर्तमान और इतिहास दोनों को विकृत करके अपने भविष्य को स्थायित्व देने के लिए प्रयत्नशील होती है। ऑरवेल के शब्दों में कहें तो किसी समाज को बर्वाद करने का सबसे कारगर तरीका है उनके इतिहास को नकारना या उसे नष्ट कर देना।[3]

सामी धर्म और सामी मूल की विचारधाएँ यही करती रही हैं। इससे सबसे अधिक अहित उन्होंने स्वयं अपना ही किया। उनके बुद्धिजीवियों ने इतिहास को ही नष्ट नहीं किया, उनको अपनी भेड़ बना कर स्वयं गड़रिया बनने के लिए कृतसंकल्प धर्मदिष्टाओं और उनके उत्तराधिकारी पादरियों और मुल्लाओं ने किया। बुद्धिजीवियों की चूक यह थी कि उन्होंने उनके सामने समर्पण कर दिया और पूरी दुनिया को उनके इरादों के अनुसार बनाने में उनसे सहयोग करते चले गए। पश्चिम का महान से महान चिन्तक इसका अपवाद नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहें, सभ्यता के आरम्भ से आज तक हम अपनी कुछ जरूरतों को पूरा करने के लिए इतिहासों का आविष्कार करते आए हैं। हमारे पुराण भी ऐसे ही रहे हैं और आज का इतिहास भी ऐसा ही है। डार्विन के उद्‌विकास सिद्धान्त से पहले जितने भी इतिहास लिखे गए उन्हें तो वैज्ञानिक इतिहास इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उनका आरम्भ ही मिथक से होता है। इसका अपवाद गिबन का प्रसिद्ध ग्रन्थ, *डिक्लाइन ऐंड फाल ऑफ दि रोमन इंपायर* भी नहीं है। यही भूल विलियम जोन्स और मैक्समूलर तक करते रहे। अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* में अपने समकालीन यूरोप की समकक्षता में न आ पाने वाले पुराने समाजों को रूड या असभ्य सिद्ध करने के आवेश में मिल ने इतिहास की अपनी परिभाषा को भी अपनी मूढ़ता का प्रमाण बना दिया। परन्तु हम उसे कैसे दोष दे सकते हैं जब हमारे इतिहासकार स्वयं भी उसी के जुमले को दुहराते हुए कोरस गाते रहे कि हमारे पास इतिहास नहीं था।

हजार दो हजार साल पहले का कोई इतिवृत्त या शास्त्र उन्नीसवीं शताब्दी के समकक्ष नहीं हो सकता था और समकक्षता में न आ पाने के कारण गर्हित नहीं ठहराया जा सकता था। जिसमें इतनी मोटी समझ न हो वह इतिहास पर फतवे कैसे दे सकता है और उन फतवों को सत्य बनाने के लिए लिखे गए दुनिया भर के इतिहास वैज्ञानिक इतिहास की कसौटी पर खरे कैसे उतर सकते हैं? यदि जैसा कि मिल ने कहा था सभ्यता की कसौटी उसमें सही इतिहासबोध का होना है, तो हम इतिहास की विकृत स्थापनाओं पर टिके समाज को असाधारण तकनीकी प्रगति के बाद भी सभ्य कैसे कह सकते हैं?

हम इसे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करें। हीगेल तक यह सर्वमान्य था कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की दिशा में हुआ है। उनके ही शब्दों में विश्व इतिहास पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। एशिया इतिहास का आदि है और पश्चिम सर्वतोभावेन विश्व इतिहास का अन्त है।[4] अपने दावे को उचित ठहराने के लिए हीगेल ने इतिहास की 'आत्मा' (spirit) की तलाश कर ली थी।[5] इसी स्पिरिट का पाठान्तर था, 'आइडिया' या विचार से भूत जगत पैदा होता है, न कि भूत जगत से विचार। इसी स्पिरिट या प्रत्यय को मार्क्स ने मैटर या द्रव्य का उत्पाद बताते हुए हीगेल को सिर के बल खड़ा तो कर दिया परन्तु उसी के दायरे में अपने विचारों को समायोजित करते रहे। विचार या चेतना से तो वह इन्कार कर नहीं सकते थे, परन्तु मनोविज्ञान को सिरे से नकार दिया। चेतना जिस भी कारण से पैदा हो, एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद तो अपना संसार रचने ही लगती है, उसके चरित्र को यान्त्रिक बना देने के बाद विचारधारा का यान्त्रिक और आत्मनिषेधकारी होना स्वाभाविक ही था।

भाषा, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता का मूलाधार सभी के सन्दर्भ में जब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पूर्व या एशिया की बात की जाती है तो उसका अर्थ भारत होता है। हीगेल और मिल में समानता यह है कि दोनों इस बात से विक्षिप्तता की सीमा तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यग्र थे कि भारतीय और चीनी सभ्यताएँ पहले पाश्चात्य सभ्यता से उत्कृष्ट रही हैं, और आज भी उनके कुछ मूल्य पाश्चात्य मूल्यों से श्रेयस्कर हैं। इसके बाद भी हीगेल की उद्विग्नता का मुहावरा अलग है और मिल का उससे भिन्न क्योंकि मिल, जिनकी आकांक्षा पहले पादरी बनने की थी, बाद में नास्तिक और भौतिकवादी बन चुके थे। हीगेल के लिए पूर्व से इतिहासबोध ले कर उससे 'स्पिरिट' निकालने के बाद 'स्पिरिचुअस' इतिहासबोध इतिहास की परम उपलब्धि थी और जिसके पास यह जिसके पास आ गई उसके सामने दूसरों का स्पिरिट भी अपने होने का अधिकार खो देती है।[6]

इसका सबसे रोचक पक्ष यह है कि जर्मनी में इसकी अभिव्यक्ति सबसे प्रखर है। उसके सामने पूरा यूरोप फीका। जो लोग नात्सी मानसिकता को हीगेल से नहीं जोड़ सकते वे न तो नात्सी क्रूरताओं और मूर्खताओं को समझ सकते हैं न ही हीगेल के दर्शन के सारतत्व को।[7] इसकी पराकाष्ठा है हीगेल का रुग्ण नस्लवाद और रंगभेद।[8] हीगेल, ईसाइयत और मिल और मार्क्स की नास्तिकता के भारतीय सन्दर्भ में एक ही सार तत्व है कि अंग्रेज भारत में जो कुछ कर रहे थे वह अनुचित तो था पर भारत के हित में था। हीगेल को इसका पुरोधा माना जा सकता है।[9] सत्ता और सफलता व्यक्तियों और समाजों को उन्मत्त बना देती है। उन्मत्त व्यक्ति बड़ी बड़ी बातें कर सकता है, परन्तु क्या वह सही बातें भी कर सकता है? हम बड़ी बातें करने वालों को सही बातें करने वाला मान कर, अपने सोचने का दरवाजा ही बन्द कर लेते हैं और उनकी अनुमति, स्वीकृति या अनुमोदन से वंचित विचार या स्थापना को ही अस्वीकार्य न मान लें, अपितु उनकी भाषा से इतर भाषाओं में लिखे विचारों को भी अप्रामाणिक मानने के लिए तत्पर रहें। दासता की इससे अधम स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती, पर विडंबना यह कि हमारे प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोग इस अधोगति पर गर्व करते हैं और हम स्वयं उनसे आतंकित रहते हैं।

ऐसा नहीं था कि वे कृतघ्नता पर उतर कर यह दावा करें कि पश्चिम निसर्गजात रूप में पूर्व से सदा से श्रेष्ठ रहा है और विश्व के समस्त सिद्धान्त यूरोप में पैदा हुए हैं और पूर्व की दिशा में प्रवाहित हुए हैं, इसलिए जो देश यूरोप के जितना ही निकट है वह अपने से पूर्ववर्ती देश और समाज से उतना ही अधिक सभ्य है। मार्क्स केवल हीगेल के ही शिष्य नहीं थे, वह मिल के भी शिष्य थे[10] यद्यपि व्यक्तिगत सम्पर्क दोनों में से किसी से न हुआ था।

इसे हीगेल और मार्क्स ने क्यों मान लिया इसे तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम यह न देखें कि ये दोनों यूरोकेन्द्री, पुरुषसत्ताक और सामी सोच के दार्शनिक है और आधुनिकता की समझ का इनमें अभाव है। मार्क्स का नारा था *'वर्कर्स ऑफ आल कंट्रीज यूनाइट'*। हमारे यहाँ इसे तोड़-बदल कर *'दुनिया के मजदूरो एक हो'* के रूप में पेश किया जाता रहा। *आल कंट्रीज* का मतलब है यूरोप के सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्योगिक देश जिनमें कारखाने बन चुके हैं, मजदूरों की बड़ी संख्या है, उन्हें नारेबाजी से जोड़ना और औद्योगिक विकास को उलट कर, उद्योगविद्या का उपयोग यूरोप के लोगों के हित में करने तक सीमित था। इसमें यूरोप और अमेरिका पूरी दुनिया थी जिसमें आर्थिक समानता या लगभग समानता के लिए जरूरी होने पर हिंसा और रक्तपात तक उचित है। यूरोप से बाहर की दुनिया उनकी क्रान्ति की योजना में शामिल न थी। वहाँ के उद्योगों को नष्ट और उनके विकास के सभी रास्ते बन्द करने के साथ यूरोपीय पूँजीवाद का उदय हुआ था। समस्त दुनिया यूरोप के लिए बाजार और कच्चे माल का स्रोत था। अतः वहाँ के समाजों के लिए न तो मार्क्स के पास कोई योजना थी, न ही कोई सहानुभूति, न सम्मान का भाव और न ही समझने की शक्ति। भारत के विषय में मार्क्स उसी मुहावरे में बात करते हैं जिसमें मिल जो सिरफिरे 'दार्शनिक' कहे जा सकते हैं।

इसे रेखांकित करना जरूरी है कि मार्क्स यूरोपीय समाज के दबे और उत्पीड़ित वर्गों के प्रबल समर्थक और उसके भाग्योदय के लिए चिन्तित थे। परन्तु एक दार्शनिक के रूप में सबसे कमजोर दार्शनिक। उनके ऐतिहासिक भौतिकवाद में ऐतिहासिकता पुरानी और अशक्त अर्थव्यवस्थाओं को प्रतिस्थापित करने वाली नई व्यवस्था के उदय तक तो ठीक है। परन्तु उससे आगे औंधा। अपनी उतावली के कारण वे इस बात तक का ध्यान नहीं रख सके कि एक ओजस्वी व्यवस्था को अपने ही अन्तर्विरोधों से अशक्त होने से पहले उस पर किए जाने वाले आक्रमण भी प्रतिक्रियावादी होंगे और अन्ततःआत्मघाती सिद्ध होंगे।

इतिहास का उपयोग और इतिहास की समझ में दूरी अधिक नहीं है, यदि है तो विवेक की। कसाई बकरा हो या बकरी किसी को काट बेंचेगा, क्योंकि उसे उनके मांस से मतलब हैं। इससे कितनी हानि होती है, इसकी उसे चिन्ता नहीं। परन्तु बकरी को बचाने वाला और बकरों को ही बेचने वाला बकरीपालक, जानता है कि किसे बचा कर रखे बिना हम मिट जाएँगे और किसे बचाने की जिद में हम एक ऐसा बोझ पैदा कर लेंगे कि उस बोझ से ही हम मिट जाएँगे। इतिहास के उपयोग और इतिहास की समझ में यही अन्तर है।

वर्तमान की अतीतता और अतीत की वर्तमानता—इतिहास वर्तमान से अलग नहीं है। जिस वर्तमान से हम परिचित हैं वह एक वैयाकरणिक अवधारणा है। जिसे हम स्थूल रूप में वर्तमान कहते हैं वह कई बार लाखों करोड़ों और अरबों वर्षों का अतीत होता है। उदाहरण के लिए एक ज्योतिर्विद अपने अधुनातन दूरदर्शी से एक पिंड को आज देखता है और बताता है, यह एक अरब प्रकाशवर्ष की दूरी पर है। जब कि आज वह वहाँ है ही नहीं, इस बीच नष्ट हो चुका हो तो भी अचरज की बात नहीं। वर्तमान सूचनाओं के हमारे पास पहुँचने से निर्मित होता है, मात्र घटित होने से नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास का अध्ययन और इतिहास का बोध—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी लोगों को इतिहास का गहन अध्ययन करना चाहिए। यह बात ज्ञान की किसी भी शाखा के विषय में नहीं कही जा सकती। इतिहास की व्याख्या की जिम्मेदारी जिन्होंने ली है उन्होंने अपना काम कितनी तैयारी, कितनी निस्पृहता, कितनी तटस्थता से किया है और उनके द्वारा जो इतिहास तैयार किया गया है वह कितना भरोसे का है, इसकी मोटी समझ रखना और उनकी व्याख्याओं की सामान्य जानकारी ही समाज के दूसरे लागों के लिए जरूरी है।

हमारे इतिहासकार—पिछले चालीस साल से भारतीय शिक्षण और शोध संस्थानों पर ऐसे ही लोगो का अधिकार रहा है जो संस्कृत नहीं जानते, वैदिक नहीं जानते, स्वयं इसे स्वीकारते भी हैं, परन्तु प्राचीन समाज के बारे में ऐसे मौलिक दावे करते रहे हैं जिसका साहस अंग्रेज शासकों और ईसाई मिशनरियों को भी नहीं हुआ, जिनको सबसे लम्बी लड़ाई वेद और पुराण से ही लड़नी पड़ी और जो लड़ाई आज भी जारी है। उनका बहाना रहा है, कि संस्कृत और वैदिक साहित्य में जो कुछ जानने योग्य था, वह अब तक जाना जा चुका है।

उसी सब कुछ जाने हुए में से जब मैंने वे प्रमाण दिखाए जिनसे ऋग्वेद हड़प्पा सभ्यता का साहित्य बन गया तो पहले उसके प्रकाशन में बाधा डाली, फिर छायायुद्ध चलाया, और उस पर भी जब काम नहीं चला तो यह बहाने करने लगे कि हम इतिहासकार नहीं हैं, साहित्यकार हैं। साहित्यकार हैं या नहीं, प्रश्न है वे प्रमाण प्रमाण हैं या नहीं? जो भी हो, उन्हें इतना तो मानने को बाध्य होना ही पड़ा कि आर्यों का कोई आक्रमण भारत पर नहीं हुआ था।

अपने अतिरेकी दावों को इतिहास का सच बनाने के लिए उन्होंने शिक्षा की पुस्तकों के प्रकाशन अधिकार का केन्द्रीकरण करके अपनी मुट्ठी में कर लिया और सबसे कमाऊ प्रकाशन संस्थान के मालिक वे स्वयं बन बैठे। अध्ययन और अनुसंधान और भर्ती के सभी संस्थानों पर एकाधिकार करके अपनी करनी को वैतरणी पार कराने वाली तरणी बनाते और नई पीढ़ी को इतिहास के पार उतारते रहे। इतिहास समाज की चेतना का निर्माण करता है और जिस तरह की चेतना का निर्माण उन्होंने किया उसका उदाहरण आज का अर्धविक्षिप्त सा बना समाज है जिसमें सभी मर्यादाएँ और सीमाएँ टूटने लगी हैं।

सभ्यता और इतिहास लेखन—जिन समाजों के पास इतिहास नहीं रहा है वे असभ्य रहे हैं, यह पदव्याघाती कथन है क्योंकि जिन समाजों ने सभ्यता को जन्म दिया और उसका प्राथमिक विकास किया उनके पास इतिहास नहीं था, इतिहास की घटनाओं को दर्ज करने का साधन, अक्षरज्ञान तक न था। उनके पास अपना पुराण था। हेरोडोटस की व्याख्या को मानें तो इतिहास विस्मरणीय घटनाओं की याद बचाने का साधन है और इस माने में यह वैसा ही काम है जैसा निजी जीवन में डायरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता। डायरी लिखने के कतिपय लाभ हैं इसे नकारा नहीं जा सकता, फिर भी दुनिया के सबसे बुद्धिमान कहे जाने वाले लोगों में भी अधिकांश अपनी अतिशय कार्यव्यस्तता के कारण डायरी नहीं लिखते। डायरी लिखने वाले सामान्य जीवन में उनसे समझदार होते हैं यह दावा नहीं किया जा सकता।

फिर यदि इतिहास को किसी लाभ के लिए जानते हुए भी विकृत किया या बनाया जा सकता है जैसा कि पश्चिम करता आया है तो वह उन पुराणों से तत्वतः भिन्न कैसे हो सकता है जो अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए देवता, सूर्य, वायु, इन्द्र आदि से अपनी उत्पत्ति मान कर गर्व करते रहे हैं?

इतिहास समाज को नियन्त्रित करने का औजार मात्र है और यह काम विरूपित या अनुकूलित इतिहास की सत्यता में विश्वास करा कर किया जाता रहा है। ले दे कर हम बरनी की उसी व्याख्या पर पहुँचते हैं जिसमें उसने कहा था कि इतिहास सामान्य लोगों की जरूरत नहीं है, यह शासकों के काम की चीज है।[11] इसका उपयोग जैसा कि अपने अनुभव से हम जानते हैं, किसी समाज का मनोबल तोड़ने, सभ्यता को नष्ट करने, अरक्षितों पर प्रहार करने के बहाने तलाशने, या अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए किया जा सकता है और किया जाता रहा है। विकृत इतिहास का उत्तर सही, तथ्यपरक इतिहास हो सकता है और ऐसा इतिहासलेखन एक साहसिक कार्य है।

सभ्यता का सीधा सम्बन्ध शास्त्र या सैद्धान्तिकी तथा प्रौद्योगिकी से है जिससे पुरातन ज्ञान को अर्जित करने, उसमें विकास करने और उसके लाभों से पूरी मानवता को देर-सवेर लाभान्वित करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

संदर्भ

1 THESE are the researches of Herodotus of Halicarnassus, which he publishes, in the hope of thereby preserving from decay the remembrance of what men have done, and of preventing the great and wonderful actions of the Greeks and the Barbarians from losing their due need of glory; and withal to put on record what were their grounds of feuds. The History, by Herodotus: Tr. Rawlinson.

2 "That men do not learn very much from the lessons of history is the most important of all the lessons that history has to teach." Aldous Huxley, Collected Essays.

3 "The most effective way to destroy people is to deny and obliterate their own understanding of their history." Orwell.

4 "universal history goes from East to West. Europe is absolutely the end of universal history. Asia is the beginning." Hegel, Samtliche Werke. J. Hoffmeister and F. Meiner, eds. (Hamburg, 1955½, appendix 2, p. 243

5 "Because history is the configuration of the Spirit in the form of event, the people which receives the Spirit as its natural principle...is the one that dominates in

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

that epoch of world history...Against the absolute right of that people who actually are the carriers of the world Spirit, the spirit of other peoples has no other right."

6 "Because history is the configuration of the Spirit in the form of event, the people which receives the Spirit as its natural principle...is the one that dominates in that epoch of world history...Against the absolute right of that people who actually are the carriers of the world Spirit, the spirit of other peoples has no other right."

7 The Germanic Spirit (germanische Geist) is the Spirit of the New World (neuen Welt), whose end is the realization of the absolute truth, as the infinite self-determination of liberty that has for its content its proper absolute form. The principle of the German Empire ought to accommodate the Christian religion. The destiny of the Germanic peoples is that of serving as the bearer of the Christian principle."

8 "It is characteristic of the blacks that their consciousness has not yet even arrived at the intuition of any objectivity, as for example, of God or the law, in which humanity relates to the world and intuits its essence. ...He [the black person] is a human being in the rough."

9 "The British, or rather the East India Company, are the masters of India because it is the fatal destiny of Asian empires to subject themselves to the Europeans."

7 From Hegel's Einleitung in die Geschichte der Philosophie (J. Hoffmeister, ed., Hamburg: F. Meiner, 1962), op. cit. Roger-Pol Droit, L'Oubli de L'Inde, Une Amnésie Philosophique, Presses Universitaires de France, 1989, p. 189.

10 Marx used an 1823 French translation of Mill's book (Elements of Political Economy, London, 1821).. The Mill part of the Paris Notebooks is quite lengthy – it starts on page 25 of the fourth notebook and continues into the fifth. Following a lengthy selection of Mill excerpts, Marx suddenly "veered off" and began developing a larger, tangential thought. After writing his thoughts out, Marx returned to more Mill transcription. Soon, a second digression followed. Upon its completion, Marx finished up his summarizing. (Marx used a translation of Mill"s book, by J. T. Parisot, Paris, 1823.).

11 "The mean, the ignoble, the rude, the uncouth, the lowly, the base, the obscure, the vile, the destitute, the wretched, the low-born, and the men of market-place, can have no connection with History; nor can its pursuit be their profession. The above mentioned classes can derive no profit at all from learning the science of History; and it can be of no use to them in any time... The science of history is the special preserve the nobles and the distinguished the great men and the sons of Great men." (Barani, Tarikh-I Firuz Shahi, ed. Saiyid Ahmad Khan, Calcutta, 1862, p. 11 cited by Shireen Moosvi 'Medieval Indo-Persian Historiogrphy', p. 61 in Different Types of History ed.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णता के कुछ बिम्ब

रिचर्ड लेनाय*

पूर्णता के बिम्ब से मेरा तात्पर्य ब्रह्माण्डीय पूर्णता के अनिर्वचनीय अनुभव का विशिष्ट और विविध भारतीय तरीकों के द्वारा व्यक्त करना या उनका आवाहन करना है। अभिव्यक्ति की उन ऊँचाइयों को प्राप्त करने का प्रयत्न, बिम्ब-निर्माता एवं दर्शक दोनों को दर्शन योग्य (दर्शनीय) कथनीयता की सीमा-रेखा के अत्यन्त करीब ले जाता है। समुचित स्पष्टीकरण की अनुपस्थिति की दशा में कुछ सर्वाधिक हृदय-विदारक दृष्टान्त वहाँ मिलते हैं, जहाँ वे न्यूनतम अपेक्षित होते हैं, जहाँ पहुँचना कठिन होता है या जहाँ उनको स्पष्टता के साथ देखना भी दुःसाध्य है। इन्हें नाटकीय या नयनाभिराम बिम्बमाला के द्वारा विरचित परिशून्यता या रिक्त स्थानों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। पूर्णता का विरोधाभास, चूँकि किसी के अनुभव करने की क्षमता से है, और परिभाषा के हिसाब से यह लगभग अस्पष्ट है। जो व्यक्ति अतिसंवेदनशीलता तथा कल्पना के साथ पूर्णता का अनुभव कर चुके हैं, वे इसे परित्याग करने की ओर अग्रसर होते हैं। इसे लेकर मेरा दृष्टिकोण कुछ धुँधला और अस्पष्ट जैसा है। आवश्यक नहीं कि आपका दृष्टिकोण भी मेरे जैसा हो। फिर भी मैं प्रागैतिहास से लेकर वर्तमान काल तक व्यक्ति-विशेष और जन, ब्रह्माण्ड और लघु -ब्रह्माण्ड तथा मनुष्यों की वैयक्तिक अलगाव की अनुभूति का जीवन की पूर्णता में विलय के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए भारतवर्ष में प्रयुक्त औपचारिक तथा बिम्ब रूपी भाषा में तादत्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करूंगा। इन मुख्य साधनों में समाविष्ट हैं– अध्यारोपण, पारदर्शिता, भौतिक पदार्थों का भावपूर्ण कार्यान्वयन, रिक्त स्थानों एवं शून्यता का उपयोग, आधारभूत संरचना एवं इसके विपरीत आकृतियाँ, कथानकपूर्ण/विवरणात्मक आलेख, गतिशीलता एवं स्थिरता की औपचारिक द्वन्द्वात्मकता, दिखावटी रूप से विस्तीर्ण अवनतिपूर्ण दृष्टि–ये सभी पूर्णता के आध्यात्मिक एकाकार दृष्टिकोण को दर्शाने में

*लेखक इंग्लैण्ड में रहते हैं। हिन्दू धर्म तथा कला के विशेषज्ञ हैं और फोटोग्रैफी में पारंगत हैं। 'पूर्णता के कुछ बिम्ब' वार्षिक पत्र 'एवम्' में प्रकाशित अंग्रेजी लेख का अनुवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयुक्त हुए हैं। मैं, सही अर्थों में तत्वमीमांसा के जन्म से पूर्व, मध्यप्रदेश के भीमबेटका से शुरू करना चाहूँगा, जिसे मैं समुचित रूप में भारतीय प्रागैतिहासिक पार्श्विक चित्रकला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृष्टान्त मानता हूँ। हम लम्बे घुमावदार स्थल-मार्ग तथा घने जंगलों के बीच पहाड़ियों से सफर करते हुए वहाँ पहुँचे थे। बृहत शैल-प्रलम्बी चित्रकला का एक भाग, जो कई मीटरों तक फैला हुआ है, जिसे कई जनजातियों के लोगों ने सुदूरवर्ती कालों में बनाया होगा। एक जनजाति द्वारा बनाये गये पूर्ववर्ती चित्रांकनों को बिना सम्पूर्णतः अधिलोपित किये, दूसरी जनजाति उन पर अपने चित्रांकन अध्यारोपित कर चुकी है। इसके अनेक घटकों का निष्पादन रेखीय तथा कथित 'एक्स-रे' शैली की पारदर्शिता की विस्मयकारी जटिलता के जालीदार या एक जाल के रूप में निर्माण करना है। प्राचीनतम स्तर सम्भवतः मध्यपाषाणयुगीन है न कि पुरापाषाणयुगीन, इन चित्रों का इसी तरह के भ्रान्तिपूर्ण तरीकों से अध्यर्थन किया जाता रहा है। इसके ऊपर लिखित चर्मपत्र की चाहे जो भी उम्र हो, यह इस सहस्राब्दि के सम्पूर्ण मानव जाति के अनुभवों का एक परिपूर्ण संग्रह है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भीम बैठका के चित्रांकन किस रूप में पूर्णता के चित्र हैं। स्विटजरलैण्ड के महान सौन्दर्यशास्त्री सिगफ्रीड गिडियन ने लिखा है- 'आदिमयुगीन कला, दृष्टिकोण की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को कभी प्राप्त नहीं कर सकी। वहाँ कोई ऊँचाई या गहराई नहीं है, न ही वहाँ अध्यारोपण के लगातार उपयोग का साक्ष्य देता कोई स्पष्ट विभेद या विभिन्नता है। सब कुछ एक शाश्वत प्रस्तुति के अन्तर्गत प्रदर्शित था—कल, आज और आने वाले कल के चिरस्थायी अन्तःस्राव में।'

वे कहते हैं—'प्रत्येक उत्तरोत्तर बिम्ब भव्य रूपकालंकार में परस्पर अपृथक्करणीय हैं, उनमें चित्रित सभी विषय अन्तर्सम्बन्धित हो जाते हैं, वे असमरूप में सौन्दर्यपरक सातत्य का आभास देते हैं। यह प्रागैतिहासिक कला कहीं न कहीं पूर्णता के आवश्यक लक्षणों को आच्छादित कर जाती है, हालाँकि यह चित्रकला सौन्दर्य का दावा नहीं करती फिर भी इसे हम महान ऐतिहासिक युग की कलाकृतियों में संलग्न करते हैं। रूपाकृतियाँ अगाध गहराई से आती हुई या फूट पड़ती हुई एक दूसरे से बहुरूपदर्शी अन्तः क्रिया करती हैं जो कि बिम्ब परिभाषा की ऐन्द्रजालिक अस्पष्टता है, उसे देर तक देख कर ही समझा जा सकता है। इस पाषाण पर, जनजातीय चित्रकारों की अनेक पीढ़ियों ने एक के बाद एक चित्र समूह को उभारा है, बगैर पहले के आवृत (आलेपित) चित्र चिन्हों को मिटाते हुए। सम्भवतः ये सभी लोग स्वयं से अनभिज्ञ हैं, परन्तु ब्रह्माण्डीय शक्ति द्वारा एक दूसरे से निकटस्थ और जुड़े हुए हैं।

सन्निकटता से देखने पर आप यत्र-तत्र उन धूमिल हो गये कला के अवशेषों को भी देखेंगे, जो निश्चय ही विनष्ट हो गये हैं। क्या वे उन लोक संस्कृतियों के सदृश नहीं हैं एवं वे क्या सम्भवतः उनके प्रारूप की तरह दृश्यमान नहीं हैं जैसा अजन्ता के चित्रांकन में पाया जाता है। कहा जा सकता है कि ये चित्र अजन्ता की शाश्वत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...मता को समेटे हुए हैं। वस्तुतः मेरी दृष्टि में सारनाथ के वे वैभवशाली भवन हैं ...चिन्तामणि (सार्वभौम-मस्तिष्क) की अनन्त सर्पिलता लिये हुए विचारों को प्रकट ...ते हैं। भीमबेटका, अजन्ता एवम् सारनाथ की स्थापत्य-रीतियाँ एक विशिष्ट ...ता एवं बृहदाधारित व्यापकता का संग्रहालय है जिसे अपवाद स्वरूप ही ऐसा ...र किया जायेगा। इस प्रकार भीमबेटका के ये चित्रांकन स्वयं की पूर्णता का ...भौम स्मृतिचिन्ह होने की अपनी पात्रता को प्रमाणित करते हैं।

सार्वभौम ब्रह्माण्डीय ऊर्जा की शक्तियाँ जिनसे मानव स्वयं को एकाकार करता ...वे सृष्टिशास्त्र के अनेकों प्राचीन रूपकों में प्रतिष्ठित किये गये हैं। मेरा मानना है ...इस आदिम सम्पूर्ण ऊर्जा का सर्वाधिक सूक्तियुक्त, सघनतम एवं सूक्ष्मतम ...निधि वैदिक काल का आदिम टीला है जहाँ से ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण ऊर्जा उत्पन्न ...है, साथ ही, यह मौर्यकालीन सिक्का मूलतः पूर्णता के "हीरोग्लिफ" को हमारे ...मने प्रस्तुत करता है।

एक कथ्य एवं एक औपचारिक भाषा की घोषणा करते हुए ये चित्रालेख ...तीय पूर्णता के वर्णन के समीचीन है और हमारे लिए वर्तमान सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण ...। यथा ब्रह्माण्डीय वृक्ष का जीवन जल पर प्लावित पृथ्वी की आदिमकालीन मिट्टी ...ष्ट) से बाहर की ओर पल्लवित होते हुए, अनन्त की ओर विस्तृत होता चला ...ये। एक अन्य प्रारूप के रूप में, ब्रह्माण्डीय महासागर से शिव के लिंगोद्भव को ...या जा सकता है। यह कथन घोषणा करता है कि "यही पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्णता ...कार) दृश्यमान होती है, पूर्णता से जब पूर्णता का विनाश होता है, तो पुनः जो शेष ...ती है, वह पूर्णता है।"

सौन्दर्य विषयक दृष्टि से, यह कला की विधि जितनी भारत में शाश्वत ...कथनीय), उल्लेखनीय और सम्मोहनकारी है, उतना विश्व में कहीं नहीं है। भारतीय ...ला की नम्यता की यह विशिष्टता है कि इसमें ऊर्जा को बहिर्मुखी माना गया है। ...सका एक चित्रात्मक उदाहरण प्रायः प्रदर्शित यह ब्रह्माण्डीय वृक्ष है, यह तभी से ...लन में है जब से बुद्ध के प्रबोधन को बोधिवृक्ष के माध्यम से दर्शाया जा रहा है।

मैं मथुरा से प्राप्त प्रथम सदी के उभारदार वृत्त-फलक पर आना चाहता हूँ जिस ...र यह प्रसंग चित्रित किया गया है—एक वृक्षादित मन्दिर, बोधि मन्दिर जिससे वही ...ह्माण्डीय वृक्ष बाहर की ओर आच्छादित हो रहा है। मुझे इसके आध्यात्मिक अर्थ की ...मझ है। इसका कारण सम्भवतः पूर्व में बुद्ध के द्वारा वैदिक ब्राह्मणों की सारी ...क्तियों और वैदिक ब्रह्माण्डीय शास्त्र के श्रोत और ज्ञान को अस्वीकृत करना था। ...आगे चल कर, अन्य कहीं और असाधारणरूप से सोमनाथ के रायसल स्तम्भ में ...सम्पूर्ण ऊर्जा का स्रोत बनती हुई उत्स संश्लिस्ट मूर्ति में अनन्तता की अभिव्यक्ति हुई ...है। इसी प्रकार, हिन्दू मन्दिरों के शिखर एक महत्वपूर्ण कला विशिष्टता के रूप में ...अर्चना करने वालों पर अनन्तता के रूपक के रूप में यथेष्ठ प्रभाव पैदा करते हैं। सदृश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से विस्तृत, अन्य ढाँचों में एक के पश्चात एक क्रमागत रूप से बढ़ते हुए एवं साथ ही समरूप, मन्दिरों की श्रृंखला और लघु विमानों की सहायता से एक चक्रीयवृत्ताशील अनन्तता का प्रभाव उत्पन्न होता है। यह समरूप स्थापत्य अर्चना करने वालों को अनेक, इसमें प्रवेश एवं प्रदक्षिणा के दौरान, पूर्णता का ज्ञान कराती है।

अमरावती के बौद्ध स्तूप पर उत्कीर्ण चित्रांकन, अनगिनत आवृतिशील एवं स्वरूपी नमूनों को प्रदर्शित करते हैं एवं यहाँ कमल फलक के प्रारूप की सौ से भी अधिक आवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। ये आध्यात्मिक शक्ति एवम् अनन्त रचनात्मक सर्जन के प्रतीक हैं। यहाँ पर यह आनन्दातिरेक उन्माद की सीमा तक प्रदर्शित होता है। स्वयं इस स्तूप के अस्तित्व की केन्द्रीय एकाग्रता और आनुपातिका कभी न समाप्त होने वाली शाश्वत गतिशीलता में वाहित होता है। साथ ही कमलाकृति तेजस्वी चेतनानुभूति का द्योतक है । बादामी में अपूर्वानुमेय विशालता की वैचारिकता, यहाँ के आश्चर्यजनक स्थापत्य वैभव एवं पत्थरों के तथ्यान्वेषण के माध्यम से उपस्थित हुआ है। विष्णु गुहा मन्दिर (छठी सदी) के स्तम्भीय एवं गुहायुक्त गलियारों में, शिल्पकारों ने कभी न मापी जा सकने वाली (अथाह) ब्रह्माण्डीय जल का आभास दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुहा-द्वार के ऊपर अवस्थित विशाल शैल ब्रह्माण्डीय जल से भारित हो कर रवेदार पत्थरों के स्तम्भों की धारियों में रूपान्तरित हो गया है। विष्णु यहाँ शेष (ब्रह्माण्डीय जल या महासागर का विशाल सर्प) की कुण्डली पर बैठे हैं। शिल्पकारों ने यहाँ अवचेतन जीवन की आन्तरिकता का उपयोग कर इस प्रकार की आभास देने वाली संरचना की निर्मिति की है, जिसमें बादामी रंग के पत्थर उपयोग में लाये गये हैं। यहाँ जल के अन्दर सब कुछ विद्यमान होने की विशिष्टता इस स्थापत्य के नीचे के खण्ड में सर्वाधिक दर्शनीय है। विष्णु के वाराह अवतार को एक विशाल पशु के रूप में जल के अन्दर से सर्पराज को रौंदता हुआ एवं पृथ्वी माता को समेटता हुआ दर्शाया गया है।

कुछ अन्य तरीकों से भी गुहा मन्दिर एवं शिला-स्तम्भ, पूर्णता के लिए प्रयोग में लाये गये हैं। इनमें से कुछ सर्वाधिक भव्य एलोरा के पास मिले हैं। मैंने तीन उदाहरणों का चुनाव किया है- प्रथम में शिल्पकार ने दर्शकों द्वारा स्थापत्य के चलायमान परीक्षण (घूमती रहने वाली दृष्टि) करने वाले नेत्र का उपयोग सम्पूर्ण मन्दिर के स्थापत्य में, सम्पूर्णतः अन्दर से बाहर एवं नीचे से ऊपर तक किया है। ऐसा प्रयोग, गुहा के अन्दर एवं बाहर दोनों स्थानों पर दर्शनीय है। मैं यहाँ पर निश्चय ही, शिव के पर्वत पर विराजमान होने को इंगित कर रहा हूँ। यह जीवन्त शैलों द्वारा उत्कीर्ण, त्रिविध आयामी रूप से दर्शनीय है। त्रिविध आयामी रूप कहने का तात्पर्य है—बाज पक्षी द्वारा ही या गरुड़ द्वारा देखने का तरीका। त्रिविधायामी सिद्धान्त का प्रयोग मूलतः यूरोपीय अतिअलंकरण की एक पद्धति रही है, परन्तु मैं मानता हूँ कि इस पद्धति का भारत एवं उसमें भी एलोरा में उपयोग अद्वितीय है। यह दर्शकों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र दिव्यता का प्रभाव छोड़ती है, साथ ही उनमें ऐसी सामर्थ्य पैदा करती है कि कृति के भीतर भी देखें। मैं आप का ध्यान प्रायः उपेक्षित किये जाने वाले इस तथ्य पर लाना चाहता हूँ कि पुरातात्विक निर्देशालय के आगमन से पूर्व एक समय इस भवन के छत पर जाना सम्भव था एवं पूर्णता के देव शिव को, जो कि कैलाश शिखर पर सिंहासनारूढ़ हैं आमने-सामने देखा जा सकता है।

पूर्णता को बिम्बित करती हुई दूसरी कला शैली, एलोरा के दशावतार गुहा के गुम्म अभिव्यक्तिपूर्ण सशक्त कला में देखी जा सकती है। हम इसके देहानुपात के आकार एवं विशिष्टतया इसके विशाल वर्गीय स्तम्भ से आकाश अन्तरिक्ष की परिपूर्ण शून्य सदृश पूर्णता का अनुभव कर सकते हैं। यह प्रभाव इस तथ्य पर निर्भर है कि एक दृश्यमान संरचना की यह शक्ति होती है कि अपने समीप की रिक्तता में बदला सके। प्रकृति एवं असीम असीमित दृष्टि विस्तार में खुलते हैं। दैवीय ऊर्जा का चित्रांकन, शान्त एवं स्थावर ज्यामितीय स्तम्भीय आकृतियों एवं शिल्पगत देवताओं के प्रस्फुटित गतिशीलता के अद्भुत सन्तुलन में चित्रांकित है। यहाँ पर युग्म देवताओं के मध्य के रोमांचक संघर्ष प्रस्फुटित हैं पर साथ ही उन्हें विस्तृत वैभवहीन स्तम्भों द्वारा प्रभावित होता हुआ देखा जा सकता है। ऋतुओं के अनुसार, यहाँ पर सूर्य की रोशनी एवं छाया की अलग-अलग प्रकृति इस अतिकाय द्वन्द्वात्मक पूर्णता को सक्रिय करती रहती है।

एलोरा में (आठवीं सदी) तीसरी कला शैली निश्चय ही अतिवादी शैली है, जहाँ उत्कीर्ण शैल को भावुकता को वनाग्नि में परिवर्तित कर दिया गया है। यह पूर्णता पूर्व स्थापित सीमाओं और परम्पराओं को श्वेत उष्ण अभिव्यक्ति के उत्साह में ध्वंस करती हुई लगती है।

इसके ठीक विपरीत, मैं यहाँ पूर्णता की अपनी सर्वथा भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैं पचास वर्षों से अधिक समय से अजन्ता की बौद्ध कला में उलझा रहा हूँ। चूँकि बौद्ध धर्म परमतत्व एवं स्वयं के अस्तित्व को नकारता है और विचार करता है कि कुछ भी पृथक नहीं रहता है, प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु से सम्बन्धित होती है, हिन्दू गुफा मूर्तिकला से अलग इन स्थानों की सीमाओं के भीतर वास्तुशिल्पीय और ज्यामितीय आधार को छोड़ कर बौद्ध व्यवस्थाओं के अनुरूप विवरणात्मक चित्रकला की संरचना की जा रही थी। बौद्ध दृश्यविधान के अनुसार, व्यक्ति जो बोध की तरफ, प्रत्येक क्षण गति के सातत्य के साथ व्यतीत करता हुआ, प्रकृति के गतिमान प्रवाह में मनुष्य और दूसरे सजीवों के साथ वहन करता हुआ, अजन्ता की कथानक प्रतिमावली को चित्रित करता है। समान रूप से लघुतम अक्षीय सम्मिति पर विवरणों का कोई केन्द्र या घेरा नहीं होता। आवश्यक तिरछे तरीके में यह अजन्ता की गूढ़ पाषाण संरचना में अल्प आलोचित मन्त्र द्वारा प्रायः दृश्यों को ढाँचागत या विरामचिन्हित किया जाता है। तथापि, इस प्रकार के विविध आकार की, रंगकारी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारित जटिलता का प्रयोग करके उन्हें सजावटी अलंकरण मात्र नहीं रहने दिया जाता। तथापि, इस प्रकार के विविध आकरिकी, रंगकारी और विचरित जटिलता का प्रयोग उन्हें सजावटी अलंकरण मात्र या अन्यत्र स्थानपूर्ति करने वाले से विभेद करने के लिए होते हैं। इसकी प्राचीनतम तिथि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध से शुरू होकर ईसा युग के छठी शताब्दी के अन्तिम भित्तिचित्र तक निरन्तर रही है। ये चित्र संचयित सूत्र नहीं बल्कि प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न हैं। मुझे लगता है कि इस तरीके से वे वास्तविक सातत्य से अस्पष्ट रूप से बाहर की ओर जाते हैं। जातक कथा नायक को ढाँचाकरण और अवक्षेपण को निर्वाण की ब्रह्माण्ड की पूर्णता के लिए, द्रष्टा को प्रकृति के जन्मजातीय अनधिकृत एकाकीपन, तथापि सान्द्रिक प्राकृतिक सार को महसूस करने में मदद कर रहे बौद्ध चित्रकार को उन्हें सूक्ष्म संकेत की तरह अर्थ समझाना चाहिए। जब इन विलक्षण और सावधानी पूर्वक आकार दिये गये पाषाण अपने आकस्मिक विभंजनों और मानव निर्मित छिद्रण और छिद्रों, जिनसे पौधे अंकुरित होते हैं, स्वाभाविक रूप में शिलापट्ट से जिनका पहलूकरण राजमिस्त्रियों द्वारा आंशिक रूप से छेनी से काट कर किया गया है, जिसे गुहा मन्दिर के प्रवेश द्वार के आस पास कोई भी देख सकता है, उनके भोथरे अपूर्ण प्रकटीकरण और उनके वास्तविक सातत्य का अनुपदेशन स्वाभाविक व्याख्या का विरोध करते हैं और जो इन्द्रियों द्वारा महसूस और विचार करने, दोनों से परे हैं, जो जन्म नहीं लेता और बिना माप के है।

एक गुफा के प्रवेश द्वार पर सर्वथा भिन्न किनारों पर शिलायन्त्र को एक असामान्य रूप से केन्द्रित और अक्षीय संयोजन की तरह प्रयुक्त किया गया है। यहाँ वसन्त की शाश्वत ताजगी और चिरस्थायी यौवन के दृश्यों का विन्यास हो रहा है। यह बौद्ध स्वर्गीय-लोक में प्रवेश की कामना भी हो सकती है। अनन्य रूप से इन आकारों को कुशलता से चित्रित किया गया है कि अगर प्रदीपन के स्रोतों-मशाल प्रकाश, मूलतः आज कल के समय का विद्युत प्रकाश हटा लिया जाये तो व्यक्ति भूततुल्य रह जायेगा, अब तक सम्पूर्ण चक्रित अनुमापी का उच्च परिदृश्य के उत्तर बिम्ब पर जगमगाते हस्तिदन्त की जीवों के चारों ओर बहते हुए, अलौकिक पवित्रता के साथ कुछ क्षणों के लिए मण्डराते रहने के बाद इन पाषाणरूपों के सामने एक रहस्यपूर्ण बौद्ध आवाहन में ब्रह्माण्ड में परिवर्तनशीलता का सब कुछ फैल रहा है।

जातक अवतारों की प्रतिध्वनि अजन्ता में देखी जा सकती है जो कि हिन्दू पूर्णता के बिम्ब की सर्वाधिक उत्तम प्रतिमूर्ति है। गुजरात के समलाजी में छठी शताब्दी की महान महाविष्णु मूर्ति, पारिजात वृक्ष, इन्द्र के जीवन का सार्वभौमिक वृक्ष, को चित्रित करता है, जो क्रमशः विष्णु के रूप में भगवान की एकल धारणा में विलीन हो जाता है। एक गूँज सम्भवतः अजन्ता के जातक अवतरण को पूर्णता के आध्यात्मिक विशिष्ट हिन्दू बिम्बों में से एक के रूप में देखा जा सकता है। वृक्ष की 21 शाखाएँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शिखर पर शिव की आकृति खड़ी है, दैव्य पूर्णता को सूचित करता है। जब पारिजात वृक्ष का उपगमन करते हैं तो यह कृष्ण के दिव्य नगर द्वारका की संख्या, उनके पूर्ववर्ती जन्मों का स्मरण कराती है। इस प्रकार यह यादवों के लिए के स्वत्व के यथार्थ से मिलन, उनके दैव्य प्रतिष्ठा का एक अनुस्मरण है।

पूर्णता का मेरा अगला बिम्ब ग्वालियर संग्रहालय का ग्यारहवीं सदी का एक वाराणसी शिलापट्ट है जिसे डॉ. पी.एन. जोशी द्वारा पवित्र नगर के एक आदर्श तीर्थयात्रा- मानचित्र के अनन्य चित्रण के रूप में चिन्हित किया गया है। इसमें इस पवित्र शहर को देवताओं से परिपूर्ण, एवं गंगा को उसके हिमालयी उद्गम से दक्षिण उत्तर की ओर प्रवहमान एवं साथ ही इसे जलीय जीव-जन्तुओं से परिपूर्ण दर्शाया गया है। नगर को दृष्टि के आश्चर्यजनक क्षण में चित्रित किया गया है जैसे यह पूर्णतः ईश्वर द्वारा बनाया गया हो। समकालीन उद्धरणों के अनुसार इसकी पूजा उतना ही पुण्यप्रद है जितना कि वाराणसी में भौतिक निवास, इससे सम्बन्धित एक विचार तीर्थयात्रा के कागजी मानचित्र में समाविष्ट है और अर्वाचीन है, जहाँ स्वयं वाराणसी नगर के अन्दर, विविध तीर्थों पर एक तुल्यमान भारत-दर्शन के अन्तर्गत भारत के सभी मुख्य तीर्थों को अन्तर्निहित किया गया है। इन स्थानों के पुण्यप्रद तीर्थों को सम्पूर्ण भारत में उतना ही प्रभावोत्पादक माना जाता है जितना इनके मूलस्थानों पर।

यह दावा किया जा सकता है कि वाराणसी में एक महान त्योहार के लिए एकत्र तीर्थयात्री समूह को इन्हें एक सगुन के रूप में स्वीकार करने का अवसर प्रदान किया जाता है। बनारस, वाराणसी-शिलापट्ट का "शिलापट्ट" बन जाता है। 1905 ई. में प्रयाग के माघ मेले में एक अनजान छायाकार द्वारा लिया गया छायाचित्र, जिसमें पाँच विशालदर्शी प्रदर्शनियों में इस प्रकार के वास्तविक जीवन में शिलापट्ट पर भव्य उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह पूर्णता के एक इतने बड़े बिम्ब में परिवर्तित हो गया है कि शायद ही कोई कल्पना कर सके।

आधुनिक चित्रकला के तीन उदाहरणों को उद्धृत करते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज भी पुरातन स्वरूपों को प्रतिध्वनित करती हुई पूर्णता, भारतीय कलाकारों का मुख्य विषय रही है जो हमारे समय में और भी स्पष्ट है। विनोद विहारी मुखर्जी द्वारा, शान्तिनिकेतन में हिन्दी कवियों की सभा में खींचा गया प्राचीनतम-काल का एक वृहदाकार बहुविध भित्ति-चित्र पूर्णतः एक निजी प्रयास है। भोपाल विधान सभा के प्रवेश द्वार पर गुलाम मो. शेख का करिश्मा एवं सभी गुणों से पूर्ण—"जीवन का वृक्ष" भित्ति-चित्र औपचारिक संश्लेषण का आलिंगन करता है—इतना जितना पहले उद्धृत समलाजी के परिवर्तित पारिजात वृक्ष की प्रतिमा। इसी प्रकार यन्त्र-व्युत्पन्न राजा का "जल-बिन्दु" इसके गहरे रहस्यात्मक सागरीय निकाय के साथ शब्दों से परे एक व्यापकता का प्रदर्शन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु पूर्णता का मेरा अन्तिम उदाहरण एक चित्र है जो लगभग साठ वर्ष पूर्व एक अशिक्षित विद्यालयी छात्र द्वारा मद्रास में प्रदर्शित किया गया। कोई चौंतीस ढाँचों के निवृत्त व्यंग्यचित्र में राक्षस और देवता के बीच विरोधी ऊर्जा के एक निरपेक्ष तूफान की संरचना है। इस अंकित भँवर के उन्माद में अवश्य ही सब कुछ अन्तर्विष्ट है जिसमें ईश्वर एक के बाद एक, विचार की तरह, एक स्पर्श रेखा पर एक विशुद्ध मस्तिष्क का साक्ष्य देती चेतना की तरह स्पर्श रेखा पर चक्रवात से बाहर निकल रहा है। मैं एक व्यक्ति के विचारों के साथ अपनी बात का अन्त करना चाहता हूँ, जो सामान्यतः इस लेख के विषय से सम्बन्धित नहीं है; ये शब्द बीसवीं सदी के महान प्रगीतात्मक कवि रेनर मारिया रिल्के के हैं। इन पंक्तियों को, बर्न (जर्मनी) के "म्यूज़ी डि हिस्टोरी" में उनके द्वारा एक भव्य चादरों की प्रदर्शनी की खोज के पश्चात उनके जीवन के अन्तिम चरण में लिखा गया था।

"अपने भ्रमण पर मैंने एक उत्तेजक खोज की; वृत्ताकार, वर्गाकार या नक्षत्राकार केन्द्र से युक्त श्याम, हरे या हस्तिदन्त के सदृश श्वेत धरात अपने आप में एक परिपूर्ण एक मनोहर संसार है। हाँ सत्य में, प्रत्येक हाथ से बुना गया, पूरी तरह अपने आप में परिपूर्ण एक मनोहर पूर्णता और शायद एक पूर्ण परित्याग है, प्रत्येक एक उद्यान है, पूरा आकाश एक ही सूत्र में बना है, बल्कि जिस प्रकार नींबू में पूरे स्थान में सुगन्ध भरी होती है, उसी प्रकार पूरा विश्व इसमें सिमट जाता है, जैसे ही यह फल पकता है—दिन और रात की तरह यह सबों को एक साथ मिश्रित कर लेता है। मैं अचानक चादर के सत्व को समझ गया। शायद यह इस प्रकार है- केवल धीमे और वास्तविक हस्त कार्यों में, परिवर्तनशीलता सम्पन्नीकृत हो सकती है, इस प्रकार भावानुवादों को छोड़ कर जीवन में चुपचाप समरूप पूर्णता प्रकट की जा सकती है, जीवन में एक कविता में जादुई मन्त्रोच्चार के द्वारा अपनी तरफ आकृष्ट करने के लिए कुछ दृढ़ चेहरे सामने आ जाते हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयता की पहचान

कैलाशचंद्र पंत*

...वी भगवती सरस्वती ने हाल ही में प्रकाशित एक लेख में लिखा है कि भारत को ...की लेंस से नहीं देखा जा सकता। उसे समझने का आधार उस मानस को ...चानना है जो बहुत गहरे तक यहाँ जड़ जमा चुका है। इसे केवल अनुभव से जाना ...सकता है। साध्वी स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त ऐसी महिला ...जिन्होंने मनोविज्ञान में पी.एच.डी. की है। वे सेवा और त्याग को मिशन बना कर ...ध्वी बनी हैं। इस कथन का भावार्थ यह है कि सतही तौर पर समझना कठिन है कि ...रत और भारतीयता की समझ भारतीय दृष्टि को आत्मसात करके पैदा की जा ...कती है।

यह अकेला उदाहरण नहीं है उन लोगों के अनुभव का जो विदेशों से आकर ...रत को समझने की कोशिश करते रहे। पिछले वर्ष ही अमेरिका में बसे भारतीय ...जीव मल्होत्रा की पुस्तक 'बिइंग डिफरेंट' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की चर्चा भारत ...ज्यादा पश्चिमी विद्वानों के बीच हो रही है। उसमें एक रोचक उल्लेख आया है। ...वर्ष पूर्व इलाहाबाद कुंभ को देखने उनके साथ कुछ अमेरिकी विद्वान और पत्रकार ...रत आए थे। उन्होंने कुंभ में जहाँ तहाँ प्रवचनों का शोर सुना, भजन मंडलियो को ...-नाचते देखा, कहीं साधुओं की जमात को चिलम पीते देखा, और कहीं जन–समूह ...गंगा में स्नान करते देखा। यह सब देख कर उनकी प्रतिक्रिया उन्होंने राजीव ...होत्रा को दी। मल्होत्रा ने उनसे कहा कि आप लोग स्नान करने वालों, भजन-कीर्तन ...ने वालों, प्रवचन सुनने वालों से पूछिए कि क्या वे अशांति का अनुभव कर रहे हैं! ...न अमेरिकी समूह में कुछ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर भी थे। उन्हें बात गहरी लगी। ...ति मन की अवस्था होती है। बाहरी बातों से या दिखावे से वह प्राप्त नहीं की जा ...कती है। कुंभ में जुटी भीड़ के मानस को अनुभव से ही समझा जा सकता है।

*कैलाशचन्द्र पन्त, मन्त्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं प्रधान सम्पादक, अक्षरा; ...ता : 9/35 सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कड़कड़ाती ठंड में बिना किसी छाया के भी वे लोग अपूर्व आनंद का अनुभव कर रहे थे। इस आनंद की अनुभूति के लिए गहरी आस्था अपेक्षित है। लाखों की संख्या में बिना किसी प्रचार के कुंभ मेले में एकत्र समाज कुछ तो आंतरिक सुख पाता ही होगा। भारत की पहचान इसी आस्था से होती है। विदेशियों की नजर में यह अंधविश्वास और पिछड़ापन हो सकता है। लेकिन भारतीय संस्कृति की विकास-यात्रा में यही विश्वास उसका केंद्र-बिंदु रहा है।

यही आस्था थी जिसने भारतवासियों को ऋषि परंपरा से अद्भुत कुछ रहस्यों पर विश्वास करना सिखाया। वे रहस्य तत्व-ज्ञान से जुड़े थे। उनका मुख्य प्रतिपाद्य था—सृष्टि का रहस्य क्या है? व्यक्ति और विश्वात्म का संबंध क्या है? उस चिंतन का रहस्य इस मंत्र में साकार होता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते।।

इससे जो सोच उभरता है वह संपूर्णता का है। भारतीय दृष्टि खंडित विचार नहीं करती। इसीलिए उसकी मान्यता है—मानव, विराट की एक आदर्श प्रतिमूर्ति है—जैसे हम, वैसा ही वह विराट पुरुष जिसकी तरंगें ही पूरी सृष्टि में व्यक्त हो रही हैं। यही सिद्धांत पुरुष सूक्त में अभिव्यक्ति पाता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः साहस्राक्षः सहस्रपात्।

यही है मानव की संपूर्ण विकास को विकास पुरूष के भीतर देखने की दृष्टि। इस तत्व—ज्ञान को एक व्यापक जन-समूह द्वारा अंगीकार कर लिया गया। इतने बड़े पैमाने पर स्वीकृति ज्ञान अनुभव की कसौटी पर जरूर कसा गया होगा। उसमें जीवन की सच्चाई का अंश देखा गया होगा। ऐसा तत्व—ज्ञान जिस समूह द्वारा अनुकरणीय माना गया वह भारत देश का निवासी है। उस भारत देश की सीमाओं का संकेत भी कर दिया गयाः—

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः।।

जिस ऋषि परंपरा ने ऐसा सूक्ष्म अध्ययन किया और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को सुलझाया उन पर आस्था जमना स्वाभाविक था। यह आस्था, सौ साल या हजार साल की नहीं हैं। अनादि काल से चली आ रही हैं। उस भारतीय समाज को आर्य कहा गया, सनातन धर्मी कहा गया और परवर्ती काल में उसे हिंदू संज्ञा दे दी गई। नाम कुछ भी रहा हो आस्था का स्रोत वही ऋषि परंपरा रही। यह अलग बात है कि भारत के पराभव-काल में विदेशों के तथा-कथित विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हमारे आर्ष ग्रंथ केवल मिथक हैं और वेद गड़ेरियों का गीत है। भारतीय विद्या के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इन तथा कथित भारतीय विद्याविदों को विल डूरेंट ने फटकार लगाते हुए था–

It is true that even across the Himalayan barrier India has sent to us questionable gifts as grammar and logic, philosophy and fables, otism and chess, and above all our numerals and our decimal system. these are not the essence of her spirit; they are trifles compared to we may learn from her in the future. As invention, industy and trade the continents together, or they fling us into conflict with Asia, we study its civilisation more closely and absorb, even in enlmity, some ways and thoughts. Perhaps in return for conquest, arrogance, and liation, India will teach us the tolerance and gentleness of the mature d, the quiet content of the unacquisite soul, the calm of the erstanding spirit and a unifying, pacifying love for all being. [The ry of Civilisation : Our Oriental Heritage]

डूरेंट ने भारत की इस आंतरिक शक्ति को सही पहिचाना। वेद सृष्टि के संपूर्ण को पराशक्ति के यजन या इसके यज्ञरूप में ही परिभाषित करता है। समग्र र के प्राणियों की परितुष्टि का विधान पंच महायज्ञ में सन्निहित है। मनुष्य-पशु-पक्षी-सिद्ध-सर्प-प्रेत-पिशाच-वृक्ष ये सभी मेरे द्वारा प्रदत्त अन्न की इच्छा हैं। वे इसे पाकर सुखी और परितृप्ति प्राप्त करें। इस भावना के साथ यज्ञ किया है। यह हमारी सांस्कृति विरासत जिसमें महत्व आंतरिक भाव का है। यही -यज्ञ है।

डूरेंट के इस कथन को साध्वी भगवती के उस कथन से मिलाकर देखें जो इस के प्रारंभ में उद्धृत किया गया है। डूरेंट का यह निष्कर्ष सही है कि भारत रिचित आत्मा के मौन आयतन से, अंतरात्मा की समझ से प्राप्त होने वाली शांति र हर जीवधारी प्राणी के प्रति अविरोधी तथा एकात्म होने की शिक्षा विश्व को दे ता है। साध्वी ने भी तो यही कहा है कि भारत को केवल अनुभव से उसके चित्त समझ कर ही जाना जा सकता है। भारतीयों को वेद, उपनिषद और पुराण यही ा देते रहे हैं जो उनके उक्ति में समा चुकी है, संस्कारों का अंग बन चुकी है।

एक अन्य अंग्रेज चार्ल्स इलियट ने 1907 से 1912 तक हिंदू धर्म और बौद्ध का अध्ययन किया। वस्तुतः उसने शोध ग्रंथ भी लिखा। चार्ल्स ने अपने ग्रंथ में धर्म की खास विशेषताओं का जिक्र करते हुए लिखा–

Indian religion is as wilful and unexpected in its variation as human ure itself and that all generalizations about it are subject to execption. we say that it preaches asceticism and the subjection of the flesh, we

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

may be confronted with Vallabhacharya who inculcate Self indulgence; if we say that it teachers re incarnation and successive lives, we may be toed that the Lingayats do not hold that doctrine. And though we might logically maintain that these sects are unorthodox, yet it does not appear that Hindus excommunicate them. Still, it is just to say that the doctrines mentioned are characteristic of Hinduism and are repudiated only by eccentric sects.

(Hinduism & Budhhism : Charles Eliot)

डूरेंट या चार्ल्स इलियट हों या साध्वी भगवती सरस्वती तीनों ही विदेशी हैं। परंतु उन्होंने भारत को समझने की कोशिश किसी विदेशी हित की पुष्टि करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी जिज्ञासा को शांत करने के खातिर निष्पक्ष ढंग से भारत के तत्व चिंतन की गहराई तक उतरने का प्रयास किया। भारत के संबंध में भ्रांतियाँ तो जानबूझ कर फैलाई गईं। उनका उद्देश्य भारत की आध्यात्मिक व्याप्ति, जीवन के महान लक्ष्य को पाने की उसकी साधना, उसके तत्व-चिंतन और उसके प्रचलित धर्म को अपने से हीनतर सिद्ध करना ही था। दुर्भाग्य से भारत के शिक्षित समाज पर ये भ्रांतियाँ हावी होती गईं। हम अपने महान उत्तराधिकार को विस्मृत करते चले गए। आज हम आत्म विस्मृति के ऐसे गर्त में जा धँसे हैं कि अपनी भारतीय पहिचान को भी खंड-खंड में देखने लगे हैं; यहाँ तक कि भारत के एकात्म स्वरूप को भी विभाजित इकाइयों में समझने की कोशिश की जा रही है।

विभ्रम के शिकार लोगों को स्वामी विवेकानंद के जीवन की एक घटना से सबक लेना चाहिए। स्वामी जी जब अमेरिका की यात्रा कर रहे थे, एक नगर के कुछ धनी सज्जनों ने उनसे कहा था—भारत निर्धन देश है और अमेरिका भौतिक दृष्टि से संपन्न देश। क्या यह उचित नहीं होगा कि भारत के लोगों को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण जीवन का निर्माण करने के लिए अमरीकी जीवन पद्धति स्वीकार कर लेनी चाहिए। स्वामी जी ने उत्तर दिया—मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु एक कठिनाई है। आपकी सभी पद्धतियाँ अभी प्रयोगावस्था में हैं। भारत एक प्रचीन राष्ट्र है। मैं मानता हूँ कि हमारी व्यवस्था में समय के साथ कुछ विकृतियाँ आई हैं। इन्हें सुधारना पड़ेगा। किन्तु हमने एक ऐसी समाज-व्यवस्था निर्मित की है जो हजारों वर्षों से सुस्थिर रही है और जिसने हमारे समाज की उत्कृष्ट स्थापना की है। यह व्यवस्था करना ही हो तो उसे भी समय की कसौटी पर सही सिद्ध होना चाहिए। आपकी व्यवस्था को कम से कम पाँच सौ वर्षों तक तो कहीं सही सिद्ध हो जाने दीजिए। इतने वर्षों में यदि आपकी व्यवस्था सही परिणाम देती है तो भारतीय लोग उसे स्वीकार करने में किंचित भी नहीं हिचकिचाएँगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी विवेकानंद के जीवन का यह प्रसंग लगभग सवा सौ वर्ष पुराना है। आज क्या देख रहे हैं? अमेरिका तो अमेरिका, उसकी जीवन पद्धति को अपनाने वाले अन्य देश भी आर्थिक संकट झेल रहे हैं और अपनी अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए आर्थिक उपनिवेशों की तलाश में नए नए हथकंडे अपना रहे हैं। इतना ही नहीं पश्चिमी दुनिया से साम्यवाद के रूप में जो नया आर्थिक विकल्प आया था वह सोवियत संघ में सत्तर वर्षों में ही बिखर कर असफल हो गया। जबकि भारत तो डेढ़ हजार वर्षों से आक्रमण सहते हुए, आर्थिक दारिद्रय से जूझते हुए भी, अपनी जमीन पर खड़ा रह सकने का साहस दिखा रहा है। हमने पश्चिम के भौतिकवादी जीवन-दर्शन की निस्सारता को बहुत पहले ही समझ लिया था। हमारा दर्शन प्रकृति को केंद्र में रखकर संयमित उपभोग में विश्वास करता है। हमारा आध्यात्मिक दर्शन सिखाता है कि मनुष्य केवल देह नहीं है। वह आत्मा से संचालित और संवर्धित होता है। ऐसा भी नहीं है कि हमने सामाजिक विकृतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। समाज-सुधारकों की एक लम्बी श्रृंखला इस देश में प्रकट होती रही। भक्ति आंदोलन का गहराई से विश्लेषण किया जाय तो पता चल जाता है कि वह सामाजिक जागृति का विराट आंदोलन था। कबीर, रैदास, नानकदेव आदि निर्गुण संत हों या तुलसी, सूर, मीरा जैसे सगुण संत हों उन्होंने समाज को नया दिशा दर्शन दिया। भारत की चली आ रही सामाजिक संरचना को राजनीतिक पराभव के उस युग में बचाए रखना इन्हीं संत कवियों द्वारा संभव हुआ। सिखों के दशम गुरू गोविंद सिंह ने जिन पंच प्यारों की निर्मिति की थी, उनमें विभिन्न प्रदेशों के और विभिन्न जातियों के व्यक्ति शामिल किए थे। सामाजिक भेदभाव को दूर कर समाज की स्थापना के लिए इससे बड़ा क्रांतिकारी कार्य क्या हो सकता था? गुरू नानकदेव जी ने एक ही सत् ओंकार का हर्ष उद्घोष ही तो गुरूवाणी में किया है। इसके बाद हमें समर्थ गुरू रामदास, शंकरदेव, स्वामी दयानंद, आदि समाज-सुधारकों की लंबी श्रृंखला दिखाई देती है। हमारे अपने समय में महात्मा गाँधी का आंदोलन जहाँ राजनीतिक था, वहीं सामाजिक भी था। इन सभी महापुरुषों ने भारत की एकात्मता का दर्शन किया था और उसकी विराट आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विरासत को पुष्ट किया था। इनके मन में कोई हीन-ग्रंथि नहीं थी। देश का सम्यक चित्र इनके सामने रहा।

इस विस्तृत विवेचन के बाद समझा जा सकता है कि भारत वस्तुतः क्या है? और भारतीयता की पहचान के कौन से तत्व हैं जिनकी अनदेखी कर भारतीयता की पहचान संभव नहीं हो सकती।

श्री अरविंद ने भारत को परिभाषित करते हुए लिखा था—

"हमारी मातृभूमि क्या है? वह एक भूमि का टुकड़ा ही तो नहीं है, न वाणी का कोई अलंकार है और न मस्तिष्क की कल्पना की एक उड़ान मात्र है। वह एक महान शक्ति है जिसका निर्माण उन करोड़ों एककों की शक्ति को मिलाकर हुआ है जो राष्ट्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्माण करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे सारे करोड़ों देवताओं की शक्ति को एकत्र कर एक बलराशि संचित की गई और उसे परस्पर जोड़कर एकता स्थापित की गई जिसमें से भवानी महिषा-मर्दिनी प्रकट हुईं। वह शक्ति जिसे हम भारत भवानी कहकर पुकारते हैं, तीस करोड़ लोगों की शक्तियों की जीती जागती एकता है, पर वह निष्क्रिय है, तमस् के इंद्रजाल में बंदी होकर, अपने पुत्रों की आत्मसक्त क्रिया-हीनता के वशीभूत होकर"—

(देश की क्रांतिकारी तैयारी;' 1905)

(श्री अरविंद ने सन् 1905 में तीस करोड़ की संख्या का उल्लेख किया था, जो आज के संदर्भ में 120 करोड़ पढ़ी जा सकती है)

'भारत माता की जय' का उद्घोष करने वालों को यह समझना होगा कि वह भारत क्या है? इस पवित्र भाव के मन पर छाते ही हम समझ लेंगे कि भारत देश में जन्म लेने मात्र से हम भारतीय कहलाने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते; संविधान प्रदत्त नागरिकता का अधिकार भी हमें वह पात्रता नहीं दे देता। ये सब तो बाह्य उपादान हैं जिन्हें भारतीयता बहुत मान्यता नहीं देती। भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री रमेशचंद्र लाहोटी ने एक लेख में भारतीयता को स्पष्ट करते हुए लिखा था :-

" 'भारतीय' केवल परिभाषिक नाम अथवा विशेषण मात्र नहीं है। भारतीय होने से जुड़ी है भारत के वंशज होने की पहिचान, भारत माँ की संतान होने का अभिमान, भारतीभूमि की मिट्टी से इस शरीर की रचना होने का अहसास, भारतवर्ष की सीमाओं की रक्षा करने का उत्तरदायित्व और भारत का होने के नाते इसके संपन्न साहित्य, उदात्त दर्शन और गहन चिंतन से लगाव। यह स्मरण हो जाता है कि भारत कभी विश्व-गुरू रहा है। आध्यात्मिक उन्नयन में न कोई हमारा जोड़ रहा है और न कोई हमारा सानी। यह तो स्मरण रहे, पर इस चिंता के साथ कि हमारा ह्रास भी हुआ है और पतन की ओर कुछ बढ़ें हैं। इस सबका मिलाजुला रूप है भारतीयता।"

('भारतायन' पृ.834)

जस्टिस लाहोटी ने जो बात अंत में स्मरण दिलाते हुए लिखी इस पर स्वामी विवेकानंद और श्री अरविंद सहित अनेक विचारकों ने चेतावनी दी थी। हमारे दर्शन-ग्रंथों में आत्म विकास के मार्ग में आत्म शुद्धि और आत्म-विश्लेषण का आग्रह निरंतर विद्यमान रहा है। जो बात व्यक्तिशः साधना के लिए जरूरी है, वह किसी भी जाति और राष्ट्र के लिए भी आवश्यक है। इस प्रक्रिया के अवरुद्ध होते ही विकास की गति कुंठित होती जाती है और अंततोगत्वा हम अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं। दुनिया की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ पुरातत्व की खोजों का विषय बनी हुई हैं। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति समय की कठोरतम परीक्षा के बावजूद अपना अस्तित्व न केवल बनाए हुए है, प्रत्युत समानांतर सभ्यताओं के लिए खोज और ईर्ष्या का विषय बनी हुई है। इसके लचीलेपन, खुले-मन, खुले-विमर्श और बौद्धिक तर्कों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स दुनिया के किसी भी चिंतन का टिक पाना संभव नहीं है। आज भी विश्व के बौद्धिक जगत को अमेरिका में बस गए राजीव मल्होत्रा खुली बहसों में निरूत्तर कर रहे हैं। सौ-सवा सौ वर्ष पहले ही स्वामी विवेकानंद ने शिकागो के धर्म सम्मेलन में अपने व्याख्यान से भारतीय दर्शन और चिंतन की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को चकित और निरूत्तर कर दिया था।

भारत पर आरोप लगाया जाता है कि यहाँ की त्यागपरक संस्कृति और दर्शन ने साधु-सन्यासियों की जमात खड़ी कर दी जिसने जीवन और कर्म से पलायन की प्रेरणा भारतीयों को दी। भारत में प्रतिष्ठि गीता में जिस प्रकार विवेचित की गई है उसे समझने वाले इस बेहूदा आरोप को निरस्त कर देते हैं। भगवान हैं। भगवान ने अर्जुन से कहा था—

श्रेयानि स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्विमुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

(भली प्रकार से किए हुए परमधर्म (दूसरे ही धर्म) से गुणरहित स्वधर्म में मृत्यु भी कल्याण प्रद है, परधर्म भयानक होता है।)

मोहवश युद्ध से पलायन करते हुए अर्जुन को राग-द्वेष छोड़कर अपने कर्तव्य-कर्म करने की कैसी सद् प्रेरणा दी गई थी। अपने धर्म पर आरूढ़ रहकर कर्म करने की प्रेरणा देते समय सावधानी इस बात की बरतनी होती है कि कर्म—फल में आसक्ति न रहे। यह सामान्यतः संभव नहीं दिखाई देता। जब किसी परिणाम की संभावना न हो तो कर्म की ओर मनुष्य प्रवृत्त ही क्यों होगा? गीताकार इसीलिए स्वधर्म का संकेत करता है और स्वधर्म का निर्धारण पूर्व जन्म के संचित कर्म-फलों से होता है। यही है कर्म सिद्धांत, जो हिंदू तत्व-चिंतन को गहराई देता है। कर्मयोग इसी आधार भित्ति का विस्तार है जिसमें प्रकृति के तीन गुणों—सत्, रज, तम—में सामंजस्य बैठाने की बात की गई है। कर्मयोगी परम शांति और निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का तथा परम कर्मशीलता के बीच भी मरूस्थल की निस्तब्धता और शांति का अनुभव करता है।

भारत के इस तत्व-चिंतन को समझ लेने, समझकर आत्म-सात कर लेने और तदनुरूप आचरण में उतारने के बाद ही भारतीयता को समझ पाने का दावा किया जा सकता है। उपलब्धि आसानी से हासिल नहीं हो सकती। इसके लिए एक जटिल पथ है जिससे गुजर कर आत्मसंयम साधा जाता है। इस पथ की कठिनाई को देखते हुए ऋषि परम्परा ने सन्यासियों को इस दिशा में अग्रणी किया। उनकी तपस्या से निःसृत निष्कर्ष उन्होंने सामान्य समाज को सरल शब्दों में प्रदान किए। चूँकि भारतीय समाज की सन्यासियों के प्रति एक विशेष आस्था हर युग में रही इसलिए उन्होंने उनके वचनों का अनुगमन किया। ऊपर जिस आत्म संयम की बात कही गई और जिसके कारण कर्मयोगी परम कर्मशीलता के बीच शांति और निस्तब्धता का अनुभव कर पाता है उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म संयम का एक छोटा सा निर्देश है—'त्येन त्यक्तेन भुजीथः। आगे इसका व्यावहारिक रूप फल की कामना रहित कर्म में फलितार्थ होता है।

जीवन को उसकी समग्रता से जिस चिंतन पद्धति ने देखा है, उसी ने आध्यात्मिकता की सुहृढ़ नींव पर भारत की सामाजिक संरचना की है, वह समय की परीक्षा में खरी भी उतरी है। इसमें अपने विचारों पर दृढ़ रहने की क्षमता है पर नए विचारों को अपने अनुरूप ढाल लेने का लचीलापन भी है। भारत में रहने वाला प्रत्येक उसकी शक्ति है। यह संपूर्ण समाज जिसको अपनी आस्था देता है और जिससे वह स्वयं शक्ति ग्रहण करता है उससे एकाकर होने वाला प्रत्येक जन सही अर्थों में भारतीय है। उसकी प्रत्येक साँस भारत माता के चरणों में समर्पित होनी चाहिए। उसके प्रत्येक कर्म में भारतीयता व्यक्त होती है, वह प्रत्येक प्राणी के प्रति सद्भाव और समानता का भाव रखता दिखाई देता है और इस बात के प्रति सचेत रहता है कि किसी कर्म से भारत माता लज्जित न हो तो उसकी सही पहिचान स्थापित हो जाती है। हमारा कर्तव्य है कि भारतीयता की इस पहिचान के प्रति सचेत रहें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवीन्द्र शर्मा (गुरुजी) की बातचीत का महत्व

कमलेश*

ज्ञान के अंग के रूप में समाज विज्ञानों का महत्व सुनिश्चित नहीं है। कम से कम पराविद्याओं में उनकी गणना नहीं हो सकती। अपरा विद्याओं में भी उन्हें द्वितीय कोटि में ही रखा जाएगा। पिछले कुछ दशकों से पश्चिमी देशों में समाज विज्ञानों को किन्हीं अन्य विद्याओं के साथ जोड़ कर उन्हें महत्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। किन्हीं दर्शनों के साथ जुड़ कर समाज विज्ञान का कोई नया सम्प्रदाय बन जाता है। समाज के क्षेत्र में की जाने वाली अपनी स्थापनाओं को कुछ महत्वाकांक्षी समाज वैज्ञानिक 'दर्शन' का महत्व देने लगते हैं। लेकिन दर्शन की परिधि में तो 'सत्य' ही आ सकते हैं। समाज विज्ञान में 'सत्य' नहीं, प्रायः समाज के विवरण ही होते हैं। उन्हें 'सत्य' का आस्पद नहीं मिल सकता। समाज विज्ञानों में कभी-कभी कुछ लोग 'सत्य' शब्द का प्रयोग करते भी हैं तो वह क्षीण अर्थ में ही होता है। समाज विज्ञानों के दायरे में पूर्ण अर्थ में 'सत्य' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती।

भारत में एक शताब्दी या अधिक समय से समाज विज्ञानों की शिक्षा दी जा रही है। समाज विज्ञान के दो भाग होते हैं- इतिहास और समाज शास्त्र। इतिहास की शिक्षा अपेक्षाकृत पहले से दी जा रही है। इतिहास की विद्या यूरोप में भी सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी से ही विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में आयी। भारत में तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही इतिहास लिखा और पढ़ाया जाने लगा। इतिहास में कालक्रम से समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों, परिवर्तन के घटकों और परिवर्तन के प्रवर्तकों का विवरण होता है। इसमें कालक्रम से होने वाले राजनीतिक परिवर्तनकारियों अर्थात राजाओं और राजकर्मियों के चरित का भी अध्ययन होता है। वर्तमानकाल में कई तरह के इतिहासों की कल्पना की जाती रही है। इनमें राजवंशावलियों के अतिरिक्त सामान्यजनों का इतिहास, सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास, भू-राजनीतिक तत्वों के परिणामों का विवरण, पिछले इतिहास के तत्वों के आधार पर भविष्य के इतिहास की कल्पना

*कमलेश, बी-25 वसन्त कुंज एनक्लेव, नयी दिल्ली-110070 मो. 9873259909

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि। किसी भी प्रकार का इतिहास एक भौगोलिक सीमा में रहने वाले मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों और क्रियाकलापों का विवरण कहा जा सकता है। कुछ महत्वाकांक्षी इतिहासकार अपने समय का इतिहास 'फील्ड वर्क' करके लिखने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

समाज विज्ञानों के लिए क्षेत्र में काम करने ('फील्ड वर्क') का बड़ा महत्व होता है। क्षेत्र में किया जाने वाला अध्ययन ही उनको अपनी विद्या की सही समझ देता है। उसके बिना विद्या को सुडौल रूप नहीं मिलता। पश्चिमी समाज विज्ञानों की शुरुआत ऐसे ही 'फील्ड वर्क' से हुई थी। तब के 'फील्ड वर्क' के लिए साम्राज्य का अंग बनाये गये उपनिवेश बहुत बड़ा क्षेत्र प्रदान करते थे। कई शताब्दियों से अफरीका जैसे महाद्वीप में हर आदिम समाज द्वारा विविध रीतियों से अर्थ ग्रहण करने के प्रयत्नों का अध्ययन समाज विज्ञानों की ज्ञानचर्या का अनिवार्य अंग रहा है।

भारत के भी अनेक समाजों, गाँव समाजों और आदिम समाजों का अध्ययन इंग्लैण्ड और अन्य पश्चिमी देशों के समाज वैज्ञानिकों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू किया गया। इनमें अनेक प्रयत्न विभिन्न क्षेत्रों के 'गजेटियरों' में या अनेक क्षेत्रों के 'ट्राइब्स और कास्ट्स' की रिपोर्टों और दसवर्षीय जनगणनाओं की भूमिकाओं में दबे पड़े हैं। ये अध्ययन समाजों के बाहरी लक्षणों को भी अपने दायरे में पूरी तरह समेट नहीं पाते थे। हिन्दू समाजों के अध्ययन में कभी-कभी शास्त्र ग्रन्थों का भी उपयोग किया जाता था, फिर भी बात नहीं बनती थी। भारतीय समाज के 'जाति' जैसे तत्व की भी पूरी समझ नहीं बन पायी, हालाँकि बहुत से विदेशी पादरी 17वीं शताब्दी से ही जाति को समझने के लिए अनेक तरह की चेष्टाएँ करते रहे थे। बल्कि उसके भी पहले 13वीं शताब्दी में अल्-बरूनी भी ऐसा प्रयत्न कर चुके थे जिसकी आज तक वाहवाही होती रहती है।

इस सन्दर्भ में हम रवीन्द्र शर्मा जी की बातचीत से मिलने वाले सामाजिक ज्ञान के महत्व को समझ सकते हैं। रवीन्द्र शर्मा जी ('गुरु जी') अपनी बातचीत में अपने द्वारा देखी-गुनी-सुनी गयी बातों का ही विवरण देते हैं। लेकिन अचानक हमें लगता है कि उस विवरण से हमारी आँखों के सामने समाज का पूरा नक्शा खुलता जा रहा है। लोगों के बीच पीढ़ियों में विकसित हुए सम्बन्ध, अनुष्ठानों में एक-दूसरे के प्रति निश्चित हुए दायित्व और इन दायित्वों से व्यक्ति की आत्मनिर्मिति-इन्हीं प्रक्रियाओं से समाज निर्मित होता हुआ लगता है। हमें यह भी समझ में आता है कि उस समाज में क्या प्राणवान है और क्या नाशमान हो चुका है। रवीन्द्र शर्मा जी अपनी बातचीत में जिस जीवन्त गाँव का नक्शा हमारे लिए खींचते हैं, स्वयं उन्हें इस गाँव का परिज्ञान कैसे हुआ?

रवीन्द्र शर्मा जी का जन्म पुराने निजाम हैदराबाद राज्य के अंग मराठवाड़ा के आदिलाबाद नामक गाँव/कस्बे में हुआ था। उनके पितामह कभी पंजाब से रेल बिछाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करते हुए आदिलाबाद पहुँचे। फिर वहीं बस गये। रवीन्द्र शर्मा जी तो अब हिन्दी बोल भी नहीं पाते। वे तेलुगू ही बोलते हैं। निजाम के इलाके की उर्दू या हिन्दी वे तेलुगू तर्ज की मिश्रित भाषा में बोलते हैं। जो लोग इन इलाकों की बोलियाँ जानते हैं, उन्हें पता है कि निजाम के इलाके की हिन्दी/उर्दू कितनी शिष्ट और कितनी मीठी होती है। विशेष कर गुरू जी के मुख से निकली बोली अत्यन्त सहज, अत्यन्त मधुर और सम्प्रेषणपूर्ण होती है।

रवीन्द्र शर्मा जी आदिलाबाद में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद हाईस्कूल की पढ़ाई के लिए हैदराबाद गये। तब तक यह प्रकट हो चुका था कि उनका कला का अभ्यास उनकी प्रतिभा के अधिक अनुकूल है। इसीलिए हैदराबाद की पढ़ाई पूरी करके वे बड़ौदा चले गये। कुछ पहले से ही बड़ौदा विश्वविद्यालय का आर्ट कॉलेज कला की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो चला था। बड़ौदा विश्वविद्यालय से कला की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे कला के अध्यापक नहीं बने, वे आगे के अध्ययन के लिए पेरिस भी नहीं गये, (बड़ौदा में ही उन्हें इन दोनों के प्रस्ताव मिले थे।) वे सीधे अपने गाँव आदिलाबाद वापस चले आये।

रवीन्द्र शर्मा जी को आदिलाबाद का बहुत सा ज्ञान अपनी बाल्यावस्था में स्वयमेव मिला रहा होगा। बड़ौदा से वापस आकर उन्होंने एक तरह से क्षेत्र संन्यास ले लिया। वे अनेक वर्षों तक अपने गाँव से बीस किलोमीटर की परिधि में ही रहते रहे। कोई बीस वर्षों तक वे अपने गाँव से कभी बाहर नहीं गये। वे गाँव के हर कारीगर परिवार में कुछ वर्ष रहते थे। उसकी कारीगरी को पूरी तरह सीखते थे, उसके परिवार के रस्मों, तीज-त्योहारों, पूजाओं और पर्वों और गाँव के शेष समाज के साथ उसके सम्बन्धों को उनकी पूरी वाह्यता और उनकी पूरी आन्तरिकता में समझते थे। एक तरह से वे उसकी कारीगरी से पूरी तरह एकाकार हो जाते थे। इस तरह उन्होंने हर कारीगर परिवार में दो-दो, तीन-तीन बरस लगाये। ये कारीगर लोग ही उन्हें 'गुरु जी' कहने लगे, धीरे-धीरे वे पूरे गाँव वालों के लिए ही 'गुरु जी' बन गये। जब उन्होंने सारी कारीगरियाँ सीख लीं तो उन्होंने गाँव में एक 'कला आश्रम' बनाया।

कारीगरियाँ सीखने का मतलब विविध कारीगरियों के साथ जुड़े हुए अनुष्ठानों को भी आत्मसात करना था। उनके साथ जुड़ी हुई व्यवस्थाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना था। कारीगरियों का सम्बन्ध गाँव के जीवन और व्यवहारों से जुड़ा हुआ था। कारीगर अपना कार्य गाँव वालों के लिए करते थे। गाँव वालों के साथ उनका यजमानी का सम्बन्ध था। अपने कार्य के बदले में वे गाँव वालों से कोई अपेक्षा नहीं करते थे। लेकिन जिस तरह की प्रथाएँ गाँव में सुदृढ़ हो गयी थीं उनके अनुसार स्वयमेव उनकी सारी जरूरतें पूरी होती रहती थीं। कोई भी अपनी जरूरतों को इस तरह नहीं बढ़ाता या फैलाता था कि उसे गाँव के बाहर जाकर कुछ करने का आश्रय लेना पड़े। गाँव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को 'आत्मनिर्भर' कहने का तात्पर्य यही रहा होगा। काफी प्राचीनकाल से विदेशी यात्री भारतीय गाँवों के 'आत्मनिर्भर' होने का उल्लेख करते रहे थे।

'गुरु जी' बाल्यकाल से ही इस गाँव के अन्तर्सम्बन्धों को देखते रहे थे। बड़ौदा से लौटने के बाद वे इन अन्तर्सम्बन्धों के अंगभूत हो गये। उन्होंने सबसे ऐसे सम्बन्ध बना लिए कि उन सम्बन्धों की आन्तरिकता में बस कर सारे सम्बन्धों के जाल को ग्रहण किया जा सके। 'गुरु जी' को यह बात समझ में आ गयी कि पूरा गाँव किस तरह आपसी सम्बन्धों में विकसित हुई व्यवस्थाओं और अनुष्ठानों पर टिका हुआ है। वे इस बात को समझ तो गये लेकिन इस बात को कैसे दूसरों को बतलाया और समझाया जाए।

शुरू से ही 'गुरु जी' के मन में लिखने से कुछ दुराव रहा है। जैसे लिखने से मौखिक बात का जादू कुछ घट जाता है। सहज जीवन की बात बोलने में उससे नैकट्य बना रहता है। बातचीत वास्तविकता से बहुत दूर नहीं जाती। इसलिए वे केवल बोलते हैं। बोलना भी भाषण जैसा नहीं। वे केवल आपसे बातचीत करते हैं। अगर वे 100-50 लोगों के सामने बोल रहे हैं तब भी लगता है कि हर श्रावक से उनकी अभिन्नता है और उनकी बात हर श्रावक द्वारा अपने मन के एकान्त में सुनी जा रही है। बातचीत एक गाँव में बसने वाले लोगों के अन्तर्सम्बन्धों की है, वहाँ बसे हुए परिवारों के बीच के सम्बन्धों की है, गाँव में अनादिकाल से चली आ रही व्यवस्थाओं की है। बातचीत में पूरा गाँव आप की आँखों के और मन के सामने उपस्थित होने लगता है।

'गुरु जी' ने अपने जीवन में जो भी सीखा-गुना वह उनके मन में बस गया। उन्होंने पुस्तकें भी पढ़ी हैं। बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें। उनमें से बहुतेरी अब उपलब्ध नहीं हैं। उनका सारा ज्ञान मन में परत-दर-परत जमा हुआ है। गुरु जी जब बोलना शुरू करते हैं तब वह ज्ञान उनके मन से वाणी के रूप में गंगा की तरह प्रवाहित होता है। वे अनन्त काल तक बोलते रह सकते हैं और आप मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रह सकते हैं। उनकी घण्टे-डेढ़ घण्टे की बात-चीत में आप को क्या-क्या मिला है, यह आप को बाद में ही पता चल सकता है अगर आप बाद में उस पर गुनते रहें, मनन करते रहें। अपने जीवन अनुभव को उनकी कही बातों से मिलायें और समझें।

गुरु जी की सीधी-सादी लगने वाली बातें हमारे भीतर बहुत गहराई तक पहुँचती हैं। हम बरसों पूर्व अपने गाँव को छोड़ चुके हैं। हम उजड़ कर किसी नगर में बसने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम 'गुरु जी' से उनके गाँव की कथा सुन रहे हैं। उनकी कथा में हमें भूल रहे अपने गाँव का पूरा चित्र सामने आने लगता है। हमारा गाँव भी आज से 100-50 वर्ष पहले यही रहा होगा। वहाँ के लोग इसी तरह आचरण करते रहे होंगे। वहाँ इसी तरह की व्यवस्थाएँ चलती रही होंगी। उनके सम्बन्ध भी भारत सरकार और राजनेताओं द्वारा बताये जाने वाले उनके अधिकारों पर नहीं टिके होंगे। उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहार उनके ऋण भाव से प्रसूत हो रहा होगा। गुरु जी की बातें हमारे 'समाजज्ञान' ट चोट करती हैं। उनकी बातें हमारे 'इतिहास ज्ञान' को झुठलाती हैं।

जब हम गुरु जी की बात सुनने जाते हैं तो हमारे मन में कोई न कोई इतिहास उपस्थित होता है। जैसे-जैसे हम बातचीत सुनते जाते हैं, हमारे चित्त में एक नये तरह के 'इतिहास' का निर्माण शुरू होने लगता है। सम्भव है कि गुरु जी की एक दिन की बातचीत सुन करके हम अपने जाने हुए पुराने इतिहास की आलोचना करना शुरू कर दें और अपना एक नया इतिहास बनाने लगें। हम सब जो 'गुरु जी' के श्रावक हैं उनके लिए 'गुरु जी' की बातचीत का पहला या एक परिणाम तो यही है कि हम उनकी बातचीत के आधार पर अपना एक नया इतिहास रच सकने में समर्थ हो सकते हैं।

हमारे विद्यालयों में समाज शास्त्र भी पढ़ाया जाता है। समाजशास्त्र की पढ़ाई इतिहास के बहुत बाद शुरू हुई। भारतवर्ष की स्वाधीनता के पहले कुछ ही विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का विषय पढ़ाया जाता था। उदाहरण के लिए मुम्बई विश्वविद्यालय में पैट्रिस गेडेस ने 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सिविक्स' नाम का विषय पहली बार पढ़ाना शुरू किया। बाद में उनके कुछ विद्यार्थी जब शोध कार्य करने के लिए इंग्लैण्ड गये तो उन्हें वहाँ समाजशास्त्र अथवा नृतत्वशास्त्र में शोध करने की अनुमति मिली। इन्हीं लोगों ने स्वदेश लौट कर विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र नाम की विद्या पढ़ानी शुरू की। यह मानवजातीय समाज का विश्लेषण करने का शास्त्र है। विश्लेषण करके मानव कार्यों के भिन्न-भिन्न भाग बनाये जाते हैं। इस शास्त्र में भी अनेक सम्प्रदाय हो चुके हैं और उनके प्रमाण ग्रन्थ यूरोप और अमरीका में लिखे गये हैं। इसमें हम जितना ही गहरे पैठेंगे, हम समाज के अमूर्त्त रूप को पहचानने के प्रयत्न में लगेंगे। कभी-कभी अपने समाज की विविध गतिविधियों का भी सर्वेक्षण करेंगे। उसके आधार पर कुछ उपपत्तियाँ बनायेंगे और बतायेंगे कि यह भारत का समाजशास्त्र विकसित हो रहा है। लेकिन उस समाजशास्त्र में हमारा समाज मूर्त्त रूप यदा कदा ही दीखेगा।

भारतीय समाजों का शास्त्र तो पहले से ही मौजूद है। फिर भी लोग पश्चिमी समाजशास्त्र के प्रत्ययों को, उनकी अवधारणाओं को भारतीय समाज के अध्ययन में सिद्ध या असिद्ध करते हुए समाजशास्त्र की एक नयी विद्या रचने का सरंजाम करते हैं। इसके विपरीत 'गुरु जी' आदिलाबाद में स्थित अपने मूर्त्त समाज के बारे में बातचीत करते हैं। किसी अमूर्त्त समाज के बारे में नहीं, अपने गाँव में रहने वाले मूर्त्त मनुष्यों, महिलाओं, परिवारों, कारीगरों आदि की बात करते हैं। गाँव में रहने वालों के बीच में कैसे-कैसे सम्बन्ध हैं, उनमें कितनी बारीकियाँ होती हैं, कितनी ही परतें होती हैं, कितने तरह के दायित्व होत हैं, कितनी ही व्यवस्थाएँ होती हैं, कितने ही ऋण होते हैं, सबके अपने-अपने धर्म होते हैं- समाज के सारे रहस्य गुरु जी की बातचीत में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुलते जाते हैं और हमें लगता है कि (यदि हम प्रयत्न करें तो) हमारे चित्त में अपने समाज का एक नया समाजशास्त्र बनने लगता है।

इसीलिए हमें सोचना पड़ता है कि हम गुरु जी की बातचीत से क्या पाते हैं? उनकी बातचीत केवल रुचिकर प्रसंग ही नहीं होती। उनकी बातचीत ऐसा उपदेश है जो हमें अपने पढ़े हुए ज्ञान की समीक्षा करने के लिए प्रेरित करती है। उसको सुन कर हमें अब तक पढ़ा हुआ अपना इतिहास अपर्याप्त लगने लगता है। हमें लगता है कि हमें अपने लिए अपना एक नया इतिहास रचना होगा, तभी हम अपनी जानी हुई वास्तविकता के निकट पहुँच पायेंगे। यह नया इतिहास गुरु जी की बातचीत के आधार पर रचा जाएगा। हमें प्रतीत होता है कि गुरु जी की बातचीत अनन्तकाल तक चलती रहेगी और उनकी बातचीत में हमारा अपना इतिहास सामने आता रहेगा। अनन्तकाल तक, आज ही, अभी, इसी क्षण के अनन्त में।

यही बात हमारे अपने समाजशास्त्र के विषय में है। 'गुरु जी' की बातचीत सुनते हुए हमारे चित्त में हमारे समाज का चित्र भी उभरने लगता है। हमारे समाज को बाहर से देखने वाले लोग वह नहीं देख पाते कि हमारा समाज किस तरह से रचा और बसा है। फ्रांसीसी एलाँ दानिएलू 20वीं शताब्दी के चौथे दशक में अनेक वर्षों के लिए वाराणसी में बस गये थे और हिन्दू धर्म अंगीकार कर 'शिवशरण' नाम स्वीकार कर लिया था। उनका मूल विषय दर्शन, धर्म, संस्कृति और संगीत था लेकिन वे महात्मा गांधी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू, दोनों से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने लिखा है कि महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू, दोनों ही भारतीय समाज को नहीं जानते थे। उन्हें भारतीय समाज को जानने का कभी अवसर ही नहीं मिला। भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के बाद वे आगे पढ़ने के लिए इंगलैण्ड भेज दिये गये। वहाँ से लौट कर आये तो जिस कार्य के लिए इंगलैण्ड में प्रशिक्षण प्राप्त किया था—वकालत- उस पेशे में लग गये। देश की स्वाधीनता के आन्दोलन में लग गये तो वह पेशा छूट गया। दोनों नेता भारत के किसी गाँव में न कभी बाल्यावस्था में रहे, न ही कभी बाद में किन्हीं भारतीय गाँवों से उनका आन्तरिक सम्पर्क रहा। लेकिन यह जरूर दुहराया जाता रहा कि भारत तो गाँवों में बसता है। इसलिए ये लोग गाँव को, भारतीय समाज को, अंग्रेजों की पुस्तकें पढ़ कर समझने का प्रयत्न करते थे। सम्भवतः महात्मा गांधी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते थे। यही इन लोगों के भारतीय समाज को समझने के बौद्धिक प्रयत्न की इतिश्री थी। गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' के अन्त में भारत के गाँवों को समझने के इच्छुक पाठकों के पढ़ने के लिए कुछ पुस्तकों की सिफारिश की है। ये सभी पुस्तकें विदेशियों की लिखी हुई हैं। इनमें भारतीय गाँव पर सर हेनरी मेन की पुस्तक की सिफारिश है। आज कल भारतवर्ष के बौद्धिकों में 'हिन्द स्वराज' का बड़ा गुणगान हो रहा है। पर उसका भारत विषयक ज्ञान कहीं 'विदेशी ज्ञान' तो नहीं है इस पर सोचने की कोशिश नहीं की जाती। यह विडम्बना ही है। यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेहरू जी की 'भारत की खोज' के विषय में कही जा सकती है। वह भी इतिहास विषय में भारत विषयक विदेशी ज्ञान पर आधारित है।

यह कहना निराधार नहीं होगा कि कम से कम पिछली दो शताब्दियों से हमें ...रा 'आत्मज्ञान' विदेशी लोगों द्वारा दिया जा रहा है। उसके पहले लगभग 700 वर्षों ... हमारे 'आत्मज्ञान' का हनन होता रहा था। लेकिन आज कल हम उस काल के ... में बातचीत करते हुए शरमाते हैं। हम अपने व्यक्तित्व को थोड़ा ह्रासग्रस्त और ...तर करते हुए केवल अंग्रेजी काल के बारे में सोचते हैं। जैसे उसके पहले के 700 ... में हमारे व्यक्तित्व का पूर्ववत स्वतः विकास होता रहा था और हमारा समाज और ...रा इतिहास कुछ भी क्षतिग्रस्त नहीं हुआ था।

'गुरु जी' अपनी बातचीत के दौरान कभी कभी ऐसा कहते भी हैं कि हमारे ...का विनाश अंग्रेजी राज के दौरान ही हुआ। बात सही है लेकिन केवल इस अर्थ ... कि इस्लामी शासन का हमारे गाँवों में इतनी दूर तक प्रवेश नहीं था, कि वह हमारे ...-गाँव को दूर तक प्रभावित नहीं कर सका था। साथ ही इस्लामी शासकों के पास ...रे गाँव को इतने मूल रूप में बदलने की क्षमता भी नहीं थी। अंग्रेजी राज में दूरन्त ...मीण और वन्य बस्तियों तक मालगुजारी वसूल करने का ढाँचा खड़ा कर दिया ...या। दूरस्थ गाँव भी अंग्रेजी शान्ति व्यवस्था और न्याय पालिका के ढाँचे के अन्तर्गत ...ा गये।

'गुरु जी' के श्रावकों ने एक बड़ा काम यह किया है कि आधुनिक जगत के ...करणों का उपयोग करके उनकी बातचीत के अभिलेख बना लिये हैं। अब तक हुई बातचीत के काफी अभिलेख तैयार हो गये हैं। अब इन अभिलेखों के आधार पर हमारा इतिहास और हमारा समाजशास्त्र कैसा दृष्टिगोचर हो रहा है, यह समझने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि हममें से कोई लोग या कोई श्रावक इतिहासकार हों, या समाजशास्त्री हों। हम जो भी हों अपने लिए इतिहासकार बन सकते हैं, समाजशास्त्री बन सकते हैं। हम जो इतिहास या जो समाजशास्त्र बनायेंगे सम्भवतः उसमें शास्त्रपरकता का अभाव हो। हमें किसी न किसी स्तर पर कभी न कभी गुरु जी की बातचीत का शास्त्र बनाना पड़ेगा। इस कार्य की अर्हताएँ क्या हैं?

हमें प्रयत्न करना होगा कि विश्वविद्यालयों से युवा इतिहासकारों और युवा समाजशास्त्रियों को चुन करके उन्हें छोटे-छोटे समूहों में गुरु जी की बातचीत सुनने के लिए प्रेरित करें, उनको ऐसा अवसर सुलभ हो इसका प्रबन्ध करें। हमें विश्वास है कि युवा इतिहासकारों और युवा समाजशास्त्रियों में अपने-अपने अनुशासन की वर्तमान अवस्था के विषय में तमाम तरह के प्रश्न उठ रहे होंगे। उनके द्वारा पढ़ा गया या पढ़ाया जाने वाला शास्त्र अपने अनुशासन के बारे में उनके मन में तमाम सन्देह पैदा कर रहा होगा। हम यह मान सकते हैं कि सन्देहों और प्रश्नों से भरा हुआ उनका उर्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्तिष्क 'गुरु जी' की बातचीत के निहितार्थों को ग्रहण करने की ओर उन्मुख हो रहा होगा। उनके मस्तिष्क में यह मन्थन चलते-चलते गुरु जी की बातचीत के आधार पर हमारे गाँव, हमारे समाज और हमारे इतिहास की शास्त्र रचना का रूप लेने लगेगा। वहीं से हमारे कार्य की और दायित्व की सफलता का पहला चरण शुरू हो जाएगा।

यहाँ अपना अनुभव बताता हूँ। मुझे जब भी गुरु जी की बातचीत सुनने का सुअवसर मिलता है तो मैं उनकी बातचीत सुनते हुए अपने गाँव का स्मरण करने लगता हूँ। जहाँ मैं लगातार केवल बाल्यावस्था में 13-14 वर्ष की आयु तक ही रहा था। फिर भी मन में बसा हुआ गाँव उसी तरह का गाँव लगता है जिस तरह के गाँव के दर्शन गुरु जी के बातचीत में होते हैं। प्रारम्भ में मुझे अपने गाँव के स्थूल समाज के ही दर्शन होते हैं। फिर बचपन की घटनाएँ सोचता हूँ तो गाँव वालों के बीच स्थापित सम्बन्धों की अनुगूंज सुनाई देने लगती है। गुरु जी ने इन सम्बन्धों पर लगातार ध्यान दिया है। इसलिए वे इनके सूक्ष्मतम स्तरों तक पहुँच पाये हैं। मेरे अपने जीवन में ऐसा नहीं हो पाया। हम लोगों का ध्यान बाल्यावस्था में पता नहीं किन-किन दिशाओं में भटक रहा था। पुराने गाँव खत्म ही हो रहे हैं फिर भी ऐसे गाँव बचे हुए हैं जो हजार-दो हजार साल पहले या तीन हजार साल पहले बसे थे। हमारे जन्मस्थान के पड़ोस के गाँव बुद्धकालीन हैं ही, इसके तो प्रमाण हैं, इससे भी प्राचीन हो सकते हैं। यदि इन गाँवों के युवा लोग 'गुरु जी' की तरह अपने ग्रामीण समाज में रहने वाले विभिन्न जातियों के लोगों, कारीगरों आदि के बीच सूक्ष्मतर सम्बन्धों पर सोचना शुरू करें तो 'गुरु जी' की बातचीत में मूर्त्त रूप ले रहे गाँव हमको भी प्राप्त होने लग सकते हैं। जब यह होने लगेगा तो हमें अपेक्षाकृत अधिक यथातथ्य इतिहास और समाजशास्त्र उपलब्ध होने लगेंगे।

'गुरु जी' की बातचीत से भारतवर्ष में पुराने रूप वाली या पश्चिमी रूप वाली विद्याओं की आलोचना और नयी मौलिक विद्याओं की स्थापना हो सकती है। हमारे लिए इतिहास और समाजशास्त्र के अपने अनुशासन विकसित हो सकते हैं। इसके लिए प्रयत्न करने की प्रक्रिया में हमारे युवा इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के मस्तिष्क में मौलिक चिन्तन के बीज पड़ सकते हैं। एक सीमित अर्थ में यह पहला काम है जिसके लिए गुरु जी के श्रावकों को प्रयत्नशील होना चाहिए। यह उपदेश नहीं है क्योंकि यह कार्य मुझे स्वयं करने जैसा लगता है। गुरु जी की बातचीत के श्रावकों को इस कार्य के विषय में सोचना चाहिए।

गुरु जी की बातचीत में भारतवर्ष का अपना समाजशास्त्र और इतिहास विरचित हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुजी का विमर्श

पवनकुमार गुप्त*

अपने जीवन में जो कुछ अच्छा हुआ है वह बस घट गया। उसके लिए अपने कोई अथक प्रयास किया हो, ऐसा नहीं। मसूरी के आस पास के गांवों में बस चलते करते, बिना किसी योजना के स्कूल इत्यादि से काम शुरू हुआ। उस समय शिक्षा की, गाँव के समाज की समझ नहीं के बराबर थी। हालांकि यह समझ - कि समझ की कमी थी - की समझ बाद में आयी। पढे-लिखे होने का (जिसको शिक्षित होने का पर्याय ही उस समय मानता था) अंदर में कहीं गुरूर भी था। पर गाँव की बुजुर्ग महिलाओं की बात कहीं, ईश्वर कृपा से, अंदर लग गई कि 'आप लोग तो पढ़ा लिखा कर हमारे बच्चों को बरबाद कर रहे हो, वह न घर का रहता है, न घाट का और कि बच्चों को होना सिखाओ, दिखना नहीं'। इन बातों का असर गहरा हुआ।

फिर महज इत्तेफाक से धरमपाल जी को पहले पढ़ने का और फिर मिलने का मौका लगा। आदमी कितने लोगों को जीवन में मिलता रहता है पर स्कूल कालेज के बाद यदा कदा ही किसी से घनिष्ठता और सहज रिश्ता बन पाता है। पर सौभाग्य ही है कि धरमपाल जी से बन गया। वे हर साल मसूरी दो एक महीने के लिए आने लगे। धरमपाल जी से एक ऐसा संबंध बना कि उनसे हर प्रकार की बात-चीत हो पाती थी, हल्की-फुल्की, गंभीर, दार्शनिक, मजाक, राजनीति, खाने पीने से लेकर समाज और पशु पक्षियों की और व्यक्तिगत घर-परिवार की भी। उनसे जब इन महिलाओं की बातों का जिक्र हुआ तो उनका पहला प्रश्न था, 'क्या आपने महात्मा गांधी को पढ़ा है।' और फिर तुरंत ही, 'क्या पढ़ा है'। पहली बार एहसास हुआ कि मैं तो गांधी जी को बिना ठीक से पढे ही यह मान बैठा था कि मैंने उन्हे पढ़ा है। मैंने तो उनके बारे में सुना और उनके बारे में पढ़ा था, उन्हें नहीं पढ़ा था। बाद में पता चला कि मेरी उस समय की हालत देश के प्रायः सभी पढे लिखों की है - बिना पढ़े, समझे, यह मान लेना कि

---

*पवन कुमार गुप्त, सिद्ध, (Society for Integrated Development of Himalaya, SIDH), लेंडर कैंट, मसूरी-248179

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम जानते हैं। पूरा गांधी वांगमय हिन्दी और अँग्रेजी में धरमपाल जी के कहने पर खरीदा गया और फिर बीच-बीच से, खासकर 1916 और 1928-30 के भाषणों और लेखों, पत्रों को पढ़ना शुरू हुआ। इस बीच धरमपाल जी सुझाव भी देते रहते थे और उनसे बात-चीत तो होती ही रहती थी। किस्सा लम्बा हो जाएगा पर इतना कहना जरूरी है कि मेरे जीवन के उन 5-7 वर्षों में ही मेरी असली शिक्षा हुई–सिलसिलेवार ढंग से नहीं, पर उसका असर गहरा हुआ।

आधुनिक शिक्षा में से निकले हम जैसे लोगों की समझ अक्सर टुकड़ों-टुकड़ों में होती है, जिनके बीच यदि विरोधाभास होता है, तो उसका पता भी हमे अक्सर नहीं होता। और अधिकतर समझ ऐसी जानकारियों पर आधारित होती है जिसकी गहन पड़ताल हम या तो करते नहीं या करने की औकात ही नहीं होती। इस प्रकार इस समझ का अक्सर कोई पेंदा नहीं होता, आधी-अधूरी सी होती है, जिनमे मान्यताएँ अपना खेल खेलती रहती हैं और हमे उनका एहसास भी नहीं होता। उन कुछ वर्षों में भारतीय स्वभाव, हमारे काम करने, सोचने के तरीके, जीवन दृष्टि, व्यवस्थाएं, इनका अंतरसंबंध, इत्यादि, धीरे धीरे समझ आने लगा और बातें अंदर बैठने लगी, तस्वीर साफ होने लगी कि इस देश और हमारी हालत इतनी बिगड़ी हुई क्यों है। कुल मिलाकर कहूँ तो 'हिन्द स्वजाज' ठीक से समझ आया और एक प्रकार का विश्वास भी पैदा हुआ, उलझने एक स्तर पर कम हुई। कम से कम इस बात की स्पष्टता तो हुई कि आखिर मामला क्या है, क्यो यह देश इतना उलझा हुआ है, टूटन के कारण क्या हैं। लोग तुरन्त समाधान चाहते हैं पर बीमारी की जड़ पकड़े बिना इलाज कैसे संभव है।

इसी दौरान पहली बार धरमपाल जी से ही रवीन्द्र शर्मा, 'गुरु जी' का नाम सुना। उन्होने यह भी सुझाया कि कभी उनसे मिलना चाहिए। मैंने सोचा कोई कलाकार होंगे जो दिल्ली, बम्बई के कलाकारों जैसे तो जरूर नहीं होंगे, दोगले चरित्र वाले तो नहीं होंगे, स्थानीय समाज के साथ काम करते हैं, वहीं रहते हैं तो एक प्रकार की ईमानदारी तो जरूर होगी। पर क्योंकि कला के क्षेत्र में अपनी कोई खास समझ है नहीं, इसलिए मैंने उस समय कोई प्रयास नहीं किया। पर अपना अनुभव यह भी था कि धरमपाल जी इस तरह का सुझाव यूँ ही तो नहीं देते हालांकि उनका सुझाने का तरीका बड़ा चलताऊ किस्म का भले ही होता हो। एक बार जयपुर जब गया था तो उन्होंने सुझाया था कि "वहाँ जा रहे हो तो दयाकृष्ण जी से मिल लेना, अच्छी 'जिन' पिलाएगा।" और प्रोफेसर दयाकृष्ण के साथ बीते वे एक दो घंटे यादगार बन कर रह गए। हाँ उन्होंने 'जिन' भी पीने का आग्रह किया जो उस दिन तबीयत न होने की वजह से मैंने नहीं पीया उसके बावजूद उनसे मिलना और बात-चीत करना मेरी एक उपलब्धि रही। इसलिए मैं जानता था कि वे ऐसे ही नहीं कहते थे, तरीका चाहे कैसा भी हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे एक दोस्त, प्रोफेसर जैन, जो दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते हैं बताते हैं कि जब वो पहली बार धरमपाल जी से मिले और दो चार घंटे उनसे बात करने के बाद उनकी मान्यताएँ इतनी हिल गईं कि उसके बाद पहला काम उन्होंने यह किया कि सिगरेट की दुकान पर जा कर एक सिगरेट पीए जो वो एक अरसे से छोड़ चुके थे। मैं इस मनःस्थिति को समझ सका और ठीक ऐसी ही हालत मेरी रवीन्द्र शर्मा जी को जब पहली बार सुना और देखा तब हुई। सोचने लगा - हम कहाँ खड़े हैं। क्या बातें करते रहते हैं। रवीन्द्र शर्मा न गांधी की बात करते हैं, न धरमपाल की। महात्मा गांधी जी की कल्पना का समाज, 'हिन्द स्वराज' के 'सच्ची सभ्यता कौन-सी' में जैसा वो कहते हैं वे बाते अच्छी लगती थी, सही भी लगती थी पर सवाल उठता था कि क्या कभी ऐसा रहा होगा। क्या ऐसा संभव है। गांधी जी कहीं हौसला अफजाही तो नहीं कर रहे, कोई 'थ्योराइज' तो नहीं कर रहे। पर रवीन्द्र शर्मा को सुन कर - उनके अपने अनुभव, जो उन्होने देखा और सबसे बड़ी बात इन सब के बीच के सम्बन्धों को, समाज मे जो प्रथाएँ रहीं हैं अपने जीने की, उसके ताने बाने समझ में आने लगते हैं-गांधी जी भी और सहज रूप से ग्राह्य होने लगते हैं। सभ्यता की जो बात गांधी करते हैं उसका जीवन्त स्वरूप आँखों के सामने उभरने लगता है। आधुनिकता की विकृतियाँ ही नहीं, गांधी जी के शब्दों मे यह 'शैतानी' है, इसकी साफ समझ बनती है। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्थाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच के महत्वपूर्ण भेद, उनके बीच - स्वभावगत कहें या सभ्यतागत - भेद, धरमपाल का 'भारतीय स्वभाव' से क्या तात्पर्य होगा यह भी साफ होने लगता है। धरमपाल जी का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण लेख 'भारतीय चित्त, मानस और काल' है। इसके मूर्त स्वरूप का आभास तो रवीन्द्र शर्मा जी को सुनकर ही होता है।

रवीन्द्र शर्मा अपने को पढ़ा-लिखा नहीं मानते। वे दार्शनिक भी नहीं हैं। पर उन्हे मात्र कलाकार-कारीगर भी कहना ठीक नहीं होगा। वे महज कथाकार भी नहीं, कोई पंडित या बुद्धिजीवी भी नहीं हैं। वे अगर कुछ हैं, जिसे कहने पर उन्हे आपत्ति भी नहीं होगी, तो वो सहज हैं। मैंने ऐसी सहजता किसी औरों में, बड़े आध्यात्मिक गुरुओं में भी, नहीं देखी—आज तक। जो देखा समझा है, उसे मस्ती में दूसरों के साथ बांटते हैं। मौखिक परम्परा के आदमी हैं। शायद ही कभी कलम कागज का इस्तेमाल भी करते हों। वे कहते हैं कि उन्होंने किताबे नहीं पढ़ी हैं पर बातों बातों में कई बार कुछ किताबों का जिक्र वे कर देते हैं और वे अक्सर विलक्षण होती हैं, जैसे 40 के दशक में छपी कृष्ण सिंह चावडा के संस्मरण 'अंधेरी रात के तारे'।

सहजता बड़ी चीज होती है। वही व्यक्ति सहज हो सकता है जिसमे भरपूर अस्मिता और आत्मविश्वास तो हो, पर अहंकार नहीं। जो औरों की बात ध्यान से सुनने की कूवत रखता हो, उनसे समझने के लिए दिमाग खुला भी रहता हो, पर फिर भी दूसरों से प्रभावित नहीं होता। जो हर अवस्था में एक जैसा रहता है साथ ही स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति को ध्यान में रख कर दूसरों को सम्मान देना जानता है, जो दिखावा नहीं करता पर शालीनता क्या होती है इसकी गहरी समझ रखता है। अपनी बात जम कर कहता है पर अड़ता नहीं, विवाद नहीं करता। जो देना और लेना दोनों जानता है – सहज भाव से। हममे से बहुतेरे या तो सिर्फ देना जानते हैं या लेना। जिसमे सौंदर्य बोध कूट कूट कर भरा है। जो पैनी नजर रखता है और 'देखना' जानता है। उनके अन्दर साधारण और साधारण व्यक्ति के प्रति गहरा सम्मान है, जो उनके अनुभव से निकला है। बहुत सारे दर्शन और उनके मानने वाले सरल व्यवहार, साधारण और सहजता की बात तो करते हैं पर व्यवहार में यह, सिर्फ कपड़ों तक या इस्तेमाल आने वाली चीजों तक सिमट कर रह जाता है। उनकी विनम्रता भी दिखावे वाली ज्यादा होती है। रवीद्र शर्मा की सहजता यह सब लिए हुए है, दिखावा नहीं है, सचमुच है। अब तो उन्हें देख कर सुन कर लगता है कि सहजता, व्यक्ति के लिए भी और समाज के लिए भी, सबसे बड़ा मूल्य है।

आज की दुनिया में हर एक अपनी पहचान खोजने बनाने में लगा है। पढ़ाई-लिखाई का अर्थ ही पहचान (आइडेंटिटी) बनाना हो गया है। इसमे साधारण की जगह सिमटती जा रही है। मैंने अपने देश में स्कूलों में अच्छे प्रयोग जहां-जहां हो रहे है उनमे से कई प्रयोग देखे हैं, वहाँ के लोगो से बाते की हैं और समझने का प्रयास किया है। इन अच्छे प्रयोगों में वे होड़, प्रतियोगिता, एक दूसरे से तुलना इत्यादि को ठीक नहीं मानते और इससे दूर रहने का, ईमानदारी से प्रयास भी करते हैं, पर यहाँ भी पहचान से छुटकारा नहीं है। एक अच्छा इंसान बने इसकी चेष्टा तो वो करते दिखाई पड़ते हैं। सहजता के लिए भी प्रयास होता है कुछ हद तक पर ऐसा लगता है वहाँ भी 'साधारण' की समझ की कमी है। रविन्द्र शर्मा जिस सहजता की बात करते हैं वहाँ साधारण ही श्रेष्ठ है, साधारण और सहजता के बीच एक अटूट संबंध है वहाँ।

हमारे यहाँ अंग्रेजी और पश्चिमी मान्यताओं ने हमारे सोचने और समझने को एक खास प्रकार से नियंत्रित कर रखा है। शब्दों में बड़ी ताकत होती है। अगर शब्दों से चिपकी मान्यताओं को ठीक से नहीं पहचानते तो वे मान्यताएँ अनजाने ही हमे संचालित करने लगती हैं। इसलिए बहुदा अनुवाद खतरनाक होते हैं। उदाहरण के लिए हम आम तौर पर संस्कृति शब्द का अनुवाद अंग्रेजी में 'कल्चर' से करते है। पर जिसे वे 'कल्चर' कहते हैं उसमे तो 'कल्चर ऑफ वॉर' भी होता है जिसे हम संस्कृति नहीं, विकृति कहेंगे। पर यदि हम कल्चर शब्द को संस्कृति का पर्याय मानने लगते हैं तो धीरे-धीरे हमारे दिमाग में 'कल्चर' की मान्यता, हावी होने लगती हैं और संस्कृति के मायने विलुप्त होने लगते हैं। ऐसा ही एक शब्द 'विकास' है। इस प्रकार हमारे दिमाग में हमारे सोचने समझने के तरीके दूसरों की बनाई 'कटेगरीज' (मान्यताओं) से संचालित होने लगते हैं, हम अपनी 'कटेगरीज' को भूलने लगते है और फिर अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र को भी हम दूसरों की नजरों से देखने लगते हैं और यह सब अनजाने ही होने ता है।

यह सारी बाते तो धरमपाल जी के साथ समय बिताने पर समझ आने लगी थी अपनी 'कटेगरीज' क्या होती हैं, इसकी समझ तो रवीन्द्र जी के संसर्ग में आ कर मिली। भारतीय समाज व्यवस्थाएं कैसी होती थी और जहां-जहां 'विकास' ने अपने नहीं जमाये हैं, आज भी हैं, कुछ हद तक, इनका पता तो 'गुरुजी' की बातें कर ही लगा। समाज के ताने-बाने क्या थे, यहाँ की अर्थव्यवस्था किस तरह अन्य कारों से गुँथी हुई थी। महात्मा गांधी छोटी मशीनों की बात करते है पर जब रवीन्द्र कहते हैं, 'समाज छोटी मशीनों को संचालित करता है, बड़ी मशीने समाज को चालित करती हैं' या फिर 'छोटी तकनीक को समाज व्यवस्थित करता है और बड़ी नीक समाज को व्यवस्थित करती है', तो महात्मा गांधी की बातें ज्यादा स्पष्ट होने ती हैं। किस प्रकार हमारे समाज स्वावलंबी हुआ करते थे। कैसे कारीगर और कार में कोई भेद नहीं हुआ करता था और ऐसी व्यवस्था क्यों रखी गई थी। 'गुरुजी' कहते हैं गाँव उसे कहते हैं जहाँ सभी के भोजन की सुरक्षा या सुनिश्चितता हुआ करती है और सभी के सम्मान की व्यवस्था हुआ करती है—तो महात्मा के 'सपनों के भारत' की याद आती है और याद आती है उनके म्योर कालेज, इलाहाबाद में दिये भाषण की जब उन्होंने कहा था किसी भी सुव्यवस्थित समाज में किसी को भोजन की चिंता नहीं हुआ करती, कल की चिंता नहीं हुआ करती।

गुरुजी डिजाइन के आदमी हैं। वे डिजाइन की बारीकिया समझते हैं कि किस प्रकार डिजाइन मनुष्य के व्यवहार के तरीके को प्रभावित करते हैं। व्यवस्था भी तो एक प्रकार के डिजाइन ही होती है। गुरुजी जब इन विषयों पर बात करते हैं तो चीजे जो, जहन में तो थीं, पर आपस में जुड़ी नहीं थी, खंड-खंड मे अलग थलग पड़ी थी, जुड़ने लगती हैं, इन विचारों की गहराइयों का पता चलता है। विचार, विचार से ऊपर उठकर अनुभव तक पहुँचने लगता है। सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के भेद को और उससे जुड़ी हुई अर्थव्यवस्था, सौंदर्य दृष्टि और दर्शन की जब वे बात रखते हैं तो भारत की विविधता और एकता दोनों समझ आने लगती हैं। कोई पूछे की गुरुजी की बातों से किसी को क्या मिलता है तो आजकल मैं यह कहने लगा हूँ कि उनकी बातें स्मृति जागरण का काम करती हैं।

गुरुजी को देश भर में 5-10 हजार लोग ही जानते होंगे। सीधे आदमी है, बरसों से वे पतलून पहनने वालों से मिलते ही नहीं थे, अंग्रेजी बोलते नहीं, धोती पहनते हैं, लिखते हैं नहीं, बड़े शहर में रहते नहीं — वे सब उनके पास नहीं जो आजकल चर्चित होने के लिए जरूरी सा हो गया है। पर देश के लिए जो सही मायने में चिंतित हैं उन्हें गुरुजी के पास कुछ समय लगाने की जरूरत है। खास कर 'विकल्प' और 'सभ्यता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात करने वालों को। मेरा सौभाग्य था कि मैं उनसे मिल सका और वह भी उस समय जब मुझमे उनसे मिलने की औकात पैदा हो चुकी थी, धरमपाल और महात्मा की वजह से, नहीं तो शायद उनको सुन कर सिर्फ मजा आ कर रह जाता, बात उससे आगे नहीं बढ़ती। और एक बड़ा फायदा यह हुआ कि साधारण और सहजता कितनी बड़ी चीजे हैं यह समझ आया और आराम मिला। खत्म करने से पहले एक चेतावनी। हमारा पढ़ा-लिखा वर्ग महत्वपूर्ण सवालों को विपरीत कटघरों में देखने के आदि हो गये हैं। आधुनिकता के रंग में डूबे हुए, इस प्रकार की बाते, जो गुरुजी करते हैं, उन्हें ऊपर ऊपर से सुनकर आरएसएस या हिन्दुत्व के कटघरे में रखने की भूल कर सकता है। पर यह भूल ही होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत : युद्ध विरोधी काव्य

प्रभाकर श्रोत्रिय*

महाभारत के संक्षेपकारों ने उसे प्रायः युद्ध-कथा के रूप में सीमित कर दिया है, जबकि केन्द्र में होते हुए भी वह जिन जीवनार्थी को व्यंजित करता है वे युद्ध विरोधी अथवा युद्धांतक हैं। महाभारत के इतने वैविध्यपूर्ण फलक को देखकर बड़े-बड़े पारखियों ने माना है कि उसमें एक रस का परिपाक नहीं है, अनेक रस-भाव वहाँ अपनी समग्रता में हिलोरें ले रहे हैं। कई आचार्य मृत्यु का इतना बड़ा व्यापार देखकर इसे करुण रस का काव्य मानते हैं, परंतु ध्वनयालोककार आनंदवर्धन और शांतरस समर्थक अनेक आचार्य महाभारत का केन्द्रीय रस 'शांत' मानते हैं। आचार्यों का कहना है कि तत्त्वज्ञान तथा वैराग्य के कारण शांतरस उत्पन्न होता है। 'शम' का अर्थ 'तृष्णा क्षय' है।

महाभारत में कौरव-पांडव, दोनों के मूल धृतराष्ट्र-गांधारी और कुंती, वैराग्य धारण कर वन को चले जाते हैं और वहा की आग में अपनेआप को झोंक देते हैं। युद्ध से बचे पांडव और द्रौपदी हिमालय पर्वत पर तत्त्वज्ञान और वैराग्य के निमित्त आरोहण करते हैं। सबमें 'तृष्णा क्षय' स्पष्ट है।

यहाँ केवल परिणति का उल्लेख है, परंतु यदि महाभारत के संपूर्ण आख्यान, उसके भीतर-बाहर फैले अनेक उपाख्यानों का कुल प्रभाव देखें तो उसके भीतर कहीं 'शम' अंतःरचित है। महाभारत नायक 'युधिष्ठिर' जीवन के समस्त उपक्रमों, सभी भावों को संचारियों की तरह लेते हैं, उनके भीतर शांत रस अदृश्य रूप से प्रवाहित है। कई बार हमें युधिष्ठर के क्रिया-कलापों, उनके धैर्य, सहनशीलता, संतोष और अंततः युद्धांत के बाद प्राप्त साम्राज्य से बार-बार भागते देखकर उसे स्वीकारने में उनकी हिचक को देखकर, द्रौपदी या भीम की तरह क्रोध और झुंझलाहट होती है। परंतु रचनाकार ने उनकी रचना ही किसी अंतर्निहित तत्त्वान्वेषण, शम, धैर्य के लिए की है

* प्रभाकर श्रोत्रीय, ए-601, जनसत्ता अपार्टमेंट, वसुंधरा सेक्टर-9, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सामान्य जीवनानुभव से अलग है। कवि दिखाते हैं कि 'यक्ष' के प्रश्नों का उत्तर न देकर आक्रोश और हठधर्मी से पांडवों का निधन हो जाता है, परंतु भइयों को मृत देखकर भी, बिना किसी आवेश के युधिष्ठिर यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और किसी एक भाई के जीवन-विकल्प के समय भी न्याय और विवेक नहीं खोते।

वे धर्मपुत्र हैं और जैसा कि उपनिषद कहते हैं कि 'सत्य' ही 'धर्म' है; कवि ने युधिष्ठिर को सत्य का पर्याय बनाया है। यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि इस विराट कथा की ऊहापोह के बीच युधिष्ठिर के लौकिक चरित्र में कितनी विपरीतता, विसंगति देखी गई, क्योंकि व्यक्ति या वस्तु का निर्धारण उसकी समग्रता या समन्वित प्रभाव से होता है और कई बार उसकी प्रतीकवत्ता के अंतर्हित मूल्यों से भी।

सांसारिक व्यापार के बीच 'युद्ध' एक अनवरत नियति की तरह है। उसकी आँच से कौन व्यक्ति बच पाता है? युद्धांत के बाद, युद्ध की आग में झुलसी और पूरी तरह क्षत-विक्षत गांधारी और द्रौपदी युद्धभूमि में आती हैं। दोनों दो युद्धरत पक्षों की केन्द्रीय नारियाँ हैं, जिनकी युद्ध में कहीं-न-कहीं केन्द्रीय भूमिका रही है। परंतु इस समय दोनों आहत हैं। गांधारी सास है और द्रौपदी बहू। इसलिए यदि सांत्वना देने का जिम्मा है तो गांधारी का। परंतु गांधारी कहती है।

"यथैवत्वं तथैवाह कौवाआश्वास यिष्यति" *(स्त्री पर्व)*

"जैसी तुम हो, वैसी मैं हूँ। कौन किसे आश्वासन दे?" युद्ध की यही नियति है, वह सबको सर्वहारा बना देता है। विजयी को भी, विजित को भी; और क्या कुंती अपने पाँच पुत्रों के जीवित रहने से इस आँच से, इस आह और आहति से बच पाई है? उसने भी तो अपना सबसे बड़ा बेटा 'कर्ण' खो दिया है।

युद्ध को इन तमाम स्थितियों तक पहुँचा कर व्यास वीर रस का परिपाक करना चाहते थे या 'शांत' का? वे युद्ध की ज्वाला जलाए रखना चाह रहे थे या उस पर जल-वर्षा कर रहे थे?

आचार्य आनंदवर्धन ने कृष्ण को महाभारत का नायक माना है, परंतु कृष्ण उसकी अंतःसंचालि शक्ति हैं। इसीलिए कई परवर्ती कथाकारों ने उन्हें अदृश्य दिखाया है, वे हर जगह महसूस होते हैं, पर कहीं हैं नहीं। महाभारत में कृष्ण के सर्वोपरि महत्व से कौन इनकार करेगा, परंतु उन्हें 'नायक' मानकर तो हम उनका महत्व ही घटाएँगे। वे परात्पर हैं, वे किंग मेकर हैं—किंग उनका साधन है। नायक हैं युधिष्ठर—पूरे आख्यान विधान में भी, परिणति में भी और 'शांतरस' के परिपाक में भी।

बुद्धदेव बसु ने 'महाभारतेर कथा' में युधिष्ठर को ही नायक माना है और अपनी पुस्तक का अधिकांश हिस्सा इसी स्थापना को पढ़कर युद्धोत्साह नहीं जगाता; एक विषाद ओर निस्तरंग निवृत्ति मन में जन्म लेतीहै। युद्धसे वितृष्णा होती है। लेखक ने युद्ध को एक दूसरे धरातल पर 'ऐरिक-युद्ध' के अंतिम विनाश तक पहुँचाया है, और कृष्ण का निधन! युद्ध से बनी मनोवृत्ति की चरमतम परिणति नहीं है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यास महाआख्यान नहीं रचते, जीवन रचते हैं। इसलिए वे अपने पात्रों की तरह नायक को भी तरह-तरह की विसंगत और विडंबनापूर्ण स्थितियों के बीच खींच हैं और वह बार-बार उससे भागता है। युधिष्ठर का दुचित्तापन उसकी वह छटपटाहट है जो अंततः उसके लिए इससे मुक्ति की भूमिका बनती है।

महाभारत कहता है– *'यतोधर्मस्ततोजयः'* युधिष्ठर ही तो धर्म है, युद्ध भले ही —अर्जुन, भीम ने जीता हो, विजय 'धर्मपक्ष' की हुई। सही अर्थ में युधिष्ठर न युद्ध में शामिल थे न विजयोपभोग में। वे सिर्फ़ माध्यम थे, प्रतीक थे और आज की भाषा में पाण्डव पक्ष का मुखौटा थे। 'पराजित पक्ष' न केवल युद्ध में पराजित हुआ, वह पहले से पराजित था क्योंकि उसका उद्गम धृतराष्ट्र था–सिर्फ बाहर से अंधा नहीं, भीतर से भी अंधा। व्यास ने संजय को दिव्य दृष्टि दी जिसने उसे विनाश 'प्रत्यक्ष' दिखाया और हर क़दम पर उसे चेताया भी; पर अंत तक वह वैसा ही बना रहा। इसके पहले भी व्यास ने स्वयं कृष्ण को दूत बनाकर भेजा, समझौते की पराकाष्ठा पर भी युद्ध प्रारंभ न करने की सारी दलीलें दीं, पर उसकी भीतर की आँख, अहंकार का ही अनुसरण करती रहीं। ये सारे उपक्रम वीररस की सृष्टि के नहीं, उसे शांत में पर्यवसित करने के थे।

कवि ने आखिर युद्ध-कथा क्यों उठाई? क्योंकि सृष्टि में युद्ध सनातन है। इस सत्य को सभी महाकाव्यों ने अनुभव किया है। इसीलिए संसार के सभी आदि महाकाव्यों की कथावस्तु 'युद्ध' है। वह चाहे इलियड़, ओडेसी हो या शाहनामा। यह ठीक है कि सभी का अंत ईमान और न्याय की स्थापना है, परंतु वे मूलतः भौतिक प्रयोजन तक दुर्लभ है। यही कारण है कि उसका प्रभाव भी अन्य महाकाव्यों से विरल है। युद्ध उनकी सीमा है, जबकि महाभारत के लिए युद्ध एक माध्यम है।

यदि विश्व महाभारत से सीख लेता तो आज पर्यंत विश्व-युद्ध नहीं हो और आशांकित स्टार-वार का संकट विश्व पर न मँडराता। पर यह सब हो रहा है। आज विश्व में अन्न के भंडार से अधिक शस्त्र के भंडार हैं–वह एक-से-एक विनाशक शस्त्रास्त्रों से लैस हैं। क्या व्यास ने ग़लत कहा था–"मैं दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ, पर मेरी कोई सुनता नहीं है कि धर्म से सबकुछ प्राप्त होता है–अर्थ, काम, मोक्ष... सब।" और यहधर्म है मानव-कल्याण। संघर्ष और युद्धों से यही खतरे में है। महाभारत इस दृष्टि से युद्ध के माध्यम से अयुद्ध का संदेश है। क्योंकि युद्ध और फिर अंधे युद्ध केवल विनाश की इबारत लिख सकते हैं; 'शस्त्र संतानें' ही पैदा कर सकते हैं, जो सृजनात्मक विश्व को मान्य नहीं है। युद्ध की शांति की ओर जाने के लिए प्रयासरत विश्व की प्रकृति ही ध्वंश के कगार से उसे बार-बार लौटाती रही है।

जब विंटरनिट्ज़, ओल्डेन बर्ग, हापकिंस जैसे पश्चिमी विद्वान होमर के 'इलियड' के संदर्भ में महाभारत में बिखराव पाते हैं, वहाँ वे भूल जाते हैं कि महाभारत की तह 'युद्ध' की एकल रौद्र कथा नहीं, शांत रस का प्रतिमान हैं, जिसकी स्थापना जीवन के नाना द्वंद्वों और विस्तारों के बीच ही हो सकती है। शांत रस से पौर-पौर गुज़रना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिपाक तक पहुँचना निस्तरंग शम की निरंतरता नहीं, घात-प्रतिघात, विचारों के व्यूह को बेधने और धर्मा-धर्म, नीति-अनीति आदि के विवेक से संभव हुआ है। यह व्यापक सृष्टि की कथित अविरल शांति नहीं, बल्कि व्याकुलता की अनथक यात्रा है। लेखक की 'समाधि भाषा' इसी से तो 'रस' बनती है।

इसीलिए बार-बार यही कहना होगा कि संसार के युद्ध काव्यों से भिन्न महाभारत युद्ध का, वीर, रौद्र और वेदना का खाका मात्र नहीं है, वह दार्शनिक, नैतिक और पचीसों सामाजिक-मानवीय प्रश्नों का व्यूह है। वह इन सबके बीच अपनी पूरी शक्ति से युद्ध का प्रतिवाद करता है—और वीभत्स निषेध से नहीं पूरी तार्किक और भावानात्मक योजना से।

आखिर युधिष्ठर ने अपने को दिया हुआ एक बंजर धरती का टुकड़ा क्यों स्वीकार कर लिया? बार-बार कौरवों को संतुष्ठ करने की पहल क्यों की?—जुए के घृणित व्यापार से असहमत होकर भी उसमें क्यों शामिल हुए? अपने सबसे पूज्य और कुशलतम व्यक्तित्व को छोटे से दूत-कर्म में, छोटी सी मांग लेकर क्यों झोंक दिया? वन में प्रवास की लंबी त्रासदी को अपनी पूरी निष्ठा से, सारे जोखिम और विसंगतियों सहित क्यों पूरा किया? ये युद्ध और युद्ध निषेध के बीच ऐसे सर्जनात्मक-सकारात्मक बिंदु हैं जो युद्धांत के लिए पर्याप्त से अधिक है। महाभारत एक उपदेश कथा नहीं है, एक पौराणिक प्रवचन नहीं है, वह काव्य है जिसमें अनेक नाटकीय उच्चावच, दर्शन, परिवेश और तमाम ज्ञात-अज्ञात प्रतीतियों से टकराता, हिचकोले खाता बहुविधि सृष्टि रूप है। एक युद्ध आखिर पूरे नकारात्मक प्रयासों की विफलता से भले घटित हो गया हो किंतु लेखक भविष्य के लिए उन द्वारों को खोल देता है जिससे मनुष्य बार-बार इन दारुण अनुभवों से बचने का उपाय पा सके, युद्ध की पुनरावृत्ति न हो।

युद्ध क्या-क्या कर सकता है—तमाम महान सभ्यताओं का अंत,9 संस्कृतियों का खात्मा, सारे मूल्यों का ध्वंस, एक अंधे और पागल संसार की सृष्टि। अश्वत्थामा जैसी घायल, बेचैन भटकती आत्मा को अंत में, अनन्त के लिए क्यों छोड़ा गया है? महाभारत युद्ध के ऐसे प्रतीक के रूप में भावी पीढ़ियों को युद्ध का मतलब समझा सके। शम और शांत का इतनी दूर तक पीछा व्यास जैसा कवि ही कर सकता है इसे आप बिखराव कहकर क्या हासिल करेंगे?

महाभारत का अंतर्हित दर्शन और तत्वज्ञान, शम, वैराग्य हमें शांत चित्त से मानवता के भविष्य के बारे में चिंतन करने और इस उपभोक्तावादी समय में एक सर्वसमावेशी नैतिकता और सहकारिता बनाए रखने में सहायता कर सकता है। इसकी व्यापक विश्वदृष्टि, नैतिक बोध ने ही हमें ऐसे जीवन और साहित्य की विरासत दी है जो घने अंधकार में भी प्रकाश दे सके। डॉ. रामविलाश शर्मा वाल्मीकि और व्यास के अवदान के बारे में ठीक कहते हैं:—

"किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नही रहीं, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा 370—बहस के मुद्दे

शंकर शरण*

नेशनल कांफ्रेंस द्वारा धारा 370 पर बहस की चुनौती देना वास्तव में बहस न चलाने की चेतावनी या धमकी है। यह भी संभव है कि यह लोगों को दिखाने की भाषा हो, जबकि चुपचाप वह देश की बड़ी राष्ट्रीय पार्टियों के नेताओं से अनुरोध करके इस बिन्दु को उठाने से रोकने में सफल होती रही हो। यह अनुमान निराधार नहीं क्योंकि नेशनल कांफ्रेंस केंद्रीय सत्ताधारी दल से सदैव मेल रखती है, और इस के बदले उसे कुछ मिलता है। आखिर क्या कारण है कि 1998 से 2004 के बीच भाजपा ने केंद्र सरकार पर नियंत्रण होने के बावजूद कभी भी कश्मीर और जम्मू के मुद्दों पर वह कुछ नहीं किया जो उसकी लंबी माँग रही थी।

यह एक तथ्य है कि धारा 370 पर बहस के मामले में नेशनल कांफ्रेंस, और हर कश्मीरी मुस्लिम के तर्क बिलकुल कमजोर हैं। इसीलिए इस मुद्दे पर उन की भाषा में गर्मी और धमकी के तेवर ही मुख्य रहते हैं। इसीलिए, उन के द्वारा दी गई सार्वजनिक चुनौती एक पब्लिक-पोस्चरिंग है, जिस में तथ्यों, तर्कों के बजाए अंदाज और मनोबल का खेल चलता है।

उन के तर्क कमजोर का मतलब यह कि धारा 370 पर संजीदा बहस दो ही आधार पर हो सकती है—कानूनी-ऐतिहासिक या उपयोगिता। दोनों ही में उस के पक्ष में कहने के लिए कुछ नहीं। इसीलिए, नेशनल कांफ्रेंस कोई ठोस तर्क या तथ्य देने के बदले लफ्फाजी का सहारा लेती है। पिछले जून भी नेशनल कांफ्रेंस के उसी वरिष्ठ नेता ने धारा 370 को हटाने की बात पर 'खून की नदी', 'लाश पर गुजरने' जैसी भड़काऊ शब्दावली का प्रयोग किया था। यह कोई बहस की भाषा नहीं, धमकी है। कुछ वही ब्लफ खेल वाला अंदाज कि 'सोच लो, बच्चू...'। ताकि प्रतिपक्षी खिलाड़ी अधिक नुकसान के भय से खेल से उठ जाए।

* 44ए एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्रीअरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली 110 016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यथा, अदालतों में अच्छे वकील एक-दूसरे के विरुद्ध बहस करते हैं। अकादमिक पत्रिका में किसी विषय पर विरोधी विद्वान बहस करते हैं। टीवी चैनेल पर किसी मुद्दे पर विशेषज्ञ बहस करते हैं। राजनीतिक उदाहरण लें, तो अमेरिकी चुनाव में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार आमने-सामने बहस करते हैं। मगर कहीं भी 'लाश बिछने' की धमकी का तर्क तो नहीं दिया जाता! कि यदि हमारी नहीं चली तो हम ये करेंगे। इसीलिए, नेशनल कांफ्रेस द्वारा धारा 370 पर बहस की चुनौती का आशय बौद्धिक से ज्यादा राजनीतिक है।

इसे ऐतिहासिक-कानूनी और उपयोगिता, दोनों ही पहलुओं से देखने के लिए किसी गूढ़ अध्ययन की जरूरत नहीं। पहले तो, धारा का नाम ही 'अस्थाई' है, जिस पर कहना कि 'कभी नहीं हटाया जा सकता' अपने-आप में कमजोर कथन है। कुछ वैसे ही, जैसे कोई कहे कि 'हाँ, यह चीज मैंने उधार ली थी, पर वापस नहीं करूँगा।' ऐसा कहना बहस नहीं, जबरदस्ती है।

दरअसल, दिसंबर 1947 में जब यह धारा तब यह '306 ए' थी बनी थी, तो समझा गया था कि यह बमुश्किल कुछ सप्ताह या महीनों के लिए है। उद्देश्य संक्षिप्त था कि दो महीने पहले हुए जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के अनुरूप तत्काल जरूरी कार्य रोका न जाए। यह समझ थी कि यह धारा तभी तक के लिए है, जब तक जम्मू-कश्मीर की विधायिका बनकर एकीकरण की अन्य औपचारिकता पूरी नहीं कर लेती।

अतएव, सबसे पहले तो यह साफ रहे कि वह धारा जम्मू-कश्मीर के लिए कोई विशेष दर्जा था ही नहीं! इस निर्विवाद कानून-ऐतिहासिक तथ्य के लिए सभी दस्तावेज, गवाहियाँ, संस्मरण, मिनट्स मौजूद हैं। उस के संदर्भ में समय के साथ हुई सारी गड़बड़ी किसी के धोखे, किसी के भोलेपन, अदूरदर्शिता और दुर्बलता का परिणाम है।

गड़बड़ी वहाँ से शुरू हुई कि इस धारा का प्रारूप नेहरूजी ने शेख अब्दुल्ला के साथ निजी तौर पर बनवाया, और गृह मंत्री सरदार पटेल को बताया भी नहीं। नेहरू के लिए यह कार्य निर्विभागीय मंत्री गोपालस्वामी आयंगर देख रहे थे। जब इन बातों की अस्पष्ट सूचना पटेल को मिली तो उन्होंने आपत्ति की। तब नेहरू ने 23 दिसंबर 1947 को तैश में पटेल को एक पत्र लिखा, कि नेहरू के आदेश से ही आयंगर, जो जम्मू-कश्मीर मामले के अनुभवी हैं, स्वतंत्रता से काम कर रहे हैं। इसलिए पटेल की आपत्ति अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगी आयंगर के साथ अनुचित व्यवहार है। पत्र पाते ही उसी दिन, उसी क्षण, पटेल ने नेहरू को अपना इस्तीफा भेज दिया। तब मामला महात्मा गाँधी के पास पहुँचा। उनके आग्रह से पटेल सरकार में बने रहे, और जम्मू-कश्मीर मामले को पूरी तरह नेहरू पर छोड़ दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब से उस विषय में नेहरू-अब्दुल्ला-आयंगर ही सब कुछ तय करते रहे। जब धारा स्वीकृति के लिए कांग्रेस समिति के पास पहुँची (अक्तूबर 1949) तो सबने का विरोध किया। यह कहते हुए कि जो विधि अन्य राज्यों के लिए अपनाई गई, से भिन्न क्यों किया जा रहा है। यह चर्चा जब शुरू हुई, नेहरू विदेश चले गए आयंगर की पूरी फजीहत हुई। वस्तुतः नेहरू द्वारा अंतिम प्रारूप तैयार करवा कर देश जाने के बाद अब्दुल्ला ने पुनः उसमें कुछ जोड़-तोड़ करवाई थी, जो जम्मू-कश्मीर सरकार को कुछ और अधिकार देती थी। इन सब पर कांग्रेस नेताओं ने आयंगर को खूब खरी-खोटी सुनाई। तब आयंगर पटेल की शरण पहुँचे, कि किसी तरह धारा स्वीकार करवाएं।

यदि 17 अक्तूबर 1949 की उस मीटिंग में नेहरू मौजूद होते, तो क्या होता, यह अनुमान ही किया जा सकता है। पर उन की अनुपस्थिति में पटेल ने दायित्व समझा कि उस गड़बड़ धारा से असहमत होते हुए भी उसे पास करवाएं, क्योंकि यह अस्थाई अवधि के लिए ही था। जब पटेल के सचिव एन. शंकर (आई.सी.एस.) ने बाद में पटेल से पूछा कि उन्होंने उस पक्षपाती धारा को क्यों पास करवा दिया, तब पटेल ने कहा कि वह अस्थाई है और अंतर्राष्ट्रीय नजाकतों को देखते हुए पास किया गया (नेहरू जी मामले को संयुक्त-राष्ट्र भी ले जा चुके थे)। पटेल के अनुसार वह धारा कोई बड़ी चीज नहीं। आयंगर, अब्दुल्ला आदि तो कल नहीं रहेंगे, और सब कुछ भविष्य के भारतीय राज्य की सामर्थ्य पर निर्भर करेगा। फिर भी उन्होंने कहा कि इन सब ऊट-पटाँग कामों के लिए 'जवाहरलाल रोयेगा'! इस के कुछ महीने बाद ही पटेल का देहांत (15 फरवरी 1950) हो गया।

हालाँकि, अब पश्च.दृष्टि की सुविधा से कहा जा सकता है कि शेख ने शुरू से ही चतुराई बरतते हुए नेहरू का उपयोग कर, धारा में गोल-मटोल शब्दावली डाली, और धीरे-धीरे उस में बदलाव भी करवाया। ताकि बाद में उन का कुछ का कुछ अर्थ करके अपने लिए आजादी रखी जाए या जहाँ तक संभव हो ताकत बढ़ाई जाए। शेख की नीयत ठीक नहीं थी, यह बाद की घटनाओं से पुष्ट हुआ, जब नेहरू ने शेख को गिरफ्तार करवाया (8 अगस्त 1953)। पटेल का अवलोकन कितना सही साबित हुआ कि 'जवाहरलाल रोयेगा'!

पर जब वह अवसर आया, जब शेख अब्दुल्ला ने हीला-हवाला व छल-प्रपंच शुरू किया, जब उस पक्षपात का कुफल दिखना शुरू हुआ, जो नेहरू ने अब्दुल्ला के लिए किया था। जब उजागर हुआ कि जम्मू-कश्मीर के लिए विशेष प्रावधान बनाना और अंतर्राष्ट्रीयकरण करना आदि बड़ी भूल साबित हुई तब नेहरू ने क्षुद्रता दिखाते हुए सब कुछ पटेल के मत्थे डालने की कोशिश की। लोक सभा में उन्होंने झूठा बयान दिया कि 'सरदार पटेल ही जम्मू-कश्मीर का सब काम देख रहे थे।' (लोक सभा, 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलाई 1952)। पटेल के अवसान के बाद यह कहना कितनी घटिया राजनीति थी, इसे पूरी पृष्टभूमि में समझा जा सकता है।

इस प्रकार, संविधान में धारा 370 का आना, और समय के साथ उसका विकृत अर्थ किया जाना, नेहरू के भोलेपन और शेख अब्दुल्ला की चतुराई का परिणाम थी। बीतते समय ने दिखाया कि नेहरू में राजनीतिक मामलों में बुनियादी दूरदृष्टि और दृढ़ता भी नहीं है। इसी कारण वे कश्मीर मामले में बार-बार ठगे गए। जो धारा कुछ सप्ताह या महीनों के लिए गढ़ी गई थी, ताकि भारतीय संविधान को जम्मू-कश्मीर में लागू करने में तत्काल रुकावट न रहे, उसे मूल समझ के अनुरूप खत्म करने के बजाए शेख अब्दुल्ला ने अपने लिए वीटो-अधिकार बना लिया। यह नेहरू सरकार की ढिलाई और किंकतर्वूय-विमूढ़ता का भी परिणाम था।

इसीलिए, 1963 में नेहरू ने लोक सभा में आपत्तियों का उत्तर देते हुए आश्वासन दिया कि वह धारा समय के साथ 'घिसते-घिसते खत्म हो जाएगी।' लेकिन उनके उत्तराधिकारी भी बेहतर साबित नहीं हुए। इस प्रकार, 1947-48 में नेहरू की अहमन्यतावादी भूल का खामियाजा आज न केवल जम्मू व लद्दाख, बल्कि पूरा देश भुगत रहा है। आज यह पूरा इतिहास जान-बूझ कर छिपाया जाता है ताकि नेहरू की भयंकर भूलों पर पर्दा पड़ा रहे। इसीलिए यह बुनियादी बात भी आज लोग नहीं जानते कि धारा 370 जम्मू-कश्मीर को कोई विशेष दर्जा देने के रूप में नहीं बनी थी। वह तो एक तरह का अस्थाई 'जुगाड़' भर थी।

जैसे, किसी कार्यक्रम के लिए मैदान में तंबू-कनात आदि ताने जाते हैं कि कार्यक्रम के बाद वह हटा लिए जाएंगे। मगर यदि कोई चतुर भागीदार कार्यक्रम को ही नहीं, तंबू-कनात समेत मैदान में जम जाए और दावा करे कि यह तंबू और मैदान सब स्थाई रूप से उसे दे दिए गए हैं। कुछ इसी तरह की चतुराई शेख अब्दुल्ला ने धारा 370 पर की। सरदार पटेल के न रहने, नेहरू द्वारा अपनी गलती छिपाने के लिए तथ्यों को चुपचाप दबाने, तथा राजनीतिक मंच से पुराने नेताओं, अधिकारियों के हटने और नए अनजान लोगों के आ जाने आदि कारणों से शेख अब्दुल्ला को सुविधा हो गई कि वह कुछ भी तर्क-कुतर्क करते हुए उस धारा का मतलब बदलते जाएं, और उसे अपना स्थाई विशेषाधिकार बना लें।

अब पीछे देख कर कहा जा सकता है कि जैसे लॉर्ड माउंटबेटन ने अपने उद्देश्यों के लिए नेहरू का उपयोग किया, उसी तरह शेख अब्दुल्ला ने भी। नेहरू की वैचारिक कमजोरियों, कूटनीतिक अज्ञान तथा भावनात्मक दुर्बलता को समझकर शेख ने पहले 1947 में राजा हरिसिंह के बदले स्वयं को 'जम्मू-कश्मीर सरकार' मनवाने के लिए नेहरू को शीशे में उतारा। मगर सत्ता में जमते ही, बात से मुकरते हुए उस अस्थाई काम-काजी धारा को अपने लिए वीटो-अधिकार में बदल लिया, कि बिना जम्मू-कश्मीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ार की सहमति से उस राज्य में भारत सरकार कुछ नहीं कर सकती! यह अर्थ उस के लिए कभी नहीं था, जो समय के साथ शक्ति-संतुलन और बुद्धि-संतुलन ने से हो गया। नेहरू ने इस मुद्दे को कड़ाई से नहीं सँभाला, क्योंकि उस से यह तरह जाहिर हो जाता कि सरदार पटेल और राजा हरि सिंह, दोनों को किनारे कर से गुप-चुप करार करके उन्होंने कितनी बड़ी मूर्खता की थी। इसे छिपाने के लिए ने मामले को गोल-मोल होने दिया, जिस से देश की अकूत हानि हुई।

यह इतने हाल का इतिहास है कि हर बात स्वयं जाँची-परखी जा सकती है। से पहले, अक्तूबर 1947 में जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय किसी शर्त पर नहीं था। उस की कोई जरूरत ही नहीं थी! क्योंकि विलय ही उस राज्य पर किस्तानी आक्रमण के कारण हुआ था। अंग्रेजों ने जब भारत को स्वतंत्र करने का र्णय किया तो यहाँ के राजे-रजवाड़ों को भारत या पाकिस्तान में से एक चुनने का ल्ला दिया गया था। पाकिस्तानी आक्रमण के बाद जम्मू-कश्मीर ने फौरन भारत में लने का निवेदन किया। मगर विलय के बाद नेहरू ने उस मामले को स्वयं देखना रू किया। जबकि अन्य सभी रियासतों से गृह मंत्री सरदार पटेल सफलतापूर्वक बरत रहे थे। मगर नेहरू ने अब्दुल्ला से बात कर कश्मीर अपने हाथ में ले लिया। यह हरू की पहली गलती थी। उनकी दूसरी गलती मामले को संयुक्त राष्ट्र में ले जाना दिसंबर 1947) थी।

वस्तुतः, नेहरू राजा हरि सिंह से अधिक शेख अब्दुल्ला को महत्व देते थे। अब्दुल्ला ने इस का लाभ उठाया, जिस का असली मंसूबा जम्मू-कश्मीर को स्वतंत्र देश बना कर खुद शासक होने का था। तत्काल उस की गुंजाइश न थी, क्योंकि ब्रिटिश संसद ने इसका विकल्प नहीं छोड़ा था! अतः समय लेकर कोई कूटनीति खेलने के लिए उन्होंने नेहरू से समय माँगा। पर पाकिस्तान को धैर्य न था। उस के संस्थापक शासक जिन्ना कश्मीर को 'पका हुआ सेब' मानते थे जो उन की झोली में गिरना ही था। लिहाजा उन्होंने अधीर हो कश्मीर पर हमला कर दखल शुरू कर दिया। इस आपात-स्थिति में महाराजा हरि सिंह और शेख अब्दुल्ला ने दिल्ली से मदद माँगी और भारत में मिलना तय किया। अन्यथा पाकिस्तानी सैनिक और जिहादी (कबायली) श्रीनगर पहुँचकर सबसे पहले उन दोनों का काम तमाम करते!

इस प्रकार, जम्मू-कश्मीर के लिए कोई विशेष प्रावधान नितांत अनावश्यक था, क्योंकि उस राज्य के शासक और नेता विलय के समय कोई शर्त रखने की स्थिति में ही नहीं थे। पाकिस्तानी उन की जान पर चढ़े आ रहे थे, जब उन्होंने भारत से जान बचाने की विनती की। भारत सरकार ने ठीक ही कहा, कि जब वे भारत का अंग नहीं, तो उन्हें बचाने के लिए भारतीय सेना कैसे जाती। अतः 26 अक्तूबर 1947 को जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय उन की प्राण-रक्षक जरूरत थी। विलय की औपचारिकता पूरी की गई, और पाकिस्तानी खदेड़े जाने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सेना पूरा कश्मीर खाली कराने के कगार पर थी, जब नेहरू ने दूसरी भयंकर गलती की। वे स्वतः युद्ध-विराम कर दिसंबर 1947 में कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र ले गए। इस मुद्दा में कि 'देखो, मैं कैसा उदार लोकतंत्रवादी हूँ!' इस तरह कश्मीर का पश्चिमी हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में ही रह गया। न वह रहता, न कोई झंझट बचती। क्योंकि उस समय सारी दुनिया जानती थी कि पाकिस्तान ने आक्रमण किया, और हार कर उसे हटना पड़ा। बात खत्म। क्योंकि कोई आक्रमणकारी कभी हारने, पिटने की शिकायत नहीं कर सकता! यदि वह प्रक्रिया पूरी होने दी गई होती, तो कश्मीर अविच्छिन्न रहता, और दूसरे राज्यों की तरह भारत का सहज अंग तभी बन गया होता।

मगर नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र में ले जाकर कश्मीर को अपने हाथों से 'विवादित' बनाया। यह काम पाकिस्तान ने नहीं किया था। यह नेहरू ने किया, और पश्चिमी ताकतों को बना-बनाया हैंडल दे दिया, जिस से वे आज तक भारत की बाँह मरोड़ते रहते हैं। दूसरी ओर, जम्मू-कश्मीर के नेता केंद्र सरकार पर धौंस दिखाते, फुसलाते, विश्वासघात करते, आदि तरीकों से धारा 370 को स्थाई जैसा मनवाने में सफल रहे हैं। कुछ महीने के लिए बनी उस 'अस्थाई' धारा की वास्तविकता की लीपा-पोती कर दी गई है। इतना ही नहीं, दशकों से दिल्ली में चलती सेक्यूलरवादी, पर अज्ञान भरी राजनीति का भरपूर लाभ उठाकर अब तो कश्मीरी नेता आँखें दिखाते हैं कि उसे खत्म किया ही नहीं जा सकता! वरना...

ठीक भी है, स्वेच्छा से अपना विशेषाधिकार छोड़ने के लिए कौन राजी होता है! इसलिए यह मुख्यतः शक्ति का मामला है। सैनिक शक्ति से अधिक मनोवैज्ञानिक शक्ति। क्योंकि कश्मीरी नेता पाकिस्तान और भारत के बीच आज भी वैसे ही लाचार है, जैसे सितंबर 1947 में थे, जब उन्होंने स्वतंत्र रहने का पैंतरा सोचा और जिन्ना से तमाचा खाया था। इसलिए आज भी कश्मीरी मुसलमानों की सारी हवाबाजी ब्लफ है। जिस भारतीय सेना की उपस्थिति का वे रोना रोते हैं, उसी के कारण श्रीनगर में सुरक्षित रह रहे हैं। इस सेना के हटते उन्हें सीमा-पार की शक्तियाँ हजम करने में तनिक देर नहीं करेंगी।

फिर भी, तर्क के लिए देखें, तो धारा 370 को स्थाई बनाने, यानी जम्मू-कश्मीर को सदैव स्वायत्त रखने के पक्ष में दिए जाने वाले सभी तर्क फर्जी हैं। जब किसी कश्मीरी मुसलमान से पूछा जाता है कि बिना धारा 370 के भारतीय संविधान की कौन सी धारा उन के विकास में बाधक बनेगी, तो वे 'भावना की बात' जैसी लफ्फाजी के सिवा कुछ नहीं कह पाते।

वस्तुतः धारा 370 कश्मीरियों समेत पूरे राज्य की मुसीबतों की जड़ है। जो बाहरी जिहादी या पाकिस्तानी शासक कश्मीर पर मंसूबे पालते हैं, उस के पीछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कश्मीरियों का भारत से यह अलगाव भी है जो धारा 370 से बनता है। यह 'स्वायत्तता' ही बाहरी ताकतों को उम्मीद देती है कि भारत से तो यह आधा अलग है ही, बाकी उन्हें पूरा कर लेना है। यदि यह धारा न रहे तो विदेशी तत्वों के मंसूबे कमजोर और अंततः खत्म हो सकते हैं।

किंतु अगर भावना की बात भी हो, तो शेष भारत कश्मीर से किस मामले में भिन्न है। यदि कोई कथित कश्मीरी विशिष्टता है, तो पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक आदि कितने ही क्षेत्रों की विशिष्टता उतनी ही स्पष्ट है। तब केवल कश्मीर को स्वायत्तता क्यों।

वस्तुतः यह प्रकारांतर से द्वि-राष्ट्र सिद्धांत की छद्म स्वीकृति है कि जहाँ मुसलमान बहुमत हो, उन्हें अलग, विशिष्ट या स्वायत्त होने का विशेषाधिकार है। याद रहे कि उस राज्य के बड़े हिस्से, जम्मू और लद्दाख ने हमेशा धारा 370 से छुटकारा चाहा। तब केवल कश्मीरी मुसलमानों की चाह क्यों चलती है। क्या पूरे राज्य पर कश्मीरी मुसलमानों का एकाधिकार है। निस्संदेह, कोई ऐसा तर्क नहीं दे सकता। इसीलिए 'अस्थाई' होने और राज्य की बहुसंख्या द्वारा नापसंद होने के बावजूद उस धारा को हटाने पर कोई विचार-विमर्श तक नहीं होने दिया जाता। सेक्यूलर जमात में उतावली इसीलिए है, कि बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी...

तब साफ दिखेगा कि इस धारा के पक्ष में कहने के लिए कुछ नहीं है। जबकि विरोध में ढेरों बातें है। इस धारा से कश्मीरी मुसलमानों को विचित्र विशेषाधिकार हासिल हो गए हैं। उन पर कई केंद्रीय कानूनों, संस्थाओं, एजेंसियों का क्षेत्राधिकार लागू नहीं होता। वहाँ सीबीआई किसी भ्रष्टाचार की जाँच नहीं कर सकती। चाहे लाखों करोड़ो उड़ा लिए जाएं। कश्मीरी मुसलमान सारे भारत में संपत्ति खरीद सकते हैं, जबकि दूसरे राज्यों का कोई व्यक्ति कश्मीर में नहीं खरीद सकता। यहाँ तकि कि कोई कश्मीरी लड़की किसी अन्य राज्य के युवक से विवाह कर ले तो उस लड़की का भी अपने राज्य में सारा अधिकार छिन जाता है।

फिर, कश्मीर उस राज्य का केवल चौथाई क्षेत्रफल और आधी से कम आबादी है। पूरे राज्य की आमदनी उसके खर्चों का दसवाँ अंश भी नहीं। वे न अपना खर्चा चला सकते हैं, न अपनी रक्षा कर सकते हैं। सारा पैसा केंद्र देता है। सारे राजकीय ओहदे दो-ढाई सौ कश्मीरी मुसलमान परिवारों के पास है। इन चंद लोगों की रईसी और तानाशाही के लिए जम्मू और लद्दाख के लाखों लोगों की भावना तिरस्कृत की जाती है।

याद रहे, जम्मू और लद्दाख ने हमेशा धारा 370 से छुटकारा चाहा है। यह क्षेत्र राज्य का तीन चौथाई होते हुए भी, उस राज्य में आज तक कभी किसी गैर-कश्मीरी, हिंदू या बौद्ध को मुख्य मंत्री नहीं बनने दिया गया। तो क्या राज्य पर कश्मीरी मुसलमानों का एकाधिकार बना रहना चाहिए। ऐसा तर्क कोई नहीं दे सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिए 'अस्थाई' होने और राज्य की बहुसंख्या द्वारा नापसंद होने के बावजूद उस धारा को बनाए रखना अलोकतांत्रिक भी है। वस्तुतः यह 'अस्थाई' का नारा भारत के ऊपर एक मनोवैज्ञानिक दबाव है कि कश्मीर में अभी अन्तिम निर्णय शेष है।

उस धारा के कारण भी जम्मू-कश्मीर से कश्मीरी पंडितों का सफाया हुआ। फिर, वहाँ के प्रशासन में बेरोक भ्रष्टाचार की जड़ भी उसी में है। वहाँ सी.बी.आई. किसी भ्रष्टाचार की जाँच नहीं कर सकती। कई केंद्रीय कानूनों, संस्थाओं, एजेंसियों का क्षेत्राधिकार वहाँ लागू नहीं होता। चाहे लाखों करोड़ो उड़ा लिए जाएं। कश्मीरी मुसलमान सारे भारत में संपत्ति खरीद सकते हैं, जबकि दूसरे राज्यों का कोई व्यक्ति कश्मीर में नहीं खरीद सकता। यहाँ तक कि कोई कश्मीरी लड़की किसी अन्य राज्य के युवक से विवाह कर ले तो उस लड़की का भी अपने राज्य में संपत्ति-अधिकार छिन जाता है।

इस तरह की अनेक मनमानियाँ, गड़बड़ियाँ, वहाँ इसीलिए चलती रही हैं, क्योंकि धारा 370 के बहाने एकतरफा 'स्वायत्तता' का दावा बना लिया गया है। वित्तीय लूट, सांप्रदायिक मनमानी और सत्ता पर कुछ परिवारों का एकाधिकार, विदेशी ताकतों के साथ साँठ-गाँठ या उनकी घुसपैठ यही सब इस धारा की 'उपयोगिता' रही है। इसीलिए, कश्मीरी मुसलमान भी नहीं बता पाते कि इस धारा के न रहने से राज्य की जनता को क्या मुश्किल होगी!

इस तरह कश्मीरी मुसलमानों को शेष भारत की कीमत पर विशेष सुविधाएं मिल रही हैं। पर यदि कश्मीर को स्वायत्तता चाहिए तो केरल को क्यों नहीं। और अगर दो को चाहिए तो सब को क्यों नहीं। जब सभी प्रदेश स्वायत्त हो गए तो फिर भारत ही क्या बचेगा। तब कश्मीरियों की रक्षा करने और 'पैकेज' देने भी कौन जाएगा। ये सब लफ्फाजी नहीं, कठोर सत्य है। इसीलिए धारा 370 पर बहस नहीं होने दी जाती।

ऐसा भी नहीं कि कश्मीरी मुसलमान धारा 370 को प्राणों से अधिक चाहते हैं। प्रतिष्ठित ब्रिटिश एजेंसी मोरी यमार्केट एंड ओपीनियन रिसर्च इन्सटीच्यूट द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चला था उस से अधिक जरूरी बातें कश्मीरियों की चिंता हैं। किसी आम कश्मीरी ने स्वायत्तता का रोना नहीं रोया। पाकिस्तान से मिलने के पक्ष में केवल 6% कश्मीरी थे, जबकि 61% भारत के साथ रहना चाहते थे। यह सर्वेक्षण दस साल पुराना है, मगर हालत यथावत् है।

इसलिए यदि गंभीरता पूर्वक धारा 370 हटाने का प्रयत्न हो, तभी स्थाई शांति का रास्ता खुलेगा। उसी से बाहरी जिहादियों की उम्मीदें टूटेगी। भारत से अलग, ऊपर या स्वायत्त रहकर कश्मीर की समस्या हल नहीं होने वाली। इस से केवल मुट्ठी भर कश्मीरी मुस्लिमों का ठाट-बाट और राजनीति ही चलती रह सकती है। वहाँ भारत से विलगाव की मानसिकता हटाना ही वह दिशा है, जिस पर चल कर चमत्कारी परिणाम मिल सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय अवधारणा, समझ और व्यवहार में नारी

मृदुला सिन्हा*

वर्तमान की व्याख्या करते हुए किसी ने कहा है- 'वर्तमान, भूत का फल है और भविष्य का बीज।' यह उक्ति किसी भी व्यक्ति, जाति, समाज, और देश के कल, आज और कल पर लागू होती है। इसी आधार पर भारतीय महिलाओं का गौरव भी निर्धारित किया जा सकता है। इस 'कल' को भी कई कालों में बाँटा जा सकता है। प्राक् वैदिक काल, पौराणिक काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल। इस अन्तिम को आधुनिक काल भी कहा जाता है। साहित्यकारों से इस काल की गणना अपने ढंग से की है। भारत एक राष्ट्र के रूप में अपनी सांस्कृतिक विषेषताओं के लिए ही अन्य राष्ट्रों से विशेष माना गया है। जब हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ऊपज हैं तो हमें अपने को स्त्री, पुरुष, परिवार, समाज, वर्ग, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय की अपनी सांस्कृतिक अवधारणाओं के आधार पर ही देखना उचित होता है। क्योंकि समय के साथ जो व्यवहार बदलता है वह तत्कालीन भौतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और शैक्षणिक व्यवहारों का प्रतिफल होता है। इसमें पहनावा भी परिवर्तित होता रहता है, यह बाहरी परिवर्तन है। परन्तु सांस्कृतिक सूत्र अन्तःसलिला नदी की भाँति व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अन्दर प्रवाहित होता रहता है। जो उसका स्वभाव हो जाता है।

भारतीय नारी के इतिहास को जब लोग गौरवमय कहते हैं तो तात्पर्य यह होता है कि स्त्री को भी पुरुष के साथ पूर्ण बराबरी के रूप में देखा गया है। शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की परिकल्पना स्त्री और पुरुष को पूर्णरूपेण पूरक मानती है। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अवधारणा के अनुसार ही स्त्री-पुरुष से परिवार, परिवारों से समाज की रचना की गयी। भारतीय चिन्तकों और मनीषियों ने स्त्री-पुरुष की प्रकृति पर निर्भरता और पूरकता को समझ कर ही विवाह और परिवार के विचार और व्यवहार का विकास किया। स्त्री-पुरुष की लैंगिक प्राकृतिक भूख तो जंगल में रहकर भी पूरी हो सकती थी। लेकिन भारत की सभ्यता,

*मृदुला सिन्हा, पी.टी.-62/20, डीडी ब्लाक, कालकाजी, नई दिल्ली-110019

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी सभ्यताओं में चीन के साथ अग्रणी इसलिए मानी जाती है कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) की प्राकृतिक आवश्यकताओं को देखते हुए उसने 'परिवार' की परिकल्पना का विकास किया। विवाह संस्कार के विकास का परिणाम है परिवार!

मनुस्मृति के अनुसार आठ प्रकार के विवाहों को समाज ने मान्यता दी। कन्या के द्वारा चयनित वर व्यवस्था को उच्चकोटि का विवाह माना गया। तात्पर्य यह है कि विवाहोपरान्त घर में पत्नी की ही विशिष्ट भूमिका रहने वाली थी। इसलिए अपने योग्य वर का चयन वह स्वयं करे। विवाह के उपरान्त सहजीवन में किसी एक की वरीयता नहीं मानी गयी। परन्तु एकपत्नीव्रती राम ही आदर्श माने गये। नारी का बड़ा गुण 'पतिव्रता' होना माना गया। विवाह सम्बन्ध को सात जन्मों का सम्बन्ध माना; धीरे-धीरे सम्पत्ति के अर्जन और रक्षण का अभ्यास बढ़ा। स्त्रियों की सुरक्षा का भी प्रश्न उठने लगा। ऐसी स्थिति में यह माना जाने लगा कि 'ज़र, जमीन और जोरू जोर की होती है।' अर्थात् अवधारणा में परिवर्तन हुआ और स्त्री को भी जमीन और धन की श्रेणी में रखा जाने लगा। मनु के काल में तो स्त्री की तीनों अवस्थाएँ पुरुष के अधीन माने जाने लगीं। स्त्री की पुरुष के साथ सम्पूर्ण बराबरी और पूरकता की अवधारणा का प्रगटीकरण सामाजिक व्यवहारों में भी था। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय स्त्री जीवन था, तो स्त्री जीवन में भी चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का विधान था। स्त्रियों द्वारा भी वेदाध्ययन वेद की ऋचाओं के सृजन के उद्धरण आते हैं।

आखेट और खेती पर आधारित परिवार व्यवस्था में स्त्रियों की शारीरिक रचना को देखते हुए तथा गर्भाधान, और बच्चे पालन की जिम्मेदारियों के कारण बाहरी कठिन कार्यों को वर्जित किया जाने लगा। परन्तु यज्ञ, आहुति आदि कार्यों में बराबरी ही रही। बराबर के अवसरों का प्रावधान रहते हुए भी स्त्री के नैसर्गिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों को देखते हुए उसे पुरुष से भी ऊँचा स्थान दिया गया। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'–यह भावना पारिवारिक-सामाजिक जीवन के व्यवहारों में भी प्रगट होती रही। स्त्री के प्रति यह आदर का भाव अन्धकार युग में भी प्रगट होता रहा, जब स्त्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए सवारियों का विकास हुआ। डोलियों पर यात्रा करती महिलाएँ पुरुषों के कन्धों पर ही चलने लगीं। पुरुष के साथ स्त्री के स्थान की समझ विकसित करने के लिए स्त्री को पुरुष की 'इज्जत' के रूप में देखा जाने लगा। तभी तो घर की माँ, बहन, पत्नी की गालियाँ सुन कर पुरुष भड़कने लगा। जान की बाजी लगा कर भी स्त्री की सुरक्षा और सम्मान देने का व्यवहार पुरुष में विकसित हुआ। किसी भी पुरुष को नीचा दिखाने के लिए उसके सबसे बहुमूल्य माने जाने वाली बेटी, पत्नी का अपरहण और इज्जत लूटने जैसे व्यवहार होने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में इन विद्रूपताओं और विसंगतियों के पीछे स्त्री को पुरुष की इज्जत र सम्पत्ति मानना ही कारण था। मुगलों के काल में सुरक्षा की दृष्टि से ही महिलाओं पर्दे के पीछे डाल दिया गया। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के क्षेत्र में पुरुष से महिलाओं स्थिति दोयम दर्जे की हो गयी। चारों पुरुषार्थों के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी न हो गयी। सच तो यह है कि उस अन्धकार युग में हानि स्त्री की नहीं, पुरुष, वार और समाज की अधिक हुई। भरत के निर्माण में शकुन्तला, लव-कुश के र्माण में सीता ने जैसी भूमिका निभायी थी वैसी माताएँ कम होने लगीं। असूर्यम्पश्या रियाँ न पत्नी की भूमिका में दक्ष हुईं, न माता की।

उस स्थिति में भी स्त्री के बारे में भारतीय पुरातन अवधारणा और समझ माप्त नहीं हुई थी। नारी विकास के लिए छः सौ वर्षों का मानो वह आपातकाल ही था। पुरुषों ने इस अवधि में भले ही स्त्री सुरक्षा की भरपूर व्यवस्था की, परन्तु इसी काल में स्त्री अपने सही स्वरूप और अपनी भूमिका को भूल गयी। अनपढ़ नारियाँ व्यवहारकुशल और समझदार तो थीं, परन्तु अपने को पुरुषों से दोयम दर्जे की कबूल करने की नासमझी भी उनमें विकसित हो गयी। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को सिर्फ पुरुषों का कार्यक्षेत्र मान लिया। 'तू आँगन की ज्योति बहन री, मैं घर का रखवाला' जैसी कविताओं ने स्त्री और पुरुष के कार्यों में बँटवारा कर दिया। इसके बावजूद स्त्री विकास के लिए तब तक हानिकारक स्थितियाँ नहीं पैदा हुई थीं। स्त्री के प्रति पुरुष और समाज की दृष्टि में बहुत अधिक गिरावट नहीं आयी थीं।

पुनर्जागरण काल के प्रारम्भ में ही भारत और भारतीयता की सही समझ रखने वाले चिन्तकों और सुधारकों ने यह समझ लिया कि जब तक स्त्री की जीवन दशा में सुधार नहीं होगा और इक्की-दुक्की महिला के पति की चिता में जल जाने जैसी घटनाओं तथा विधवा जीवन को शाप मानने वाली स्थितियों में परिवर्तन नहीं आएगा तब तक समाज का उचित विकास नहीं होगा और भारत अपने गौरव को पुनः प्राप्त नहीं करेगा। इसीलिए राजा राममोहन राय जैसे लोगों द्वारा सती प्रथा का उन्मूलन तथा विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने वाले आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना कर वैदिक सूत्रों और जीवन दृष्टि की पुनर्स्थापना का प्रारम्भ करते समय पुनः स्त्री को उसका पुराना ऊँचा स्थान दिलवाना आवश्यक था। इसीलिए बालिका शिक्षा पर बल दिया जाने लगा। महाराष्ट्र में महात्मा कर्वे, महात्मा फुले और उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले ने स्त्री शिक्षा और रूढ़ियों के उन्मूलन पर बल देना प्रारम्भ किया। समाज पुनः आन्दोलित हुआ। स्त्री विकास की दिशा ढूँढ़ने के लिए बहिर्मुखी होने की जरूरत नहीं पड़ी। समाज अन्तर्मुखी होकर देखने लगा और अपने समाज के सुदूर इतिहास से ही स्त्री को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में पुरुषों के समकक्ष लाने के सूत्र मिलने लगे। दयानन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती ने स्त्रियों को भी गायत्री मन्त्र पढ़ने, यज्ञ-हवन करने, तथा यज्ञोपवीत धारण करने के भूले-बिसरे अभ्यासों का स्मरण दिलाया और इन्हें व्यवहार में लाया। आर्य कन्या विद्यालयों की स्थापना हुई। इक्की-दुक्की महिलाएँ ही पर्दा प्रथा का विरोध करने के लिए बाहर निकलीं। फिर क्या था, पुरुषों ने भी सहयोग दिया। समाज निर्माण में स्त्री को उसकी भूमिका का स्मरण दिलाना प्रारम्भ हुआ। स्त्रियों की आँखें खुलने लगीं।

इसी काल में देशभक्तों में देश को स्वतन्त्र बनाने की ललक जगी। कई विचारधाराओं के लोग स्वतन्त्रता आन्दोलन की बागडोर सम्भालने लगे। सभी ने महिलाओं की भागीदारी पर बल दिया। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गाँधी के आवाह्न का पड़ा। बड़ी संख्या में अनपढ़ महिलाएँ चरखा आन्दोलन और गाँधी के नमक सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लेने लगीं। शिक्षित महिलाओं को जहाँ नेतृत्व का अवसर मिला, वहीं अशिक्षित महिलाओं में भी राजनैतिक जागृति आयी। स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त महात्मा गाँधी ने बार-बार अपनी सभाओं में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी का उल्लेख किया।

सबसे बड़ा और विदेशी राजनीतिज्ञों को भी चौंकाने वाला कदम था संविधान में महिलाओं को पुरुष के बराबर का दर्जा देना। महिला और पुरुष के मत को बराबर माना गया। यह निर्णय भारतीय महिलाओं के गौरवशाली इतिहास और उनकी सामाजिक उपलब्धियों को देख कर ही लिया गया। संविधान द्वारा भारतीय महिलाओं को मिला यह बहुत बड़ा उपहार था। बहुसंख्यक महिलाएँ इस तोहफे का अर्थ भी नहीं समझती थीं। सम्भवतः इसीलिए इस अधिकार का उपयोग भी प्रारम्भ में कम हुआ।

आज स्वतत्रन्ता मिले छः दशक से अधिक समय बीत गया। सदी भी बदल गयी। 21वीं सदी के 13 वर्ष बीतने पर पुनः एक बार समीक्षा की घड़ी आयी है। आत्मावलोकन का समय आया है। पुरुष, समाज, सरकार तथा स्वयं स्त्रियों के लिए यह आत्मनिरीक्षण का विषय है कि क्या स्त्री विकास की दिशा और दशा उचित है? क्या स्त्री के हक के लिए बनाये जा रहे कानून भारतीय अवधारणा के अनुकूल हैं? क्या जल, थल, नभ पर पाँव धरती महिलाएँ अपने कर्तव्य के प्रति सचेत हैं? लगभग सात दशकों की स्त्री विकास की दशा और दिशा क्या परिवार, समाज और स्वयं स्त्री विकास को सकारात्मक दिशा दे पा रही है?

प्रश्न तो घनेरों हैं, जिनके उत्तर ढूँढते समय कुछ तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि स्त्री विकास की दिशा ढूँढने वाले चन्द सिरफिरे लोगों ने अन्धकार युग में भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति का स्मरण दिलाना शुरू कर दिया है। उन्होंने आँखें खोलती महिलाओं को समझाना प्रारम्भ किया कि उनके विकास के सदियों तक अवरुद्ध रहने का कारण पुरुष प्रधान समाज रहा है। अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओं ने उन्हें बढ़ने नहीं दिया। मुठ्ठी भर तथाकथित नेता महिलाओं द्वारा आत्मीयता पति-पुत्र और परिवार के लिए भोजन बनाने के कार्य को भी पुरुष द्वारा महिला के शोषण की श्रेणी में रख कर युवतियों को बरगलाने लगे। तात्पर्य यह कि जाने अनजाने पुरुष को स्त्री का प्रतिद्वन्द्वी बना कर समाज में खड़ा कर दिया गया। स्त्री समस्याओं के निराकरण करते हुए यह धारणा बनायी गयी कि स्त्री की समस्याएँ मात्र उनकी समस्याएँ हैं, इसलिए निदान भी उन्हीं को निकालना होगा। स्त्रियों को संगठित होना था। उस संगठन से भी समस्या निवारण के कम, पुरुष विरोध के स्वर अधिक उठे।

महिला विकास के इस मनोभाव में आग में घी का काम करने वाला उन्हीं दिनों पश्चिम (अमेरिका) में एक नारा प्रज्ज्वलित हुआ- 'नारी मुक्ति' का नारा। जिसके तहत यह विचार आया कि नारी को पुरुषों से मुक्त कराना है। वे उनके बिना भी जीवन जी सकती हैं। बीसवीं सदी के 70-80 दशक में यह प्रवृत्ति पछुआ हवा की तरह सरसराती हुई भारत में भी आयी। 1980 में मैंने एक वक्तव्य में कहा था, 'भारतीय नारी को यह मुक्ति कबूल नहीं। उसे अपने दायित्वों और पुरुषों से मुक्ति नहीं चाहिए।' यह सच था। भारतीय स्त्रियों ने उस मुक्ति को कबूल तो नहीं किया, पर पश्चिम की हवा थी, कहीं-न-कहीं विकासोन्मुख नारी अधिकारोन्मुख भी हुई और अपने कर्तव्यों से विमुख भी होती गयी। उनकी संख्या और प्रभाव की मात्रा बहुत कम रही। प्रभाव तो प्रभाव है। समाज ऐसे विचार को राख में छुपाये आग की तरह सँजो कर रखता है, जब आवश्यकता हुई चिनगारी सुलगा लेता है। 1980 में ही एक नारा गूँजा - 'हम भारत की नारी हैं, फूल नहीं चिनगारी हैं।' मैंने इस नारे में संशोधन किया था- 'हम भारत की नारी हैं, फूल और चिनगारी हैं।' मात्र 'नहीं' के स्थान पर 'और' लगा देने से ही नारा का अर्थ ही नहीं बदला, नारी की भूमिका के लिए नारा अर्थवान हो गया।

नारी विकास में एक बड़ी भ्रान्ति, नारी को पुरुष बनाने की आयी। नारी विकास का लक्ष्य उसे पुरुष बनाना मान लिया गया। यह उसी मानसिकता का प्रतिफल है जो पुरुष को महिला से उच्च मानने लगा था। लड़कियों में भी लिवास, बोलचाल, शराब-सिगरेट पीने से लेकर नौकरी और व्यवसाय का वही क्षेत्र जिसमें पुरुष जाते हैं, के पीछे पुरुष से प्रतिद्वन्दिता या स्वयं पुरुष बनने की होड़ थी।

देश के चिन्तक, विचारक और कवि हृदय राजनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सचेत करते हुए स्त्री विकास को दिशा दी- 'समानता के नाम पर जो नारी को पुरुष बनाने पर तुले हैं, वे उपहास के पात्र हैं, नारी को नारी ही रहना है। देखना यह है कि हाड़मांस की बनी यह नारी न कठपुतली बन कर जिये, न उड़नपरी बन कर देश की धरती से नाता तोड़ ले।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी संस्कृति प्रकृतिमूलक है। प्रकृति में स्त्री और पुरुष दो घटक हैं। सभी प्राणियों में यह स्थिति है। फिर हम प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते। परिणाम विपरीत होता है। जाने अनजाने स्त्री-पुरुष में प्रतिद्वन्द्विता का बीज हमने डाल ही लिया। 1980 में ही मैंने आगाह किया था- 'हर घर को अखाड़ा न बनाएँ।' हम मानें न मानें कमोबेश मात्रा में घर अखाड़ा बने हैं। विवाहों का विघटन धड़ल्ले से हो रहा है। तीन वर्ष से लेकर 70 वर्ष तक की महिला के साथ सामूहिक बलात्कार की घटनाओं की बढ़ोतरी हो रही है। पी.डी.ए. कानून के बावजूद बालिका भ्रूण हत्या बदस्तूर जारी है।

स्त्री को सुरक्षा और सम्मान देना समाज का दायित्व रहा है। हमारे अनपढ़ समाज में भी 'गाँव की बेटी, सबकी बेटी' मानी जाती रही है। बेटी की सुरक्षा गाँव का दायित्व रहा। अब सारी जिम्मेदारी सरकार और पुलिस पर डाल कर पुरुष और समाज हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरी ओर राजनैतिक पार्टियाँ समाज के किसी भी घटक को वोट बैंक के रूप में ही देखती हैं। विधायिका द्वारा किसी वर्ग द्वारा माँग उठने पर उसे सन्तुष्ट करने के लिए कानून बना कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली जाती है। वोट बैंक को ध्यान में रख कर ही आज तक संविधान के दिशानिर्देशों में सम्मिलित 'समान नागरिक संहिता' का निर्माण नहीं हो सका। कानून की दृष्टि में कोई हिन्दू महिला है, तो कोई मुस्लिम महिला, कोई ईसाई वर्ग तो कोई पारसी। हम भारतीय महिला की परिभाषा नहीं बना पाये। नारी के प्रति भारतीय अवधारणा और समझ को अक्षुण्ण रखने की किसे पड़ी है। स्वयं नारी को भी नहीं।

जीवन में अर्थकरी विद्या के प्रचार-प्रसार और पुरुषों के कार्यक्षेत्र में पदार्पण की होड़ ने पढ़ी-लिखी युवतियों के एक वर्ग को घरेलू कार्यों और बच्चा पैदा करने जैसी प्राकृतिक जिम्मेदारियों से भी विमुख कर दिया है। पति-पत्नी के अकेले रहने की मनोकांक्षा ने वृद्धजनों को वृद्धाश्रम में भेज दिया है। यौन सम्बन्ध के मूल्यों को धता दिखाते हुए धड़ल्ले से लड़का-लड़की 'लिविंग टुगेदर' को पसन्द कर रहे हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि आज हमारी बेटियाँ जल, थल और नभ पर जा रही हैं। अर्थार्जन कर रही हैं। उनकी राजनैतिक भागीदारी भी बढ़ी है। आज भी सीता और सावित्री के अंश उनके अन्दर हैं। परन्तु वे अपने विशेष दायित्व को नहीं पहचानतीं। परिवार के प्रति कर्तव्य नहीं करने के कारण उनका सम्मान घटा है। नाती पोतों से भरी अनपढ़ बुजुर्ग महिलाएँ भरी पूरी होती थीं। उन्हें अभाव में भी जन-धन का भरपूर सहारा और आनन्द मिलता था। उन्हें पता था कि वे पुरुषों से विशेष थीं। आज महिलाएँ अकेलेपन का दंश भोगने के लिए मजबूर हैं।

उनके जीवन के इस वर्तमान में महिला विकास की सही दिशा ढूँढ़ने की आवश्यकता है। ताकि महिलाओं का वर्तमान उनके भविष्य का बीज बन सके। महिला को 'विशेष' मान कर ही महिला विकास की दिशा तय करनी होगी। तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज में वह पुरुष की बराबरी के दंगल से बाहर आएगी। तभी समाज उसके लिए विशेष शिक्षा, विशेष सुरक्षा, विशेष स्वास्थ्य और विशेष सम्मान का प्रावधान गा।

नारी विशेष थी, विशेष है, विशेष ही रहेगी। इस अवधारणा के अनुरूप ही ूल बनाने की जरूरत है। शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था करनी है। पुरुषों को यह ास दिलाने की जरूरत है कि महिलाओं के समुचित विकास से ही समृद्ध, ितशाली और संवेदनशील राष्ट्र का निर्माण होगा। पुरुषों को संस्कारित कर महिला ास की सही दिशा निर्धारण करना है। नारी की भारतीय अवधारणा मानव मात्र लिए उपयोगी है। इस दिशा में भी पुनः भारतीयता की ओर जाने की पहल वश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी का असंगत नाटक साहित्य

डॉ. नानासाहेब गोरे*

हिंदी नाटक साहित्य आरंभ से ही अपने समय के साथ प्रतिबद्ध रहा है। अपनी समसामयिक समस्याओं को पूरी निष्ठा एवं गंभीरता पूर्वक व्यक्त करने के लिए वह कभी अपने आशयों में तो कभी विषयों में परिवर्तन करता रहा। परंपरागत शिल्प शैली में जब नई समस्याओं, मान्यताओं, परिवर्तित सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों को व्यक्त करना उसे असंभव होने लगा तब उसने कई शिल्प-शैलिगत नव प्रयोग कर अपना सामाजिक उत्तरदायत्वि निभाते हुए समाज एवं समय का प्रतिनिधित्व किया। भारतीय स्वंतत्रता के पश्चात् तो यहाँ का जनजीवन तथा व्यवस्था का प्रत्येक क्षेत्र विचार एवं व्यवहार के स्तर पर जड़ से हिल गया। समाज को सुचारू ढंग से चलाने के लिए बनाई गई प्रत्येक व्यवस्था में विसंगतियाँ फैल गई। इस विसंगति भरे समय को परंपरागत नाट्यशिल्प में प्रस्तुत करना मुश्किल होने लगा। परिणामतः विसंगत परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए नाटककारों को असंगत नाट्यशिल्प ही अधिक उपयुक्त लगा।

असंगत नाटक में प्रस्तुत किया जानेवाला असंगत शब्द अंग्रेज़ी के 'Absurd' के हिंदी पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। ऑक्सफोर्ड ॲडव्हान्स्ड लर्नर्स डिक्सनरी में 'Absurd' के 'unreasonable, 'not sensible'1 आदि अर्थ दिए गए हैं। हिंदी के प्रख्यात भाषा पंडित डॉ. हरदेव बाहरी 'असंगत के विसंगत, अनर्थक, अर्थहीन, अनुचित, अयुक्त, अनुपयुक्त, विवेकशून्य, अनर्गल, असंबद्ध, हास्यास्पद, उपहासास्पद, बेढंगा, बेतुका, बेहूदा, उलजलूल, वाहियात, लचर, बे सिर-पैर का आदि अर्थ देते हैं।[2] साहित्य के क्षेत्र में शिल्पगत विधान के रूप में यह शब्द अधिकतर नाटक के साथ ही जुड़कर आ जाता है। अर्थात् अंग्रेजी में जो Absurd Drama है वही

*सहा. प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.ई.एस. महाविद्यालय, जालना। भ्रमणध्वनि–9422219183
ई-मेल : nanasahebgore@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में असंगत नाटक है। स्वातंत्र्योत्तर कालीन विशिष्ट प्रकार की शिल्प शैली में गए नाटकों को असंगत नाटक कहा जाता है।

डॉ. भगवानदास वर्मा इस शब्द की जन्म कहानी के संदर्भ में लिखते हैं। वर्ती कामू ने सन् 1942 में 'द मिथ ऑफ सिसिफस' के नाम से एक लेख लिखा में सिसिफस का प्रतीक लेकर अस्तित्व की उद्देश्यहीनता और असंगति दर्शक कों का प्रारंभ हुआ। इसे ही असंगत की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। सन् 60 में मार्टिन एकलिन की पुस्तक 'दि थियेटर ऑफ दि एब्सर्ड' में पहली बार सर्ड' शब्द का प्रयोग किया गया। इस पुस्तक में उसने 'एब्सर्ड' शब्द तथा उसके न की विस्तृत व्याख्या की है।"[3] आगे चलकर विशिष्ट खेमे के नाटकों को यह नाम या गया। 'सन् 1961 में ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में यह शब्द सम्मिलित किया गया था सन् 1966 में 'द पेंग्युयन डिक्सनरी ऑफ थियेटर' में इस शब्द को परिभाषित या।'[4]

असंगत नाटककार परंपरागत नाट्यशिल्प को ही चुनौती देता है। इन नाटकों में जीवन एवं जगत् की विसंगतियों की विसंगत तरिके से प्रस्तुति की जाती है। इसीलिए इन्हें आरंभ में उलजलूल नाटक भी कहा गया। परंपरागत नाटकों की भाँति इनमें कोई सुसंबद्ध कथावस्तु नहीं देती। गोविंद चातक के शब्दों में, "वस्तुतः विसंगतवादी नाटक स्थितियों का नाटक है, घटनाओं या चरित्रों का नहीं। उसका लक्ष्य कहना नहीं काव्यात्मक बिंब प्रस्तुत करना है। विसंगतवादी नाटककार मानवीय स्थितियों की सही विद्रुपता का दर्शन कराने के लिए प्रायः बिंबों, दुःस्वप्नों और अतिकल्पनाओं को माध्यम बनाते हैं और अतिरंजनापूर्ण कथावस्तु, विलक्षण चरित्रों और सनसनीखोज दृश्य-योजना का अटपटा प्रयोग कर पाठकों को झटका देते हैं।"[5] इन नाटकों में घटना नहीं मानवीय विकृत स्थितियाँ होती हैं। एक स्थिति का दूसरी स्थिति से कोई संबंध नहीं होता। असंबद्ध घटनाओं की बेहुदी हरकतों की प्रतीकात्मक प्रस्तुति इसमें होती है। इन नाटकों का फैलाव वृत्ताकार होता है। प्रस्तुति के लिए प्रयुक्त पात्र व्यवस्थागत सत्य में मानवीय अस्तित्व के प्रश्न का वहन करने वाले होने के कारण वे भी अटपटे ही होते हैं। इनमें अधिकतर गंदे, बीमार, मानसिक विकृतियों से पीड़ित, बदशक्ल, दुश्चरित्र, आलसी, निकम्मे, चोर, उचक्के, आवारा, अपराधी, पीड़ित, दमित, विक्षिप्त, बहिष्कृत, निरर्थक, निर्हेतुक, बोझिल जीवन जीनेवाले पात्र होते हैं।

असंगत नाटकों में संवादों का स्थान विसंवादों ने लिया है। असंगत नाटककारों के मतानुरुप वर्तमान समय में संवादों की स्थितियाँ ही समाप्त हो चुकी हैं। इनमें संवाद कम और बेहुदी हरकतें अधिक होती है। ऊपरी तौर पर संवाद और हरकत में कोई संगति नहीं होती। मंच पर उपस्थित पात्र कई बार असंबद्ध संवाद करते हैं तो कई बार घिसे-पिटे संवाद, एकालाप, वाक्यों की पुनरावृत्ति, अधूर संवाद, अभी उछल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूल तो कभी सर्वथा निरर्थक मौन धारणा करते हैं। इन निरर्थक संवादों तथा बेहूदी हरकतों में भी एक अर्थ होता है जो मनुष्य के समयगत वास्तव को प्रस्तुत करता है। परंतु पाठकों, दर्शकों को अपने दिमाग पर जोर डालकर उस निरर्थकता में छिपे अर्थ को ढूँढना पड़ता है। मनुष्य की अस्तित्वविहीनता तथा उसके जीवन के बेतुकेपन की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले नाटकों में छिपे अर्थ समझ लेने की कसरत पाठकों तथा दर्शकों को करनी पड़ती है।

असंगत नाटकों में चलने वाला संपूर्ण क्रिया कलाप सर्कस की भाँति चौंकाने वाला होता है। ये किसी भव्य विचार या दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं करते और न ही किसी वाद या विचारधारा का प्रतिनिधित्व। वे व्यक्ति के अस्तित्वगत प्रश्नों को खड़ा कर इस संसार में उसके स्थान एवं व्यवस्था में उसकी कीमत को स्पष्ट करते हैं। अर्थात् व्यक्ति के आत्मगत सत्य को व्याख्यायित करते हुए आज की जटिलतम व्यवस्था में उसकी अस्तित्वविहीनता की नवव्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसकी ऊब, अकेलापन, मृत्युबोध, निरर्थकताबोध की अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं।

हिंदी साहित्य में असंगत नाटकों का सही विकास भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् ही हुआ। परंतु इस प्रकार के प्रयोग हिंदी नाटक साहित्य में स्वातंत्रता के पहले हुए ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। आजादी के पहले ही भुवनेश्वर ने 'ताँबे के कीड़े', 'उसर' जैसी असंगतदर्शी नाट्य रचनाएँ लिखी थी। डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में, "हिंदी नाट्य रचना, में असंगत नाटक के कपितय तत्व सर्वप्रथम भुवनेश्वर के नाट्य-प्रयोग 'ताँबे के कीड़े', 'उसर' जैसे नाटकों में दिखलाई पड़े थे, जो सन् 1930-35 के आस-पास लिखे गए।"[6] परंतु उस समय के समीक्षकों ने इनहें उलजलूल रचनाएँ कह कर उसका उपहास किया तथा साहित्य क्षेत्र में लेने से भी इंकार किया।

दो विश्वयुद्धों के महाविनाशक परिणामों तथा औद्योगिकरण के दुष्परिणामों से पाश्चात्य देशों में मनुष्य के अस्तित्व के संकट तथा उसके जीवन की निस्सारता के जीवन दर्शन से प्रेरित एब्सर्ड नाटक लिखे गए। इन नाटकों में ज्याँ जेने का 'द मेडस्', आयनेस्को का 'बाल्ड प्रिमोडोना' तथा सॅम्युएल बैकेट का विश्वविख्यात नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' की विश्वभर में प्रशंसा तथा समीक्षा होने लगी। तब भारतीय परिस्थितियों से प्रेरित होकर पाश्चात्य असंगत नाटकों की ही भाँति भारतीय व्यवस्था में अनुभूत निरर्थकता, अस्तित्वविहीनता, व्यवस्थागत विसंगतियों की अभिव्यक्ति असंगत नाट्य शिल्प में करना हिंदी नाटककारों ने आरंभ किया। भुवनेश्वर, विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, सत्यव्रत सिंहा, मणिमधुकर, काशीनाथ सिंह, रमेश बक्षी, हमीदुल्ला, मद्राराक्षस, शांति मेहरोत्रा, बृजमोहन शाह, सुदर्शन चोपड़ा, रामेश्वर प्रेम, चंद्रशेखर, शंभूनाथ सिंह, राजकमल चौधरी, सुदर्शन मजिठिया, रमाशंकर निःशेश, डॉ. चंद्र आदि नाटककारों ने असंगत नाट्यधारा के विकास में अपना योगदान दिया है। स्वतंत्रता के पश्चात् समाज को सुचारु ढंग से चलाने के लिए बनाई गई प्रत्येक व्यवस्था में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था फैल गई। चारों ओर अनाचार, भ्रष्टाचार फैल गया। यांत्रिकीकरण ने पुरुष को भी एक यंत्रवत् बनाकर संपूर्णतया संवेदनहीन बनाया। परिणामतः सामान्यजन ने, घुटन, संत्रास का अनुभव करने लगा। इस प्रभाव में वह मानवीय कम और यांत्रिक आचरण अत्यधिक करने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् समाज, राजनीति, प्रशासन, अर्थव्यवथा आदि में सुव्यवस्था लाने की दृष्टि से कई प्रयास किए गए परंतु सार्वजनिक क्षेत्रों में शासकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों की अकार्यक्षमता तथा कार्य शैथिल्य के कारण हमारे देश का जितना विकास होना चाहिए था उतना नहीं हो पाया। निजी क्षेत्रों में पूँजिपतियों की विलासिता, चोर बाज़ारी, शोषक प्रवृत्ति ने सामाजिक वातावरण में अपनी जगह बना ली। राजनीतिक सेवा का कम और लूट का धंधा अधिक बन गई। इसलिए विभिन्न हथकंडों से सत्ता हथियाने की घृणित, लज्जास्पद, स्वार्थी राजनीति का बोलबाला चारो ओर फैल गया। चुनावों में रिश्वत, शराब, धोखाधड़ी, मारपीट, खूनखराबा जैसे जनतंत्र के लिए अशोभनीय कृत्य सरेआम किए जाने लगे। शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र को भी राजनीति के कुकर्मों से बक्शा नहीं गया। राजनीतिक पार्टियाँ छात्रों, उनके संघों को ऊँची नौकरियाँ, धन आदि का लालच दिखाकर उनका चुनावों की राजनीति में इस्तेमाल करने लगी। आम नेताओं की तरह ही छात्र नेता भी अध्ययन की ओर कम और विलासिता की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने लगे।

मुखौटाधारी, अवसरवादी नेता एक ओर रामराज्य, जातिविरहित समाज व्यवस्था, शोषणमुक्ति, सबको रोटी-कपड़ा-मकान, हर हाथ को काम जैसी घोषणाएँ कर रहे थे तो दूसरी ओर जातिवाद, धर्मान्धता, अलगाववाद, शोषण, अत्याचार, भ्रष्टाचार, अनाचार को बढ़ावा दे रहे थे। धर्म निरपेक्षता के नाम पर जातीय दंगे किए जाने लगे जिसमें हजारों निरपराध लोगों की जानें चली जाने लगीं। एक इंसान से दूसरे इंसान को तोड़ने का जितना कार्य राजनेताओं ने किया उतना शायद ही और किसी ने किया होगा। व्यवस्था के नियंताओं, उन्नायकों के स्वार्थी, काली करतूतों ने तो आदमी को उतना असहाय बना दिया कि प्राप्त परिस्थितियों के साथ समझौता किए बगैर चलने के सिवा और कोई मार्ग ही उनके सामने शेष नहीं रहा। अपनी मर्जी, इच्छा, आवश्यकता के अनुरूप सामाजिक, राजनीतिक चालें चलते हुए सामान्यजनों का इस्तेमाल करते रहने की विकृत मानसिकता ने आम आदमी को और भी विवश बना दिया।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियों तथा यांत्रिकीकरण के प्रभाव ने मनुष्य को पूरी तरह अकेला, निराश, कुंठित, असहाय बना दिया। सबकुछ समझकर भी परिस्थितियों का दास बने विकल्पहीन प्राप्त परिस्थितियों को चुपचाप सहते जीने की नियति मात्र उसकी बन गई। उसके चयन के अधिकार छीने गए। जीने के विकल्प ही समाप्त होने के कारण प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों में घुटते मृत्यु तक निरर्थक जीवन काटना मात्र उसके हाथ में रह गया। इससे कुंठा, निराशा, उब, घुटन, संत्रास, निरर्थकता, अजनबीपन की भावना उसमें बलवती होती गई। असंगत नाटककारों ने मनुष्य के इन्हीं बोधों की अभिव्यक्ति अपने नाटकों में की है। देश में सर्वव्यापी, भ्रष्टाचार, विलासिता, भूखमरी, लूट-पाट, हत्या, नारी के साथ दुर्व्यवहार, शोषकों की भोग प्रवृत्ति, पारिवारिक विघटन, मानसिक तनाव, वर्ग-संघर्ष, नैराश्य, कुंठा, अकेलापन, अजनबीपन, मृत्युबोध, निरर्थकता का चौंकानेवाला अंकन हिंदी असंगत नाटकों में मिलता है। मानवीय मूल्यों और रिश्तों की टूटन, पुरानी पीढ़ी की अहंमन्यता, चारित्रिक दुर्बलता, देहभोगी विलासिता जैसी विसंगतियों का चित्रण भी इन नाटकों में मिलता है।

असहाय, विकल्पहीन स्थितियाँ स्वातंत्र्योत्तर कालीन व्यवस्था तथा यांत्रिकीकरण की सबसे बड़ी देन रही है। विपरित स्थितियों में मनुष्य अपने अस्तित्व की तलाश में लग गया जिसमें उसके हाथ मोहभंग की स्थितियों के अलावा और कुछ न लगा। परिस्थितियों का दास बना किसी मशीन के पहिए की भाँति निर्धारित दायरे में सुनिश्चित गति से घूमते रहने की नियति मात्र उसकी बन गई। पल-पल मोहभंग के साँप उसे डँसने लगे। बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु' के युवक को इसी प्रकार व्यवस्था इस्तेमाल कर विकल्पहीन बनाए जीने के लिए छोड़ देती है। स्नातकोत्तर शिक्षा पूरी करने पर भी दर-दर की ठोकरे खाता हुआ मोहभंग की वेदना को अनुभूत करता है। व्यवस्था द्वारा कमजोर बनाकर दुतकारे, फटकारे गए तिरस्कृत जीवन जीने के लिए अभिशप्त मोहभंग के अंधेरे में निरर्थक अंतहीन भटकनेवाले युवक के संदर्भ में थियेटरवाला कहता भी है "अपना उल्लू सीधा करने के लिए तुमने इसे समझना, बोदा, उलझा, कनफयूज्ड करके त्रिशंकु बना रखा है।"[7]

राजनीतिक व्यवस्था का तिकड़म और स्वार्थलिप्सा इतनी गिर गई कि आत्मसम्मान से जीने की चाह रखने वालों का उन्होंने जीना ही हराम कर दिया। 'मरजीवा' के आदर्श और 'भूमि', 'शह एक मात' के कप्तान, 'अपनी पहचान' की अपर्णा 'तिलचट्टा' का देव, 'घोआस' के पासी, घीसा, फूजा, नाजी, 'तेंदुआ' का माली योअर्स फेथफुली के कार्यालयीन कर्मचारी मोहभंग के अंधकार में छटपटाते जीव ही है। डॉ किरणचंद्र शर्मा के शब्दों में, "अब-तक संसार के बारे में हमारी यह धारणा रही कि वह तर्कगम्य है, लेकिन अब विश्व से हमारा मोहभंग प्रारंभ हुआ। मनुष्य जगत् में अकेला, अजनबी और निर्वासित है तथा भविष्य के लिए कोई संभावना शेष नहीं है।"[8]

मोहभंग तथा विकल्पहीनता की स्थिति में मनुष्य के निरंतर अकेलेपन का बोध सताता है। विसंगत परिस्थितियों तथा यांत्रिकता ने इस बोध को और भी गहरा बना दिया है। हिंदी के अधिकांश असंगत नाटकों में अकेलेपन की पीड़ा की अभिव्यक्ति की है जो एक मानसिक बीमारी के रूप में व्यक्ति का हनन कर रही है। डॉ. मिश्र के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ानुसार, "इस भरे-पूरे विश्व में कभी-कभी व्यक्ति अकेलेपन की तीखी अनभूति के य सबकुछ बीमारी होने की कुरेदनेवाली वृत्ति से ग्रस्त होता है। इसमें व्यक्ति की गाथा आस्था का क्षय होता है तो उसको संकल्प शक्ति देकर प्रतिकूल परिस्थितियों संघर्ष में प्रवृत्त करती है।"[9] अकेलेपन की पीड़ा का बोध पहले पश्चिम में हुआ। पाल सार्त्र, अलबर्तो कामू, सोरेन किर्कगार्द आदि दार्शनिकों ने इसपर काफी चिंतन प्रस्तुत किया। आन्द्रे मालरू ने 1925 में कहा था कि युरोपीय आदमी के सामने निवार्य विसंगति की स्थिति है। पश्चिमी का आदमी असंगत जीवन जीता है। ईश्वर नहीं मनुष्य भी मर गया है। और एक शून्य के नीचे अकेला निरुपाय खड़ा है।'[10]

वर्तमान परिवेश की अर्थहीनता ने मुक्ति के सब द्वार बंद किए हैं जिससे किसी री अंधकारमय गुँफा में फेंक दिये जाने की अनुभूति से सभी ग्रस्त केवल तनहा केले में छटपटा मात्र रहे हैं। 'ताँबे के कीड़े', 'अमृतपुत्र', 'मरजीवा', 'शह ये मात', त्रिशंकु', 'तीसरा हाथी', 'ठहरा हुआ पानी', 'उलझी आकृतियाँ', 'तेंदुआ', 'तिलचट्टा', आदि नाटकों के पात्र अकेलेपन के बोझ को ढो रहे हैं। 'तीसरा हाथी' की शुभा मोहन; ठहरा हुआ पानी' की सीता, देबू, रमा, अम्मा; 'लोटन' के मालती, किशोर; 'एक और युद्ध' की आशा सभी अकेलेपन की पीड़ा से पीड़ित हैं। पाश्चात्य चिंतकों द्वारा अकेलेपन पर किए गए चिंतन के अनुरूप दो विश्वयुद्धों के महाविनाश तथा औद्योगिकरण के विकास के कारण पश्चिम में अकेलेपन की भावना बढ़ती रही। परंतु हिंदी असंगत नाटकों में व्यक्त अकेलेपन की पीड़ा के कारण समसामयिक संबंध एवं व्यवस्था में अधिक छिपे हैं। इसलिए इन नाटकों के पात्रों को अनुभूत होनेवाली अकेलेपन की पीड़ा व्यवस्थागत विसंगितयों के कारण है। हेतु भारद्वाज लिखते हैं, "हम देख रहे हैं कि सत्य के मार्ग पर चलनेवाला और श्रम तथा ईमानदारी से जीनेवाला हर आदमी अपने को अकेला महसूस कर रहा है। क्योंकि उसको बहिष्कृत करने के हरदम प्रयास चल रहे हैं। लेखक का काम इसी आदमी की पक्षधरता करना है और अपनी रचना के माध्यम से इस व्यक्ति की प्रतिमा को टूटने से बचाना है। आज के लेखक के समक्ष वह सबसे बड़ी चुनौती है।"[11]

असंगत नाटककारों ने मनुष्य की मृत्युबोध की स्थितियों का चित्रण अपने नाटकों में किया है। इन नाटकों पर अस्तित्ववादी चिंतन का प्रभाव है। अस्तित्ववाद मृत्यु को जीवन के शुद्ध तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य के अस्तित्व की सही परिचायक उसकी मृत्यु है। इस मृत्युबोध की अभिव्यक्ति हिंदी नाटककारों ने अपनी भावभूमि पर की है। समसामयिक विसंगत परिवेश में व्यवस्थापक, नियंता सर्वोपरी तथा आम व्यक्ति अस्तित्वविहीन, निरर्थक बन गया है। ऐसी अवस्था में उसके मृत्युबोध की स्थिति व्यवस्था के विरुपता को स्पष्ट करती है। यहाँ उनका मृत्युबोध उनके अस्तित्व की घोषणा करने के लिए नहीं अपितु विपरित परिस्थितियों दमघोंटु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वातावरण में उनकी अस्तित्व विहीनता जाहिर करने की दृष्टि से नाटककारों ने प्रस्तुत की है। असंगत नाटकों के पात्रों को जीवन की ऊब, निराशा, कुंठा, बेबसी, पीड़ा, आदि से मुक्ति समस्याओं के समाधान में नहीं मृत्यु में ही दीख रही है। इसीलिए असंगत नाटकों के पात्र या तो आत्महत्या करते हैं या फिर मृत्यु नहीं आ रही है इसलिए जीते हैं या फिर जीवितावस्था में ही खुद को मरा हुआ अनुभूत करने लगते हैं। 'मरजीवा', 'अपनी पहचान', 'योअर्स फेथफुली', 'शह ये मात', 'तीसरा हाथी', 'अमृत पुत्र', 'ठहरा हुआ पानी', 'घोआस', 'कटा नाखून', 'लोटन', इन नाटकों में मृत्युबोध की स्थितियों का अंकन मिलता है। क्योंकि समसामयिक परिवेश इतना विषाक्त बन गया है कि वह स्वयं व्यक्तियों का चयन कर अपने जाल में घसीट रहा है। यही कारण है कि अधिकांश नाटकों के पात्र जीवन में अन्य कोई विकल्प न मिल पाने के कारण आत्महत्या करते हैं। वे जीने की भरसक कोशिश तो करते हैं परंतु लाख प्रयासों के बावजूद जीने का नया विकल्प ढूँढ़ नहीं पाते।

जिंदगी की सड़ाँध तथा विकल्पहीनता की स्थिति से उबरकर 'मरजीवा' के आदर्श एवं भूमि आत्महत्या की कोशिश करते हैं जिसमें भूमि मर जाती है पर बचे हुए आदर्श को राजनीतिक हादसे का शिकार बनाया जाता है। 'अपनी पहचान' का पात्र निश्चित आधार के अभाव में आत्महत्या करता है। 'योअर्स फेथफुली' के कार्यालयीन कर्मचारी मृत्यु की ओर आस लगाए बैठे हैं। 'शह ये मात', 'तीसरा हाथी', 'अमृत पुत्र', ठहरा हुआ पानी', 'घोआस', 'कटा नाखून', 'लोटन', आदि नाटकों में मृत्युबोध की स्थितियों की अभिव्यक्ति मिलती है।

शोषणमूलक, वस्तुवादी तथा यांत्रिक व्यवस्था में मनुष्य को अपना जीना संपूर्णतः निरर्थक प्रतीत हो रहा है। प्राप्त परिस्थितियों, विसंगतियों से बाहर निकलने की उसकी इच्छा एक छलावा मात्र बनकर रही है। वह जी रहा है अपने लिए कम और औरों के हित एवं इस्तेमाल में अधिक। इन स्थितियों से उद्धार की प्रतीक्षा भी एक अनंत काल तक चलनेवाली परंपरा बना है। क्योंकि वह समाप्त भी हो सकता है परंतु मनचाही व्यवस्था नहीं ला सकता। इसलिए प्राप्त परिस्थितियों में अपना जीना उसे निरर्थक लगता है। इस निरर्थकता बोध की अभिव्यक्ति असंगत नाटकों में खुलकर की गई है। योगेंद्र शाही के शब्दों में, "भौतिक उपलब्धियों के बावजूद मानव आज विभ्रम में है और मन से अशांत है। अपने क्रियाकलापों के संबंध में वह अश्वस्त नहीं। व्यर्थता बोध से आंतरिक रूप से ग्रस्त है। भौतिक रूप से जितनी ही शक्ति संपन्नता बढ़ रही है उतना ही मनुष्य अपने को व्यक्तिगत जीवन में तथा समाज में शक्तिहीन अनुभूत करने लगा है।"[12]

हिंदी असंगत नाटकों का विकास पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों के विकास के पश्चात् जरूर हुआ परंतु वे पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों की अनुकृति मात्र बनकर नहीं रहे। हिंदी के असंगत नाटक संपूर्णतया भारतीय स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में ही विसंगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिणामस्वरूप लिखे गए हैं। स्वातंत्र्योत्तर कालीन मोहभंग, मूल्य–ह्रास, सामाजिक, नीतिक, शैक्षिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में पनपती हुई विसंगतियों की व्यक्ति के एक सशक्त माध्यम के रुप में इन नाटकों का विकास हुआ।

असंगत नाटकों की इस नवीनतम नाट्यधारा ने हिंदी नाट्य-जगत् को कुछ य तक जरूर चमत्कृत किया परंतु यह नाट्यधारा अधिक दिनों तक चल न सकी। न भावभूमि तथा दर्शन से प्रेरित प्रभावित ये नाटक थे वह दर्शन संपूर्ण निरास्थावादी । भारतीय मानस आस्थावादी होने के कारण उस दर्शन को वह न तो हज़म कर का और न ही स्वीकार कर सका। दूसरे इन नाटकों का शिल्प ही जटिल होने के रण नाट्यलेखक एवं नाट्यकर्मी इस ओर अधिक नहीं झुक पाए।

दर्भ

1. Oxford Advanced Learners-A.P. Cowie Dictionary, पृ. 5
2. बृहत् हिंदी कोश भाग–1 –डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. 10
3. साहित्य की विधाधर्मिता–डॉ. भगवानदास वर्मा, पृ. 58
4. समकालीन हिंदी नाटककार–गिरीश रस्तोगी, पृ. 21
5. रंगमंच कला और दृष्टि–गोविंद चातक, पृ. 123
6. आज का हिंदी नाटक प्रगति और प्रभाव– डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 17
7. त्रिशंकु–बृजमोहन शाह, पृ. 31
8. असंगत नाटक और रंगमंच–सं. नरनारायण राय, पृ. 96
9. हिंदी नाटकों के सौ वर्ष–सं. डॉ. तिवारी, पृ. 100
10. समकालीन हिंदी नाटककार–सं. नरनारायण राय, पृ. 96
11. आज के परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य–हेतु भारद्वाज, पृ. 14
12. अस्तित्वादः किर्कगार्द से कामू तक–योगेंद्र शाही, पृ. 07

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामराज्य की अवधारणाएँ और हमारा लोकतन्त्र

शोभाकान्त झा*

कभी हम लोग उन बातों और उन विषयों पर विचार करने लग जाते हैं, जिन्हें हम लोग या तो भुला चुके होते हैं अथवा उन पर आज विचार करना अप्रासंगिक लगता है, बुर्जुआपन लगता है, बुढ़बस लगता है। वर्षों से पेटी में पड़े कपड़े को निकालकर धूल झाड़ने या धूप दिखाने जैसा लगता है। रामराज्य की अवधारणाओं और वर्तमान लोकतन्त्र पर चिन्तन किया जाना, कुछ-कुछ ऐसा ही लग सकता है। किन्तु शास्त्र हो या परम्परा उन पर बार-बार चिन्तन, अनुचिन्तन होते रहना चाहिए। इससे हमारे शास्त्र और परम्पराएँ रूढ़िग्रस्त नहीं हो पाते। वे हमारे विकास के लिए अवरोधक नहीं बन पाते। वे कमोवेश प्रासंगिक बने रहते हैं और हमें भी ऊर्जा प्रदान करते रहते हैं। बल्कि यों कहें कि शास्त्र और परम्पराएँ निरन्तर हमारे भीतर प्रवहमान रहते हैं और सही दिशा में हमें गतिमान बनाए रखते हैं। निर्मल वर्मा का मन्तव्य उल्लेखनीय है इस सन्दर्भ में कि "भारतीय परम्परा किसी एक परम पुस्तक या पैगम्बर के सन्देश से नहीं जुड़ी है, उसे आत्म या अन्य के रिश्ते को संयोजित करने के लिए बार-बार उन मूल स्रोतों की ओर जाना पड़ता है, जिसे हम 'परम्परा' का नाम देते हैं। अतः परम्परा कोई बन्द, ठहरी हुई, जड़ चीज नहीं हैं।" ('परम्परा बोध में द्वन्द्व' लेख से) यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में कही जाती है। यही राम-राज्य के सम्बन्ध में कहीं जा सकती है।

'रामराज्य' भी एक शासन-शास्त्र है; नीतिशास्त्र है; लोकतंत्र नीति निदेशक सिद्धान्त है। इसकी कुछ अच्छी बातों को लेकर भारतीय लोकतन्त्र पर आज के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए। इसकी अवधारणाओं से भलीभाँति अवगत होकर इसमें निहित मूल्यों और नीतियों को अपनाना चाहिए। दुनिया-भर के संविधान से लेकर हमने अपने संविधान को बनाया है। फिर अपने अतीत से, इतिहास, रीति-नीति से परहेज क्यों? क्या यही धर्मनिरपेक्षता का आशय है कि अपने देश के इतिहास-पुराणों तथा जहाँ कहीं भी राम-श्याम किसी भी रूप में शामिल हों, उनसे परहेज करें?

*डा. शोभाकान्त झा, कुशालपुर, रायपुर, (छत्तीसगढ़)–492001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सल, यह धर्मनिरपेक्षता का आशय कतई नहीं। सत्ता पर काबिज होने या बने के लिए लोग संविधान की व्याख्या अपने कुत्सित पक्ष-पोषण के लिए अपने-अपने से करते रहते हैं, देश चाहे जाए भाड़ में।

खुले मन से यदि विचार करें तो रामराज्य कहने के लिए राम का राज्य था। तन्त्र था। परन्तु विचार करें तो न राम व्यक्ति थे और न उनका राज्य कोरा तन्त्र। राम ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें पूरा लोक समाया हुआ था। लोकाराधन उनका ष्ट मन्त्र था। वे लोकाराधन के लिए सर्वस्व त्याग के लिए सतत तत्पर रहते थे। के राज्य त्याग में लोगों को भले ही पितृ आज्ञा का पालन पहले दिखाई पड़ता है, तु उसके पीछे लोकोपकार का गहरा भाव था। आर्तत्राण का अभियान था, अन्यथा धनुष-बाण को संग नहीं ले जाते। राम-कथा साक्ष्य है। 'अध्यात्म रामायण में कथा ई है कि जब देवों को पता चला कि राम अयोध्या के युवराज बनाए जा रहे हैं तब ा ने नारद मुनि को भेजा और कहा कि वे अयोध्या जाकर एकान्त में श्रीराम से र्थना करें कि उनका अवतरण पृथ्वी के भार उतारने के लिए हुआ है। यदि वे योध्या के राज्य शासन में आसक्त हो जाएँगे तो यह कैसे सम्भव होगा? लोक को लानेवाले रावण का वध कैसे हो पाएगा? श्रीराम ने नारद को आश्वस्त किया था कि आप लोग चिन्ता न करें। मुझे प्रतिज्ञा याद है। समय आने पर सारे कार्य सम्पन्न गे। मैं रावण के विनाश के लिए दण्डकारण्य जाऊँगा। उस दुष्ट को सीता-हरण के हाने सपरिवार नष्ट करूँगा'—

रावणस्य विनाशार्थं श्वो गन्ता दण्डकाननम्।
चतुर्दशसमास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक ॥
सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम्।
एवं रामे प्रतिज्ञाते नारदः प्रमुमोदह ॥

अ.रामा.अयोध्या कांड 2-38,39

तात्पर्य यह कि व्यक्ति राम ऐसे राजा थे, जिनका लोकरंजन उद्देश्य था। लोक संग्रह उनका अभीष्ट था। लोक-मंगल उनका मन्त्र था। राम-परिवार और राम-दरबार के सभी लोग राजा की ही मान्यताओं के अनुकूल आचरण करते थे। उनका राजतन्त्र असली गणतन्त्र का सम्मिश्रण था।

आइए जरा राम-राज्य के शील-आचार पर विचार करें और सोचें कि क्या यह राज्य खयाली पुलाव है? क्या वह व्यावहारिक नहीं है? क्या उसके कतिपय गुणों को आज भी अपनाकर हमारा लोकतन्त्र समृद्ध नहीं हो सकता?

कहते हैं कि रामराज्य में दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से प्रजा तापित नहीं थी, ऐसा क्या था इस राज्य में कि त्रिविध ताप लोगों को यहाँ नहीं सताते थे, जब कि शरीर को आधि-व्याधि का घर बताया जाता है? शक्ति लगने पर लखन लाल भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचेत हो गए थे। चमत्कार दिखाना रहता तो फिर राम ने वैद्य को क्यों बुलाया? हनुमान को औषधि लाने क्यों भेजा? फिर तुलसी ने ऐसा क्यों लिखा कि–

अल्प मृत्यु नहि कवनेहु पीरा। सब सुन्दर सब निरुज शरीरा ॥

उ.कां. 20-3

ऐसा लिखने का सम्भवतः यह आशय है कि राम के राजा रहते राज्य की ऐसी स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था थी कि दैहिक पीड़ा किसी को सताती नहीं थी। लोगों का ऐसा रहन-सहन था, ऐसे आचार-विचार थे कि तीनों ताप व्यक्ति को प्रभावित नहीं करते थे। आज भी कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने आज तक एक टेबलेट नहीं खाई है। वे डॉक्टर-वैद्य के पास नहीं गए हैं। क्योंकि उनके खान-पान, रहन-सहन, सोच-विचार ऐसे सुन्दर और नियमित हैं कि उन्हें शरीर-पीड़ा व्यापती नहीं। देर रात तक जागने वाले, प्रभात पवन, किरण से दूर रहनेवाले लोग कैसे निरुज रह सकते हैं? बाबा रामदेव के शिविर में एक सज्जन ने खुले मन से स्वीकार किया था कि—वह बीस साल बाद आज सूर्योदय देख रहा है और अतिशय आनन्द का अनुभव कर रहा है। ऐसे में शरीर निरुज कैसे रह सकता है?

राम-राज्य में भौतिक सुख पर्याप्त था, परन्तु भोगजन्य रोगों से लोग ग्रस्त नहीं थे। घर का भोजन आज लोगों को भाता नहीं है। होटलों के चटपटे अस्वास्थ्यकर भोजन उन्हें ज्यादा पसन्द हैं। भोजन समय पर करते नहीं या उन्हें सुलभ नहीं। बार-बार चेताने पर लोग धूम्रपान नहीं छोड़ते। जहरवाला शीतल पेय पीते हैं। शहद नहीं, शराब पीते हैं। आदि-आदि अपथ्य भोजन करनेवाले लोग कैसे शरीर पीड़ा से बच सकते हैं? बहुतों को भोग ही भोग रहा है। अतिशय संचय की प्रवृत्ति उनसे अनाप-शनाप क्रिया-कलाप कराती है। दौड़ाती है—घुड़दौड़ के घोड़े की तरह, तनावग्रस्त बनाती है। कम-बेसी होती विद्युत धारा की तरह, फिर तो शरीर-जन्य भाँति-भाँति के रोग होने ही हैं। देव मन्दिर शरीर को व्याधि मन्दिर होना ही है।

एक ताप दूसरे ताप को जन्म देता है। अर्थसंचय यदि भौतिक ताप से निजात दिलाता है तो अत्यधिक संचय संघर्ष बढ़ाता है। शत्रु पैदा करता है। तरह-तरह की मानसिक-शारीरिक व्याधियों का शिकार बनाता है। राम-राज्य में भौतिक ताप इसलिए नहीं सताता था कि वह धर्माचरण से शासित था। संचय नहीं, त्याग का भाव था। सत्य, सेवा, दान, दया से संयुक्त भौतिक समृद्धि प्रजा को भौतिक और दैहिक ताप से दूर रखती थी। दैविक ताप भी उपर्युक्त दोनों तापों से असम्बद्ध नहीं। आज का आदमी ईश्वर को, विचार को, सदाचार को मरा समझकर अनर्थकारी ढंग से अर्थ संचय और काम सेवन में लगा हुआ है। प्रकृति पर विजय पाने के क्रम में अमानवीय ढंग से पर्यावरण को दूषित कर रहा है। फलतः दैवी कोप का वह पात्र बनता जा रहा है। कभी प्रकृति के प्रकोप, कभी महामारी, कभी दुर्घटनाएँ घटित होकर तापित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ो हैं, जिन पर मनुष्य का वश नहीं चलता। जो तर्कों से परे हैं, ऐसे ताप दैविक अकाल, महामारी, प्रकृति के प्रकोप के अनेक रूप इसी ताप के रूप हैं। एड्स जैसे ाध्य भयंकर रोग तीसरे पुरुषार्थ काम को पूजा भाव से न जीने का परिणाम कहा सकता है, तो कैंसर, तनावजन्य रक्तचाप, मधुमेह आदि रोगों का बढ़ना अर्थ और न के बीच बढ़ते असन्तुलन का दुष्फल है। जीवन के अथ और इति को न समझने दुष्परिणाम है। भारतीय प्रज्ञा प्रकृति में भी प्रभु का दर्शन करती है। वह प्रकृति को ना नहीं, उसकी पूजा करना जानती है। उस पर विजय नहीं, विनयपूर्वक उसका त उपयोग करती है। गाँव-गाँव में पूजे जा रहे पीपल और वट वृक्ष आज भी इसकी ही देते हैं। इसी पूजाभाव के कारण राम-राज्य में भी सभी वृक्ष समय पर ते-फूलते थे। वर्षा समय पर होती थी। इसमें राम-कृपा का चमत्कार तो था ही, ृति के साथ अमानवीय ढंग से छेड़छाड़ न करने का भी प्रभाव था। लेखक भी कोई ा की बात नहीं बता रहा है, अपितु इसी जीवन का अनुभव बता रहा है कि 20-30 पहले तक छत्तीसगढ़ में इतनी पर्याप्त वर्षा होती थी कि कहीं मेड़ न बाँधने पर धान पर्याप्त हो जाता था, परन्तु आज...?

राम-राज में समृद्धि थी। वैर-भाव का अभाव था—धर्म अपने चारों चरण—सत्य, ा, दान, दया के साथ रक्षित था। ये सारे चमत्कार नहीं थे, अपितु राम-जैसे राजा आचरण और शील-स्वभाव के स्वाभाविक सुफल थे। जैसा राजा वैसी प्रजा—*नहिं मात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थित* (वा.रा. 2-44-26)। अर्थात् राम ने बढ़कर इस क में कोई सत्पथी नहीं था। कुपन्थ पर चलनेवाले का साथ तो विभीषण जैसा च्छा भाई भी छोड़ देता है। अपने भी पराये हो जाते हैं, परन्तु सही राह के राही के थ गैर भी अपने बनकर चल पड़ते हैं। वनवासी और वानर-भालू तक जीने-मरने गे। राम जहाँ रहे वहाँ की भूमि अवध बन गई।

वाल्मीकि की तो यहाँ तक मान्यता रही कि जहाँ राम जैसे लोग राजा नहीं वह श राष्ट्र नहीं है। जहाँ राम निवास करेंगे, वह वन भी राष्ट्र होगा और हुआ भी ऐसा ी—

नहि तद भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥—वा.रा. 2-37-29

सोचकर देखिए तो यह राम का कोई दैवी चमत्कार नहीं था, अपितु उनके चरित्र का प्रभाव था। उनके धर्माचरण और लोकमंगल साधिका नीतिमत्ता का सहज परिणाम था। राम वनवासियों के बीच उनके जैसे जीवन जीते रहे, उन्हें भाई के समान मानकर आदर देते रहे। बिना किसी दिखावे और भेदभाव के उन्हें अपना बनाते रहे। उनकी रक्षा करते रहे। उन्हें निर्भयता प्रदान करते रहे। उन्होंने वनवास को उपासना समझकर जीया। पिता की आज्ञा पालन करना मात्र उनका उद्देश्य नहीं। लोक मंगल साधन में उनके चौदह वर्ष बीते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम-राज्य राजतन्त्र स्वरूप से था, पर उसकी आत्मा लोकतन्त्रात्मक थी। वैयक्तिक जीवन को छोड़कर सारे लोक संग्रह के निर्णय मन्त्रियों, गुरु, सुहृदों की सहमति से लिए जाते थे। वनवास के समय भी हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, अंगद–सबसे सलाह लिए जाते थे। उनकी बातें राम मानते भी थे और जब वे राजा भी बने तब भी उन्होंने भाइयों, गुरुओं, मन्त्रियों सबको कह रखा था कि आप सब जब कभी मुझे गलत नीतियों पर चलते देखें या बोलते पाएँ तो बिना किसी भय-संकोच के मुझे रोकें–

जौ अनिति कछु भाखौं भाई, तौ मोहि बरजऊ भय बिसराई॥

–रा.च.मा. 7-41-3

उनके मन्त्री भी वही लोग होते थे, जो सब तरह से चरित्रवान, योग्य होते थे और उन पर नागरिकों का विश्वास होता था–

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेंगिताज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघवः।
सुसंवृतो मन्त्रि धुरैरमान्यैः शास्त्रकोविदैः॥–वा.रा. 2-900-15,16

महाभारत का भी यही अभिमत है–

तस्मै मन्त्रो प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता सता।
पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः॥–म.भा. 12-83-45,46

राम को युवराज बनाने से पूर्व दशरथ ने नागरिकों, गुरु, सबसे से राय ली थी। दरअसल, जिस राज्य का राजा प्रजा हितैषी होगा, योग्य और चरित्रवान होगा उस राज्य का मंगल होना ही है। ऐसा राजतन्त्र सदा से काम्य रहा है। भारतीय मनीषा ने प्रजा रक्षण और रंजन के कारण ही राजा को राजा कहा है–

राजा, प्रकृति रंजनात्– कालिदास। ऐसा लोकतन्त्र भी किस काम का, जहाँ जनता अरक्षित हो, भयग्रस्त हो, प्रतिभा का सम्मान न हो, अपूज्य पूजा जाए और पूज्य ठोकर खाए? जहाँ अपनी भाषा का, संस्कृति और परम्परा का आदर न हो, वह लोकतन्त्र दुर्बल ही रहेगा। रामायण ने तो स्पष्ट निर्देश दिया है कि अपने देश के निवासी को ही राजदूत, मन्त्री आदि बनाना चाहिए।

कच्चिजानपदो विद्वान दक्षिणः प्रतिभावान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पंडितः॥–वा.रा. 2-100-35।

दण्डविधान और कर-विधान, खेती-बाड़ी, वाणिज्य-व्यवसाय, अध्ययन-अध्यापन, समता-शान्ति, सुख-समृद्धि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शौर्य, गौरव और इन सबसे ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हित का समुचित ध्यान रखा जाता था। तभी राम-राज्य सभी प्रकार के ताप-शापों मुक्त था, न कि दैवी चमत्कार से। राम के गुप्तचर राजा के सम्बन्ध में भी गुप्तचरी ते थे। राजा ने दण्ड का या भय का प्रयोग कर किसी की स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं या। तभी तो एक धोबी के कहने पर राम ने निर्दोष सीता का परित्याग कर दिया। की घोषणा थी कि लोकाराधन के लिए स्नेह, दया, सुख यहाँ तक कि जानकी को त्यागा जा सकता है और उन्होंने त्याग भी दिया–

स्नेह दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय हि लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

उत्तर रामचरितम्– भवभूति।

आज के तथाकथित प्रजातन्त्री राजा महाराजा लोग, लोग-लुगाई को त्यागने की त तो सोच भी नहीं सकते। वे तो पूरे देश को भी चरकर अघा नहीं पा रहे हैं। वे नुचित संग्रह के लिए क्या कुछ भ्रष्टाचरण नहीं करते रहते हैं। रोज-रोज के माचारपत्र साक्षी हैं। देशभक्ति की रामनामी चादर ओढ़कर तथा राजघाट पर सौ-सौ डोरिया खाकर भी वे देश को खा रहे हैं। ऐसे लोकतन्त्र में जी रहे लोगों को रामराज्य की कल्पना तो कपोल कल्पित लगेगी ही। गाँधी ने रामराज्य की कल्पना की, उन्हें मार दिया गया। गैर ने तो गोली मारी थी और थोड़ी देर की पीड़ा झेलकर वे विदा हो गए थे। अपने तो उन्हें रोज मार रहे हैं–उनके मूल्यों का गला घोंटकर।

राम के राज्य में सबको जोड़ा गया; सबको राष्ट्रीय धारा में लाया गया; सभी जातियों के प्रमुखों को सभ्य समझकर सभा में स्थान दिया गया–*सभ्या सर्वासु जातिषु*। (शुक्रनीति) कोई विषमता नहीं थी–*राम प्रताप विषमता खोई।* परन्तु इस लोकतन्त्र में? अंग्रेज जो कार्य अधूरा छोड़ गए, उसे वह ब्याज सहित पूरा कर रहा है। देश को तो अंग्रेज बाँट गया और समाज को हम बाँट रहे हैं बेहतर रूप से–वर्गों में, जातियों में, क्षेत्रों में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेबमीडिया और हिन्दी

नीलम पाण्डेय*

सूचना और प्रौद्योगिकी के इस युग में वेब मीडिया और हिन्दी का अन्तः सम्बन्ध वैश्वीकरण की देन है। मीडिया के जितने भी साधन—दृश्य, श्रव्य तथा प्रिण्ट—हैं, उन्हें वेब (वर्ल्ड वाइड वेब) के साथ जोड़ा ही नहीं गया, बल्कि विश्व में द्वितीय स्थान रखने वाली हिन्दी के प्रचलन को देखते हुए वेब मीडिया में स्थानान्तरित भी किया गया। इसके कारण दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दी-भाषी तथा अहिन्दी-भाषी इसे पढ़ और लिख सकते हैं। संचार क्रान्ति भौगोलिक विश्व की माँग है, क्योंकि जोड़ने का कार्य तो यही कर रही है, जिसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। समय के बदलते परिवेश में शिक्षा और तकनीकी के कारण लोगों की धारणाएँ परिवर्तित होती जाती हैं। संचार और सूचना के आरम्भिक दौर में लोगों की धारणा कुछ इस प्रकार थी कि "यही वह तार है जो हमारा गला घोंटता है।"[1] आज के सन्दर्भ में देखें तो संचार, सूचना और तकनीकी के अभाव में सांस लेना भी दूभर है। संचार और सूचना जगत में अंग्रेजी के पश्चात् अगर किसी भारतीय भाषा को स्थान मिला है तो वह हिन्दी भाषा ही है। जैसे कि प्रो. रमेश जैन कहते हैं कि "इण्टरनेट पर आज भी अग्रेजी का वर्चस्व है, लेकिन अन्य भाषाएँ भी पीछे नहीं हैं। इण्टरनेट पर भारतीय भाषाओं का आगमन का पहला अवसर हिन्दी पोर्टल *वेब दुनिया* को मिला। वेब दुनिया के संस्थापक एवं मुख्य कार्यकारी अधिकारी विनय छजलानी हैं। नई दुनिया डॉट काम पहली बहुभाषी ई-मेल, ई-पत्र और पहला हिन्दी पोर्टल वेब दुनिया डॉट कॉम इण्टरनेट पर लाया गया।"[2] वेब मीडिया पर हिन्दी अपनी उपस्थिति समाचार, साहित्य, खेल, मनोरंजन, वाणिज्य, ज्योतिष और ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से दर्ज करा रही है। वेब मीडिया का सारा कार्य-व्यापार तथ्यपरक होता है कि जस-की-तस बात रख दी

*नीलम पाण्डेय (पी-एच. डी. रिसर्च स्कोलर), डिपार्टमेण्ट ऑफ हिन्दी, हैदराबाद सेण्ट्रल यूनिवर्सिटी, गच्चीवाली, हैदराबाद 500046, E-mail : pandey.neelum@gmail.com(Cont : 09490313574, 09293314082

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ए, परन्तु वरिष्ठ पत्रकार सुधीश पचौरी का मानना है कि–"मीडिया में मूल कोई ति होती ही नहीं। हर कथा अपना पाठ निरन्तर बदलते चलती है।"[3] विचारों और थ्यों का सामंजस्य बिठाना बड़ी टेढ़ी खीर है। उम्बर्ती इको का मानना है कि "विचार तंग लिबास पसन्द नहीं।"[4] सूचना जगत में तथ्यों और विचारों की आपसी टकराहट आज स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वेब मीडिया पर हिन्दी समाचारों का प्रसारण ता है। उत्तर भारत से दैनिक जागरण डॉट कॉम, हैदराबाद से दैनिक हिन्दी मिलाप ट कॉम, दिल्ली और मुम्बई से दैनिक नवभारत टाइम्स, इण्डिया टाइम्स डॉट कॉम, दौर से नई दुनिया डॉट कॉम तथा नई दिल्ली से साप्ताहिक हिन्दी डॉट इण्डिया टुडे ट कॉम आदि (लगभग 131) ऑन लाइन समाचार उपलब्ध हैं जिनके द्वारा श-विदेश की सभी खबरें प्राप्त की जा सकती हैं। साहित्यिक गतिविधियों के लिए न्दी साहित्य की लगभग 74 तथा हिन्दी पत्रिकाओं की लगभग 103 ऑन लाइन सुविधाएँ जारी हैं, जिनके माध्यम से वेब मीडिया पर साहित्य समाचार, साहित्य सृजन और साहित्य पठन-पाठन सम्भव हो रहा है। साहित्य की जानकारी के लिए अभिव्यक्ति–साहित्य का सुरुचिपूर्ण साप्ताहिक फेस बुक पर टीम अभि–अभिव्यक्ति डॉट आर्ग, हिंखोज, नेट पर हिन्दी का संसार–हिन्दी होम पेज डॉट कॉम आदि पर संस्कृत काव्य हिन्दी में, संक्षिप्त महाभारत हिन्दी में, सामान्य ज्ञान और साहित्यक प्रश्नोत्तरी हिन्दी में उपलब्ध है। हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाएँ–अभिनव, चिन्तन-सृजन, अंचल भारती, आह्वान, युद्धरत आम आदमी, वागर्थ, समकालीन समाचार, बहुवचन, मनस्वी, साहित्य समीक्षा के अतिरिक्त चन्दामामा, गृहलक्ष्मी तथा क्रिकेट टुडे जैसी असाहित्यिक पत्रिकाएँ भी ऑन लाइन हैं। जिसके माध्यम से साहित्य तथा समाज की जानकारी ली जा सकती है।

मनोरंजन और सूचनाओं के लिए लगभग 19 तथा खेल से सम्बन्धित 15 ऑन लाइन सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें हिंखोज, दुनिया देखो हिन्दी में, इण्डिया डॉट हिन्दी एफ.एम. रेडियो, हिन्दी डॉट शब्दकोशिश डॉट कॉम, खुदी को कर बुलन्द इतना, सूडोको आदि के द्वारा आप मनोरंजन तथा सूचनाओं को प्राप्त कर सकते हैं। व्यापार और वाणिज्य की 18 ऑन लाइन सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा व्यापार-कार्य सम्भव हो रहा है·इसमें प्रापर्टी संसार डॉट कॉम, बिजनेस स्टैण्डर्ड, टाटा इण्डिकॉम डॉट काम, ई-बैंकिंग, ई-कामर्स आदि हैं। व्यापार और समाचार-पत्र मुख्य अधिकारी अरुण नटेश का दावा है कि मैं बड़ी कम्पनियों की छोटी-सी खबर देता हूँ। साथ ही वह यह भी घोषणा करते हैं कि "अवश्य ही यह साइट प्राथमिक स्तर पर काम कर रही है, परन्तु भविष्य में इसमें बहुत सारे परिवर्तन जल्द ही होंगे और लाइव न्यूज और लाइव स्टॉक मॉर्केट सम्मिलित होंगे।"[5] तकनीकी और सूचना के क्षेत्र में भारत में 3 सितम्बर, 2008 से मोबाइल सॉफ्टवेयर तकनीकी द्वारा विण्डोज मोबाइल जैसे मोटोरोला, एच.टी.सी., सैमसंग आदि पर भी हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जा रहा है। गूगल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेस्कटाप, स्कैप्स ए.बी.सी. डॉट कॉम, बी.बी.सी. डॉट कॉम, कम्प्यूटर सीखो डॉट कॉम, दम तो मारो दम डॉट ब्लॉग्स्पॉट डॉट इन, हिन्दी वेब निर्देशिका, विज्ञान डॉट वर्ड प्रेस डॉट कॉम, अच्छी खबर, मैं स्त्री डॉट कॉम, मीडिया साथी डॉट कॉम आदि पर हिन्दी का कार्य-व्यापार सम्भव हो रहा है।

वेब मीडिया ने अंग्रेजी के पश्चात् हिन्दी को अपने प्रयोग की भाषा तो बनाई, परन्तु उसके स्थायित्व हेतु कोई सुनियोजित मानदण्ड निर्धारित नहीं किए, जिसके कारण भाषायी ढाँचा प्रभावित हुआ। संक्रमित हिन्दी की चिन्ता को अनिल चमड़िया अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं कि "हिन्दी के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए एक मुकम्मल भाषा के निर्माण की कोई योजना और रूपरेखा निश्चित नहीं है। इसलिए सुरक्षा के लिहाज से यह भर कहा जा सकता है कि इस भाषा के निर्माण की प्रक्रिया जारी है, लेकिन इस प्रक्रिया में यह देखा जा रहा है कि हिन्दी को प्रचलित अर्थों में गाँव की कमजोर लुगाई मान लिया जा रहा है, जिसके साथ तमाम तरह के मजाक हो रहे हैं।"[6] वेब मीडिया पर प्रयोग की जाने वाली हिन्दी का वाक्य-विन्यास, वर्तनी दोष, शब्दों का अनुवाद और प्रयोग सभी कुछ प्रभावित हुआ है। प्रयोगकर्ता बिना किसी जागरूकता के उसका उपयोग कर रहे हैं। जैसे हिंखोज के एक चुटकुले का हिन्दी प्रयोग देखिए–

पति से पत्नी कार चलाना सीख रही थी।

अपने पति से बोली : ये सामने का सीसा सही नहीं लगा हुआ है।

पति ने <u>पुछा</u> : क्यों क्या <u>गडबड</u> है?

पत्नी ने कहा : इसमें पीछे आ रही कारें ही देख पाती हूँ पर अपना चेहरा नहीं देख पा रही हूँ।

रेखांकित शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो भाषा का सतहीपन स्पष्ट दिखता है। हिन्दी प्रयोग का एक और उदाहरण–

<u>कम्पुटर</u> <u>सुदार्वने</u> के लेन काल करे मो. न. 9993749620

इन उदाहरण में वर्तनी दोष, वाक्य-विन्यास, शब्दों की अनभिज्ञता आदि को आसानी से पहचाना जा सकता है। मीडिया साथी डॉट के ब्लॉग पर महेन्द्र प्रताप सिंह लिखते हैं कि एफ.एम. रेडियो के प्रभाव और समाचारों के तेज गति से होते प्रसार के इन क्षेत्रों में भी अशुद्ध और अमानक भाषा सुनने-पढ़ने को मिल रही हैं कई स्तरीय समाचार-पत्र भी अब इस बुराई की जद में आ गए हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। जैसे बढ़ती माँग के चलते अनेक अयोग्य लोग इस क्षेत्र में आ गए हैं, जो न पत्रकारिता के प्रति सचेत हैं और न भाषा के प्रति। कई बार तो मीडिया हाउसों के उच्च पदों पर बैठे मीडियाकर्मियों, पत्रकारों और अधिकारियों को भी भाषा की पर्याप्त जानकारी नहीं होती। टी.आर.पी. के दृष्टिकोण से भी देखें तो अशुद्ध भाषा का प्रयोग गलत उच्चारण टिकर या बैंकिंग न्यूज में चलती गलत वर्तनी दर्शकों को चैनल से विमुख कर सकती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।”[7] हिन्दी के पोर्टल प्रभासाक्षी के सम्पादक बालेन्दु दाधीच वेब मीडिया में हिन्दी के प्रयोग की समस्या पर कहते हैं कि “हिन्दी साइटों के लिए विजनस मॉडल ढूँढ़ना भी टेढ़ी खीर है। कोई सरकारी इमदाढ़ नहीं मिलती बुनियादी ढाँचे के खर्चे ज्यादा हैं। (हालाँकि प्रिण्ट मीडिया से तो कम ही है) हिन्दी फाण्ट की समस्या सबसे विकराल है। की-बोर्ड का मानकीकरण हुआ नहीं है।”[8] वेब मीडिया पर हिन्दी के चलन और भाषा के साथ किए गए खिलवाड़ तथा प्रयोग पर वे कहते हैं कि “भाषा से खेलना एक रोचक, रचनात्मक और सकारात्मक अभ्यास हो सकता है, लेकिन भाषा से खिलवाड़ करना किसी भी लिहाज से ठीक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान हिन्दी मीडिया में हिन्दी के साथ यही हो रहा है। कुछ मीडिया कर्मियों के अज्ञान, अध्ययन की कमी और लापरवाही की वजह से हिन्दी मीडिया की भाषा परिष्कृत और विकसित होने की बजाये दूषित और अशुद्ध होती जा रही है।”[9] वरिष्ठ पत्रकार मनोहर श्याम जोशी के शब्दों में “एक गोष्ठी में जब मैंने शिल्प और भाषा की बात उठाई, तब एक जनवादी युवक लेखक ने मुझे याद दिलाया कि शिल्प तो मोची को भी आता है और लच्छेदार बातों से रिझाना तो रण्डी भी जानती है। विचार है कि शिल्प को घटिया ठहरानेवाला यह तेवर कहीं मनुवादी तो नहीं है।”[10] भौगोलिक विश्व के परिणामस्वरूप भाषा को वस्तु मानना और समाज को उसका खरीददार समझकर चलने की अवधारणा पर मनोहर श्याम जोशी का मानना है कि “इन विशेषज्ञों की यह मान्यता है कि अमीर ग्राहक तक पहुँचना जरूरी है और अमीर ग्राहक स्वयं उनकी तरह पूरी तरह पश्चिमी रंग में रँगा हुआ हैं। उनका बार-बार आग्रह होता है कि प्रोडक्ट को अपमार्केट, गोया पश्चिमी रंग में रँगे हुए भारतीयों को पसन्द आ सकने लायक, बनाया जाए।”[11]

वेब मीडिया की हिन्दी सशक्त न होते हुए भी लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हो रही है; 21वीं सदी के इस वैश्विक युग में अपनी जगह तलाश रही है। अग्रसर होने की इस प्रक्रिया में बहुत कुछ पीछे छूट भी रहा है और बहुत नया जुड़ भी रहा है। वेब मीडिया पर हिन्दी भाषा का यह संक्रमित रूप देखकर भाषायी पुरोधा चिंताग्रस्त हैं। वे इसे भाषायी प्रदूषण या भाषायी दोष मानते हैं, परन्तु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ कैसे रह सकते हैं कि संचार और सूचना के माध्यम से ही हिन्दी को विश्व फलक प्राप्त हुआ है। वेब मीडिया पर हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर अच्युतानन्द मिश्र का वक्तव्य है कि “बाजारवाद के सहारे 21वीं सदी में हिन्दी भाषा वैश्विक फलक पर अपनी जगह तलाश रही है। ग्लोबलाइजेशन का दबाव और ‘प्रोडक्ट’ या ब्राण्ड बनकर हिन्दी अपने तेवर के साथ आगे बढ़ती जा रही है। हिन्दी राष्ट्रभाषा तो न बन पाई, लेकिन वह मीडिया मालिकों के आर्थिक मुनाफे की भाषा बन गई है। उनकी नजर में साहित्य और पत्रकारिता के चन्द शुद्धतावादी लोग, जो इस क्रान्ति को भाषायी प्रदूषण बता रहे हैं। यह नहीं पाते कि वास्तव में यह दौर हिन्दी मीडिया को मार्केट फ्रैण्डली बनाने का है। टी.वी. चैनल और एस.एम.एस. भाषा से हिन्दी का कैनवास बढ़ रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।"[12] वेब मीडिया पर हिन्दी का ग्राफ ऊपर उठ रहा है। उसके कारण अनेक हो सकते हैं। जैसे–

- हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार।
- वेब मीडिया मालिकों का व्यक्तिगत स्वार्थ (धन तथा लोकप्रियता प्राप्त करना)।
- बाजारवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु को उत्पाद समझना और येन-केन प्रकारेण उसे बेचना।
- पाश्चात्य प्रभाव विकास के नाम पर आधुनिकता की होड़ में हिन्दी का अंग्रेजीकरण कर देना जो सुविधाभोगी काहिल उपभोक्ता तथा मिडिया –कर्मी के काहिली के कारण हो रहा है।

संचार क्रान्ति के फलस्वरूप हिन्दी को खुला आकाश तो मिला, परन्तु उसमें उन्मुक्त उड़ान भरने के लिए विविध माध्यमों के पंखों की आवश्यकता होगी, जिसके लिए हिन्दी प्रेमी, हिन्दी श्रोता और हिन्दी वक्ता सभी अपने-अपने स्तर पर प्रयासरत हैं। प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी वेब मीडिया को हिन्दी साहित्य और संस्कृति के साथ राजनीति से जोड़ने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि "हिन्दी फेसबुक पर बड़े पैमाने पर युवा लोग लिख रहे हैं। इनमें सुन्दर साहित्य अनुवाद विमर्श आदि आ रहा है। इसमें आक्रामक और पैना लेखन भी आ रहा है। साथ ही फेसबुक पर बड़े पैमाने पर बेवकूफियाँ भी हो रही हैं। साथ ही हिन्दी को केवल साहित्य और संस्कृति तक सिमट कर न रहने बल्कि उस राजनीति से जोड़ते हैं–प्रेस ने जब राजनीति की ओर रुख किया था, तब ही उसे पहचान मिली थी। यही बात ब्लॉगिंग और फेसबुक पर भी लागू होती है। जो लोग लिख रहे हैं, उनकी सुन्दर भूमिका है। लेकिन इस माध्यम को अपनी पहचान तब ही मिलेगी, जब हिन्दी के श्रेष्ठ ब्लॉगर और फेसबुक लेखक गम्भीरता के साथ देश के आर्थिक-राजनीतिक सवालों पर लिखें।"[13]

नेट पर हिन्दी का संसार–हिन्दी होम पेज डॉट कॉम–हिन्दी का एक ऐसा पोर्टल है, जिसमें हिन्दी के बारे में सूचना सन्दर्भ समाचार तथा जिसे ज्ञान, शिक्षा और सेवाओं के संसाधन केन्द्र के रूप में विकसित किया जा रहा है। इस बहुआयामी पोर्टल का एक प्रमुख उद्देश्य भाषा के कारण अपनी डिजिटल खाई को पाटना है। इसके विभिन्न विषयों पर केन्द्रित हिन्दी के उपयोगी और महत्त्वपूर्ण वेब स्थल, चिट्ठे और पोर्टल आ रहे हैं, ताकि पूरे विश्व में फैले हिन्दी-भाषी लोग आसानी से इन तक पहुँच सकें और इनका उपयोग कर सकें।

विश्व हिन्दी सचिवालय द्वारा अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसके लिए विश्व के हर कोने से हिन्दी कहानी का स्वागत किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजेताओं की कहानियाँ सचिवालय की भावी साहित्यिक पत्रिका और वेबसाइट पर प्रकाशित की जाएगी।

डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डॉट हिन्दी शब्दकोशिश डॉट कॉम ऑनलाइन हिन्दी शब्द खेल को दिल्ली के औशिक घोष और विनोद सैनी ने अपने साथियों के साथ मिलकर हिन्दी जगत को एक ऑनलाइन डिजिटल शब्द खेल सौगात दी है : शब्द कोशिश नामक इस वेबसाइट में हिन्दी शब्द खेल को वेब मीडिया साहित्य, संस्कृति, राजनीति से जोड़ने के अलावा हिन्दी में समकालीन चर्चा व जानकारी की कड़ियाँ भी दी गई हैं। इसका मूल उद्देश्य हिन्दी की समकालीन अभिव्यक्ति और प्रयोग को बढ़ावा देना है और हिन्दी भाषा के प्रति रुचि बढ़ाना है।

डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डॉट खुदी को कर बुलन्द इतना डॉट ब्लॉग्स डॉट कॉम ऐसी वेबसाइट है जो मानव के व्यक्तिगत विकास पर शैक्षिक जानकारी हिन्दी में प्रदान करती है। इसमें मानव विकास से जुड़े हर पहलू का विश्लेषण और व्यावहारिक समाधान सुझाए गए हैं। यह ब्लॉग स्टीव पब्लिना की वेबसाइट का हिन्दी अनुवाद है। डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू दम तो मारो दम डॉट ब्लॉग्स पॉट डॉड इन हिन्दी ब्लॉग पर कम्प्यूटर का प्रयोग और कम्प्यूटर से जुड़ी जानकारियों को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कराता है। जैसे—कम्प्यूटर, वेब, अप्लीकेशन, साफ्टवेयर, डिजिटल तकनीक, इण्टरनेट आदि।

मीडिया साथी डॉट कॉम पर स्वर्गीय धर्मवीर भारती द्वारा पत्रकारिता पर 17 वर्षों पूर्व लिखे गए लेख 'उत्कर्ष और विघटन के आयाम' को महेन्द्र प्रताप सिंह ने उपलब्ध कराया। इसी वेबसाइट पर रणधीर सिंह सुमन 'वेबसाइट पर बाजारवाद के इस दौर में हिन्दी ब्लॉगिंग की भूमिका' लेख में हिन्दी ब्लॉग पर लिखते हैं कि "बाजारवाद के कारण ही आज का पत्रकार निष्पक्ष नहीं रह पाता। लेकिन आम आदमी की इस पत्रकारिता के क्षरण होने के साथ-साथ उसके लिए वैकल्पिक मीडिया के लिए हिन्दी ब्लॉगिंग ने बेहतर माध्यम के तौर पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। ब्लॉगिंग ने आम आदमी की संवेदनाओं और भावनाओं के सुख को फिर से जागृत किया है। मीडिया ने अपनी ताकत नहीं खोई बल्कि ब्लॉग के द्वारा पुनः सँजोई है।"[14]

वेब-मीडिया पर हिन्दी की वैचारिक उपलब्धि के साथ तकनीकी सम्बन्धी भी उन्नति हुई है। जिसके द्वारा हिन्दी प्रेमी सरलता से हिन्दी का वेब जगत में प्रयोग कर अपनी सृजन क्षमता को निर्मित कर सकते हैं। मीडिया साथी डॉट कॉम के ब्लॉग पर गंगा सहाय मीणा यह जानकारी देते हैं—"अब हम किसी वर्ड प्रोसेसर में, ई-मेल में, गूगल सर्च में, वेबसाइट पर मैसेंजर चैटिंग वगैरह सभी जगहों पर यूनिकोड की मदद से हिन्दी लिख सकते हैं। हालाँकि अभी तक हिन्दी की लिपि देवनागरी के सभी वर्णों का मानकीकरण नहीं हो पाया है। इस वजह से कुछ वर्ण लिखने में दिक्कत आती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय पहले तक हिन्दी यूनिकोड का फोनेटिक या ट्रान्सलिटरेशन की-बोर्ड ले लाइट वाला 'बराह' सॉफ्टवेयर सर्वाधिक प्रचलित था। लेकिन इन दिनों भाषा इण्डिया के इण्डिक आई एम ई का जादू फैलता जा रहा है।"[15]

वेब मीडिया पर हिन्दी अपनी सुविधाओं और असुविधाओं के द्वार से गुजर रही है। हिन्दी को अनुसन्धान और शोध की दृष्टि से देखें तो सुविधा कम असुविधा अधिक है। वेब मीडिया पर साहित्य जगत का कार्यान्वयन पूर्व के व्यवस्थित रूप के कारण है, क्योंकि वह पहले से प्रिण्ट मीडिया में उपस्थित थे। परन्तु शोध के लिए नवीन विचार, सामग्री, आलेख, किताबें, संगोष्ठियाँ, चर्चाएँ आदि उतनी सहजता से हिन्दी शोधार्थी को नहीं मिलते, जितने कि अंग्रेजी भाषा के शोधार्थी को। हिन्दी अनुसन्धानकर्ता का पैसा, समय एवं परिश्रम सभी अधिक मात्रा में लगता है। अंग्रेजी शोधार्थी कम समय मे बैठे-बैठे सेज, जेस्टोर, स्पिंगर, ब्लैकवेल, मेनस्ट्रीम आदि ऑनलाइन सेवाओं पर आसानी से अपनी पठन-सामग्री चुन सकता है। यदि नवीनतम सामग्री, संगोष्ठियाँ और आलेख ऑनलाइन पर उपलब्ध हो जाते हैं तो शोधार्थी थोड़ी सहजता अनुभव कर सकते हैं। हिन्दी शोधार्थी का लेखन-कार्य भी प्रभावित होता है, क्योंकि हिन्दी साफ्टवेयर की कमी तकनीकी समस्या और टंकण असुविधा आदि उसके शोध कार्य में बाधक हैं। वेब मीडिया पर हिन्दी अपने गुण और दोष दोनों रूप में दृष्टिगोचर हो रही है। यदि हम थोड़ा भाषा के ज्ञाता और साहित्य एवं संस्कृति के प्रति जागरूक हो जाएँ तो बाधाएँ कम होंगी और यदि ऐसा नहीं होता है तो सभ्यता और संस्कृति दोनों खतरे में पड़ जाएँगे, क्योंकि किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति उस देश की भाषा और साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। रामशरण जोशी हिन्दी मीडिया के बाजारीकरण पर कटाक्ष करते हैं कि "मीडिया जन को जन रहने दें, उसे ग्राहक में तब्दील न करें; भावना पीड़ा-सर्जना और विचार प्रोडक्ट का रूप न ले; त्रासदी को फोर्स बनाकर न बेचा जाए; बाजार रहे, पर बाजारवाद से अलविदा किया जाए।"[16]

वेब मीडिया पर हिन्दी की उपलब्धि किसी वरदान से कम नहीं है। वेब मीडिया ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में अहम भूमिका अदा की है। "वेब मीडिया ने हिन्दी रूपी नोती को भारत रूपी सीपी से बाहर निकालकर समस्त विश्व के गले का हार बनाया है।"[17] वेब मीडिया हिन्दी के लिए यह कथन बिलकुल उचित लगता है। हिन्दी भाषा के प्रवाह को वेब मीडिया दिशा प्रदान कर रहा है। उसके रास्ते में आने वाले कण्टकों को हटाना हमारा कर्तव्य है, जिसे दूर करने में हिन्दीभाषी चिन्तक, पत्रकार, विद्वान सभी प्रयासरत हैं। यदि हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति सचेत होकर इस कार्य को अंजाम दें तो वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी जन-जन की भाषा कहलाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ

1 दीवान-ए-सराय 01, मीडिया विमर्श हिन्दी जनपद, रविकान्त और संजय शर्मा वर्ष 2002, पृष्ठ- भूमिका। सराय : नवसंचार पहल, दिल्ली - 54

2 प्रयोजनमूलक हिन्दी—प्रो. रमेश जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ वर्ष 2006।

3 मीडिया और साहित्य—सुधीश पचौरी, राज सूर्य प्रकाशन, दिल्ली-53, पृ. 106, वर्ष 1981।

4 दीवान-ए-सराय—भूमिका।

5 बिजनेस स्टैण्डर्ड हिन्दी ब्लॉग।

6 लेख : इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अपनी भाषा—अनिल चमड़िया—कथा देश, जुलाई 2003, पृ. 77।

7 मीडिया साथी डॉट कॉम हिन्दी ब्लॉग।

8 लेख : अन्तरिक्ष में डिपार्टमेण्टल स्टोर—अनूप सेठी—कथादेश, फरवरी 2004, पृ. 42।

9 मीडिया साथी डॉट कॉम—मीडिया कर्म से जुड़े मुद्दों पर आलेख—महेन्द्र प्रताप सिंह

10 दीवान-ए-सराय ... मास मीडिया और साहित्य लेख, पृ.76।

11 दीवान-ए-सराय ... मास मीडिया और साहित्य लेख, पृ.78।

12 लेख : वैश्वीकरण, मीडिया और हिन्दी—अच्युतानन्द मिश्र कथादेश अक्टूबर 2007 पृ.72।

13 मीडिया साथी डॉट कॉम—न्यू मीडिया के रूप में फेसबुक की चुनौतियाँ—प्रो. जगदीवश्वर चतुर्वेदी—हिन्दी ब्लॉग।

14 मीडिया साथी डॉट कॉम—वेबसाइट पर बाजारवाद के इस दौर में हिन्दी ब्लॉगिंग की भूमिका—रणधीर सिंह हिन्दी ब्लॉग।

15 मीडिया साथी डॉट कॉम—हिन्दी ब्लॉग—गंगा सहाय मीणा।

16 मीडिया और बाजारवाद—रामशरण जोशी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली, पृ. 21, 2002।

17 वेब मीडिया और हिन्दी का वैश्वीकरण—हिन्दी वेबसाइट पर जनरल डिब्बा - 14 जुलाई, 2012।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय मूल की प्रकृति प्रदत्त अग्नि-तत्त्व गुण प्रधान वनस्पति-अरणि-अग्निमंथ

बाबूलाल शर्मा*

"ईशावास्यमिदं सर्वयत्किंच जगत्यां जगतः"।।

(यजुर्वेद 40।2)

ईश्वर का बनाया हुआ यह चराचर जगत है और इसमें सर्वत्र कण-कण में इसी का वास अर्थात् उसी की सत्ता व्याप्त है।। उपनिषद् ऋषि के अनुसारः—

"यो देवऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमा विवेश।
यो औषधिषु यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः"।।

(श्वेता.उप. 3।6)

अर्थात् जो ईश्वर अग्नि, जल, वायु एवं समस्त विश्व के भूतों भुवनों, पदार्थों, औषधियों, वनस्पतियों आदि तक में जिसकी सत्ता व्याप्त है, उस पर-ब्रह्म-परमात्म देव को नमस्कार है जो समस्त जगत का आत्मा व प्रकाशक है।

उसने ही सर्वप्रथम अपनी ईक्षण शक्ति व प्रेरणा से जीव सृष्टि रचना से पूर्व "स्थावर सृष्टि", जिसके अंतर्गत (जड़-जंगम) पर्वत, समुद्र, झीलें, सरोवर, नदियाँ आदि तथा वन, उपवन, वृक्ष, पौधे लताएँ, झाड़ी, झुंड, गुल्म, उनमें उगने वाले पत्र, पुष्प, फलादि, भूमि से फूटकर निकलने वाली जीवन रक्षक औषधि, जड़ी-बूटियाँ, कंद मूल और भूमि पर उगने वाले घासपात, तृणादि विभिन्न प्रकार के वनस्पतिक औषधि गुण युक्त समस्त जीव जगत के निर्वहन, भरण-पोषण उनकी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए रचना की जिससे समस्त प्राणी समुदाय सुखपूर्वक जी सकें।

शास्त्रों में ऐसा कहा जाता है कि स्थावर सृष्टि वनस्पति जगत में प्रकृति प्रदत्त सर्वप्रथम उन वनस्पति, वृक्षों आदि का पृथ्वी पर जन्म हुआ (अर्थात् उत्पत्ति), जिनमें

(सेवा निवृत) वन अनुसंधान संस्थान देहरादून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्नि-तत्त्व गुण" विशेष रूप से प्रधान थे। अग्नि की प्रतिभा तथा इसकी ओजस्विता में विशेषत मान गए हैं।।

बताते चलें पुरातन काल में जब मानव को अग्नि की उत्पत्ति के संबंध में ज्ञान था, तब उस काल में पत्थर से पत्थर को रगड़ते हुए, तोड़ते हुए, उससे उत्पन्न चिनगारी से रूई कपास लेकर सूखी घास-पात एकत्र कर जलाते हुए अपने खाना ाने हेतु तथा तापन व प्रकाश्व अन्यादि कार्यों में सूखी काष्ठ का प्रयोग किया करते ।। शास्त्रों में स्पष्ट यह भी कहा गया है कि सृष्टि की रचना, उत्पत्ति-कार्य प्रजापति ा ने 'यज्ञ' के द्वारा ही की है। 'यज्ञ' देवताओं की तुष्टि के लिए तथा समस्त प्राणी दाओं के हेतु, कल्याणप्रद तथा प्रकृति प्रदत्त शुद्ध स्वच्छ वातावरण को पर्यावरणीय ष्टकोण से संतुलित बनाए रखना एक श्रेष्ठतम कर्म मानव के लिए आवश्यक बताते ; स्पष्ट शास्त्रों में निर्देश भी दिया गया है कि प्रकृति से अनावश्यक छेड़छाड़ न करें, छाड़ करने, अतिक्रमण, दोहनादि के दुष्प्रभाव से, कुपित होकर, अहितकर हो जाती ।

काष्ठ में अग्नि छिपी हुई है प्रयोग कर जलाकर देख लीजिए, अतः 'यज्ञ' में का अति विशिष्ठ महत्त्व परंपरागत चला आ रहा है, क्योंकि 'यज्ञ', सूखी समिधा ष्ठ) के अभाव में संपन्न नहीं हो सकता। अतः यज्ञ कार्य हुआ, और काष्ठ कारण ा।।

शास्त्रोक्त श्रुति भी स्पष्ट कहती हुई प्रमाणित करती है:—

"तिलैषु तैलम दधनीव सर्पिसवः स्रोत स्वरणीषु चाग्नि।
एनामात्मा आत्मनि गृहयतैऽसौ सत्यनैनं तपसा यो अनपश्यति"।।

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तेल, दधी (दही) में घी, स्रोतों में जल और णियों (काष्ठों) में "अग्नि" छिपी रहती है (प्रयोग मंथन कर देख लीजिए) इसी ार, वह ईश्वर भी सब प्राणी-अप्राणी जड़-चेतन जगत में छिपा हुआ (प्राणी समुदाय हृदय में) चेतन आत्मा प्रकाशक तथा अप्राणी (जड़-जंगम) में सत्ता के रूप में मान (व्याप्त) है।। शास्त्रों में इसी कारण "अग्नि" को विशिष्ट गुण तैजस, ाशक युक्त होने के कारण उर्ध्व गतिमान होने से, ईश्वर का रूप प्रतिनिधि मानते , सर्वप्रथम सबका प्रकाशक (जगत का), बहुत महत्त्व दिया गया है और इसीलिए कहा भी गया है:—

"ऊँ अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्म स्वच वर्धस्व इद्धय वर्धय"।।

(आश्वलायन गृह्य सूत्र—1 ।10 ।11)

हे अग्नि देव! आप प्रदिप्त हों और हमें भी प्रदिप्त करो। जो गुण आप में हैं, हम धारण करें।। इस वेद मंत्र में "अग्नि" को ईश्वर की 'संज्ञा' दी गई है तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी मर्मस्पर्शी प्रार्थना वैदिक ऋषियों ने यज्ञायोजन करते समय प्रजापति ब्रह्मायज्ञ के प्रमुख देवता (पुरोहित) से सर्वकल्याण हेतु की गई है।।

बताते चलें अग्नि का विशिष्ट गुण तैजस, प्रकाश, उष्णता है।। अतः मनुष्य में जीवन को सार्थक, सफल बनाने हेतु तेजस्विता, हृदय में स्वच्छता, पवित्रता, वाणी में सत्यता, मधुरता होनी चाहिए, इनके अभाव में जीवन नीरस ही रहेगा उन्नतशील एवं सार्थक नहीं हो सकता।। 'अग्नि' जहाँ-जहाँ प्रज्वलित होती है वहाँ-वहाँ उसका प्रकाश फैलता चला जाता है और अंधकार दूर होता जाता है। अग्नि सदैव उर्ध्वगामी ऊपर की ओर चलने वाली, प्रकाश करते जाने वाली होती है।

अतः 'अग्नि' की ही सर्वप्रथम पूजा, यज्ञादि अनुष्ठान में देव पूजन धूप-दीप प्रज्वलित करते समय तथा अन्नादि पकाने के उपरांत अन्नादि भाग अग्नि को अर्पण या आहुति के रूप में प्रदान करने की परंपरा पुरातन काल से भारतीय संस्कृति में चली आ रही है।

शास्त्र में व्यवहार में काम में आने वाली 'अग्नि' के पाँच रूप होते हैं जो इस प्रकार हैं–(1) ब्राह्म (2) प्राजापत्य (3) ग्रार्हस्थ्य (4) दक्षिणाग्नि (5) क्रव्यदाग्नि।।

ब्राह्म अग्नि यज्ञ में 'आरणी मंथन' से मंत्र द्वारा प्रकट होते हैं, ये 'आहवनीय' 'अग्नि' है।। (साभार–हिंदू संस्कृति अंक–511)

'अग्नि का कार्य है प्रकाश करना और अंधकार को दूर करना। प्रकाश–ज्ञान है और अंधकार–अज्ञान है।। (1) इसीलिए उपनिषद् की प्रार्थना में भी ईश्वर से ऋषि जन कहते हैं–"तमसो मा ज्योतिर्गमाय" (2) हे अग्नि प्रकाश स्वरूप परमेश्वर अज्ञान को दूर कर हमें प्रकाश की ओर ले चलो।। अर्थात ज्ञान मार्ग की ओर चलो, यानी अंतःस्थल में ज्ञान का प्रकाश कराओ।।

श्रीमद्भगवद् गीता में यह कहते हुए योगीराज श्रीकृष्ण ने 'अग्नि' को ही उसके विशिष्ट गुण-संपन्न होने से ही महत्ता दी हैः–"ज्ञानाग्नि सर्वकर्मणि भष्मसात्कुरूते तथा"।। (गीता 4।36) जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को सर्वथा भस्म कर देती है ऐसे ही ज्ञान रूपी अग्नि भी (अंतःस्थल में) प्रज्वलित हो जाने पर समस्त प्रकार के संचितमलीन संस्कारों, वासनाओं, इच्छाओं, कार्मिक मलों-दोषों आदि को भस्म कर देती है और तदुपरांत जीवात्मा सब प्रकार के कष्टों दुःखों आदि से मुक्त हो जाता है।। अतः अपने अंतःहृदय को स्वच्छ करते हुए ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो।।

'अग्नि तत्त्व', उसका महत्त्व तथा विशिष्ट गुण क्या है? संक्षेप में एक परिचय के रूप समझाने हेतु लेखक का एक प्रयास मात्र है।।

भारतीय मूल का "अग्नि तत्त्व" विशिष्ट एवं औषधि गुण युक्त वनस्पति वृक्ष–'अरणी' जिसे पुरातन काल में संस्कृत में अग्नि-मंथा के नाम से जाना जाता है तथा प्राचीन सद्ग्रंथों में भी जिसका उल्लेख मिलता है, यह लेख विषय संबंधित महत्त्वपूर्ण तथ्यों व नवीन जानकारियों सहित प्रस्तुत है।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अरणि" (अग्नि मंथा) एक सामान्य परिचयः— यह एक बड़ी झाड़ीनुमा अथवा वृक्ष प्रायः उत्तर भारत गंगा के मैदानों उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्कन (दक्षिण भारत) तक में भी पाया जाता है।

वृक्ष के भाषायी भेद से नामः— संस्कृत—अग्निमंथः, अग्निमंथनीः, हिंदी, गुजराती, मराठी—'अरणि' तमिळ में तरकरी।।

भाव प्रकाश निघंटु में इस वनस्पति वृक्ष के विषय में ऐसा कहा गया हैः—

"अग्नि मंथो जयः सस्यात श्री पर्णी गणिकारिका।
जया जयंती तर्कारीनादेयी वैजयंतिकाः"।।

(नाम—अग्निमंथः जय, श्रीपर्णी गणिकारिका, जया, जयंती, तर्कारी, नादेयी, वैजयंतिका, ये अरणी के संस्कृत—नाम हैं)।।

भाषा भेद से नाम भेदः—हिंदी-अरनी, अरणी, गानयारी, अगेथ; बंगाली-गणिर, गणिगंत; मराठी-थोर, अरेण; गुजराती-अरणी, कन्नड़-नरूबल; तैलगु-नेलीचेटट।।

अरणी के औषधि गुणः—अरणी उष्णवीर्य, चरपरी, कड़वी कसैली, भधुर, अग्निवर्द्धक और सूजन कफ, बात तथा पांडु रोग हरने वाली है।

अरणी वनस्पति वृक्ष का लैटिन नाम—क्लेरोडेंड्रोन फ्लामोइडिस (Clerodendron Phlomoides) है।। अरणी सर्वज्ञात वृक्ष है तथा भारत में प्रायः सर्वत्र पैदा होता है। इसके पेड़ काफी ऊँचे होते हैं। इसके पत्ते किंचित नुकीले और कोमल होते हैं। पुष्प सफेद होते हैं इसमें से बहुत गंध निकला करती है। वसंत ऋतु में इन पर पुष्प लगते आते हैं। पत्तों से भी एक सुंदर मोहक गंध आती है। डालियाँ नीचे झुकी रहती हैं। इसकी लकड़ी में पीलापन अधिक पाया जाता है। इसकी दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से "आग निकलती है", अतः इसका नाम 'अग्नि मंथः' है।। यह (वनस्पति) शूल की प्रधान औषधि है। गर्मी को देना इसका खास लक्षण है।। यदि इसका अर्क ज्वर में दिया जाए, तो ताप क्रम बढ़ जाया करता है।। (साभार—भाव प्रकाश निघंटु)।

अरणी वनस्पति वृक्ष—वैज्ञानिक वनस्पतिक नाम, कुलः—क्लेरोडेंड्रोन फ्लामोइडिस है।। (Clerodendron Phlomoides Linn-Family- Verbnaceae) वनस्पति परिचय संबंधित विद्वजनों ने 'अरणी' (C. Phlomoides Linn) वनस्पति के गुण धर्म, इसी कुल की प्रजाति-प्रेमना मुकरोनाटा (Premna Mucronata Roxb) से भिन्न रूप से मिलते-जुलते होने तथा इसे भी—'अग्निमंथः' की ही वैरायटी (Variety) अग्निमंथः नाम होने से भी, व्यवहार किया गया है। दोनों की लकड़ियों को अलग-अलग परस्पर रगड़ने से 'अग्नि' भी उत्पन्न होती है तथा उष्णता उत्पन्न करना दोनों का गुण है। अतः इसी कारण इन दोनों को 'अग्निमंथ' के नाम से शास्त्रों में जाना व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुकारा जाता है। दोनों की काष्ठ भी, पीलेरंग की होती है, उनमें पीलापन होता है।

प्रसिद्ध विश्वविख्यात वृक्ष काष्ठ वैज्ञानिक जे.एस. गैंबल-ए मैनुअल ऑफ इंडियन टिंबरस–1922, में–Premna Mucronata Roxb, के विषय में लिखते हैं:–Bark-Light-dark or reddish grey. Wood hard a good fuel, used for lighting fires by friction. Vern:- Agniun (ag, fire). A small tree. Sub-Himalayan tract and outer ranges extending north west as far as Chenab and ascending to 3500ft.

बताते चलें शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि यज्ञ प्रेमी लोग–'अरणी मंथन', सूर्यकांतमणि आदि के द्वारा 'अग्नि' प्रज्वलित किया करते थे।। हिंदू सांस्कृतिक सद्ग्रंथों वेद, पुराण, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामचरित्रमानस एवं आयुर्वेद ग्रंथों में 'अरणी', अग्निमंथः के विशिष्ट गुण संपन्न होने से उसके प्राचीन वनस्पति होने का उल्लेख प्रमाण रूप में मिलता है।

इस सुगंधित अरणी वनस्पति मूल का क्वाथ (काढ़ा) ग्राही होने से पौष्टिक के रूप में विकल्प है।। इसके पत्र, मूल और छाल औषध रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं। यह एक प्रसिद्ध भारतीय मूल की "दशमूलारिष्ठ" आयुर्वेद औषधि है।। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता में भी इसका उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत लेख में विषय संबंधित दी गई जानकारी प्रमाणित सद्ग्रंथों से लोकहित में ज्ञान कराने हेतु आंशिक संकलन है।

साभारः– चयनित प्रमाणित भारतीय सद्ग्रंथ संदर्भसूची

(1) यजुर्वेद ऋचा 40 ।2, ईश्वास्योपनिषद्
(2) श्वेताश्वर उपनिषद् 3 ।6
(3) वनस्पति से दीर्घ आयु
(4) आश्वलापन गृह्य सूत्र 1 ।10 ।11
(5) श्रीमद्भगवद् गीता–4 ।37
(6) फ्लोरा नार्थ वैस्ट एंड सैंट्रल इंडिया, डी. ब्रांडिस 1922
(7) भाव प्रकाश निघंटु
(8) ए मैनुअल ऑफ इंडियन टिंबर्स, जे.एस. गैंबल–1922
(9) यज्ञ का विज्ञान–आचार्य श्रीराम शर्मा।
(10) हिंदू संस्कृति अंक–511–कल्याण।

(क) 'सरस्वती' से पूर्व का काल (सन् 1900 ई. से पूर्व)
(ख) 'सरस्वती' के प्रकाशन का पश्चात् (सन् 1900 से 1916 ई.)
2. प्रेमचंद युग (सन् 1937 से अद्यतन)
3. प्रेमचंदोत्तर युग (सन् 1937 से अद्यतन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) स्वातंत्र्य पूर्व कहानी (सन् 1937-1947)
(ख) स्वतंत्र्योत्तर कहानी (सन् 1947 से अद्यतन)
(ग) नई कहानी
(घ) समकालीन कहानी

प्रेमचंद–पूर्व युग में 'सरस्वती' के प्रकाशन से पहले का कहानी-इतिहास न्नीसवीं शती में हुए कथा-प्रयत्नों का इतिहास है, वस्तुतः वे कथात्मक प्रयास-भर हैं, हानी नहीं। उन्नीसवीं शती का प्रारंभ होते-होते सन् 1803 ई. के आसपास (यद्यपि ाचार्य रामचंद्र शुक्ल उसका रचना समय सन् 1798 से 1803 ई. के बीच कभी नते हैं)[1] मुंशी इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतनी की कहानी' (पूरा नाम 'उदैभान रित या रानी केतनी की कहानी') लिखी जो बहुत समय तक पहली कहानी के रूप मान्यता प्राप्त रही, किंतु यह कहानी अपने स्वरूप-विधान (फॉर्म) में कहानी की पेक्षा उपन्यास के अधिक निकट है। वस्तुतः हिंदी गद्य का वह ऐसा समय है जब यः बीसवीं शती के प्रारंभ तक 'उपन्यास' और 'कहानी' का रूपगत अंतर स्पष्टतः थापित नहीं हो पाया था।[2] कहानी के एकायामी होने का चरित्रा उस समय तक उभर र नहीं आ सका था इसीलिए लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' (सन् 1803 ई.) और सदल त्र के 'नासिकेतोपाख्यान' (रचनाकाल नगभग 1803 ई.) की चर्चा भी कथात्मक यासों में की जाती है, किंतु ये तो पौराणिक धारा की कविताओं—श्रीकृष्ण कथा—का कत्रीकरण थीं। किंतु लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, ीकृष्ण की कथा हिंदी भाषी प्रदेशों में उसके माध्यम से घर-घर में पहुँचीं। इन सब यत्नों ने हिंदी कहानी को पीठिका अवश्य प्रदान की, किंतु निश्चित रूप से सभी हानी का जन्म काफ़ी दूर था।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं शती के प्रायः अंत के 20-25 वर्षों में कुछ ऐसे थात्मक प्रयास होते हैं जो निश्चित रूप से कहानी के आधुनिक रूप से बहुत निकट ा आ पहुँचते हैं या कहें कि ये हिंदी कहानी के जन्म के पूर्वाभास हैं। सन् 1880 ई. मुंशी नवलकिशोर द्वारा संपादित 'मनोहर कहानी' नामक संकलन प्रकाशित हुआ था इसी प्रकार के दो और प्रयत्न हुए, राजा शिवप्रसाद 'सितारे सिंद' ने 'वामा नरंजन' का प्रकाशन 1886 ई. में और पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'कथा-कुसुम लिका' का प्रकाशन 1888 ई. में कराया। इनके अतिरिक्त हास्य-कथाओं का एक कलन 'हास्य रतन' 1886 ई. में चंडीप्रसादसिंह द्वारा प्रकाशित कराय गया। ये सभी हानियाँ एक ओर तो नीति-परक भी आई है। इन्हें वहुत-से लेखकों से लिखवा कर पादित किया गया है। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने अलीगढ़ से प्रकाशित 'शिलापंख' त्रिका में 1976 ई. के जुलाई तथा सितंबर अंकों में प्रकाशित 'जमींदार का दृष्टांत' लेखक रैवरेंड जे. न्यूटन, प्रकाशन वर्ष 1871 ई.) तथा 'छली अरब की कथा' (लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई अनाम ईसाई पादरी, प्रकाशन वर्ष 1893 ई. है) कहानियों को हिंदी की पहली कहानी/कहानियों के रूप में प्रस्तावित किया है।[3] किंतु इन कहानियों में उपदेशात्मकता का ऐसा स्वर है कि ये नीति कथाओं के निकट जा पड़ती हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए ऐसी कितनी ही कहानियाँ इन कहानियों से भी बहुत पहले लिखीं थीं। 1799 ई. में कलकत्ते के निकट श्रीरामपुर में (जो अब कलकत्ते का ही एक उपनगर है) डेनिस मिशन की स्थापना के साथ ही धर्म–प्रचार के लिए लिखी जाने वाली ऐसी कथाओं का क्रम प्रारंभ हो जाता है। डॉ. अमिताभ ने सुदर्शन की जिस 'हार की जीत' कहानी पर उसका प्रभाव माना है या उसे बिलकुल अनुकरण ही कह दिया (मुझे एक व्यक्तिगत-पत्रा में ऐसा उन्होंने लिखा था), वह कहानी 'छली अरब की कथा' से 'निर्वाह' (ट्रीटमेंट) में बिलकुल अलग है। दूसरे 1871 या 1893 ई. के पश्चात् हिंदी कहानी का अव्याहत क्रम भी अभी प्रारंभ नहीं हुआ, इसीलिए 'जमींदारी का दृष्टांत' या 'छली अरब की कथा' को हिंदी की प्रथम कहानी कहीं जा सकता

हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत माना जाने वाला 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' तथा राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' जैसी रचनाओं का भी उल्लेख किया जाता रहा है। वस्तुतः ये रचनाएँ कहानी नहीं हैं, अपितु, कहानी और निबंध के बीच की रचनाएँ हैं। इन्हें स्वप्न-कथा भी नहीं माना जा सकता। प्रसंगात् हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि अधिकांश ग्रंथों में विद्वानों ने 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु कृत माना है, जबकि यह भारतेंदु मंडल के ही लेखक बाबू तोताराम का ही निबंध है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इसे बाबू तोताराम का ही निबंध माना है जो 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपा था।[4] शुक्ल जी के अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह शंका प्रकट की है कि 'राजा भोज का सपना' भी कदाचित् राजा शिवप्रसाद की रचना न हो। "राजा सिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की लिखी बताई जाने वाली कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखित समझी जाने वाली कहानी 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' कदाचित् आधुनिकता के लक्षणों से संपन्न मानी जा सकती है।"[5] फिर पता नहीं कैसे 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु की ही रचना माना जाता रहा है। सबसे बाद में लिखे गए डॉ. नगेंद्र संपादित इतिहास तक में यही उल्लेख है। उन्नीसवीं शती के अंत तक हुए ये कथा-प्रसास हिंदी कहानी के जन्म के लिए महत्त्वपूर्ण पीठिका प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः आधुनिक हिंदी कहानी का वास्तविक समारंभ 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म, सन् 1900ए के वर्ष से ही माना जा सकता है। इसलिए नहीं कि 'सरस्वती' में 1900 ई. में प्रकाशित पं. किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' ही हिंदी की पहली कहानी है, अपितु इसलिए कि 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिंदी कहानी अबाध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगति के विकास के राजपथ पर चल पड़ी। उसके प्रकाशन के साथ 'छत्तीसगढ़ मित्रा', 'सुदर्शन', आदि पत्रिकाओं के माध्यम से कहानी को एक वृहत्तर मंच प्राप्त हुआ और इस विधा के लेखन में विशेष सक्रियता आ गई। हिंदी की पहली कहानी के रूप में जिन कहानियों का नाम प्रस्तावित किया जाता रहा है, वे मुख्यतः निम्नस्थ हैं—

1.	'इंदुमती'	पं. किशोरीलाल गोस्वामी	1900 ई.
2.	'मन की चंचलता'	माधवप्रसाद मिश्र	1900 ई.
3.	'प्लेग की चुड़ैल'	मास्टर भगवानदास	1902 ई.
4.	'ग्यारह वर्ष का समय'	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	1903 ई.
5.	'पंडित और पंडितानी'	गिरिजादत्त वाजपेयी	1903 ई.
6.	'दुलाई वाली'	श्रीमती राजेंद्रबाला घोष, बंग महिला	1907 ई.
7.	'ग्राम'	जयशंकर प्रसाद	1910 ई.

इन सभी के विषय में इतिहास और शोध-ग्रंथों में पर्याप्त कहा जा चुका है। हमें केवल यह कहना है कि 'इंदुमती' तथा 'मन की चंचलता' उन्नीसवीं शती के अंत में हुए ऐसे कथा-प्रयत्न हैं जिनमें हिंदी कहानी का जीवन का नवीन रूप निश्चय ही दिखाई देने लगता है, किंतु वास्तविकता अर्थों में हिंदी की पहली कहानी बीसवीं शती के प्रारंभ में 1901 ई. मे ही आई और तभी से 1901 ई. 1902 ई. 1903 ई. में ऐसी कथा-रचनाएँ आईं जो निश्चित रूप से नए ढंग की कहानी या कहें आधुनिक कहानी थी। जिन कहानियों में उपदेशात्मकता, नीति-कथन की बात मिलती है उन्हें एकदम भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि हमारी कहानी का आशीर्वादी स्वर तो बहुत बाद तक रहा है। 1901 ई. में छत्तीसगढ़ मित्रा' में माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी-भर मिट्टी' नामक कहानी ही हमारी दृष्टि में हिंदी की पहली कहानी है।[6] अद्यावधि गोष्ठी-चर्चाओं में डॉ. बच्चनसिंह ने किशोरीलाल गोस्वामी की 'प्रणयिनी परिणय' (प्रकाशन समय 1887 ई.) को हिंदी की पहली कहानी घोषित किया है[7], किंतु इस कथा की प्रस्तुति और प्रेरणा में संस्कृत कथाओं एवं श्लोकों की छाया स्पष्ट ही इसे हिंदी की मौलिक कहानी का स्वरूप ग्रहण नहीं करने देती। देवीप्रसाद वर्मा माधवराव सप्रे को हिंदी की प्रथम कहानीकार तो सही सिद्ध करते हैं, किंतु उसी क्रम में 'एक टोकरी-भर मिट्टी' से पहले 1900 ई. में प्रकाशित उनकी 'सुभाषिनी रत्न' (जनवरी, फरवरी 1900 ई. में) नाम से प्रकाशित दो कहानियों को भी प्रकाशित देवीप्रसाद वर्मा उनकी कहानी भी मानते हैं।[8] ये कहानियाँ भी कहानी नहीं, संस्कृत के सुभाषितों को सिद्ध करने के लिए गढ़ी गई कथाभर हैं, उनके लोक-कथा का रंग भी देखा जा सकता है। इसलिए हम केवल उनकी 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को ही कहानी स्वीकार करना चाहेंगे। देवीप्रसाद वर्मा का 'एक टोकरी-भर मिट्टी' के विषय में यह कथन भी बहुत बड़ी फतवेबाजी और अत्युक्तिपूर्ण है कि "सातवें दशक में कहानी का जो स्वरूप आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे सम्मुख है, उसके सभी बीज इस कहानी में स्पष्ट हैं...नई कहानी के सबल पक्षधर कमलेश्वर की वाणी सीमा तक प्रस्तुत कहानी में मिलती है।"[9] ऐसा कह कर पता नहीं देवीप्रसाद वर्मा कमलेश्वर को पीछे खींचना चाहते हैं या माधवराव सप्रे को आगे धर पटकना चाहते हैं। सातवें दशक की हिंदी की जिस कहानी-विधा को उसकी गुणवत्ता में विश्व-स्तर की कहानी के सम्मुख सगर्व रखा जा रहा है, उसे देवीप्रसाद वर्मा हिंदी की पहली कहानी में ही बीज रूप में पा रहे हैं। किसी कहानीकार को हिंदी का प्रथम कहानीकार सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथनों की आवश्यकता नहीं है। माधवराव सप्रे निश्चय ही उस समय बहुत सक्रिय रूप से लिख रहे थे। 1915 तथा 1916 ई. तक की 'सरस्वती' में उनके कई लेख प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार हिंदी कहानी में उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

किंतु हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में, अर्थात् 1915-16 तक, कुछ और महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और नाम हैं जिनका समुचित उल्लेख नहीं हुआ हैं यह चर्चा इसलिए भी आवश्यक है हिंदी के कुछ वरेण्य विद्वानों ने हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में कुछ भयंकर भलें की हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "किशोरीलाल जी की इस कहानी ('इंदुमती') के पश्चात् कुछ उपदेशमूलक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या-बहार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानवे का फेर', ऐसी ही कहानियाँ थीं।" "वृंदावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'राखीबंद भाई' 1907 ई. में छपी और मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' भी इसी समय प्रकाशित हुई।"[10] किंतु मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्नानवे का फेर' तथा 'नकली किला' कहानी हैं ही नहीं, ये तो कविताएँ हैं जिनमें इतिवृत्तात्मक रूप में घटना-प्रसंग तो हैं, किंतु 'कहानी' उन्हें किसी भी दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। 'निन्नानवे का फेर' का प्रारंभ इस रूप में होता है, "एक सुंदर ग्राम में था वैश्य एक धनी कहीं।" गुप्त जी जिस प्रकार की कविताएँ उस समय विधि कथा—प्रसंगों पर लिख रहे थे, ये उसी प्रकार की कविताएँ हैं।[11] वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' को द्विवेदी जी 1907 ई. में छपी बताते हैं, जबकि यह 1909 ई. की सरस्वती' के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार द्विवेदी जी 'इंदु' का प्रकाशन 1911 ई. से हुआ मानते हैं जबकि इसका प्रकाशन 1907 ई. में आरंभ हुआ (कुछ लोगों ने इसका प्रारंभ 1904 ई. में भी लिखा है)।

फिर सन् 1901 ई. के काल-क्रम की ओर लौटन पर 'सुदर्शन' पत्रिका के संपादक पं. माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी पर ध्यान जाता है जो 1901 ई. के 'सुदर्शन' में छपी थी। इसके पश्चात् मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902 ई.) का नाम आता है। 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी बड़ी सरल और पठनीय है। उसका अंत लोक-प्रचलित धार्मिक कथाओं की तरह होता है—"अब ईश्वर की कृपा से जैसे मेरे दिन लौटे हैं वैसे ही सबके लौटें।" कदाचित् इसीलिए इसकी ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यही स्थिति 1903 ई. में प्रकाशित 'पंडित और पंडितानी' की भी रही है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'इंदुमती' (1900 ई.) के पश्चात् 1903 ई. में प्रकाशित अपनी 'ग्यारह वर्ष का समय' पर ही आकर रुकते हैं। इन सभी कहानियों 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा 'दुलाई वाली' पर बहुत कुछ लिखा गया है, इस पिष्ट-पेषित चर्चा को छोड़ हम आगे बढ़ते हैं।

'सरस्वती' मार्च, 1906 ई. के अंक में सूर्यनारायण दीक्षित ने 'चंद्रहास का अद्भुत उपाख्यान' शीर्षक कहानी लिखी जिसे उन्होंने स्वयं 'जैमिनीपुराण' के आधार पर बताया है, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह कहानी शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी के निकट लगती है। बंग महिला की प्रसिद्ध मौलिक कहानी 'दुलाई वाली', 'सरस्वती', मई 1907 ई. के अंक में प्रकाशित हुई थी, किंतु इस मौलिक कहानी को लिखने से पहले बंगला कहानियों के अनुवाद प्रस्तुत करने में वे अपनी भाषा-शैली को माँज रही थीं। इन अनुवादों में भाषा का प्रवाह और कथन-भंगिमा दर्शनीय है। 1906 ई. की 'सरस्वती' के अप्रैल अंक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दान-प्रतिदान' तथा इसी वर्ष अपनी माँ श्रीमती नीरदवासिनी घोष की 'हस्तलिखित कहानी' 'कुंभ में छोटी बहू' का वे अत्यंत सुंदर अनुवाद प्रस्तुत करती हैं। जून, 1907 ई. की 'सरस्वती' में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की कहानी 'सचाई का शिखर' प्रकाशित हुई जिसे लेखक ने लोक-कथा पर आधारित कहानी बताया है। इस कहानी का महत्त्व इसलिए भी ज़्यादा है कि यह इससे पूर्व अपने समय के प्रसिद्ध पत्रा 'मार्डन रिव्यू' में इसी वर्ष के अप्रैल अंक में 'शेखचिल्ली' नाम से प्रकाशित हुई थी। 'सरस्वती' संपादक का इसे दुबारा प्रकाशित करना ही प्रमाणित करता है कि यह कितनी प्रभावी हास्य कहानी है। वस्तुतः भले ही 'सचाई का शिखर' का आधार लोक-कथा रही हो, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह बिलकुल नई है।

वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखीबंद भाई' (1909 ई.) को प्रथम ऐतिहासिक कहानी माना जाता रहा है, यह कहानी वृंदावनलाल वर्मा की प्रथम कहानी तो है, किंतु हिंदी की प्रथम ऐतिहासिक कहानी नहीं। 'सरस्वती' के अक्तूबर 1907 ई. के अंक में लक्ष्मीधर वाजपेई की 'तीक्ष्ण छुरी' नामक कहानी प्रकाशित हुई, निश्चय ही यह ऐतिहासिक कहानी का समारंभ है। इस कहानी में राजपूताने के राठौर वंश की एक घटना को आधार बनाया गया है। कहानीकार स्पष्टतः समय की बताता है कि यह घटना 1634 ई. की है। यह राठौर राजा सिंह के ज्येष्ठ पुत्रा उमराव सिंह की कहानी है जो देश-प्रेम, वीरता तथा शौर्य का भाव जगाती है। अपनों के विश्वासघात द्वारा ही हमारे वीरों को पराजय का मुँह देखना पड़ा है, यह इस कहानी का सहज निष्कर्ष है। शाहजहाँ के दरबार में वीर उमराव सिंह अपने ही साले अर्जुन के विश्वासघात के कारण मारा जाता है। यह कहानी अपने शिल्प, कथा-प्रवाह, औत्सुक्य की रक्षा आदि ऐसे गुणों से भरपूर है जैसी उस युग की ऐतिहासिक कहानियाँ होती थीं। इसे कदाचित्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख समझ कर हिंदी कहानी की चर्चा में छोड़ दिया गया था, किंतु अपने रूपबंध में यह पूरी तरह कहानी ही है। लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'नाना पड़नवीस' (जून, 1909 ई. 'सरस्वती') पर भी लिखा, किंतु वह लेख-मात्रा है, कहानी नहीं। ऐतिंहासिक कहानी के क्रम में ही 1907 ई. में 'सरस्वती' के मार्च अंक में 'आख्यायिका' शीर्षक से रामजीलाल शर्मा की कहानी शर्मा की कहानी को परिगणित किया जाना चाहिए जिसमें इतिहास के साथ जनश्रुति को भी कहानी का आधार बनाया गया है। इसमें संस्कृत कवि भारवि की कहानी है। इसे भी जनुश्रुति पर आधारित ऐतिहासिक कहानी ही माना चाहिए। इसके पश्चात् वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' का स्थान आता है। यह बात सही है कि बाद में वृंदावनलाल वर्मा ही ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में प्रख्यात हुए, लक्ष्मीधर वाजपेयी या रामजीलाल शर्मा नहीं। 'सरस्वती' के अक्तूबर, 1910 ई. के अंक के वृंदावनलाल वर्मा की ही 'तातार और वीर राजपूत' कहानी प्रकाशित इसलिए नहीं कि उन्होंने उस समय बहुत कहानियाँ लिखीं, अपितु इसलिए हैं कि उन्होंने आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए दूसरों को प्रेरित किया। सत्यदेव जी शिकागो, अमेरिका में रह रहे थे और वहाँ के जीवन संबंधी परिचयात्मक लेख, यात्रा-विवरण, विभिन्न व्यक्तियों से भेंट के विवराणात्मक लेख निरंतर 'सरस्वती' में प्रकाशित करा रहे थे। कहानी तो केवल उनकी 'कीर्ति कालिमा' को ही कहा जा सकता है जो अगस्त, 1908 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी भी अमेरिकी जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। इससे पूर्व उनकी अप्रैल से जून को चार अंकों में (1908 ई. में ही) एक लंबी रचना प्रकाशित हुई 'आश्चर्यजनक घंटी', किंतु इसे कहानी नहीं कहा जा सकता। यह एक लंबा लेख ही है। एक अंक में इस आश्चर्यजनक घंटी का चित्रा भी छापा गया है। कहानी के प्रारंभिक उन्नायकों में उनका महत्त्व इस रूप मं है कि उन्होंने दूसरे लोगों को आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया। शिकागो में रहते हुए ही 1909 ई. की 'सरस्वती' में विज्ञापन देकर अपने छात्रों के लिए स्वर्णपदक उपहार-स्वरूप रखा गया था (ध्यान रहे कि उस समय पचास रुपए कितनी बड़ी चीज़ थी)। किंतु कोई भी कहानी नहीं पहुँची। केवल एक 'निबंध' प्रदत्त विषय पर किसी छात्रा ने भेजा। किंतु इससे निराश न हो कर, फिर मार्च, 1910 ई. की 'सरस्वती' में उपहार मिलेगा शीर्षक से उन्होंने विज्ञप्ति दी और 25 मई 1910 ई. तक कहानियाँ माँगी गईं। अबकी बार यह प्रतियोगिता केवल छात्रों के लिए नहीं थी, इस बार कोई शर्त छात्रा होने की नहीं थी। "जिस किसी का हृदय भारत के सामाजिक अन्याय देख कर द्रवीभूत हुआ हो, वही लेखनी उठाए और एक मर्मभेदी कथा लिख डाले। कथा छः हजार शब्दों से कम और आठ हज़ार से अधिक न हो और वाक्य आम बोलचाल के हों।" आगे इसी विज्ञप्ति में यह भी कहा गया 'छोटी कथा' के संबंध में इतना बतला देना ज़रूरी है कि जैसी 'मार्डन रिव्यू' में कहाएँ टिप्पणी है। इससे कहानी के संबंध में उस समय की युग-रुचि का पता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता है। ध्यातव्य है कि हिंदी कहानी में अभी प्रेमचंद नहीं आए थे, किंतु उनसे पूर्व ही 'सामाजिक अन्याय' जैसे विषय पर संक्षिप्त-सी (शब्द-सीमा दे दी गई है) और 'आम बोलचाल' की भाषा में कहानी की माँग की गई है। साथ ही एक सूत्रा और मिलता है कि जैसी कहानियाँ 'मार्डन रिव्यू' के प्रत्येक अंक में छपती हैं। 'माडर्न रिव्यू' के अंकों की फाइल देखने का सुयोग अभी हमें नहीं मिल सका है, किंतु ऐसा लगता है कि उसमें हिंदी की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक कहानियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।

1910 ई. हिंदी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष काशी से प्रकाशित 'इंदु' के अगस्त अंक (कला-1, किरण-2, भाद्र 1967 वि.) में जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई, जिसे हिंदी की पहली कहानी का गौरव भी कुछ लोगों द्वारा दिया गया। हिंदी कहानी में प्रसाद का आगमन का एक धारा का प्रवर्तक करता है, जिसे 'प्रसाद संस्थान' (प्रसाद स्कूल) की कहानी कहा जाता है, इसे वैयक्तिक रोमान या भावात्मक कहानी-धारा भी कहा गया। 'ग्राम' भले ही हिंदी की प्रथम कहानी न हो, किंतु समस्त हिंदी कहानी के इतिहास में और प्रसाद की अपनी कहानियों में भी यह ऐसा मील-स्तम्भ है जिसे अनदेखा कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। इस प्रथम कहानी में ही प्रसाद का कहानीकार उस समय के अनुरूप पर्याप्त परिपक्वता के साथ सामने आता है। इतनी परिपक्वता के साथ कि अपने दूसरे संग्रह 'प्रतिध्वनि' में ही यह परिपक्वता नहीं है। कहानी की भाषा-शैरी भी अनेक स्थानों पर ऐसे जीवनगंधी संस्कार लिए हुए है जो प्रसाद की बाद की कहानियों में अलभ्य हो गए हैं। बाद में कलात्मकता के आग्रह के प्रसाद अपने को कहानी की भाषा से अलग करते चले जाते हैं, काव्यात्मकता मधु-वेष्ठन की प्रवृत्ति उनमें बढ़ जाती है। वैयक्तिक रोमान की धारा से हट कर 'ग्राम' का कथ्य भी सामाजिक संपृक्ति का है। 1912 ई. में प्रसाद जी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' प्रकाशित होती है और इसी वर्ष (1912 ई. में) हिंदी का पहला कहानी-संग्रह 'छाया' भी उन्हीं का है।

1911 ई. में शिवपूजन सहाय की 'हठी भगत जी' कहानी के प्रकाशन का उल्लेख भी मिलता है। 1913 ई. में 'इंदु' में राधिकारमणप्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कहानी 'कानों में कंगना' प्रकाशित हुई। यह प्रसादीय शैली में भावुकता, के धरातल पर प्रेम-चित्राण की बड़ी महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी-कला की दृष्टि से 1913 ई. में प्रकाशित इस कहानी का अत्यंत विशिष्ट स्थान है। कथ्य और प्रस्तुति, दोनों दृष्टियों से यह कहानी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। ध्यातव्य है कि अभी हिंदी में प्रेम है कि अभी हिंदी मं प्रेम चित्राण की अनोखी कहानी 'उसने कहा था' (गुलेरी) प्रकाशित नहीं हुई थी। प्रेमचंद भी हिंदी कहानी में अभी नहीं आए थे। प्रसाद जी कभी प्रारंभिक कहानियाँ ही प्रकाशित हो रही थीं। इस कहानी की कथा-संगठना अत्यंत सगुंफित (कॉपेक्ट), सुगठित और अभिव्यक्ति रोमानी-बोध युक्त होते हुए भी अत्यंत सहज, भावपूर्ण और नाटकीय है। अतीत गौरव, प्राकृतिक सुषमा, आदि का अत्यंत रसपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी में प्राप्त होता है, जिससे पाठक आद्योपांत कथा-रस में डूबा रहता है। कहानी में उपमानों की छटा भी अपनी एक नई धज किए लिए हुए है। मई, 1913 ई. की 'इंदु' में ही पं. पारसनाथ त्रिपाठी की 'सुख की मौत' कहानी प्रकाशित हुई, जिसने इस परंपरा को और पुष्ट किया। हास्य कहानियों के क्षेत्रा में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम कहानी (1910-11 ई. में, ठीक रचना-वर्ष इसलिए नहीं दिया जा सकता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका प्रकाशन-वर्ष 'ग्राम' का ही देते हैं, 'ग्राम' का प्रकाशन वर्ष द्विवेदी जी 1911 ई. में देते हैं जबकि इसका प्रकाशन-वर्ष 1910 ई. में हुआ, हास्यरस की इस प्रथम कहानी का उल्लेख उन्होंने ही अपने इतिहास में किया है) 'पिकनिक' प्रकाशित हुई। सन् 1911 ई. में 'भारत मित्रा' में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' प्रकाशित हुई।

सन् 1914 ई. हिंदी कहानी के इतिहास में इसलिए महत्त्वपूर्ण वर्ष है कि इस वर्ष हिंदी कहानी के पुरोधा प्रेमचंद की प्रथम कहानी 'परीक्षा', 'प्रताप' के विजयदशमी अंक में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि हिंदी में प्रकाशित उनकी प्रथम कहानी के रूप में 'मौत' (दिसम्बर, 1915) तथा 'पंच परमेश्वर' (1916) के नाम लिए जाते रहे हैं, किंतु नवीनतम शोध के प्रकाशन में यह स्थापित हो चुका है कि प्रेमचंद की प्रथम हिंदी कहानी 1914 ई. में ही प्रकाशित हुई।

हिंदी कहानी के इतिहास में 1915 ई. का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष दो बातों के लिए हिंदी कहानी अविस्मरणीय है। प्रथम, इस वर्ष की जून 1915 ई. की 'सरस्वती' में पं. चंद्रधर शर्मा की गुलेरी की कालजई कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई, दूसरे इसी वर्ष 'सरस्वती' के दिसंबर अंक में प्रेमचंद की कहानी 'सौत' प्रकाशित हुई। 'उसने कहा था' के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है, यहाँ इतना ही कहना अलम होगा कि हिंदी कहानी अथवा भारतीय भाषाओं की कहानी के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व-कथा के इतिहास में कदाचित् ही कोई ऐसा दूसरा कहानीकार हुआ हो जिसे अपनी एक ही कहानी के बल पर इतनी ख्याति मिली हो। हिंदी में तो अपने जन्म से लेकर आज तक यह कहानी उतने की चाव से चढ़ी जाती है, उसकी यश-काया पर काल की वात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। कथ्य, शैली-शिल्प, भाषा-संस्कार, सभी दृष्टियों से यह कहानी बेजोड़ है। हिंदी कहानी मं प्रेमचंद एक युग-पुरुष के रूप में आते हैं। हिंदी में आने से पहले प्रेमचंद उर्दू में पर्याप्त चर्चा पा चुके थे। हिंदी में 1914 ई. में उनकी 'परीक्षा' तथा 1915 ई. की 'सरस्वती' के दिसंबर अंक में 'सौत' प्रकाशित हो जाती हैं, कि उन्हें वास्तविकता मान्यता और प्रसिद्धि 1916 ई. की 'सरस्वती' के जून अंक में प्रकाशित कहानी 'पंच परमेश्वर, से ही प्राप्त हुई, यद्यपि इससे पूर्व 1916 ई. की 'सरस्वती' के ही मार्च अंक में उनकी 'सज्जनता का दंड' प्रकाशित हो चुकी थी। इस प्रकार 1916 से हिंदी में 'प्रेमचंद युग' मान सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। 'पंच परमेश्वर' के प्रकाशित होते ही हिंदी ने प्रेमचंद को और प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को विकास के राजपथ पर अग्रसर कर दिया और स्वयं उसके ऐसे प्रकाश-स्तंभ बने जिससे आज भी हिंदी कहानी दिशा लेती है। अनेक आंदोलनों की आँधी जब-जब थमी है, कहानी ने पीछे मुड़ कर प्रेमचंद की ओर देखा है। हिंदी कहानी को सामाजिक सरोकारों से जोड़ना प्रेमचंद का बहुत बड़ा दाय है। अब वह राजन्य वर्ग या अलौकिक चरित्रों की बात न कर, सामान्य मनुष्य की बात करने लगी और वह मेरी-तेरी, उसकी-सबकी बात कहने लगी। कहानी को युग के ज्वलंत प्रश्नों और चिंताओं से जूझना प्रेमचंद ने ही सिखाया। 1915 ई. के वर्ष में ही 'दुलाई वाली' की प्रसिद्ध रचनाकार बंग महिला' की 'हृदय-परीक्षा' नामक 'सरस्वती' के अगस्त अंक में प्रकाशित मौलिक कहानी है। 1915 ई. में ही विशमभरनाथ जिज्जा की 'विदीर्ण हृदय' कहानी प्रकाशित हुई। 1916 ई. में प्रेमचंद की 'शंखनाद' कहानी भी प्रकाशित हुई थी। 1916 ई. का वर्ष प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' के कारण ही महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु इस वर्ष कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार और कहानियाँ प्रकाश में आईं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की प्रथम कहानी 'रक्षा-बंधन' अक्तूबर 1916 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। 1915-16 ई. में पं. ज्वालादत्त शर्मा हिंदी कहानी में आते हैं। 1916 ई. की 'सरस्वती' में लगातार उनकी कहानियाँ आई हैं। फरवरी अंक में 'स्वामी ज़ी' तथा दिसंबर अंक में 'विधवा'। निश्चय ही वे इस समय के महत्त्वपूर्ण कहानी लेखक हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' कहानी नम्बर, 1916 ई. की 'सरस्वती' में 'आख्यायिका' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह कहनी में भाभी के प्रेम की एक टीस-सी देवर के मन में रह जाती है, क्योंकि स्मृति-चिह्न के पश्चात् तो हिंदी कहानी का क्रम बड़ा तेजी से चल पड़ा।

वस्तुतः प्रेमचंद-पूर्व युग हिंदी कहानी का शैशव काल है। इस काल की कहानी एक ओर अपने को अंगरेज़ी बंगला और संस्कृत कथाओं के प्रभाव मुक्त करती है तो दूसरी ओर अपनी एक नई राह बनाने का भी उपक्रम करती है। प्रारंभिक कहानियों में यदि कथ्य और शिल्प के स्तर पर एक अपरिपक्वता भी है तो दूसरी ओर प्रसाद, गुलेरी तथा प्रेमचंद तक आते-आते, 'ग्राम', 'कानों में कंगना', 'उसने कहा था', 'सौत', 'पंच परमेश्वर' जैसी परिपक्व और समृद्ध कहानियाँ भी मिलती हैं। प्रारंम्भिक युग में अपने शैशव के कच्चेपन से निकल कर कहानी अपने यौवन की पुष्टता को पाने लगती है। जीवन का यथार्थ अपनी संपूर्ण विद्रूपताओं में चित्रित होने लगता है, किंतु उनका समाधान आदर्श के मानवीय चरित्रों के विश्लेषण में भी इस समय प्रवृत्त होने लगती है। द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता और नैनिकता का प्रभाव किसी न किसी रूप में कहानी पर भी खड़ा है और 'सरस्वी' संपादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस युग की हिंदी कहानी का मिजाज और मुहावरा भी निश्चित किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

1. "इंशा अल्ला खाँ ने 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' संवत् 1855 और 1860 के बीच लिखी होगी।"—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 396 (संस्करण पंद्रहवाँ)
2. "...सन् 1850-1700 और कुछ उसके बाद तक कथा-साहित्य (फिक्शन) को उपन्यास कहने का चलन था।
सन् 1900 में 'सरस्वर' में छपी कहानी (अर्थात् 'इंदुमती') को भी उन्होंने उपन्यास कह कर ही छापा है।...सरस्वती' के हीरक जयंती विशेषांक में बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी के, कहानी कहा गया है, जबकि लोग उसे उपन्यास कहते हैं।"—डॉ. बच्चसिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 ई.।
4 द्रष्टव्य 'संचेतना' 1952, 'हिंदी की पहली मौलिक कहानी 'ईसाई' (दिसंबर 1979, मार्च 1980) मिशनरियों द्वारा लिखी गई।
4. 'हिंदी साहित्यक का इतिहास, पृष्ठ 439।
5. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 423 (संस्करण 1952)
6. देवीप्रसाद वर्मा, 'सारिका', फरवरी 1968 अंक।
7. डॉ. बच्चनसिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 अंक।
8. प्रसंगात् यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनवरी 1977 ई. की 'सारिका' में 'स्व. माधवराम सप्रे की कथा-यात्रा' शीर्षक लेख में कई जगह 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को कदाचित् प्रेस-भूल के कारण एक टोकनी भर मिट्टी' लिखा गया है, किंतु कुछ पुस्तकों में टोकनी भर ही उद्धृत किया गया, जो ग़लत है।
9. 'सारिका' दिसम्बर 1976 अंक।
10 'हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 424 तथा 425।
11. द्रष्टव्य 'सरस्वती', सितम्बर, 1910 ई.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी भाषा की वर्तनी

कल्पना

हिन्दी भाषा की सामग्री का आधुनिक मशीनों पर मुद्रण होने के साथ ही इसके शब्दों की हिज्जे (वर्तनी) की समस्या उठने लगी। बहुत दिनों तक हिन्दी के प्रकाशकों की इस विषय में कोई नीति नहीं होती थी और मनमानी वर्तनी का प्रयोग होता था। कालान्तर में कुछ सम्पादकों ने इस विषय पर ध्यान दिया। उदाहरण के लिए बाबू राव विष्णु पराड़कर के सम्पादकत्व में दैनिक 'आज' (वाराणसी, तब काशी) ने हिन्दी वर्तनी के कुछ नियम बनाये जो उस समाचार पत्र में प्रयुक्त होते रहे। जहाँ तक हमारी जानकारी है, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रकाशनों में भी वर्तनी के कुछ नियम बरते जाते थे। इसी बीच गुजरात/वर्धा से महात्मा गांधी, काका कालेलकर और तदनन्तर विनोवा भावे ने भी अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लि नागरी वर्तनी में परिवर्तन किये। ये परिवर्तन सरलीकरण की दिशा में किये गये थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के बाद कई हिन्दी भाषी राज्यों में इस सम्बन्ध में समितियाँ बनीं। उस समय सारी चिन्ता इस बात की होती थी कि किस तरह हिन्दी की छपाई को आसान बनाया जाए। चूँकि मुद्रण के लिए 'कमपोजिंग' सीसे के टाइपों से होती थी और मात्राओं आदि के कारण इन टाइपों की संख्या अंग्रेजी की तुलना में बहुत अधिक हो जाती थी, कम्पोजिटर लोगों को सामने अत्यधिक खानों में रखे टाइपों से चुनना श्रमसाध्य हो जाता था।

हिन्दी वर्तनी में बहुत सारे सुझाव हर समिति की सिफारिशें मान कर उन राज्यों में अलग-अलग वर्तनियों में हिन्दी भाषा लिखी जाने लगी। भारत सरकार के राज्यभाषा विभाग के अन्तर्गत चलने वाली संस्थाओं ने भी यदा कदा वर्तनी के नियम बनाये थे। अपनी बनायी तकनीकी शब्दावली के उपयोग के सम्बन्ध में तो उनका आग्रह दिखायी देता है। लेकिन वर्तनी के पालन के लिए कुछ मोटी बातों को छोड़ कर कोई स्पष्ट आग्रह नहीं है। श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने अपने द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं के लिए अन्य अपेक्षित नियमों के साथ वर्तनी

हैदराबाद से प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्यिक मासिक पत्र 'कल्पना' (1949-1978) के सम्पादक मण्डल द्वारा हिन्दी की वर्तनी में एकरूपता लाने के लिए निधारित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नियम भी बनाये थे जिनका उपयोग होता था। पर उनके हटते ही उनके द्वारा सम्पादित पत्र भी उनके बताये गये मार्ग से विपथगामी हो गये।

कभी यह प्रयत्न नहीं हुआ कि सभी हिन्दी लेखन, प्रकाशन और समाचार पत्रों से सम्बद्ध लोग मिल कर एक मानक वर्तनी सुनिश्चित कर लें और उसका दृढ़ता से उपयोग करें। ऐसा नहीं है कि आज कल कुछ लोग किन्हीं वर्तनी के नियमों का पालन नहीं करते हैं। पर अधिकांश क्षेत्र में अराजकता व्याप्त है। सारे हिन्दी लिखने-पढ़ने वाले लोगों और पत्र-पत्रिका-समाचार पत्र निकालने और सम्पादित करने वाले लोगों में इसकी चिन्ता होनी चाहिए।

चिन्तन-सृजन हिन्दी भाषा और इसकी वर्तनी के मानकीकरण का पक्षधर है। वह क्रमशः अपने प्रकाशन का मानकोकरण करने में सक्रिय है। हम चाहते हैं कि हम जिन नियमों और रूपों का पालन और उपयोग करते हैं वह वैसे ही हों जैसा हिन्दी का उपयोग करने वाले सभी लोग करते हों। हमने इस सम्बन्ध में डेढ़ दो सौ वर्षों तक अराजकता ही चलने दी है। अब यह अराजकता हिन्दी में अहिन्दी शब्दों के व्यापक उपयोग के कारण भाषा को ही समाप्त कर देने वाली है। इसके कारण हिन्दी क्षेत्र में सोच विचार की शक्ति भी क्षीण होने लगी है। अब यह अवस्था समाप्त होनी चाहिए।

चिन्तन-सृजन एक वर्तनी का पालन कर रहा है। जरूरी नहीं कि यही वर्तनी हिन्दी-नागरी की मानक वर्तनी बन जाये। हिन्दी नागरी की मानक वर्तनी बहुत से लोग मिल कर बनायेंगे। यह हिन्दी क्षेत्र के शिष्ट वर्ग का सामूहिक प्रयास होना चाहिए तभी सभी लोग एक तरह की वर्तनी का पालन करेंगे।

हम यहाँ पर हैदराबाद से निकलने वाली हिन्दी की साहित्यिक श्रेष्ठ पत्रिका 'कल्पना' द्वारा हिन्दी वर्तनी के मानकीकरण की दिशा में किये गये प्रयत्न की ओर सभी निर्णयकर्ताओं का ध्यान दिलायेंगे। 'कल्पना' अब दुर्भाग्यवश नहीं प्रकाशित हो रही है। परन्तु उसकी दाय को हमें स्वीकार करना चाहिए। इस दाय में श्रेष्ठ साहित्य के मानदण्डों के अतिरिक्त हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण भी है। हिन्दी वर्तनी के मानकीकरण की बात को आगे बढ़ाने के लिए और इस पर एक सामूहिक सहमति बनाने का प्रयास करने की दिशा में हम 'कल्पना' में प्रकाशित एतद्विषयक सामग्री को यहाँ पुनः उद्धृत कर रहे हैं। एक लघु पत्रिका द्वारा प्रस्तावित होने के कारण इस प्रयास को नजरन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। आशा है सभी सम्बद्ध लोग इस पर ध्यान और समय देंगे और हिन्दी के लिए काम करने वाली कोई संस्था सामने आएगी और इस सम्बन्ध में सामूहिक निर्णय करवाएगी।

—कमलेश

'कल्पना' (अगस्त-अक्तूबर, 1950) में प्रकाशित वर्तनी विषयक लेख

हिन्दी-शब्दों के रूपों और उनके हिज्जों, वाक्य रचना आदि से सम्बन्धित प्रश्नों में कल्पना की रुचि शुरू से रही थी। और उसने अपने आरम्भिक अंकों से ही अपनी एक मानक वर्तनी बनाने की कोशिश तो की ही थी, चाहती यह भी रही थी कि उसके द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावित बातों पर एक विमर्श भी हो। कल्पना का प्रकाशन स्थगित हो जाने के बाद भी, बदरीविशालजी एक पुस्तिका के रूप में कल्पना के हिज्जों सम्बन्धी विमर्श को लेखकों-पत्रकारों आदि के पास प्रेषित करते रहे थे। हम उस पुस्तिका की सामग्री को यहाँ फिर से प्रस्तुत कर रहे हैं।

किसी जीवित भाषा को--उसके व्याकरण, मुहावरों, शब्दों तथा उनके हिज्जों और उसकी वाक्य-रचना आदि को सुनिश्चित नियमों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक जीवित भाषा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, कुछ स्वभावतः और कुछ बाह्य प्रभावों के कारण। साथ ही प्रत्येक भाषा के स्वरूप में कुछ-न-कुछ विभिन्नताएँ 'प्रान्तीयता' के कारण भी आती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही शब्द के अनेक रूप, एक ही वाक्य की अनेक योजनाएँ, एक ही मुहावरे के अनेक प्रकार, प्रयोग में आने लगते हैं, और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें से कौन-सा 'शुद्ध' है और कौन-सा 'अशुद्ध'। संस्कृत जैसी सुव्यवस्थित भाषा में भी अनेक शब्दों के एक से अधिक रूप प्रचलित थे--और पाणिनि जैसे वैयाकरण-शिरोमणि भी उन रूपों में से किसी एक को 'शुद्ध' और दूसरे को 'अशुद्ध' नहीं कह पाये : उन्हें 'विकल्प' का ही आश्रय लेना पड़ा। और यही दशा संसार की प्रत्येक भाषा की रही है, और रहेगी। भाषा मानव-मस्तिष्क की सृष्टि है, उसे गणित के से नियमों से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा में 'शुद्ध'-'अशुद्ध' कुछ है ही नहीं, जो जैसा चाहे, लिख और बोल सकता है। यदि इस प्रकार की पूरी स्वछन्दता दे दी जाए तब तो एक दिन यह दशा हो सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग ही भाषा बन जाए, जिसे दूसरे समझ भी न सकें। इसलिए, भाषा को हम पूर्णतया नियमबद्ध भले ही न कर पाएँ, व्याकरण और शिष्ट प्रयोग का जितना अधिक नियन्त्रण रखा जा सके, रखना आवश्यक है। यह हो सकता है कि किसी शब्द का जो रूप आज शिष्ट-सम्मत और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, वह कुछ समय के बाद वैसा न रहे किन्तु जब तक कोई नया, परिवर्तित रूप मान्य न बन जाए, तब तक प्रचलित रूप को अविकृत रखने का प्रयत्न करना ही चाहिए। भाषा को यथासम्भव अविकृत रखना उसे एक स्थिर रूप देना लेखकों और साहित्यकारों का काम हैः 'साधु भाषा' के संरक्षक वे ही हैं। 'लोक भाषा' अपनी प्रकृति और रुझानों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है, किन्तु वह भी 'साधु भाषा' से कुछ-न-कुछ प्रभावित होती ही है।

हिन्दी के व्याकरण, हिन्दी-शब्दों के रूपों और उनके हिज्जों, वाक्य-रचना आदि से सम्बन्धित बीसियों बातें ऐसी हैं, जिनके विषय में अभी तक मतभेद अथवा सन्देह बना हुआ है। विचारशील लेखक और विद्वान समय-समय पर इस सम्बन्ध में लिखते रहे हैं और हिन्दी के स्वरूप को स्थिरता देने की चेष्टा करते रहे हैं। किन्तु स्थिरता तथा नियमितता जैसी एक सुविकसित भाषा में होनी चाहिए, वैसी हिन्दी में अभी तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं आ सकी है। इसका कारण जो भी रहा हो, हिन्दी को एक सुनिश्चित, व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता अब, हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर लिये जाने के बाद, पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी है। अब तक हिन्दी केवल एक प्रान्तीय भाषा थी, उसके स्वरूप को स्थिर करना या न करना हिन्दी-भाषियों का अपना मामला, अपना धन्धा था। किन्तु अब हिन्दी पूरे राष्ट्र की चीज है उसका स्वरूप क्या है, क्या नहीं इससे अ-हिन्दी-भाषियों को भी उतना ही प्रयोजन है, जितना हिन्दी-भाषियों को। आज प्रान्त-प्रान्त में, लाखों की संख्या में, अ-हिन्दी-भाषी हिन्दी सीख रहे हैं। उन्हें हिन्दी की उपर्युक्त अव्यवस्थाओं के कारण कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है? इसका अनुभव उनके प्रत्येक अध्यापक को होता है। बेचारा अध्यापक प्रायः स्वयं ही सन्देह में रहता है कि अमुक शब्द का अमुक रूप शुद्ध है, अथवा अमुक! पुस्तकों में हिन्दी प्राइमरों तक में कहीं एक रूप मिलता है, कहीं दूसराः कहीं लड़के ने, घर में, नदी पर हैं, तो कहीं लड़के ने, घर में, नदी पर कोई वह गए लिखता है, कोई वे गये अभी आइए, चलिए, चाहिए मिलते हैं, कभी आइये, चलिये, चाहिये एक जगह चल कर, जाकर दीखते हैं, तो दूसरी जगह चल कर, जा कर। इसी प्रकार मूर्ति-मूर्त्ति, धर्म-धर्म्म, सत्व-सत्त्व, पीडा-पीड़ा, मूढ-मूढ़, हंसी-हँसी, इसलिये-इसलिए, नये-नए, रखा-रक्खा, कवितायें-कविताएँ, यह-ये, इत्यादि बीसियों शब्दों के दो-दो, तीन-तीन रूप विभिन्न पुस्तकों में कभी-कभी एक ही पुस्तक में मिलते हैं, और विद्यार्थियों के साथ-साथ अध्यापकों को भी चक्कर में डालते रहते हैं। यह परिस्थिति हिन्दी-भाषियों के लिए लज्जा-जनक है। व्याकरण, मुहावरे और शैली की बारीकियों को जाने दीजिए, उपर्युक्त सामान्य बातों की भी कोई निश्चित व्यवस्था हिन्दी-भाषी अभी तक नहीं कर पाये! हमारी दृष्टि में, इस अव्यवस्था को दूर करना आज हिन्दी की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह काम एक व्यक्ति के वश का नहीं, इसमें हिन्दी के सभी विद्वानों, लेखकों और भाषा-विज्ञानियों का सहयोग अपेक्षित है। और इस कार्य का प्रारम्भ अविलम्ब होना चाहिए। हम सब उपर्युक्त कोटि की विभिन्न समस्याओं पर विचार करके उनके विषय में निर्णय करें, और फिर उन निर्णयों को नियमित रूप से प्रयोग में ला कर हिन्दी-जगत् में उनकी मान्यता स्थापित कर दें, तभी यह अव्यवस्था दूर हो सकेगी।

'कल्पना' इस कार्य में यथाशक्ति सहायता करेगी। विचारशील पाठकों से प्रार्थना है कि वे उपर्युक्त प्रकार के प्रश्नों के विषय में अपने अपने सुझाव सम्पादक के पास भेजने की कृपा करें। सभी उपयोगी और तर्क-संगत सुझाव 'कल्पना' के अगले अंकों में प्रकाशित किये जायेंगे और यदि कोई पाठक इन सुझावों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति भेजेंगे, तो वह भी यथावसर प्रकाशित की जाएगी। हमें विश्वास है कि इस प्रकार के विचार-विनिमय द्वारा हम अनेक बातों का निर्णय कर सकेंगे।

इस अंक में हम पहले अपनी ओर से ही दो सुझाव उपस्थित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. पहले विभक्तियों का प्रश्न लीजिए। इस सम्बन्ध में दो मत हैं- कुछ लोग भक्तियों को शब्दों से मिला कर लिखते हैं (राम ने), कुछ अलग रखते हैं (राम ने)। लग रखने वाले भी प्रायः सर्वनामों के साथ आने वाली विभक्तियों को मिला कर ही खते हैं (उसने, मुझको)। श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' में (पृ. 361) इन दोनों तों का उल्लेखमात्र किया है, अपनी सम्मति नहीं दी। विभक्तियों के सम्बन्ध में पहले न्दी-विद्वानों में विवाद हो चुका है, किन्तु उसके फल-स्वरूप कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं या जा सका, इसका उल्लेख भी 'अच्छी हिन्दी' में है। इस विवाद में दोनों पक्षों ने या-क्या युक्तियां दी थीं, यह हमें विदित नहीं हो सका। किन्तु बहुत विचार करने के द हम इसी सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि विभक्तियों को शब्दों से अलग ही रखना उचित । इस सिद्धान्त के समर्थन में हमारी युक्तियां निम्नलिखित हैं।

(अ) ऐतिहासिक दृष्टि से, को, ने, से, में, पर, का, की, के तथा के लिए--सभी भक्ति-चिह्न--स्वतन्त्र शब्द हैं, जो क्रमशः परिवर्तित होते-होते अपने वर्तमान रूपों में, ा गये हैं (देखिए धीरेन्द्र वर्मा, 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पृ. 242-246)। अर्थात, ाषा-विज्ञान की दृष्टि से को, ने आदि को शब्दों से अलग रखना न्याय्य हैः ठीक उसी रह जैसे अंग्रेजी के ीं, लू, रीं, षीं आदि को। यह ठीक है कि आज इन चिह्नों का पना स्वतन्त्र अर्थ नहीं है, किन्तु यह बात तो भी, ही, तो आदि अव्ययों के बारे में ो कही जा सकती है।

(आ) हिन्दी-भाषी इन चिह्नों के स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यह इसी सिद्ध है कि शब्द और विभक्ति के बीच में ही का प्रयोग बेखटके किया जाता है- सी से, इसीलिए, रात ही में, लड़के ही को। कहा जा सकता है कि ये प्रयोग 'अशुद्ध' , इनके स्थान पर इससे ही, इसलिए ही, रात में ही, लड़के को ही कहना और लिखना ाहिए। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित हो चुके हैं, इन्हें 'अशुद्ध' कैसे कहा जा कता है? इन्हें 'अशुद्ध' मान भी लें तो, सीता-वियुक्त राम के प्रति पशुओं तक ने वेदना प्रकट की, इस वाक्य में पशुओं और ने के बीच में बैठे हुए तक को क्या आप स्थानस्थ कह सकते हैं? इसे कैसे 'शुद्ध' करेंगे? पशुओं ने तक?

(इ) इन चिह्नों की स्वतन्त्र सत्ता इससे भी सिद्ध है कि स-विशेषण संज्ञा के साथ म एक ही विभक्ति-चिह्न का प्रयोग करते हैं--अच्छे लड़के ने कहा, उस आदमी को लाओ। इन वाक्यों में ने और को का सम्बन्ध अच्छे और उससे भी है और लड़के ौर आदमी से भी। अच्छे लड़के ने कहा लिखने पर अच्छे लटका ही रह जाता है- ने लड़के ने का अविभाज्य अंश है, अच्छे के साथ जुड़ नहीं सकता। अब या तो अच्छे ड़के ने लिखिए, या फिर अच्छे-लड़के ने। किन्तु यह कहाँ तक उचित है? अच्छे स्वयं क 'पद' (विभक्त्यन्त शब्द) है, इसे दूसरे 'पद' के साथ कैसे मिलाया जा सकता है? हाँ मिला भी लीजिए तो उन तीनों दुष्ट लड़कों को बुलाओ में क्या करेंगे? इस वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में–को को आप लड़कों को का अविभाज्य अंश मानें तो उसका सम्बन्ध उन, तीनों और दुष्ट के साथ तभी हो सकता है, जब आप या तो उन तीनों दुष्ट-लड़कों को लिखें और या फिर उन-तीनों-दुष्ट-लड़कों को!

(ई) को, ने आदि विभक्तियाँ लगाने पर भी शब्दों के अपने रूप ऐसे विकृत नहीं हो जाते कि उनका पृथक् अस्तित्व पहचानने में किसी प्रकार की कठिनता होती हो। विकृति केवल इतनी ही होती है कि आकारान्त पुल्लिंग शब्दों के एक वचन में आ के स्थान पर ए हो जाता है, और बहुवचन में सभी शब्दों में–ओं जुड़ जाता है–लड़के ने, घोड़े को, रातों में, वृक्षों पर, लड़कियों ने, बहुओं को, माताओं से आदि। इन सभी विभक्त्यन्त्र रूपों में मूल शब्द लगभग अविकृत ही हैं और स्पष्ट पहचाने जाते हैं। (मित्र से मैत्री, बन्धु से बान्धव, इतिहास से ऐतिहासिक इत्यादि शब्दों के रूप-परिवर्तन से तुलना कीजिए।)

(उ) कोई भाषा जितनी अधिक अश्लिष्ट अथवा अयोगात्मक होती है, उतनी ही वह सरल होती है। अर्थ-तत्त्व (मूल शब्द) और सम्बन्ध-तत्त्व (विभक्तियाँ, प्रत्यय आदि) एक-दूसरे से जितने अधिक स्वतन्त्र रहें, उतना ही अच्छा है। हिन्दी अभी सर्वथा अयोगात्मक नहीं है, किन्तु उसका रुझान इसी ओर है। हम उसे जितना अधिक अयोगात्मक बना सकेंगे, उतनी ही अधिक सरलता से अ-हिन्दी-भाषी उसे सीख सकेंगे। एक अ-हिन्दी-भाषी को औरों को, रेखाकी, सिरका, आसानीसे, चलनेवालोंने, गुरुजीपर, अराजकताका–इस प्रकार छपे अथवा लिखे हुए शब्द समझने में बहुत कठिनता होती है। अ-हिन्दी-भाषी ही क्यों, स्वयं हिन्दी-भाषी भी रेखाकी, भावजने, गलमसे, कागजपर लिखा पढ़ा कर एक क्षण के बाद ही समझ पायेंगे। मन का और मनका, सिर का और सिरका, छल की और छलकी, पट पर और पटपर (चौरस, सम-तल), जल से और जलसे, जंल ने और जलने, डर ने और डरने इत्यादि के लिखने में कोई भेद न रक्खा जाए, तो हिन्दी सीखने वालों की कठिनता तो बढ़ेगी ही, अनेक स्थलों पर हिन्दी जानने वालों को भी भ्रम हो सकता है।

विभक्तियों को शब्दों के साथ मिला कर लिखने में क्या औचित्य, क्या लाभ है, हम नहीं जानते। इतना अवश्य है कि इनके बीच का स्पेस निकल जाने से कागज की कुछ बचत हो जाती है, किन्तु दूसरी ओर गड़बड़ें इतनी आ जाती हैं कि कागज का 'अपव्यय' करना ही अधिक उचित मालूम होता है।

जो बात संज्ञाओं के सम्बन्ध में है, वही सर्वनामों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उससे, मैंने, आप को, तुम पर लिखना उतना ही ठीक है, जितना राम से, लड़के ने, गाय को, सड़क पर। संज्ञा और सर्वनाम में भेद केवल इतना है कि विभक्तियाँ लगाने पर संज्ञाओं के रूप बहुत कम विकृत होते हैं और उन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है, किन्तु सर्वनामों के रूप प्रायः ऐसे परिवर्तित हो जाते हैं कि उन्हें पहचानना लगभग असम्भव हो जाता है। कर्तृ-कारक में ही, वह और वे, यह और ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा तू और तुम में तो कुछ पारस्परिक सम्बन्ध लक्षित होता भी है, मैं और हम एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अन्य कारकों में परिवर्तन की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है : उस, उन, उन्हों तथा इस, इन, इन्होंका सम्बन्ध न वह और यह से जुड़ता है, न वे और ये सेय इसके अतिरिक्त, इसे, इन्हें, उसे, उन्हें, मेरा, मुझे, हमारा, हमें, तेरा, तुझे, तुम्हारा, तुम्हें आदि रूपों की विभक्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं, और इन विभक्तियों को मूलतत्त्व से अलग भी नहीं किया जा सकता। इन भेदों के आधार पर सर्वनामों की सभी विभक्तियों को मिला कर लिखना न्याय-संगत माना जा सकता है।

2. संज्ञाओं के सम्बन्ध में दी हुई उपर्युक्त प्रायः सभी युक्तियाँ पूर्वकालिक क्रियाओं- चल कर, जा कर, खा कर आदि- के सम्बन्ध में भी दी जा सकती हैं। चलकर, जाकर, खाकर लिखने में संक्षेप भले ही हो जाता हो, ऐसा लिखना युक्ति-संगत और पाठक के लिए सुविधा-जनक नहीं है। भाषा-इतिहास की दृष्टि से यह कर एक स्वतन्त्र शब्द है (संस्कृत' कृय प्राकृत करिया-करिअ हिन्दी करि-कर), प्रत्यय नहीं हैं और इसी प्रकार चल, जा, खा आदि भी धातु मात्रा नहीं हैं, प्रत्यय-युक्त पूर्वकालिक रूप हैं (संस्कृत' चल्य प्राकृत चलिय-चलिअ हिन्दी चलि-चल)। कर को मिला कर लिखने का सिद्धान्त मान लिया जाए तो पढ़-लिख कर, मिल-जुलकर, खा-पी कर, आदि क्रियाओं को पढ़लिखकर, मिलजुलकर, खापीकर अथवा पढ़-लिखकर, मिल-जुलकर, खा-पीकर लिखना पड़ेगा, जिससे लाभ तो कुछ नहीं होगा, व्यर्थ शब्दों की लम्बाई बढ़ जाएगी। आकर (खान) और आ कर, पाकर (वृक्ष) और पा कर, जला कर और जलाकर (जलाशय) सी कर और सीकर (जल-कण) इत्यादि में परस्पर भेद रखने के लिए भी पूर्वकालिक क्रियाओं के कर को अलग लिखना ही उचित है।

इसी प्रकार, जा रहा है, जा चुका, आ गया, पी लिया, खो दिया, सुन रक्खा है, मार डाला, चल पड़ा, कर बैठा, हो सका इत्यादि संयुक्त क्रियाओं में भी दोनों अंशों को अलग-अलग लिखने में अधिक सरलता तथा सुविधा है।

इस बार हम इन्हीं दो बातों के सम्बन्ध में अपने सुझाव पाठकों के सामने रखते हैं। अगले अंकों में अन्य विवादास्पद विषयों की भी विवेचना करेंगे। पाठकों से अनुरोध है कि इन सुझावों के सम्बन्ध में अपनी सम्मतियां तथा अन्य सुझाव भी, हमारे पास अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

-'कल्पना',अप्रैल, 1950

कल्पना-2

पिछले अंक में हमने हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों और पूर्व कालिक करके सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रस्तुत किये थे। इस बार हम कुछ शब्दों के रूपों के सम्बन्ध में अपने विचार पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

(1) गये-गए, गयी-गई, आये-आए (भूतकाल), आयी-आईय नये-नए, नयी-नईय पराये-पराए, परायी-पराईय लिये-लिए (क्रिया) इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक हिन्दी में उपर्युक्त दोनों रूप, कम या अधिक मात्रा में, प्रचलित हैं। इनमें से कौन-सा 'शुद्ध' माना जाए? हमारी सम्मति में इन सभी शब्दों के य-वाले रूप ही मान्य हैं, क्योंकि स्त्रीलिंग अथवा बहुवचन में विकृति-प्राप्त इन शब्दों की प्रकृति (मूल-रूप) है पुल्लिंग एकवचन के रूप : गया, आया, लिया, नया, पराया आदि। गया का बहुवचन गये और स्त्रीलिंग गयी ही होना चाहिए, गए और गई नहीं। यह ठीक है कि आजकल गयी और आयी की अपेक्षा गई और आई का ही प्रयोग अधिक होने लगा है, किन्तु य-वाले रूप व्याकरण की दृष्टि से भी मान्य हैं और इसलिए भी कि वे अपने मूल-रूपों (पुं. एक.) से स्पष्ट समानता रखने के कारण अ-हिन्दी भाषियों के लिए सुबोध हैं—जैसे लड़का-लड़के-लड़की, ठीक वैसे ही गया-गये-गयी और आया-आये-आयी। हिन्दी-भाषियों को गयी, आयी आदि के प्रयोग में, प्रारम्भ में, कुछ असुविधा हो तो भी इन्हें अपना लेना उचित होगा। और यही बात पराये:परायी तथा नये:नयी के विषय में भी कही जा सकती है। लिये-लिए के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि यदि हम लिया का बहुवचन केवल लिये स्थिर कर दें तो लिए को केवल विभक्ति-चिह्न मान कर इन दोनों रूपों का प्रयोग-विभाजन कर सकते हैं, जो स्पष्ट ही उपयोगी सिद्ध होगा। (लिया का स्त्रीलिंग लियी होता तो अच्छा ही था, किन्तु विवशता है : ली को हटाया नहीं जा सकता!)

बहुवचन का–ए और स्त्रीलिंग का–ई वहीं ठीक हैं जहाँ पुल्लिंग एकवचन में–आ हो, जैसे हुआ-हुए-हुई अथवा छुआ-छुए-छुई।

'अच्छी हिन्दी' (पंचम संस्करण, पृ. 310-11) में उपर्युक्त विविध रूपों का निर्देशमात्र किया गया है, कोई निश्चित मत नहीं दिया गया। दिखायी और सुनायी के विषय में 'अच्छी हिन्दी' के विद्वान् लेखक ने (पृ. 310) जो संकेत किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सर्वत्र दिखाई, सुनाई आदि का ही प्रयोग उचित समझते हैं, दिखायी, सुनायी आदि नहीं। किन्तु जब हम गाना सुनाया और खेल दिखाया लिखते हैं, तब बात सुनायी और पुस्तक दिखायी भी क्यों न लिखें? दृश्य दिखाई दिया और शब्द सुनाई पड़ा आदि वाक्यों में दिखाई, सुनाई मूलतः संज्ञाएँ हैं, इनको–भूतकालिक क्रियाओं दिखायी, सुनायी से स्पष्टतया भिन्न रखने के लिए–इसी रूप में रक्खा जाए तो अच्छा ही है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आयी, गयी, रोयी, खोयी, सोयी, दिखायी, सुनायी, पड़ायी, बतायी, आदि रूप हमें कुछ खटकेंगे अवश्य, किन्तु राष्ट्र-भाषा को यथासम्भव सुवोध तथा व्यवस्थित बनाने के लिए हमें इन रूपों को मान लेना चाहिए।

(2) आए-आये-आवेय जाए-जाय-जाये-जावेय पिए-पियेय रोए-रोये-रोवेय कराए-कराये-करावे इत्यादि।

इन आज्ञार्थक तथा सम्भावनार्थक क्रियाओं (तथा इनके बहुवचनों) के विविध रूपों में से कौन-सा ग्राह्य है? चले, करे, पड़े आदि अकारान्त (अथवा हलन्त) धातुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इन्हीं रूपों में केवल-ए लगता है। आये, आवे, जाय, जाये, जावे आदि के मूल में भी-ए ही है, -य-अथवा -व- आगममात्र हैं, (कहीं सन्धि-हेतुक और कहीं भ्रम-मूलक)। फलतः हम -य- और -व- को हटा कर केवल-ए को ही सार्वत्रिक कर दें, तो ये रूप व्यवस्थित हो सकते हैं। आए, जाए, पिए आदि आज्ञार्थक रूपों में सर्वत्र केवल-ए लिखने से विशेष लाभ यह होगा कि हम भूतकालिक बहुवचन के रूपों-आये, पिये आदि-से इनकी भिन्नता स्पष्टतया प्रदर्शित कर सकेंगे। इनके बहुवचन बनाने के लिए-ए को सानुनासिक कर देना पर्याप्त है-आएँ, जाएँ, पिएँ, रोएँ, कराएँ।

इन सम्भावनार्थक रूपों आए, आएँ आदि में-गा (-गो), -गे (-गी) जोड़ने पर भविष्यत् काल के क्रमशः प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन और प्रथम तथा उत्तम पुरुष के बहुवचन बन जाते हैं- वह आएगा (आएगी), तू आएगा (आएगी), वे आएँगे (आएँगी), हम आएँगे (आएँगी)। भविष्यत् के अन्य पुरुषों और वचनों के रूप, ठीक इसी तरह, सम्भावनार्थक रूपों में गा, -गे जोड़ने से बनते ही हैं- मैं आऊँ-आऊँगा (आऊँगी), तुम आओ-आओगे (आओगी)।

सम्भावनार्थक रूपों में-गा,-गी,-गे जोड़ कर भविष्यत् के रूप बनाने की यह प्रक्रिया हमारा आविष्कृत गुर नहीं है, अपितु भाषा-वैज्ञानिक तथ्य है। (देखिए, प्रो. धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पृ.321।

उपर्युक्त सुझाव मान लिया जाए तो भविष्यत् के रूपों की भी जो विविधता हिन्दी में आज दिखाई देती है, वह दूर हो सकती है : जायगा, जायेगा, जावेगा तथा, जायँगे, जायेंगे, जावेंगे के स्थान पर जाएगा तथाजाएँगे, औरजायँगी, जायेंगी, जावेंगी अथवा (जैसे कुछ लोग लिखते हैं) जायँगीं, जायेंगीं, जावेगीं, जावेंगीं के स्थान पर केवल जाएँगी मान लेने में कितनी सुविधा और सुव्यवस्था है, यह स्पष्ट है।

'सम्भावना' अथवा 'आज्ञा' के उत्तम पुरुष एकवचन का चिह्न--ऊँ और मध्यम पुरुष बहुवचन का- ओ है- आऊँ, चलूँय आओ, चलो। किन्तु इन्हें ईकारान्त धातुओं में प्रायः -यूँ, -यो का रूप दे दिया जाता है- पियूँ, जियूँय पियो, जियो। इन्हें भी पिऊँ, जिऊँय पिओ, जिओ ही क्यों न लिखा जाए? उच्चारण की दृष्टि से पियूँ और पिऊँ अथवा पियो और पिओ का भेद है। लिखने में यदि-ऊँ,-ओ को ही मान्यता दे दी जाए तो सभी को सुविधा रहेगी। (पीऊँ, जीऊँ आदि दीर्घ -ई- वाले रूप त्याज्य हैं।)

'आदरार्थ आज्ञा' के रूपों में भी हिन्दी में विविधता वर्तमान है--आइये, आइएय सुनिये, सुनिएय होइये, होइएय हूजिये, हूजिए इत्यादि।

'साधारण आज्ञा' के साथ आंशिक एकरूपता के लिए तथा यहाँ अनावश्यक -य- की (टाइपिस्टों और कम्पोड़िटरों की दृष्टि से) बचत के लिए यहाँ भी केवल -ए- को ही मान्यता देना उचित होगा। हूजिये अथवा हूजिऐ त्याज्य है, होइए से काम चल सकता है, और यही रूप नियमानुकूल भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए, चाहिये में से भी चाहिए ही ग्राह्य है। चाहिए का प्रयोग (अपेक्षा, आवश्यकता और औचित्य के अर्थ में) क्रिया के स्थान पर होता है--और वस्तुतः यह है भी क्रिया ही-, किन्तु आधुनिक हिन्दी में इसका रूप एक अव्यय का हो गया है : सभी 'पुरुषों' और 'वचनों' में चाहिए ही बोला और लिखा जाता है--आपको क्या चाहिए, मुझे दो डमड़ी चाहिए, तुम्हें वहां जाना चाहिए, उसे दोनों किताबें पड़ना चाहिए, आपको ऐसा नहीं चाहिए इत्यादि। किन्तु कुछ लोग अपेक्षित वस्तु अथवा कार्य के बहुवचन में होने पर चाहिए का भी बहुवचन बना कर चाहिएँ लिखते हैं--मुझे दो कपड़े चाहिएँ, उन्हें ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिएँ। हमारी सम्मति में इन दोनों वाक्यों में चाहिए ही बोलना और लिखना चाहिए। यह ठीक है कि अर्थ की दृष्टि से चाहिए एक कर्म-वाच्य क्रिया है, और फलतः 'कर्म' में बहुवचन होने पर 'क्रिया' में भी बहुवचन अपेक्षित हैय किन्तु रूप की दृष्टि से चाहिए अव्यय बन चुका है (अन्यथा इसमें लिङ्ग-भेद भी होता!), इसे 'वचन' के नियमों में बाँधना अनावश्यक है। (आश्चर्य है कि श्री रामचन्द्र वर्मा ने अपने 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में तो चाहिए को अव्यय माना है, और 'अच्छी हिन्दी' में बहुवचन के लिए सर्वत्र चाहिएँ का प्रयोग किया है!)

(3) धर्म-धर्म्मय परिवर्तन-परिवर्त्तनय मूर्ति-मूर्त्तिय सौन्दर्य-सौन्दर्य्यय अर्ध-अर्द्धय वर्धन-वर्द्धनय मूर्छा-मूर्च्छाय त्व और-त्त्व।

ये सभी शब्द संस्कृत के हैं। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दोनों प्रकार के (एक व्यंजन वाले और 'द्वित्व' वाले) रूप शुद्ध हैं। किन्तु हिन्दी में यह द्विविधता अनावश्यक है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों रूप समान हैं, फिर सीधा-सादा धर्म और सौन्दर्य छोड़ कर धर्म्म और सौन्दर्य्य क्यों लिखा जाए? अर्द्ध, वर्द्धन और मूर्च्छा लिखना व्यर्थ है--यहाँ हम न -द- का उच्चारण करते हैं, न -च- काय अर्ध, वर्धन और मूर्छा ही लिखना ठीक है। मूर्त्ति और परिवर्त्तन लिखने में क्या लाभ है, क्या औचित्य है, जो हमें मूर्ति और परिवर्तन में नहीं मिलता?

और यही बात-त्व-प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में भी कही जा सकती है। कवित्त्व, मनुष्यत्त्व, देवत्त्व, अमरत्त्व, घनत्त्व आदि शब्दों में -त- का द्वित्व करना सर्वथा निष्प्रयोजन है : कवि, मनुष्य आदि सभी शब्द अकारान्त हैं, -त्व प्रत्यय लगाने पर कवित्व, मनुष्यत्व आदि ही बन सकते हैं, कवित्त्व, मनुष्यत्त्व आदि नहीं (संस्कृत-व्याकरण की बात जाने दीजिए)। -त्त्व केवल वहीं लिखना उचित है जहाँ किसी तकारान्त शब्द में -त्व प्रत्यय लगाया गया हो, जैसे तत्त्व (तत्‌त्व), सत्त्व (सत्‌त्व) और महत्त्व (महत्‌त्व) में। अन्य सभी शब्दों को केवल एक- त - लिख कर 'हलका' ही रहने दिया जाए, तो अच्छा है। ('अच्छी हिन्दी', पृ. 313 पर 'द्वित्व' के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा गया है, उसका अधिकांश भ्रामक है।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) ड-ड़ ढ-ढ़

ड़ और ढ़ हिन्दी की ध्वनियाँ हैं, संस्कृत की नहीं। हाँ, वैदिक संस्कृत में इनसे मिलती-जुलती ध्वनियाँ ळ और ळ्ह अवश्य थीं, पर वह बात अलग है। (हिन्दी ड़, ढ़ का विकास वैदिक ळ, ळ्ह से नहीं हुआ है)। फलतः संस्कृत से लिये हुए तत्सम शब्दों में ड़, ढ़ लिखना अवाञ्छनीय है : संस्कृत के किसी भी शब्द में ड़ या ढ़ है ही नहीं, सर्वत्र ड या ढ ही है। यह ठीक है कि हिन्दी में दो स्वरों के बीच में आने वाले ड, ढ को ड़, ढ़ ही बोला और लिखा जाता है, किन्तु यह परिवर्तन केवल तद्भव अथवा देशी शब्दों में हो सकता है, तत्सम शब्दों में नहीं। संस्कृत जड से उद्भूत जाड़ा और गाढ से उद्भूत गाढ़ा में ड़ और ढ़ लिखना ठीक है, पर स्वयं जड (मूर्ख) और गाढ (घना) शब्दों में ड और ढ ही लिखे जा सकते हैं। इसी प्रकार उडु, गूढ, मूढ, रूढ, रूढि, प्रौढ, ताडन, ताडित, पीडा, क्रीडा, व्रीडा आदि शब्दों में ड और ढ के नीचे बिन्दु नहीं लगाना चाहिए, भले ही हिन्दी-भाषियों में इनका उच्चारण उड़ु गूढ़, मूढ़ आदि होता हो। उच्चारण तो हम ऋतु और ऋषि का भी रितु और रिषि करते हैं, पर इन शब्दों के तत्सम होने के कारण इन्हें लिखते ऋ से ही हैं, कष्ट और रोष में उच्चारण के अनुसार श न लिखकर-ष-लिखने का कारण भी इन शब्दों का तत्सम होना ही है। तब फिर तत्सम मूढ, पीडा आदि को मूढ़, पीड़ा आदि लिखने में क्या औचित्य अथवा लाभ है? प्रत्युत संस्कृत जड़ (मूर्ख) और हिन्दी जड़ (मूल) जैसे शब्दों की एकरूपता हो जाने से कुछ हानि ही है।

‘अच्छी हिन्दी’, (पृ. 316) में ड और ड़ तथा ढ और ढ़ के भेद का स्पष्टीकरण है, किन्तु उपर्युक्त अव्यवस्था के विषय में कुछ नहीं कहा गया। ‘प्रामाणिक हिन्दी कोश’ की प्रस्तावना (पृ. 5) में भी इन अक्षरों की भिन्नता का निर्देश है और कहा गया है कि कोश में इस ‘अन्तर का भी बहुत-कुछ ध्यान रखा गया है।’ किन्तु हमें इस कोश में उपर्युक्त सभी शब्द ड़, ढ़ से लिखे हुए मिले—और कोश में इन्हें माना भी तत्सम गया है। कोश के विद्वान लेखक ने न जाने किस आधार पर यह मान लिया कि संस्कृत में भी ये सब शब्द ड़, ढ़ से लिखे जाते हैं। (अन्य हिन्दी-कोशों की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है।)

(5) अनुनासिक, अनुस्वार तथा पंचमाक्षर।

अनुस्वार और अनुनासिक (चन्द्र-बिन्दु) दो सर्वथा भिन्न ध्वनियाँ हैं। अनुस्वार ‘बंद’ ध्वनि है (म् अथवा न्) अनुनासिक ‘खुली’। हंसी (=हन्सी, पक्षिणी) और हँसी (हँसने की प्रक्रिया) पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी में अनुनासिक के स्थान पर प्रायः अनुस्वार लिखने की प्रथा चल पड़ी है- हंसना, पूंछ, मुंदना, आंख, क्यों, हैं, हूं, जाऊं इत्यादि। कहना नहीं होगा कि इन सभी में बिन्दु के स्थान पर चन्द्रबिन्दु ही होना चाहिए। अनुनासिक की उपेक्षा का कारण कुछ तो लेखकों का आलस्य और असावधानी (अथवा अज्ञान!) है और कुछ प्रेस-सम्बन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असुविधा। जो भी हो, अनुस्वार और अनुनासिक के अन्तर का पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है--विशेषतः उन शब्दों में जहाँ इस अन्तर की उपेक्षा करने से पाठकों को भ्रम हो सकता हो, जैसे हंस और हँस अथवा रंग और रँग (ना) में। अच्छा तो यही होगा कि हम प्रत्येक सानुनासिक शब्द में, हैं, मैं, में, जैसे बहुप्रयुक्त शब्दों में भी, अनुनासिक ही लिखने की आदत डाल लें। दूसरी ओर इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हम अनुस्वार के बदले अनुनासिक न लिख जाएँ--ढंग को ढँग और रंग को रँग न बना दें।

संयोग में किसी अन्य व्यूंजन से पूर्व पूंचमाक्षरों का प्रयोग हिन्दी के तद्भव और 'देशी' (अथवा विदेशी) शब्दों में सर्वथा अनावश्यक है--कङ्घा, चङ्गा, घमण्ड, डण्डा, बन्द, पन्थ, सन्त, पम्प, चम्बल, खम्भा आदि में ङ्, ण, न, म् नलिखकरकंघा, चंगा, घमंड आदि लिखने में अधिक सुविधा है। यहाँ इन पूंचमाक्षरों का उच्चारण अनुस्वार (न, म) से सर्वथा अभिन्न है--इन सभी शब्दों में अनुस्वार लिखने से काम चल सकता है, फिर, 'संयोग' का बोझ क्यों लादा जाए? हाँ, संस्कृत से लिये हुए तत्सम शब्दों में यथास्थान ङ्,', ण, न, म् का प्रयोग करना उचित होगा--पङ्क, शङ्ख, गङ्गा, सङ्घ, मूंच, मूंजु, कण्टक, कण्ठ, पण्डित, दन्त, मन्थन, मन्दिर, सन्ध्या, कम्पन, गुम्फन, अम्बा आदि। संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार किसी व्यूंजन के पूर्व उसी 'वर्ग' का पूंचमाक्षर आ सकता है, जिस 'वर्ग' का वह व्यूंजन हो, अन्य वर्ग का नहींय फलतः कन्ठ, पन्डित, मन्जु आदि रूप 'अशुद्ध' हैं, इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

'कल्पना' के अप्रैल और जून के अङ्कों में हमने हिन्दी के कुछ विभक्ति-चिह्नों और शब्द-रूपों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये थे। इस अङ्क में भी हम हिन्दी भाषा के स्थिरीकरण से सम्बन्धित कुछ और सुझाव पाठकों के सामने रखते हैं।

वह--वेय यह--ये

वह का बहुवचन वे अब प्रायः सर्वमान्य हो चुका है--यद्यपि कुछ लोग अब भी वह ही लिखते हैं। कोई-कोई लेखक वास्तविक (अनेकत्व-वाचक) बहुवचन में वे लिखते हैं और आदरार्थक बहुवचन में वह। यह विभाजन अनावश्यक और असङ्गत है। दोनों प्रकार के बहुवचनों में क्रिया के रूप एक-से ही रहते हैं--'दो आदमी आये हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं', 'मेरे पिता आये हैं, वह (वे) आपसे मिलना चाहते हैं।' फलतः वह का बहुवचन सदा वे ही लिखना और बोलना चाहिए।

किन्तु वह का बहुवचन वे प्रायः सर्वमान्य हो चुका है, वहाँ यह का बहुवचन ये बहुत कम लिखा जाता है : अधिकांश लेखक यह ही लिखते हैं। वास्तव में यह केवल एकवचन का रूप है, बहुवचन के लिए सदा ये का ही प्रयोग करना चाहिए।

-एँ, -यें

इकारान्त और ईकारान्त (तथा कुछ याकारान्त) शब्दों को छोड़ कर प्रायः समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रथमा बहुवचन का चिह्न हिन्दी में-एँ है। अकारान्त (अर्थात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंजनान्त) शब्दों में यह -एँ अन्तिम व्यंजन से जुड़ जाता है : रात-रातें, चाल-चालें य अन्य शब्दों में ज्यों का त्यों रहता है : कविता-कविताएँ, मैना-मैनाएँ, हवा-हवाएँ, बहू-बहुएँ, गौ-गौएँ।किन्तु बहुत-से अच्छे-अच्छे लेखक भी इन शब्दों के बहुवचन में--यें लगाते हैं, विशेषतः आकारान्त शब्दों में : कवितायें, प्रार्थनायें, विशेषतायें इत्यादि। इस-य- का आगम सम्भवतः इकारान्त, ईकारान्त शब्दों के प्रभाव से हुआ है, जिनके प्रथमा बहुवचन में (-आँ के स्थान पर)-याँ जुड़ता है : रुचि-रुचियाँ, लड़की-लड़कियाँ--किन्तु इकारान्त, ईकारान्त शब्दों में -आँ (संस्कृत-आनि) के पहले -य- का आगम सन्धि-नियम के अनुसार है--इआँ का उच्चरित रूप स्वभावतः--इयाँ हो जाता है। कविता-एँ आदि में इस प्रकार का य् आगम अनावश्यक है। उच्चारण की दृष्टि से भीकविताएँ लिखना ही अधिक शुद्ध है, और अन्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों के बहुवचन-रूपों के साथ एकरूपता के लिए भी।

-सा

-सा वस्तुतः एक प्रत्यय है, स्वतन्त्र शब्द नहीं है। इसका उद्गम संस्कृत के -श प्रत्यय से हुआ है। फलतः जिस शब्द में यह लगाया जाए उससे मिला कर ही लिखा जाना चाहिए। किन्तु स्पष्टता के लिए, शब्दों की लम्बाई न बड़ने देने के लिए, और--सा के बहुवचन--से की विभक्ति चिह्न से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए इसे योग-चिह्न (हाइफन) के साथ लिखा जाए तो उचित होगा। और यह नियम-सा के लिए सार्वत्रिक होना चाहिए--वह किसी भी अर्थ (सादृश्य, परिमाण, निर्धारण) अथवा रूप (-सा, -सी, -से) में प्रयुक्त हुआ होः कमल-सा, छोटे-से, बहुत-से, कौन-सी इत्यादि। 'शशि-से सुन्दर मुख को देखा' और शशि से सुन्दर मुख को देखा, के अर्थ भेद पर ध्यान देने से यहाँ योग-चिह्न की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

-मात्र

-मात्र संस्कृत का प्रत्यय है, जो वास्तव में मात्र शब्द से उद्भूत होने पर भी संस्कृत में केवल प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी ने यह प्रत्यय संस्कृत से, तत्सम रूप में लिया है, इसलिए इसका प्रयोग संस्कृत-व्याकरण के अनुसार ही होना चाहिए। और हम सामान्यतः करते भी ऐसा ही हैं : -मात्र को हम केवल संज्ञाओं और विशेषणों के मूल-रूपों में लगाते हैं, क्रियाओं और सर्वनामों में अथवा संज्ञा और विशेषणों के विकृत रूपों में नहीं लगाते--करते-मात्र थे, वह-मात्र, तुम-मात्र, वातों-मात्र, कविताएँ-मात्र इत्यादि प्रयोग अशुद्ध समझे जाते हैं। इतना ही नहीं,--मात्र का प्रयोग हम प्रायः संस्कृत शब्दों के साथ ही करते हैं--रोटी-मात्र, सड़क-मात्र, रात-मात्र, लड़की-मात्र इत्यादि प्रयोग हमें भद्दे लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत-प्रकृति हमने अभी अक्षुण्ण रक्खी है। तब फिर हम इसका प्रयोग संस्कृत की भाँति एक प्रत्यय के ही रूप में, अर्थात् शब्द से मिला हुआ लिख कर (नाममात्र, सङ्केतमात्र), अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्पष्टता के लिए) योग-चिह्न के साथ लिख कर (नाम-मात्र, सङ्केत-मात्र) क्यों न करें? नाम मात्र, सङ्केत मात्र लिखना अशुद्ध भी है, और अनावश्यक भी। मात्र को हिन्दी ही का पर्याय मान कर उसी की तरह प्रयोग करना भूल है।

किन्तु इससे भी बड़ कर भूल है—मात्र का केवल की तरह प्रयोग करना। 'केवल, उसकी उदासी दूर नहीं हुई' के स्थान पर, 'मात्र उसकी उदासी दूर नहीं हुई' लिखना बिल्कुल अक्षम्य है। -मात्र का यह प्रयोग हिन्दी में सम्भवतः बंगला के प्रभाव से आया है। जो भी हो, है यह सर्वथा त्याज्य ही। केवल जैसे सरल, सुलभ शब्द के रहते हुए उसके स्थान पर -मात्र का अशुद्ध प्रयोग करना किसी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता।

श्री

नाम या पद के पहले आदर-सूचक श्री शब्द के प्रयोग की प्रथा हिन्दी में संस्कृत से ही आयी है। संस्कृत में श्री को श्रीमत् का संक्षिप्त रूप मान कर शब्द के साथ ही लिखा जाता है--'श्रीगुरुभ्यो नमः', 'श्रीकालिदासः कविः'। तदनुसार हिन्दी में भी 'श्रीसुमित्रानंदन पंत' और 'श्रीगुरु जी' लिखना उचित ही है। किन्तु ऐसा करने में दो गड़बड़ आ जाती हैं। एक तो जिन नामों का प्रारम्भ ही श्री से हो, जैसे श्रीराम, श्रीनाथ, श्रीपति आदि, उनमें आदर-सूचक श्री जोड़ने पर श्रीश्रीराम, श्रीश्रीनाथ लिखना पड़ता है, जो स्पष्ट ही भद्दा लगता है। इसकी अपेक्षा श्रीश्रीराम, श्रीश्रीनाथ आदि लिखना कहीं अधिक समंजस है। दूसरे, अब सरकारी तौर पर श्री का प्रयोग अब तक के मिस्टर के स्थान पर किया जाने लगा है और मिस्टर अथवा मि. को सदा अलग ही लिखा जाता है, इसलिए श्री को भी नाम या पद से अलग लिखना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। श्री--सहित राम शर्मा और श्रीराम शर्मा में भेद रखने के लिए भी श्री को अलग ही लिखना ठीक है। फिर दो शब्दों वाले नामों या पदों में श्री को मिला कर लिखने पर गड़बड़ और भी बड़ जाती है।

जी

सम्मान-सूचक जी को शब्द से मिला कर लिखा जाए या अलग? गुरुजी या गुरु जी? रामनाथजी या रामनाथ जी? हमारी सम्मति में जी को अलग ही लिखना उचित है। गुरुजी, पिताजी, माताजी लिखने की प्रथा हिन्दी में चल पड़ी है। इनके स्थान पर गुरु जी, पिता जी, माता जी लिखने में, प्रारम्भ में, कुछ असुविधा जान पड़े तो भी इन्हें ऐसा ही लिखना इसलिए आवश्यक है कि नामों के आगे आने वाले 'जी' को मिला कर लिखने पर अनेक गड़बड़ें हो जाती हैं : रामनाथजी चल सकता है, पर गोवर्धनदास द्वारिकादासजी या कन्हैयालाल माणिकलालजी में जी का सम्बन्ध नाम दूसरे (गौण) अंश के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ जाता है, और पहला (प्रधान) अंश अ-सम्मानित ही रह जाता है। जी को अलग रखने पर यह गड़बड़ नहीं होती, वह दोनों अंशों के साथ समान रूप से सम्बन्धित रहता है। जी का प्रयोग प्रायः अंग्रेजी के एर्स्क्वा. के स्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र किया जाता है, इस दृष्टि से भी, और फिर स्पष्टता के लिए भी, इसे अलग लिखने में ही अधिक सुविधा और व्यवस्था है।

वाला

वाला का प्रयोग-वान् अथवा-कार (कर्ता) के अर्थ में एक प्रत्यय के रूप में होता है, किन्तु जिस संज्ञा अथवा विशेषण में यह लगाया जाता है वह अपने मूल रूप में नहीं, अपितु विकृत रूप में रक्खा जाता है–पैसे वाला, करने वाला, पत्तों वाला इत्यादि। इसके अतिरिक्त वाला का प्रयोग आसन्न-भविष्य के अर्थ में भी किया जाता है–'मैं आज-कल में वहाँ जाने वाला हूँ'। इस प्रकार के प्रयोगों में क्रिया-पद और वाला के बीच मेंहीभी, अत्यन्त आसन्नता सूचित करने के लिए, रख दिया जाता है–'मैं जाने ही वाला था कि रामनाथ जी आ गये'। इससे स्पष्ट है कि वाला को हम अविभाज्य प्रत्यय नहीं समझते। फलतः इसे सम्बन्धित शब्द से अलग लिखना अधिक उचित होगा। इसमें आपत्ति हो तो योग-चिह्न के साथ लिखा जा सकता है, किन्तु जाने ही वाला आदि प्रयोगों में योग-चिह्न लगाना कठिन होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

We Strive
to Satisfy
Our Customers

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
132251
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar